प्रकाशक :—

राजाबहादुर—

लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जैन जौहरी

"लाला भवन" पो० महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

सूचनाः—

जिन महानुभावों को इस पुस्तक की आवश्यकता हो, वे केवल डाक खर्च के लिये ग्यारा आने ।|≡) के टिकट भेजकर ऊपर लिखे प्रकाशक जी के पते से मंगालें।

मुद्रकः—

श्री कौशिक प्रिंटिंग प्रेस,

महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

अर्पण

कच्छ देश पावन कर्ता, आठकोटी मोटी पक्ष के परमाचार्य पूज्यपाद श्री कर्मसिंहजी महाराज के शिष्यवर्य प्रवर पण्डित कविवरेन्द्र आत्मार्थी युवाचार्य मुनिराज श्री नागचन्द्र जी !

मैं
स्वप्न में भी
नहीं जानता था कि
"परमात्म मार्ग दर्शक"
ग्रन्थ मेरे हाथसे लिखा जायगा
प्रारंभ में आपकी ही प्रेरणा से
मैं उक्त प्रस्तुत ग्रंथ को लिख
सकने में समर्थ हुवा, अतः
यह ग्रंथ आपही के कर कम-
लों में समर्पण कर के
अपनी कृतज्ञता
प्रगट करता
हूं

गुणानुरागी—
अमोलक ऋषि

आभार पत्र

दानेश्वरी जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रशाद जी ने प्रस्तुत परमात्म मार्ग दर्शक ग्रंथ की द्वितीयावृत्ति प्रसिद्ध करने की इच्छा प्रकट की और शुद्धि वृद्धि करने को कहा ! किन्तु वृद्धावस्था और कार्य भार के कारण मैं नहीं कर सका । अत एव उक्त कार्य का समस्त भार कविराज सिद्धहस्त-लेखक प्राकृत संस्कृत के मान्य विद्वान् मुनि श्री अमरचन्द्रजी को सौंपा गया । आप श्री ने निरवकाश होते हुये भी भाषा संशोधन, प्रूफ संशोधन एव अन्य आवश्यक संशोधन आदि कार्य अत्यंत परिश्रम उठाकर बड़ी योग्यता के साथ किया । इस के लिये मैं आप श्री का अन्तः करण से आभार मानकर सहस्रश धन्यवाद देता हू ।

आश्विन शुक्ला
द्वितीया रविवार
सं० १९९२

अमोलक ऋषि

श्रीमान् धर्मधुरधर "जैन समाज भूषण" दानवीर

लाला ज्वालाप्रसाद जी जैन जौहरी

जन्म सं० १९५० श्रा० कृ० ९



स्वर्गवास सं० १९९२ मा० कृ० ९

······आप श्री ने तन, मन और धन से समाज की खूब ही सेवा की है। आप जैसे प्रख्यात धनपति थे वैसे ही धन का सदुपयोग करना भी जानते थे। अनेकों शिक्षण संस्थाओं के आप प्राण थे। स्थानक वासी जैन समाज के लिये तो आप प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष थे। गॉव गाँव में ३२ सूत्रों की पेटीयां अमूल्य भेंट देकर ज्ञान दान का अपूर्व लाभ लिया था। आपने अपने जीवन में करीब चार लाख रुपयों का दान किया है। किं बहुना, आप श्री जैनसमाज के चमकते-सितारे थे। आप अपनी अखिल भारतीय जैन कान्फ्रेंस के जनरल सेक्रेटरी थे, और अजमेर नगरी के अभूत पूर्व अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। आप के आकस्मिक देहावसान से जैन समाज की कभी न पूरी हो सकने वाली महान क्षति हुई है ·।

संपादकीय



पुस्तक में क्या है ?

पूर्णता सुख है और अपूर्णता दुःख। अतएव दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा पाने की इच्छा रखने वालो को अवश्य ही अपनी अपूर्णता दूर करनी होगी, यह ध्रुव सत्य है। विना अपूर्णता दूर किये और इसके फल स्वरूप विना पूर्णता प्राप्त किये, जिसे वास्तविक सुख कहना चाहिये वह मिल नहीं सकता। मिलना तो क्या, यो कहिये, उसकी छाया तक के दर्शन नहीं हो सकते। धर्म शास्त्रकारों की दृष्टि मे जीवो का सासारिक आत्मपद अपूर्ण अवस्था है और मोक्ष--स्थानीय परमात्मपद पूर्ण अवस्था। इसी लिये धार्मिक जगत् का अन्तिम साध्य सदा से परमात्मपदप्राप्ति ही रहा है। उक्त परमात्मपद किन किन साधनो से मिल सकता है, इसका उत्तर श्री ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में दिया है। प्रस्तुत पुस्तक का भी यही विषय है और यही आधार भूमि है, अतएव इस में परमात्म पद--प्राप्ति के बीस साधनो का सामान्य जनता के हितार्थ बड़े अच्छे ढग से सविस्तर वर्णन किया है।

मैंने क्या किया ?

यह पुस्तक, आज से तेईस वर्ष पहिले दक्षिण हैदराबाद से श्रीमान् लालाजी के द्वारा प्रकाशित हुई थी। आज इसका यह द्वितीय संस्करण है, जो लालाजी की ही बड़ी बहिन धर्म निष्ठा श्रीमती अनार बाई की तरफ से भेंट है। प्रथम संस्करण का समय कुछ और था, और आज द्वितीय सस्करण का समय कुछ और ही है। उस समय की हिन्दी अपने शैशवकाल मे घुटनो के बल रेंग रही थी, तो आज की हिन्दी अपने नवयौवन के प्रारभ में द्रुतगति से कदम बढाये आगे की ओर चली जारही है। आज का युग भावसौन्दर्य के साथ भाषा सौन्दर्य की भी बहुत कुछ अपेक्षा रखने लग गया है। इसी दृष्टि को लेकर प्रस्तुत पुस्तक के सशोधन आदि का कार्य, ग्रन्थलेखक पूज्य श्री एव लालाजी के अनुरोध से एक प्रकार से निरवकाश होते हुये भी मुझे अपने दुर्बल हाथो मे लेना पड़ा। अनन्तर मैंने क्या किया और क्या न किया, इसका निर्णय करने के लिये पाठक महोदय, प्रथम और द्वितीय--दोनो सस्करणो की एक साथ

शुभ-सम्मति ।

[आज से तेईस वर्ष पहिले यह पुस्तक लिखी गई थी । उस समय ग्रन्थ-लेखक पूज्य श्रीजीने इसकी हस्त लिखित प्रति, कच्छ देश पावन कर्ता आठ कोटि मोटी पक्ष के प्रतापी आचार्य श्री कर्मसिंह जी महाराज की सेवा में अवलोकनार्थ भेजी थी । आचार्यश्री ने पुस्तक पर जो अपना अभिप्राय प्रगट किया है, वह प्रथम संस्करण मे छपा है । आज दूसरे सस्करण में भी उनका आशीर्वाद सादर प्रकाशित किया जारहा है-स०]

" महारी आजे ८४ वर्षनी वय थयेल छे, तेमां अद्यापि पर्यंत आपणा साधु मार्गी वर्गमां आवा उत्तम बोधक तत्वरसथी भर्या ग्रन्थना कर्ता में दीठा के सांभल्या न हता, तेहवा ग्रन्थना कर्ता नो रचेलो आ अमूल्य रत्न करंडक सदृश ग्रन्थ सांभलता म्हारा रोम रोम मां आनंद जागृत थायछे । आवा मुनिरत्नों ने विद्वानों पाक से त्यारेज आपणी कोमनुं उदय किरण चलकशे, पण मबूर

शैले शैले न माणिक्यं, चदन न वने वने ।
साधवो नहि सर्वत्र, मौक्तिकं न गजे गजे ॥

अर्थात्—"उत्तम सुमतोना कांइ टोला के ढेर होता नथी" ! एहवा मुनिवरों तो हजारों मां एकाद बे जबलेज मली आवेछे, म्हारी जईफ अवस्था मां उक्तग्रन्थ नों श्रवण थयुं जेथी हूं म्हारा अहो भाग्य समजूं छूं ! तेओ महात्मा सुखद लांबी उमर भोगवी, आवा उत्तम ग्रन्थों रचि, जैन प्रजामां अमर बनों ! एम हूं म्हारा खरा अंतः करण नी भावना थी शासन देव प्रते पुनः पुनः प्रार्थूं छूं, उक्त भावना फलो ! एम हूं खरा जिगरथी चाहुं छूं ।

प्रस्तावना

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छन्ति सुग्गइ ॥

सर्व कार्यों की सिद्धि तत्साधक मार्ग में प्रवृत्ति करने से ही होती है, यह न्याय सर्व मान्य है। मानों इसलिये ही परमात्मा श्री महावीर प्रभु ने प्रथम आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्याय के प्रारंभ में ही फरमाया है कि–" आत्मकल्याणार्थी जीवों को सर्व प्रथम तो यह जानना चाहिये कि–मै कौनसी दिशा (मार्ग) से आया हूं " उक्त जानपणे के लिये अट्ठारह द्रव्य दिशा और अट्ठारह ही भाव दिशा (मार्ग) का वर्णन किया है। अनन्तर इस सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिये फरमाया है कि–" जो अन्य के सद्बोध से या स्वतः को मति (जाति स्मरण आदि ज्ञान) से ऐसा जाने कि–मै अमुक दिशा से आया हूं वही महात्मा–' आत्मवादी ' आत्मा को मानने वाला ' लोक वादी ' लोकालोक को मानने वाला ' कर्म वादी ' बन्ध मोक्ष को मानने वाला और ' क्रिया वादी ' मोक्ष के क्रिया काण्ड को मानने वाला होता है। '

इस सद्बोध का मतलब यह है कि–जो भवभ्रमण को जानेगा वह श्रद्धेगा, और जो श्रद्धेगा वह भव भ्रमण के दुःखों से छूटने के उपाय–स्वरूप परमात्मपद प्राप्त करने के मार्ग में प्रवृत्ति करेगा। अन्त में परमानन्दी परम सुखी बनेगा।

जो महानुभाव परमात्मपद प्राप्त करने के मार्ग में प्रवृत्ति करने के शौकीन हैं, वे उस मार्ग के और उसमें प्रवृत्ति करने की रीति के अवश्यही जानकार होवेंगे, तबही अभीष्टार्थ सिद्ध करने को समर्थ बनेंगे। उक्त अभीष्टार्थ की सिद्धि के लिये श्री महावीर परमात्माने श्री उत्तराध्ययनजी सूत्र के २८ वें अध्याय की तीसरी गाथा में जो परमात्म-पद प्राप्त करने का उपाय बताया है, वह गाथा प्रस्तुत प्रस्तावना की

आदि में ही लिख आया हूं। उसका तात्पर्य यह है कि-" मोक्ष गति-रूप जो परमात्म पद है उसे प्राप्त करने के अभिलाषियों को ज्ञान-दर्शन-चारित्र-और तप के मार्ग में अनुक्रम से प्रवृत्ति करना चाहिये। तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में भी यही सद्बोध है, कि " सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः " अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्यक् चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मोक्ष यानी परमात्म पद की प्राप्ति का मार्ग है।

उक्त मार्ग को आराधन करने की विधि के २० बोल, और उनके द्वारा उपरोक्त मार्ग का आराधन कर अन्त में परमात्म पद प्राप्त करने का कथन "श्री ज्ञाता धर्म कथांग" शास्त्र के ८ वें अध्याय में श्री मल्लिनाथ परमात्मा का दृष्टांत देकर समझाया है। इन २० ही बोलों का वर्णन आचारांग, सुयगडांग, समवायांग, विवाहपन्नति (भगवती), प्रश्न व्याकरण, उववाइ, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी, अनुयोगद्वार, आव-श्यकजी आदि सूत्रों और बृहद् द्रव्यानुयोग संग्रह, ज्ञानार्णव, सुमति-प्रकाश, न्याय कर्णिका, नवतत्व प्रश्नोत्तर, तत्वार्थ सूत्र, अहार दोष निषेध, जैन तत्व प्रकाश आदि ग्रन्थों की पूर्ण सहायता से यथा मति विस्तार कर प्रस्तुत ग्रन्थ मात्र पांच महीने में ही लिखा गया है, तथैव नाम भी गुण निष्पन्न ही " श्री परमात्म मार्ग दर्शक " स्थापन किया है।

अस्तु मुमुक्षु सज्जनों से नम्र निवेदन है कि-वे तत्व ज्ञानके सागर, सन्मार्ग के दर्शक उक्त ग्रंथका यत्ना के साथ स्थिर एवं शुद्ध चित्त से पठन मनन निदिध्यासन करें, केवल गुणानुरागी ही हो हितकारी वचनों का हृदय कोश में संग्रह करें, और यथा शक्ति परमात्म पद प्राप्ति के मार्ग में प्रविष्ट होकर परमात्मा-परमानन्दी- परम सुखी-बनें !!

श्री जैन स्थानक, चार कमान, दक्षिण हैद्राबाद
वीर सं० २४६८ श्रावणपूर्णिमा

विज्ञेषु-किंबहुना,
आत्मोन्नति-इच्छुक,
अमोलक ऋषि,

' एक बड़ी भूल परन्तु बड़ी अनुकूल '

—:o:—

ग्रन्थ–प्रवेशिका में तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने की तीन गाथाएँ श्री ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र की हैं; मुख्यतया उनके आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना कीगई है। उन तीन गाथा में की पहिली गाथा के तीसरा पदका उत्तरार्द्ध " वछलायतेसिं " है। इसका अर्थ तो यह है कि पूर्वोक्त अरिहंतादि सातों की वत्सलता यानी भक्ति करनी। परन्तु ग्रन्थ की पाण्डु लिपि लिखते समय यह पद " वच्छलाते संघ " इस रूप में याद रहा और इसका अर्थ भी संघ की वत्सलता समझा गया। इस आधार पर ही ग्रन्थ के अष्टम प्रकरण की रचना भी होगई। आगे चल-कर सत्तरहवें प्रकरण का हेडिंग दो प्रकरणों पर वेभान से लिखा गया, जिससे अन्त में बीसही प्रकरण पूर्ण होने से किसी प्रकार का संशय नहीं हुआ। यह भूल दूसरी बार शुद्ध प्रति लिखते समय एवं कच्छ देश पावन कर्ता महात्मा श्री जीके निरीक्षण करते समय तथा बाद में तीन बार मेरी दृष्टि के नीचे पूर्ण ग्रंथ निकालते समय भी जानने में नहीं आई। जब सोलह प्रकरण छप गये और मुद्रणालय के मैनेजर ने आगे की हस्त–लिखित प्रति का अवलोकन किया तो दो प्रकरणों पर एक सत्तरहवाँ हेडिंग दृष्टिगत हुआ। इस पर जब उन्हें भूल प्रतीत हुई तो मूल प्रति लेकर मेरे पास आये एवं भूल दर्शाई। तब प्रारंभ से तपास करने पर ऊपर लिखे अनुसार पद के मात्र एक ही अक्षर तेसिंका–तेसंघ * होने के कारण उक्त भूल जानने में आयी !!

---

* देखिये एकही अक्षर का सहजही फेरफार होने से अर्थ में कितना महान् अन्तर पड जाता है।

यह भूल बड़ी तो इसलिये गिनी जाती है कि श्री सर्वज्ञ परमात्मा ने तो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के २० बोल फरमाये हैं, और मेरी भूल से २१ होगये ! इसलिये सर्वज्ञ की आज्ञा से अधिक कथनी का जो यह दोष मुझे लगा है तदर्थ मैं त्रिकरण से पश्चातापयुक्त पड़िक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि युक्त मिच्छामि दुक्कड़ं करता हूं—कि हे प्रभु, यह मेरी अजान से हुई भूल का पाप निष्फल होवे।

और यह भूल बड़ी ही अनुकूल इसलिये गिनी जाती है कि—इस प्रकरण का समावेश ग्यारहवें विनय नामक बोल में और सत्तरहवें वैयावृत्य नामक बोल में होजाता है। किसी विशेष विवेचनादि के लिये यदि एक बोल के दो प्रकरण किये जावें तो भी कुछ विरुद्ध नहीं होता है। इस कारण मैं उपर्युक्त दोष से मुक्त भी हो सकता हूं ! तथा संघ भक्ति के आठवें प्रकरण में जो विवेचन किया गया है वह इस जमाने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा—इसलिये भी यह भूल अनुकूल गिनी जाती है।
—" जिणवयणं सच्चं "।

अमोलक ऋषि



ॐ

ग्रंथ कर्ता का संक्षिप्त–
जीवन वृत्तान्त

मरुदेश में मेड़ता एक शहर है। उस में सेठ कस्तूरचन्द जी काँसटिया रहते थे, आप ओसवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। आप श्वेताम्बर मूर्ति पूजक थे। व्यापारार्थ आप मालव प्रांत के "आसटे" नामक शहर में निवास करने लगे। अकस्मात् सेठ जी स्वर्ग के महमान बन गये। आपके जेष्ठ पुत्र एवं लघु पुत्र भी आपके अनुगामी बने। मध्यम पुत्र–वधू भी स्वर्ग सिधारी।

इस प्रकार काल की विकराल गति का अवलोकन करके सेठ जी की धर्म पत्नी जबरां बाई को वैराग्य उत्पन्न होगया। दो पुत्रों का मोह छोड कर १८ वर्ष पर्यंत स्थानक वासी जैन धर्म की साध्वी दीक्षा पालकर स्वर्गस्थ हुई।

इस प्रकार स्वकीय कुटुम्बियों के वियोग जन्य व्यथा से व्यथित होकर सेठ साहब के द्वितीय पुत्र केवलचन्द जी भोपाल शहर में आकर रहने लगे। तथा परंपरागत मान्यता के अनुसार पंचप्रतिक्रमण, नवस्मरणादि कण्ठस्थ करके जिन प्रतिमा पूजन–निरत रहने लगे।

समय के अनुसार मनुष्य के जीवन में परिवर्तन होता रहता है। उस समय कुंवर ऋषि जी म० का भोपाल में आगमन हुआ। आप निरंतर एकांतर उपवास करते थे। एक चद्दर से रहते तथा स्वल्प संभाषण करते थे।

शहर में उनके व्याख्यान बडे चाव से सुने जाने लगे। केवल-चंद जी मूर्तिपूजक होने से उनके व्याख्यानों से लाभ नहीं उठाते थे। एक दिन फूलचंद जी धाडीवाल हठपूर्वक उन्हें व्याख्यान सुनने के लिये ले आए। उस समय सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देश्य की ८ वीं गाथा का व्याख्यान चल रहा था। उस दिन के व्याख्यान को सुनने से उन्हें अत्यधिक आनंद हुआ, और बड़ी उत्कंठा के साथ प्रतिदिन व्याख्यान सुनने लगे। प्रतिक्रमण पच्चीस बोल आदि को कण्ठस्थ करके केवलचंद जी केवल मुनि बनने की इच्छा करने लगे। किन्तु भोगावली कर्मों के उदय से "खेडी" ग्राम निवासी छोटमल जी टांटिया की पुत्री हुलास बाई से विवाह करना पडा। हुलासबाई भी दो पुत्रों को छोडकर स्वर्गस्थ होगई।

सम्बन्धियों की प्रेरणा से द्वितीय विवाह करने के लिये मारवाड में जा रहे थे। मार्ग में रतलाम शहर आता है, रतलाम मे पूज्य श्रीउदय-सागर जी महाराज पधारे हुए थे। पूज्य श्री के दर्शन के लिये केवलचंद जी भी गये।

रतलाम में शास्त्रज्ञ एवं बहुश्रुती युवावस्था में सपत्नीक ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाले कस्तूरचंद जी बमोड मिले और कहने लगे।

"विषका प्याला सहज ही गिर गया है उसे पुनः भरने का क्यों यत्न कर रहे हैं ?"

पूज्य श्रीजीने फरमाया कि-एक दफा वैरागी बनकर पुनः वर बनने को क्यों जारहे हो ?

इस प्रकार से उपदेशों का असर होने से केवल चंदजी ने आजी-वन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। भोपाल लोटने पर पुनः वैराग्य ने रंग जमाया। आज्ञा न मिलने से विवश होकर भिक्षाटन करने लगे। एक मास भिक्षाचरी करने के पश्चात वि० सं० १९४३ चैत्र शुक्ला ५ को श्री पूना ऋषिजी के पास दीक्षा लेकर पूज्य श्री खूबा ऋषिजी महा-राज के शिष्य बने। ज्ञानार्जन के पश्चात् तपोऽर्जन में दिन व्यतीत करने लगे।

तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

१–२–३–४–५–६–७–८–९–१०–११–१२–१३–१४–१५–१६–१७–१८–१९–२०–२१–३१–३३–४१–५१–६१–६३–७१–८१–८४–९१–१०१–१११—और १८१ तक तपश्चर्या तक्राधार (छाछ के आधार) से की। इनके सिवाय उपवास वेला तेला आदि अनेक प्रकार के तप किये। आप पूर्व, पंजाब, मालवा, मेवाड, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़, ढुंढाड, झालावाड़, दक्षिण खानदेश और तेलंगाणा आदि अनेक प्रांतों में उग्र विहार करके जैन धर्म का प्रचार करते रहे। वाड़िया और माधोपुर के राजा को मांस भक्षण का त्याग कराया। इस प्रकार बहुत उपकार किये

केवल चंदजी के ज्येष्ठ पुत्र अमोलकचंदजी ने भी अपने पिता के साथही दीक्षा ग्रहण करने के विचार प्रगट किये। कुटुम्बियों के आग्रह से दीक्षा नहीं ले सके, तथा ननिहाल पहुंचा दिये गये।

एक समय कविवरेन्द्र श्री तिलोक ऋपिजी महाराज के पट्ट शिष्य महात्मा श्री रत्न ऋपिजी तथा तपस्वीजी श्री केवल ऋपिजी महाराज ठा० २ इच्छावर नामक गाम में पधारे। खेडी ग्राम से जो कि इच्छावर से ४ मील की दूरी पर था; अमोलकचंदजी अपने मामा के घर से अपने पिता श्रीके दर्शन के लिये इच्छावर आए। पिता श्री को साधु अवस्था में देखकर आपको वैराग्य उत्पन्न होगया। केवल १०-½ वर्ष की लघु अवस्था में मि० फाल्गुण कृष्णा द्वितीया सं० १९४४ के दिन दीक्षा ग्रहण करके केवल ऋपिजी के शिष्य होने की इच्छा प्रगटकी, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तदनंतर ये पूज्य श्री खूबा ऋपिजी महाराज की सेवा में ले जाये गये और पूज्य श्रीजी की आज्ञा से उनके शिष्य श्री चैनाऋपिजी महाराज ने जो कि पूज्य श्री के ज्येष्ठ शिष्य थे, अपने शिष्य बनाये।

स्वल्पकाल में पूज्य श्री तथा गुरु वर्य का स्वर्गवास होजाने से तीन वर्ष पर्यंत अपने संसार के पिताजी श्री केवल ऋषिजी के साथ विचरण करते रहे। तदनंतर तपस्वीजी के एकल विहारी होजाने से आपको दो वर्ष तक भेरूं ऋषिजी के साथ रहना पड़ा। सं० १९४८ के फाल्गुण में पन्नालालजी ओसवाल १८ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर श्री अमोलक ऋषिजी के शिष्य बने।

कविवर श्री कृपाराम जी महाराज के शिष्य रूपचंदजी महाराज जो कि गुरु वियोग–व्यथा से व्यथित थे, उनको शांति प्रदान करने के लिये अमोलक ऋषिजी ने अपने शिष्य को उनकी सेवा में भेज दिया– इससे आपकी उदारता का परिचय प्राप्त होता है।

आप सं० १९४८ के मार्गशीर्ष मास में श्री रत्न ऋषिजी महाराज के सहचारी बने। श्री रत्न ऋषि जीने अमोलकऋषि जी को योग्य पात्र समझ करके शास्त्राभ्यास कराया। सं० १९५६ के फाल्गुण में मोतीराम जी संचेती आपके शिष्य हुए जिनका देहावसान सं० १९६१ के आश्विन मास में बम्बई में होगया।

स० १९६० का चतुर्मास घोडनदी ग्राम में हुआ था। इसी वर्ष मि० आषाढ शुक्ला ९ को जैन तत्त्व प्रकाश का प्रारंभ हुआ तथा आश्विन शुक्ला १० को ग्रन्थ लिखकर पूर्ण कर दिया।

चतुर्मास के पूर्ण होते ही श्री केवल ऋषिजी म० की वृद्धावस्था जान करके उनकी सेवा में रहने लगे। सं० १९६१ का चतुर्मास बम्बई संघ के आग्रह से हनुमान गली में किया गया। बम्बई में रत्न चिन्तामणि जैन मित्र मण्डल की स्थापना हुई। जैन पाठशाला खुली तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज कृत पद्य बद्ध "जैना मूल्य सुधा" नामक पुस्तक, मण्डल की तरफ से प्रकाशित की गई।

बम्बई में दक्षिण हैद्राबाद के निवासी सुश्रावक पन्नालालजी कीमती कार्यार्थ आये थे। उनका कहना हुआ कि हैद्राबाद में साधु मार्गी भाइयों के घर तो बहुत हैं–किन्तु साधुओं के आवागमन के अभाव में

जैन लोग अन्य मतावलम्बी होते जारहे हैं; अतः आप जैसे महात्मा की कृपा हो जायतो एक नया क्षेत्र खुल जाय एवं अत्यंत उपकार हो ।

चतुर्मास पूर्ण होते ही महाराज श्रीने हैद्राबाद की तरफ विहार कर दिया । सं० १९६२ का चतुर्मास इंगतपुरी में किया । यहां के तथा घोटी ग्राम के श्रावकों ने महाराजश्री कृत "धर्म-तत्व संग्रह" ग्रन्थ की १५०० प्रतियें छपवा कर अमूल्य वितरण की । तदनंतर बीजापुर (ओरंगाबाद) आये । यहां के सुश्रावक भिखुजी संचेती ने "धर्म-तत्व संग्रह" का गुजराती अनुवाद १२०० प्रतियों द्वारा अमूल्य वितरण किया ।

इस प्रकार ओरंगाबाद जालने होते हुए तथा शीतोष्ण परिषह सहते हुए सं० १९६३ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हैद्राबाद (अलवाड़) पधारे । चतुर्मास के लिये चार कमान में कोठी (बंगला) में रहे जो कि लाला नेतरामजी रामनरायणजी ने दी थी ।

हैद्राबाद के श्री संघ ने महाराज श्री के व्याख्यानों का शुभ लाभ उठाया । महाराज श्री ने स्याद्वाद के गहन रहस्यों का जनसाधारण की भाषा में अत्युत्तम ढंग से उद्घाटन किया । तत्प्रभावस्वरूप अनेक अजैन जैन, तथा शिथिल धर्मी दृढ़ धर्मी बने । ज्यादा क्या कहें राजा बहादुर लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जैसे श्रावक रत्न भी प्रसिद्ध दानवीर तथा धर्म प्रभावक बने तथा अनेक शास्त्र प्रवीणा, दुष्कर तप करने वाली, सौभाग्यावस्था में ही चारों स्कंध का पालन करने वाली और सर्व जनों को सुख शांति पहुंचाने की भावना रखने वाली गुलाब बाई श्राविका-रत्न बनी —ये दोनों रत्न जैन समाज का मुखोज्वल करने वाले सिद्ध हुए ।

तपस्वीराज श्री केवल ऋषि जी महाराज के शिष्य श्री सुखा ऋषि जी महाराज आश्विन मास से अवस्थ रहे तथा फाल्गुण में आपका स्वर्ग वास होगया । तदनंतर ग्रीष्म ऋतु के आरंभ हो जाने से विहार नहीं हो सका । महाराज श्री का दूसरा चौमासा भी लाला जी के आग्रह से हैदराबाद में ही हुआ । पश्चात् तपस्वीराज जी का स्वास्थ्य एक दम गिर गया, तथा वृद्धावस्था ने हैदराबाद नहीं छोडने दिया—इस प्रकार नव

चतुर्मास हैदराबाद में ही हुए। इन दिनों में तपस्वीराज केवल ऋषि जी महाराज के उपदेशों से लाखों पंचेन्द्रिय जीवों को अभय दान प्राप्त हुआ और श्री अमोलक ऋषि जी ने अनेक ग्रंथ लिखे। राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी प्रमुख श्रावकों ने उन्हें छपवाया तथा उन्हें अमूल्य वितरण किया। सं० १९७१ श्रावण कृष्णा १३ मंगलवार को तपस्वीराज का देहावसान होगया।

तपस्वी जी के देहावसान के बाद एक साथ पांच व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण करने के विचार प्रकट किये। उन में से तीन को योग्य समझ कर के दीक्षा दी गई, जिनका दीक्षा महोत्सव फाल्गुण शुक्ला १३ शनिवार को लाला जी ने किया, उन नवदीक्षित मुनियों के नाम क्रमशः देव ऋषि जी, राज ऋषि जी और उदय ऋषि जी रक्खे गये।

पश्चात् विकट पथ का ग्रीष्म ऋतु में अतिक्रमण करना नवदीक्षित साधुओं के लिये कठिन था, अतः बहुत दिनों से आग्रह करने वाले सिकंदराबाद के श्री संघ की विनती स्वीकार करके अगला चतुर्मास सिकंदराबाद में किया। ग्यारह रगिया वगैरा तपश्चर्या आदि खूब धर्म ध्यान हुआ।

चतुर्मास में राजा बहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ने शास्त्रोद्धार का कार्यारंभ करने की प्रार्थना की, जिसे महाराज श्री ने स्वीकार कर लिया। तदनंतर प्रति दिन ७ घंटे लेखन कार्य करते हुए केवल ३ वर्षों में ३२ सूत्रों का सरल हिन्दी भाषा में अर्थ लिख दिया। इस ३ वर्ष के काल में महाराज श्री एक वक्त भोजन करते थे। राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी ने ४२०००) रु० का सद्व्यय करके सब शास्त्रों की १०००-१००० प्रतियें केवल ५ वर्ष में छपवाकर "लाला शास्त्र भण्डार" के नाम से सब साधुमार्गी क्षेत्रों में अमूल्य वितरण किये।

इस समय के बीच में सं० १९७२ के फाल्गुन मास में मोहन ऋषि जी की दीक्षा हुई। ये युवक मुनि ३ शास्त्र १५ थोकड़ों को कंठाग्र कर चुके थे, तथा संस्कृत में व्याकरण कोष न्याय काव्य इत्यादि विषयों को जानते थे। पर खेद है कि सं० १९७५ में चैत्र कृष्णा को महान तपस्वी

देव ऋषि जी और मोहन ऋषि जी का एक रात्रि में स्वर्ग वास होगया। सं० १९७४ के आश्विन मास में लाला सुखदेवसहाय जी भी जैन समाज को अश्रुमोचन करते हुए छोड़कर स्वर्गारोहण कर गये।

श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने शास्त्रोद्धार का कार्य समाप्त कर दिया। सं० १९७७ पोष शुक्ला २ को शास्त्रज्ञ सुश्रावक बाबू नवल-मलजी सूरजमल जी घोका (वैरिस्टर) की अनेक वर्षों से होने वाली प्रार्थना को स्वीकार करके यादगिरी नामक ग्राम को गये। यादगिरी में अनेक श्रावकों ने महाराज श्री को करनाटक में ही विचरणे का आग्रह किया, जिसे महाराज श्री टाल नहीं सके। करनाटक में विचरण करते हुए जैन, वैष्णव, इस्लाम एवं अन्य राज्य कर्मचारी लोगों को धर्म प्रेमी बनाये। आपने "रायचूर" भी चतुर्मास किया। धर्मोद्योत बहुत हुआ। सूबा साहब तक आपके व्याख्यानों का लाभ उठाते थे।

महाराज श्री की कीर्ति चन्द्रिकातुल्य व्याप्त होने लगी। बेंगलोर से ७० श्रावक महाराज श्री से बेंगलोर की तरफ विहार करने के लिये प्रार्थनार्थ आये। राजमान्य श्रीमान् सेठ श्री गिरधारीलाल जी अन्नराज जी साकला ने राय चूर से विहार के पश्चात् बेंगलोर में महाराज श्री के विराजने तक तन मन धन से सेवा करना स्वीकार किया। महाराज श्री भी धर्म लाभ का उत्तम अवसर देखकर परिषहों को सहते हुए भी २६७ मील का विहार करके बेंगलोर पधारे। आपके उपदेशों से १ जैन साधु मार्गी जैन पौषध शाला, २ जैन रत्न अमोल पाठशाला और ३ जैन पुस्त-कालय, इस प्रकार ३ संस्थाएं कायम हुई। ईरानखां गोस्तखां नामक दो कसाइयों ने जीव हिंसा के त्याग किये। वहां के जज साहब ने भी मांस भक्षण तथा जीव हिंसा के त्याग किये। १५०००) रुपयों का धर्मोन्नति फण्ड तथा ४४००) रुपयों का जीवदया फण्ड स्थापित किया गया। ग्यारह रंगिये, नवरंगिये आदि अनेक प्रकार की तपश्चर्या हुई।

अमीऋषि जी महाराज ने राजकोट से समाचार भेजे कि—अब आगे जाना उचित नहीं। अपनी सम्प्रदाय की स्थिति को देखिये तथा उसको उन्नतिशील बनाने में सहायता दीजिये। अहमद नगर से

श्री रत्न ऋषि जी महाराज ने भी शीघ्र लौट आने के लिये आज्ञा प्रदान की। इस प्रकार ज्येष्ठ मुनिवरों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सका, और अनेक परिसहों को सहन करते हुए ठाणा ३ से महाराष्ट्र देश की तरफ आना पड़ा। महाराज श्री के रायचूर पधारने पर हैदराबाद आदि शहरों से सकुटुम्ब रा० ब० लाला ज्वालाप्रशाद जी वगैरह महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। सर्व श्रीसंघ ने हैदराबाद और करनाटक देश में विचरण करने के लिये साग्रह प्रार्थना की; किन्तु महाराज श्री ने यादगिरी जाना ज्यादा उचित समझकर यादगिरी पधारे।

रायचूर निवासी राज मान्य कच्छी मोमिन कम्मू शेठ जो कि महाराज श्री के अत्यधिक प्रेमी हैं, आये और रायचूर चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना करने लगे; किन्तु महाराज श्री ने स्वीकार नहीं किया और महाराष्ट्र देश में विचरण करने लिये विहार कर दिया। तब सूरजमल जी धोका पैदल यात्रा करके महाराज श्री को सोलापुर तक पहुंचाने आये।

महाराज श्री के गुलबर्गे पधारने पर जाहिर व्याख्यान हुआ। चौहाण वकील आदि सज्जनों के प्रयत्न से गोशाला की स्थापना हुई। सोलापुर में महावीर जयंती मोहत्सव मनाया गया। भाई सूरजमल जी यादगिरी के पश्चात् अपने घर को चले गये। तदनंतर महाराज श्री करमाले पधारे। ये समाचार सुनकरके महाराष्ट्र देश में विहार करने वाले श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ से करमाले पधारे। महाराज श्री के स्वागत के लिये वहां के श्रावकों ने बाजारों में पताकाएं लगाईं। अन्य ग्रामों के श्रावक श्राविकाएं महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। महात्मा श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ से और शहर के सहस्रो श्रावक श्राविकाएं महाराज श्री के स्वागत के लिये १ माइल तक आये। जय ध्वनि और गायनों से गगन को गुंजारित करते हुए महाराज श्रीको नगर प्रवेश कराया। महाराज श्री के मधुर व्याख्यानों एवं शान्त्यादि अनेक गुणों से विनोदित होकर महाराज श्री को साग्रह प्रार्थना करके श्री संघने यहां का चतुर्मास करने के लिये स्वीकृति देने को बाधित किया।

यहां से ठा० ६ चिरम गांव पधारे। वहां पर लाला ज्वालाप्रसाद जी सकुटुम्ब महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। पाथर्डी की संस्था को २५००) रुपयों का दान दिया। अहमदनगर का श्री संघ मिरज गांव आया और अमोलक ऋषि जी महाराज को अहमद नगर चतुर्मास करने के लिये आग्रह पूर्वक प्रार्थना करने लगा, किन्तु महाराज श्री ने स्वीकार नहीं किया। क्योंकि आप रत्न ऋषि जी महाराज के साथ चतुर्मास करना चाहते थे।

अगला चतुर्मास करमाले में किया गया। ७-८ हजार व्यक्ति महाराज श्री के दर्शनार्थ आये। "वर्द्धमान जैन पाठशाला" की स्थापना हुई, जोकि बुधमल जी मोहनलाल जी के आश्रय से चल रही है। श्रमणसूत्र युक्त प्रतिक्रमण, सद्धर्म बोध आदि पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। पूज्य श्री कान्हजी ऋषि जी महाराज के सम्प्रदाय के साधु साध्वियों का सम्मेलन फाल्गुण मास में करने का निश्चय किया गया। चतुर्मास के अनंतर श्री रत्न ऋषि जी महाराज ठा० ३ ने मिरज गांव की तरफ तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ३ ने जामखेड़ की तरफ विहार किया।

अरण गांव और जामखेड़ वालों ने महाराज श्री का स्वागत बड़े ठाठ के साथ किया, यहां से अष्टी पधारे। महाराज श्री के दर्शनार्थ महासतीजी श्री रंभा कंवरजी महाराज ठा० १२ तथा श्री नंदकंवर जी महाराज ठा० ३ से पधारी। ग्राम के बड़े रईस महाराज श्री के व्याख्यानों में आये और मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

यहां से कड़े ग्राम पधारे। महासतियों ने भी यहां ही आगमन किया। जैन पाठशाला एवं बोर्डिंग की स्थापना हुई। इन संस्थाओं में सनाथ एवं अनाथ बच्चों का पोषण तथा धार्मिक व्यावहारिक ज्ञान प्रदान होता रहा है।

वृद्ध महासतीजी श्री रामकंवरजी महाराज को महाराज श्री के दर्शनों की अत्युत्कट अभिलाषा थी, अतः महाराज श्री चीचोंडी होकर

मीरी पधारे। तदनंतर कुंड पधारे। यहां भीमराजजी चुन्नीलालजी के घर से भानसहिवड़े के गृहस्थ भानूजी की सं० १९८१ माघ शुक्ला ५ को दीक्षा हुई; जिनका संस्कारित नाम कल्याण ऋषिजी रक्खा गया।

पश्चात् महाराज श्री का मीरी आगमन हुआ। यहां बेंगलोर वाले कुन्दनमल जी मुलतानमल जी बोहरा की पुत्री और सिकंदरा बाद वाले सुगालचंद जी मकाणा की धर्म पत्नी सामर कंवर बाई की दीक्षा हुई। तदनंतर वाम्बोरी आये।

मनमाड़ में साधु सम्मेलन होने का निश्चय हो चुका था, किन्तु अमी ऋषि जी महाराज आदि साधु समुदाय नियमित समय पर नहीं पहुंच सका, क्योंकि मार्ग में कोई साधु के अस्वस्थ होगया, अतः सम्मेलन स्थगित रखा गया।

सोनई में साधु साध्वियों का आगमन हुआ और आचार्य पदवी आदि उपाधियों का वितरण करने का विचार किया गया। तब श्री अमी ऋषि जी महाराज की आज्ञा हुई कि यह कार्य अहमद नगर में होना चाहिये। तब साधु साध्वियों को अहमद नगर में एकत्रित होने के लिये प्रार्थना की गई। पूज्य श्री कहानजी ऋषि जी महाराज की संप्रदाय के १६ साधु ३६ आर्याएं तथा अन्य संप्रदाय के ५ साधु ५ आर्याएं एकत्रित हो गये। इस प्रकार ६२ ठाणों का सम्मेलन हुआ। अभिमान के गज पर आरूढ साधुओं के होने से इस सम्मेलन में सफलता नहीं मिल सकी।

तदनंतर महाराज श्री अमोलक ऋषि जी का घोड़नदी में चतुर्मास हुआ। यहां भी श्री शांति नाथ जैन पाठशाला की स्थापना हुई। ३-४ हजार आदमी दर्शनार्थ आये। धर्म वृद्धि भी उचित मात्रा में हुई।

मीरी (अहमद नगर) के गृहस्थ मुलतान मल जी की दीक्षा सं० १९८२ मार्ग शुक्ला पूर्णिमा को हुई; जिसका सम्पूर्ण व्यय राजाबहादुर सुखदेवसहाय जी ज्वालाप्रसाद जी हैदराबाद वालों की तरफ से हुआ। वहां से महाराज श्री पूना पधारे। यहां के श्रावकों ने महाराज

श्री को चतुर्मास करने के लिये प्रार्थना की। उसे स्वीकार करके आप चिंचवड वड़गांव पधारे। यहां पर श्री दौलत ऋषि जी महाराज के दो शिष्य, जिनका नाम चौथ ऋषि जी और रत्न ऋषि जी था, महाराज श्री की नेश्राय में रहने के लिये आये। इस प्रकार साधु ठाणा ७ और महासती राजकंवर जी ठाणा ७ का चतुर्मास पूना में हुआ। जैन पाठशाला की स्थापना हुई। महाराज श्री के दर्शन के लिये ४–५ हजार व्यक्ति आये। तपश्चर्या आदि समुचित हुई।

पूना का चतुर्मास समाप्त होने के पश्चात् महाराज श्री का घोड़नदी आगमन हुआ। यहां दो आर्यिकाओं की दीक्षा हुई। यहां से राहोरी होकर कोपर गांव आये, यहां पर सुना कि फूल गांव में आर्या रायकंवरजी अत्यंत रुग्ण हैं तथा संकट में हैं। इस प्रकार के समाचारों को सुनकर महाराज श्री सुलतान ऋषिजी के साथ फूल गांव गये। महासती श्री रंभा कंवर जी की सहायता से उन्हें कोपर गांव ले आये। रोग को असाध्य समझ कर के उनके भाव संथारा करने के हुए अतः संथारा कराया गया। ४२ दिन के संथारे के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। यहां के निवासी श्रावकों ने दर्शनार्थ आने वाले सज्जनों की अच्छी सेवा की।

यहां से आप मनमाड़ पधारे। श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ५ और महासती जी श्री रंभाकंवरजी महाराज ठा० १३ इस प्रकार ठा० १८ का मनमाड़ में चतुर्मास हुआ। ८–१० हजार व्यक्ति दर्शनार्थ आये। छः उपवास से अधिक का तप १०० से अधिक हुआ। चतुर्मास के पश्चात् महाराज श्री ठा० ५ धुलिया पधारे। यहां श्री राज ऋषिजी महाराज नेत्र विहीन होगये तथा विहार के योग्य नहीं रहे तथा यहां के जैन संघ का आग्रह होने से चतुर्मास यहां ही किया गया। पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के सम्प्रदायानुयायिनी महासती श्री महताब कंवर जी महाराज ठा० ४ का चतुर्मास भी यहां ही हुआ। ४–५ हजार व्यक्ति दर्शनार्थ आये। धर्म ध्यान अच्छा हुआ। मिती फाल्गुण कृष्णा ११ के दिन राज ऋषिजी महाराज का स्वर्गवास होगया। निर्वाणोत्सव श्रीमान् हेमराजजी पृथिवीराजजी की ओर से किया गया।

तदनंतर आप कागणे पधारे। यहां साधुओं में परस्पर वैमनस्य हो जाने से श्री अमोलक ऋषिजी महाराज अकेले रहे गये। यह समाचार धुलिया श्री संघ ने सुने। धुलिया के श्रावक विलाडि ग्राम आये और नालोद ग्राम लेगये। नालोद में घोड़ नदी के श्रावक लोग भी आगए और सब लोगों के अत्याग्रहपूर्ण प्रार्थना से महाराज श्री को धूलिया जाना पड़ा। तदनंतर महाराज श्री ने वन पर्वतादि में रहकर ध्यान और तपाचरण की इच्छा प्रगट की। श्रावकों ने सानुरोध महाराज श्री को वैसा करने से रोक दिया, तथापि निदाघ काल में भी दो दो चार दिन के व्रत करने प्रारंभ कर दिये। दो मास की तपश्चर्या के पश्चात् शरीर में गरमी चढ़ गई और नेत्र रोग से पीड़ित होगये अतः श्रावकों ने प्रार्थना की कि संयम का पालन करने के लिये नेत्रों की आवश्यक्ता है इसलिये तपश्चर्या छोड़ दीजिये। उक्त बात को ध्यान में लाकर महाराज श्री ने औषधोपचार किया

यह चतुर्मास भी धुलिया में ही हुआ। चतुर्मास समाप्त होजाने पर भी यहां के श्री संघ ने महाराज श्री को विहार नहीं करने दिया। यहां बोरकुण्ड वाली पद्मकंवर बाई की दीक्षा माघ मास में महासती सायर कंवर जी के पास हुई। दीक्षा महोत्सव धुलिया श्री संघ ने अच्छा किया।

जो तीन साधु महाराज श्री से वियुक्त होगये थे, उनमें से श्री कल्याण ऋषि जी और श्री सुलतान ऋषिजी महाराज सन्मति प्राप्त हो जाने से पुनः धूलिया आये। धूलिया श्री संघ के अत्यंत आग्रह से आषाढ़ शुक्ला १३ को उन्हें सम्मिलित किया, तृतीय चतुर्मास भी धूलिया में ही हुआ

चतुर्मास में महाराज श्री के संसार अवस्था के भाई श्रीमान् सेठ अमीचन्दजी कासठिया महाराज श्री के दर्शनार्थ आये तथा जैन संघ में धातु के प्यालों की प्रभावना दी। जैन शाला आदि में ४००) रूपैयों का दान दिया।

हैदराबाद मे श्रीमान् सेठ साहब जमनालाल जी रामलाल जी कीमती आये। रामलाल जी ने ब्रह्मचर्य व्रत का स्कंध स्वीकार किया। जैन तत्त्व प्रकाश और थोकड़े की पुस्तक छपवा कर अमूल्य वितरण की। गरीबों को वस्त्र-दान दिया। इसी प्रकार हैदराबाद से श्रीमान् धर्मात्मा रूपचंद जी जवाहरलालजी रामावत सकुटुम्ब दर्शनार्थ आये। तपश्चर्या की एवं सैकड़ों रूपये दान पुण्य में लगाये। करीब १०००) भाई दर्शनार्थ आये, धर्म वृद्धि अच्छी हुई।

इन्हीं दिनों में मालव प्रान्तान्तर्गत दलोट ग्राम निवासी दो वणिक् व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करने के लिये आये। उनकी दीक्षा मिती मार्गशीर्ष कृष्णा ५ सं० १९८९ गुरुवार को हुई। उनका संस्कारित नाम श्री जयवन्त ऋषि जी और श्री शांति ऋषि जी रखा गया।

कियत् काल के पश्चात् वृहत्साधु-सम्मेलन करने की योजना हुई। उसी समय कान्फरॅन्स की तरफ से यह घोषणा की गई कि जिन सम्प्रदायो में आचार्य न हो उन्हें संगठन करके आचार्य नियुक्त कर लेने चाहिये।

दक्षिणप्रान्त में विचरण करने वाले साधु साध्वियों का संगठन करने के लिये शास्त्रज्ञ श्रावक श्री किशनदास जी मूथा अहमद नगर वाले और श्रीमान् सेठ श्री मोतीरामजी मूथा सतारा वाले नियुक्त किये। दोनों सज्जन श्री अमोलक ऋषिजी महाराज श्री की सेवा में धूलिया आये और सम्प्रदाय का संगठन करने के लिये अर्ज करने लगे।

उक्त अवसर आने से पूर्व ही तपस्वी राज श्री देवजी ऋषि जी महाराज और आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी महाराज ने भी यह सूचना देदी थी कि श्री अमोलक ऋषि जी महाराज को आचार्यपदविभूषित करना चाहिये। पण्डितरत्न आनंद ऋषिजी महाराज भी सन्निकट थे अतः आमंत्रण देने पर वे भी धूलिया पधार गये। सांप्रदायिक एकता के लिये साधु-समाचारी के ६१ नियम (कलम) लिखे गये। पूज्य पदवी का उत्सव किस स्थान पर करना चाहिये, इस बात का निर्णय करने के लिये

दानवीर सेठ श्री सरदारमलजी पुंगलिया नागपुर वाले और सौभाग्यमल जी जावरा वाले को तपस्वीराज देवजी ऋषिजी महाराज के पास भेजा। तपस्वी राज ने उक्त महोत्सव मालव प्रान्त में करने की सलाह दी, जिसे पण्डित रत्न आनंद ऋषिजी महाराज ने भी स्वीकृत करते हुये हर्ष प्रगट किया। तदनंतर पण्डितरत्न ने महाराज श्री को मालवे की तरफ विहार करने की सलाह दी और कहा कि मेरे भाव भी घोड़ नदी में श्री रामकंवरजी से मिलकर तथा साध्वियों की सलाह लेकर शीघ्र आने के हैं। पण्डित रत्न ने दो ठाणे से घोड़ नदी की ओर तथा श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने मालव प्रान्त की ओर विहार किया।

आप सिरपुर होते हुये गणेश घाट पर चढ कर सेंधवे पधारे। विन्ध्याचल पर्वतों को अतिक्रमण करके चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को इन्दोर पधारे।

हैदराबाद निवासी दानवीर सेठ जमनालाल जी रामलालजी कीमती की दुकान इन्दोर में भी है। महाराज श्री का आगमन इन्दोर हो रहा है, ये समाचार जानकर, सेठ साहब ने इन्दोरस्थित मुनीमजी को तार द्वारा आचार्य पद महोत्सव इन्दोर में ही किया जाय, इसका महाराज जी से वचन लेने के लिये सूचना दी। इस पर इन्दोर का श्री संघ महाराजजी के स्वागत के लिये आया और उक्त विषयक प्रार्थना स्वीकृत कर वाली।

उक्त प्रार्थना के स्वीकृत होजाने के पश्चात् भोपाल से यह तार आया कि आचार्य पद महोत्सव भोपाल में करवाने की प्रार्थना करने के लिये यहां का श्री संघ आरहा है। संध्या के समय अमीचंद जी कासंठिया राजमल जी डोसी आदि भी आगये। आने के पश्चात् उन्होंने सुना कि आचार्य पद महोत्सव की स्वीकृति हो चुकी है, अतः वे हताश हो गये। क्यों कि अमीचंद जी कासठिया, जो कि महाराज श्री के सांसारिक भाई है, अपने व्यय से वह महोत्सव भोपाल में ही देखना ज्यादा पसंद करते थे। उन्हें प्रसन्न रखने के लिये महाराज श्री ने आचार्यपद महोत्सव के पश्चात् प्रथम चतुर्मास भोपाल में करने की स्वीकृति

प्रदान करदी।

आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी महाराज और श्री विनय ऋषि जी महाराज बगड़ी (मारवाड़) से विहार करके २१ दिनों में इन्दोर पधारे। तपस्वीराव देवजी ऋषि जी महाराज ठा० ४ नागपुर से विहार करके अतिशीघ्र आये। तदनंतर पण्डित रत्न आनंद ऋषि जी महाराज ठा० २ दक्षिण प्रान्त से अतित्वरता से आये। महासती श्री रत्न कंवर जी महाराज ठा० १२ से आई। इस प्रकार १४ साधु और १२ आर्यिकाएँ ऋषि सम्प्रदायानुयायी थीं। पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुनि श्री ताराचंद जी म० ठा० १६ एतत् सम्प्रदायानुयायिनी आर्यिका श्री मेन कुंवर जी महाराज ठा० १५ पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज के संत श्री लाभचंद जी महाराज ठा० ३ और पूज्य श्री मन्ना-लाल जी महाराज के संत श्री सेंहसमल जी महाराज ठा० ३ भी उपस्थित थे। इस प्रकार ३६ साधु और २७ साध्वियें कुल ६३ ठाणा इन्दोर में आचार्य पद महोत्सव के समय में उपस्थित थे।

आमंत्रण पत्र के पहुंचने पर मालवा, मेवाड़, मारवाड़, खानदेश, दक्षिण, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, करनाटक, तैलंग, पंजाब आदि प्रान्तों से प्रायः १००० व्यक्ति उक्त उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये।

मिती ज्येष्ठ शुक्ला १२ बुधवार संवत् १९८९ के शुभ दिन इतवारिया बाजार में रावराजा सेठ हुकमचंद जी की धर्मशाला में ५००० जनता के समक्ष चारों तीर्थों ने श्री अमोलक ऋषि जी महाराज को शुद्ध स्वदेशी चद्दर प्रदान करके ऋषि सम्प्रदाय का आचार्य बनाया। जनता हर्ष प्रकट करने के लिये गगनभेदी नाद द्वारा पूज्य श्री की जय कार का उच्चारण करने लगी।

ग्रामान्तर से आई हुई जनता के लिये श्रीमान जमनालाल जी रामलाल जी कीमती की ओर से भोजन की व्यवस्था की गई थी। उक्त कार्य में लाला ज्वालाप्रसाद जी ने भी आदि से अन्त तक बहुत

परिश्रम उठाया। उसी दिन मध्याह्न काल में ऋषि श्रावक समिति की स्थापना की गई। जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसाद जी एवं दानवीर सेठ सरदारमल जी पुंगलिया समिति के संरक्षक बने। ब्यावर गुरुकुल की ओर से अपील होने पर लाला जी साहब ने २५०१) रुपये तथा सरदारमल जी पुंगलिया ने २००१) रुपये गुरुकुल में मकान बनवाने के लिये दिये।

इस प्रकार आचार्य पद महोत्सव सानंद सम्पन्न हुआ। सर्व मुनि लोग अपने चतुर्मास के लिये निश्चित स्थानों की ओर विहार करने लगे। पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ठा० ११ देवास, मक्सी, शाहजापुर होकर शुजालपुर पधारे। यहां तपस्वीराज श्री देव जी ऋषि जी महाराज चतुर्मास करने के लिये ठाणा ६ से ठहर गये और पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी सीहोर होकर भोपाल पधारे। मूर्ति पूजक, स्थानक वासी जैनों के अतिरिक्त अजैनों ने भी आपका बड़ा अच्छा स्वागत किया। मोदों के रमणीक एवं सुविशाल जैन स्थानक में आप विराजमान हुए।

पूज्य श्री के व्याख्यानों से जैन जैनेतर जनता ने खासा लाभ उठाया। कई अजैन जैन बने। अठाइयें आदि तपश्चर्या भी बहुत हुई। ऋषि श्रावक समिति के मंत्री धीरजलाल भाई तुरखिया पूज्यश्री की सेवा में रहते थे। समिति को हजारों रुपयों का दान मिला।

बृहत्साधु सम्मेलन के लिये सम्मति प्राप्त करने को प्रतिष्ठित स्थानक वासी श्रावकों का डेप्युटेशन आया, और भी सैकड़ों नर नारी पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये। ग्रामान्तर से आये हुए भाइयों के लिये भोजन आदि का खर्च एवं पढ़ाने वाले पण्डित का वेतन श्रीमान् अमीचंद जी कांसठिया ने ही प्रदान किया। इस प्रकार चतुर्मास सानंद समाप्त हो गया।

तदनंतर बृहत्साधुसम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये पूज्य श्री ने अजमेर की ओर विहार किया। सिहोर होकर शुजाल-पुर आये। यहां मार्ग शीर्ष कृष्णा ११ को चार दीक्षा हुई, जिन में ३ साधु और

एक साध्वी बनी। उनमें से श्री कांति ऋषिजी श्री सखा ऋषिजी महाराज के, श्री अक्षय ऋषिजी श्री तपस्वीराज देवजी ऋषिजी महाराज के, और श्री फतेह ऋषिजी पूज्य श्री जी के शिष्य बने। श्री सूरजकंवरजी श्री मेना जी की शिष्य बनी। इस अवसर पर इन्दोर का चतुर्मास समाप्त करके आत्मार्थी मोहन ऋषिजी महाराज भी यहां पधार गये। यहां से शाजापुर आये। नवदीक्षितों को बड़ी दीक्षा दी गई। यहां से उज्जैन आये।

पूज्य श्री के उज्जैन पधारने पर प्रतापगढ़ और मन्दसोर से दो तार आये कि वृद्ध महासती श्री हमीरांजी अत्यंत बीमार हैं और आपके दर्शन की इच्छुक हैं। पूज्यश्री शीघ्र विहार करके जावरा होकर प्रतापगढ़ पधारे। इस प्रकार १०० माइल का विहार ७ दिन में समाप्त किया, वृद्ध महासती जी अत्यंत प्रसन्न हुई।

वृद्ध महासतीजी साध्वियों का संगठन करने तथा पूज्य श्री के आदेश को शिरोधार्य करने का आदेश देकर, चार घंटे के संथारे के पश्चात् समाधि मरण पूर्वक स्वर्ग सिधारी। अग्नि संस्कार के पश्चात् सस्त्र मुखवस्त्रिका एवं चोलपट्टक का एक वस्त्रखण्ड विना जले हुए निकले—इससे जनता में आश्चर्य का प्रवेश हो गया।

तदनंतर मालव प्रान्त में विचरण करने वाली साध्वियों का सम्मेलन हुआ। उस समय पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, तपस्वीराज श्री देवजी ऋषिजी महाराज, पण्डित रत्न आनंद ऋषिजी महाराज आदि १६ ठाणा साधु और श्री कस्तूरांजी, श्री सरदारांजी, श्री रत्नकंवर जी श्री हगामाजी आदि ३४ साध्वियें उपस्थित थीं।

उक्त साध्वी सम्मेलन की सभा मिति पोष शुक्ला १३ को पूज्य श्री की अध्यक्षता में हुई। सैंकड़ों जैन जैनेतरों की उपस्थिति थी। १५ प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हुए।

यहां से नींमच, जावद, निम्बाहड़ा, चितौड़ होते हुये भीलवाड़े पधारे। यहां शास्त्र विशारद पूज्य श्री मन्नालाल जी महाराज ठाणा १५ से विराजमान थे। गणी गुणालंकृत श्री खूबचंद जी महाराज, प्रसिद्ध-

वक्ता श्री चौथमलजी महाराज आदि संत पूज्य श्री के स्वागतार्थ पधारे। सब सन्तों का एक ही स्थानक में विराजमान होना अत्यंत रमणीक प्रतीत होता था।

श्रीमान् लाला ज्वालाप्रसादजी श्रीमान् सरदारमलजी सुज्ञ श्रावक धीरजलालजी भाई आदि सैकड़ों श्रावक श्राविका दर्शनार्थ आये। यहां से व्यावर (नया शहर) पधारे यहां साधुओं का वृहत्समुदाय सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये एकत्रित होगया। यहां से खारवे आये। यहां पूज्य श्री मन्नालालजी महाराज और पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज का पारस्परिक वैमनस्य मिटाने के लिये दोनों पक्षों की सम्मति से पांच पंच नियुक्त किये गये।

पंचों के नाम इस प्रकार से हैं—

(१) पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज। (२) पण्डितराज श्री मणिलालजी महाराज। (३) कविराज श्री नानचन्द्रजी महाराज। (४) शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज। (५) युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज। उक्त पंचों ने दोनों पक्षों के पारस्परिक विरोध को मिटाकर द्वादश संभोग सम्मिलित करवा दिये।

चैत्र शुक्ला दशमी बुधवार को शताधिक साधु और २०—२५ हजार जनता बड़े समारोहपूर्वक अजमेर शहर के प्रमुख बाजारों से होती हुई ममइये के विशाल भवन में आई। विराट सभा में मंगलाचरण स्वरूप मुख्य २ मुनिवरों के भाषण हुए। पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने नन्दी सूत्र की स्थविरावली सुना करके सम्मेलन की सफलता के लिये सारगर्भित व्याख्यान दिया, जो पुस्तकाकार छप चुका है।

इसी भवन में पृथक् २ विभागों में मुनिगण विराजमान हुए। भवन के पिछले विभाग में एक सुन्दर न्यग्रोध (वट) तरु परिमण्डलाकार सुशोभित है। उक्त वृक्ष के नीचे ७६ प्रतिनिधि साधुओं की वृत्ताकार सभा प्रति दिन प्रातः ८ से ११—पुनः मध्याह्न ११ से ४ और रात्रि को ८ से १० तक सभा होती थी। जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र एवं समाजोन्नति आदि विविध विषयों पर व्याख्यान तथा वाद विवाद होते थे,

जिनसे अत्यानंद आता था। स्थानक वासी जैन समाज की उन्नति के लिये कई उपयोगी नियम निर्धारित किये गये।

वैशाख शुक्ला २ सं० १९९० को धूलिया निवासी स्वर्णकार हरिचन्द्रजी की दीक्षा हुई। इनका संस्कारित नाम हरि ऋषिजी रखा गया। दीक्षा महोत्सव का सम्पूर्ण व्यय जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसाद जी की ओर से हुआ। दीक्षा स्थल पर अनुमानतः २०० साधु-साध्वी और १००० जनता उपस्थित थी।

मारवाड़ प्रान्तान्तर्गत सादड़ी में २५० घर स्थानक वासी भाइयों के हैं। वहा के शेष मूर्तिपूजक व्यक्तियों ने स्थानक-वासियों से सामाजिक संबंध को तोडकर उन्हें तंग करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार की व्यथा से व्यथित होकर वहाँ के स्थानकवासी-भाइयों ने सम्मेलन में कई मुनिराजों को वहां चतुर्मास करके उनके दुःख मिटाने की प्रार्थना की। किन्तु कोई भी मुनिराज उक्त कार्य को अपने हाथ में लेना नहीं चाहते थे।

पण्डित रत्न आनंद ऋषिजी का प्रकृतिकोमल हृदय उनके दुःखों को सुनकर दयार्द्र होगया और पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज को सादड़ी में चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना करके पूज्य श्री की वहां का चतुर्मास करने की स्वीकृति प्राप्त करली।

श्री हरि ऋषिजी को बड़ी दीक्षा देकर पूज्य श्री ने अजमेर से विहार किया। ब्यावर, रायपुर, बगड़ी, सोजत, और पाली होते हुए मिती आषाढ शुक्ला २ को पूज्य श्री का सादड़ी में शुभागन हुआ। आप ताराचन्दजी के स्थानक में विराजे।

पूज्य श्री से ज्ञानादि गुणों का लाभ प्राप्त करने के लिये प्रवर्तिनी श्री रत्नकंवरजी ने भी ठा० ९ से सादड़ी चतुर्मास किया। तपश्चर्या एवं धर्म ध्यान अत्यधिक हुआ। ऋषि श्रावक समिति को उचित सहायता मिली। मारवाड, मेवाड़, मालवा, दक्षिण, गुजरात, पंजाब आदि प्रान्तों से सैकड़ों व्यक्ति पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये।

साधु सम्मेलन के नियमों का प्रतिपालन कराने के लिये जो डेप्युटेशन निकला, जिनमे हेमचन्द भाई, दुर्लभजी भाई आदि मुख्य थे– प्रारभं में मंगलाचरण स्वरूप पूज्य श्री के दर्शनार्थ सादड़ी आया।

जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसादजी पूज्य श्री के दर्शन करने के लिये सादड़ी आये। लालाजी ने महाराज श्री को महेन्द्रगढ़ की ओर विहार करने के लिये प्रार्थना की। पूज्य श्री ने महेन्द्रगढ की ओर विहार करने में विशेष लाभ समझ करके महेन्द्रगढ़ की ओर ही विहार किया।

सांडेराव नामक ग्राम में पूज्य श्री का आगमन हुआ। यहां दुर्लभजी त्रिभुवनजी जोहरी का पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि–जयपुर में शास्त्र संशोधन के लिये साधुओं की एक सभा होने वाली है–जिसमें आप का सम्मिलित होना अत्यंत आवश्यक है–अतः आपको शीघ्र जयपुर पधारने का निमंत्रण है।

यहां से पाली पधारे। पाली में आत्मार्थी मोहन ऋषिजी म० ठा० २ उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ठा० ५ पण्डितराज श्री मणीलालजी महाराज ठा० ६ का सम्मेलन हुआ। शास्त्र संशोधन के लिये परस्पर विचार विमर्श हुआ।

यहां से जोधपुर पधारे। यहां श्री रामलालजी महाराज ठा० ३ मिले। जोधपुर से क्रमशः विहार करते हुए पीपाड़ में पूज्य श्री का आगमन हुआ, यहां श्री माणक ऋषिजी महाराज ठा० २ मिले। सर्व सन्तों के साथ पूज्य श्री मेड़ते पधारे। यहां पर पूर्वजों की हवेली देखी, तदनंतर पुष्कर जी में आने पर ब्रह्माजी के मन्दिर में अत्यंत प्राचीन ऋषभदेवजी का चित्र देखा–जिनके मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई थी। पश्चात् अजमेर पधारे। यहां पण्डितराज श्री घासीलाल जी महाराज ठा० ८ मिले।

इस प्रकार किशनगढ़ होते हुए जयपुर पधारे। पूज्य श्री के स्वागत के लिये उपाध्याय आत्मारामजी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज, आदि सर्व–

साधु मण्डल और सैकड़ों नरनारी आये। सब सन्त जौंहरी काशीरामजी की हवेली में ठहरे।

प्रातः काल ८ से १० बजे तक और मध्याह्न काल में १ से ४ बजे तक साधुओं की सभा होती थी, जिसमें शास्त्रान्तर्गत संशयास्पद स्थलों पर सविवेचन निर्णय होता था।

राम बाग का चिड़िया घर और अजायबघर देखे। लाला ज्वाला-प्रसादजी दर्शनार्थ आये। तदनंतर यहां से विहार करके रिंगस खंडेले होते हुए नीमके थाणे आये। यहां सिद्धहस्त लेखक कविराज अमरचन्द्रजी और खद्दर प्रिय श्रीचद्रजी महाराज से सम्मेलन हुआ—जोकि प्रतापीपूज्य श्री मोतीरामजी महाराज द्वारा महेन्द्रगढ़ से पूज्य श्री के स्वागत के लिये भेजे गये थे।

सब संत नारनौल होकर महेन्द्रगढ़ पधारे। यहां पण्डित रत्न श्री पृथिवीचद्रजी महाराज श्री श्यामलालजी महाराज आदि मुनिवर तथा लाला जी का सकल परिवार एवं अन्य जन समुदाय पूज्य श्री के स्वागत के लिये आया।

पूज्य श्री स्थानक में पधारे। यहां प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज के दर्शन किये। दोनों पूज्य एक पाट पर विराज कर मंगला-चरण फरमाया। यह दृश्य बड़ा रमणीक था। पूज्य श्री लालाजी के अतिथि भवन में विराजे।

पूज्य श्री महेन्द्रगढ़ में ९ महीना ९ दिन विराजे। इस बृहत्काल में श्रीमद् भगवती सूत्र सम्पूर्ण तथा अनेक चरित्र व्याख्यान में कहे गये। व्याख्यान में लालाजी एवं उनका सकल परिवार आया करता था। उनके अतिरिक्त अनेक जैन जैनेतरों ने व्याख्यान का लाभ उठाया। लालाजी ने महाराज श्री के व्याख्यानों का लाभ लेने के लिये पंचकूला एवं हैद्राबाद आदि शहरों से अपने परिचितों को आमंत्रण देकर बुला लिया। कुंडा आदि संस्थाओं को लालाजी ने दान देकर उपकृत किया। इस प्रकार ७-८ हजार रुपैयों का व्यय सत्कार्य मे किया गया। तपश्चर्या भी आशातीत हुई।

चतुर्मास में देहली श्री सघने पूज्य श्री को देहली की ओर विहार करने के लिये प्रार्थना की अतः चतुर्मास समाप्त होने पर पूज्यश्री ने देहली को विहार किया। पूज्यश्री के पाटोदी पहुंचने पर लाला ज्वालाप्रसादजी सपरिवार दर्शनार्थ आये। यहां से गुड़गांवा (छावनी) होते हुए महरोली (कुतुब) आये। पूज्य श्री के स्वागत के लिये युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज अपनी शिष्य मण्डली सहित कुतुब पधारे। यहां से चिराग देहली और नई देहली होते हुए शहर में पधारे। पूज्य श्री के स्वागत के लिये जन समूह उमड़ पड़ा था। पूज्य श्री महावीर भवन में विराजमान हुए। यहां के श्रोता विज्ञ होने से पूज्यश्री व्याख्यानों का अच्छा रस लेते थे।

तदनंतर पूज्य श्री ने सदर सब्जी मंडी नये बाजार में कुछ कुछ दिन व्यतीत किये, जिससे पूज्य श्री के व्याख्यानों की धूम लग गई।

तदनंतर पूज्य श्री की इच्छा आगरा होकर मालवा एवं दक्षिण प्रान्त में जाने की थी; किन्तु यू० पी (जमना पार) और पंजाब के अनुमानतः ४०० व्यक्तियों ने पूज्य श्री को यू० पी० और पंजाब में विहार करने के लिये प्रार्थना की।

पूज्य श्रीने यू० पी० की तरफ विहार किया। लोहारा सराय, बागपत, हिलवाड़ी, बामनोली, एलम, कांदला, गंगेरू, तीतरवाड़ा, आदि ग्रामों में विहार करते हुए नावों के पुल से जमनापार होकर पंजाब पधारे। उक्त यू० पी० के स्थानकों पर मन्दिरों के समान स्वर्ण कलश सुशोभित हैं। यद्यपि इस प्रान्त में मूर्ति पूजक जैनों का बाहुल्य है—तथापि स्थानक वासियों का सर्वदा ऊंचा ही रहता है।

इस प्रकार पूज्य श्री बरसत, अम्बाला, पटियाला, होकर नाभा पधारे। यहां पण्डित रामस्वरूपजी, कवि अमरचंदजी एवं महासती द्रोपदीजी ठा० ८ का परस्पर सम्मिलन हुआ। तदनंतर मलेर कोटला आये। यहां श्री फ़कीरचन्दजी फूलचंदजी एवं शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी, तथा युवाचार्य काशीरामजी महाराज से मिलन हुआ। यहां से रामपुरे होकर लुधियाने पधारे। यहां स्थविर श्री जयरामदासजी म० श्री

सालगरामजी म० विराजमान थे। उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज शतावधानी जी एवं युवाचार्य जी श्रावक श्राविकाओं सहित पूज्य श्री के स्वागत के लिये पधारे। सर्व सन्त प्रेम के साथ एक भवन में विराजमान हुए।

यहां से पूज्य श्री की इच्छा पंचकूला गुरुकुल की ओर जाने की थी, किन्तु अमृतसर से २१ श्रावकों का डेप्युटेशन पूज्य श्री के दर्शनार्थ आया और अर्ज करने लगा कि—अमृतसर में पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज आप से मिलना चाहते हैं। अतः अमृतसर पधारें।

पूज्य श्री वयोवृद्ध श्री सोहनलाल जी महाराज की गुरुतम आज्ञा को नहीं टाल सके और अमृतसर की ओर विहार कर दिया। फगवाड़े होकर जालंधर पधारे। यहां पूज्य श्री को स्थविरपदविभूषिता विदुषी महासती श्री पार्वतीजी के साथ ११ घंटे तक शास्त्रीय चर्चा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लाला ज्वालाप्रसादजी यहां पर पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये।

यहां से विहार करने पर कपूरथले में वृद्ध संत नारायणदासजी म० पं० नृपतरामजी म० से मिलन हुआ। तदनंतर गुरू के जड़ियाले पधारे। यहां कई वर्षों से पत्री का और परम्परा का झगड़ा—जो कि श्रावकों में पड़ा हुआ था उसे मिटाया और परस्पर प्रेम करवा दिया।

तदुपरांत पूज्य श्री अमृतसर पधारे। यहां श्रीमान् गेंदामलजी के बगीचे में ठहरे। साथ में युवाचार्य काशीरामजी भी थे। शहर में सूचना पहुंचने पर जन समूह उमड़ आया। पूज्य श्री सोहनलालजी म० के कई संत पूज्य श्री के स्वागत के लिये आये। पूज्य श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज की सेवा में विराजे। तीन दिन तक दोनों पूज्यों का परस्पर प्रेमालाप अति दर्शनीय एवं यह दृश्य जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य है।

तदनंतर जालंधर, बंगिया, नया शहर, राहो, बलाचोर, होते हुये रोपड़ पधारे। यहां उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने अपने शिष्य मण्डल एवं श्रावक श्राविकाओं को साथ लेकर पूज्य श्री का स्वागत किया।

यहां से सर्व सन्तों ने खरड़ होकर पंचकूला के लिये प्रस्थान किया। लाला ज्वालाप्रसाद जी सेठ जमनालाल जी एवं कर्मचारियों सहित गुरुकुल के छात्रों ने पूज्य श्री प्रमुख साधु मण्डल का सादर स्वागत किया।

जैनेन्द्र गुरुकुल के भव्य सामायिक भवन में जो कि साहित्य भवन से युक्त है और जिसके निर्माण के लिये लाला ज्वालाप्रसाद जी ने अनुमातः १२०००) रुपये व्यय किये हैं, मुनिमण्डल ने निवास किया। गुरुकुल का प्रशांत वातावरण मनो मोहक है। कल कल निनाद करने वाले छोटे २ झरने अविरल गति से प्रवाहित होते रहते हैं। पक्षियों का मधुर संगीत मन को आनंदित किये विना नहीं रह सकता। ब्रह्मचारी मण्डल शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक उन्नति के लिये सर्वदा प्रयत्न शील देखा गया है। इस भयावह जंगल में गुरुकुल द्वारा मंगल स्थापित किया गया है। गुरुकुल के सामने से पक्की डांम्भर की सड़क तथा रेलवे लाईन शिमला तक जाती है। अतः यह स्थान अत्यंत सुन्दर प्रतीत होता है।

वैशाख कृष्णा २–३–४ को गुरुकुल का सप्तम वार्षिकोत्सव था। अनुमानतः १०००–११ सो व्यक्ति उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये थे। पूज्य श्री एवं उपाध्याय जी महाराज के व्याख्यानों का जनताने खूब लाभ उठाया। जैन समाज की सुप्रसिद्ध महिला श्रीमती लेखवती जैन बी. ए., एम. एल. सी. भी उत्सव में सम्मिलित थी। उक्त महिला की अपील से १४०००) रुपयों की एक भारी रकम गुरुकुल को दानस्वरूप प्राप्त हुई। विद्यार्थियों के भाषण एवं गायन भी जनसमूह को आकर्षित किये विना नहीं रहे।

उक्त उत्सव में सम्मिलित होने वाले श्रावक श्राविकाओं ने पूज्य श्री को अपने अपने शहरों में चतुर्मास करने के लिये साग्रह प्रार्थना की–किन्तु देहली वालों की प्रार्थना को स्वीकार किया।

तदनंतर शिमला के श्रावकों की विनती, उपाध्याय जी की प्रेरणा और शिमला देखने की लालसा ने पूज्य श्री को शिमला की ओर प्रस्थान करने के लिये बाध्य कर दिया। पंचकूला गुरुकुल से विहार करके पिंजोर आये। यहां पटियाला नरेश द्वारा निर्मित विशाल सप्त मंजला बगीचा है, जो कि अत्यंत सुन्दर एवं दर्शनीय है।

यहां से कालका आये। और यहां के स्थानक में निवास किया।

यहां से पूज्य श्री एवं उपाध्यायजी प्रमुख सन्त शिमला के लिये रवाना हुए। यहां से शिमला ५५ माइल है जिसमें ४५ माइल की चढाई और १० माइल का उतार है।

कालका से शिमला तक का प्राकृतिक दृश्य अति रमणीक है। सर्पाकार चलने वाली सड़क और १०३ सुरंगों में प्रवेश करके चलने वाली रेल की पटडियें बड़ी मनोहर मालूम होती हैं। छोटे २ झरने कल कल स्वर से मधुर संगीत गाते हुए प्रतीत होते हैं। एक और विशाल काय उत्तुंग शिखरों वाला भूधर और दूसरी ओर अति गहरा गर्त हृदय में विचित्र भावों का संचार करते हैं। गिरि निकुंजों से बहने वाला शीतल मन्द-समीर मुनिजन के अंग स्पर्श करके मानों प्रणाम करता हुआ प्रतीत होता था। मुनियों के आगमन में पक्षी मण्डल मानों हर्षोत्फुल्लित होगया क्यों कि वह उनके आगमन में स्वागत गान गारहा था। मेघ घटाएँ पर्वत से टकरा कर पर्वत को टुकडे २ कर देना चाहती हैं; ऐसा प्रतीत होता था कि-मानों वे नगकी उच्चता से विद्वेष करती हैं।

इस प्रकार मनोरम दृश्यों का आनंद लेते हुए साधु मण्डली कमोली धर्मपुरा, सोलन, कंडाघाट, सोगी, और तार दवी में विश्रांति प्राप्त करती हुई शिमला-शिखर पर पहुंची। सर्व सन्त मालरोड पर स्थित विशाल दिगम्बर जैन धर्म शाला के चतुर्थ खण्ड में विराजे। यह समय भारत सम्राट पंचम जार्ज की रजत जयंती का था। अतः शिमला की चौगुनी शोभा बढ गई थी। सहस्रस्वर का बाजा एवं पलटन इत्यादि अपूर्व वस्तुएँ दृष्टि गत हुई।

शिमला शाही निवास स्थान है। धनिकों की विशाल भूमि है। यहां की शोभा अति मनोरम है। शीतल पवन और मोहक दृश्य हृदय को आनंदित करने वाले हैं। एक ओर पूंजी पतियों के विशाल काय मन्दिर विलासिता का मधुर संगीत सुना रहे हैं। दूसरी ओर रिक्शा खींचने वाले मजूरों का दृश्य कंगाली का नग्न नृत्य करता है।

जैन समाज भूषण लाला ज्वालाप्रसादजी सपरिवार पूज्य श्री के दर्शनार्थ आये। पूज्य श्री का जाहिर व्याख्यान Public lecture हुआ। लालाजीने धर्मशाला के फण्ड में २५१) रूपैये दिये। तदनंतर मुनि मण्डली विहार करके पुनः पंचकूला आई।

यहां कई दिनों तक व्याख्यानों का ठाठ रहा। पश्चात् उपाध्याय आत्मारामजी महाराज ने लुधियाने की ओर, पूज्य श्री ने देहली की ओर विहार किया। अम्बाला, कुरुक्षेत्र होते हुए करनाल पधारे, यहां लाला ज्वालाप्रसादजी दर्शनार्थ पधारे। यहां से बरसत, पानीपत, डेहरा होकर राकसखेड़ा पधारे। राकसखेड़ा के कुम्भकार, स्वर्णकार, दरजी प्रमुख, जातियां भी साधुमार्गी धर्म का प्रति पालन करने वाली हैं। तदनंतर राजखेड़ा, बड़ाखेड़ा एवं सब्जी मण्डी होकर सि० आषाढ शुक्ला ३ बुधवार को चांदनी चौक देहली पधारे। पूज्य श्री के यहां के स्वागत के लिये कुछ लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा। यहां महावीर भवन में विराजमान हुए।

इस प्रकार पूज्य श्री को देहली से यू० पी० पंजाब आदि प्रान्तों में परिभ्रमण करके पुनः देहली आने में अनुमानतः १००० माइल का दीर्घ विहार हुआ। सब क्षेत्रों में २-३ दिन से अधिक नहीं ठहरे। पूज्य श्रीका सब क्षेत्रों में खासा स्वागत हुआ। एवं धर्म का उद्योत भी अच्छा हुआ। प्रभावना भी अच्छी वितरण की जाती थी। यद्यपि लाहोर श्यालकोट, जम्मू रावलपीण्डी आदि शहरों के श्रावकों ने पूज्य श्री को उक्त शहरों को स्पर्श करने के लिये साग्रह प्रार्थना की किन्तु विवशता के कारण पूज्य श्री उक्त क्षेत्रों में नहीं जा सके; क्योंकि ऋषि सम्प्रदाय के साधुओं का सम्मेलन ३-३ वर्षों में होना चाहिये-ऐसा

नियम है। यदि वह सम्मेलन चार वर्ष में भी नहीं होगा तो अनुचित होगा।

देहली भारत का केन्द्रस्थान है। यहां भारत के विभिन्न प्रान्तों से आने वाले श्रावकों ने भी पूज्य श्री के व्याख्यानों का अच्छा लाभ उठाया। प्रवर्तिनी श्री रत्न कंवरजी महाराज ठा० ८ ने भी यहां ही चतुर्मास किया। लाला जी ने भी व्याख्यानों का लाभ उठाने के लिये किराये पर मकान लेकर देहली में ही निवास किया—आपने इन दिनों में अनेक संस्थाओं को सहायता तथा गरीबों के गुप्त दान दिया।

पूज्य श्री यहां श्रोताओं की इच्छानुसार भगवती सूत्र का २० वां शतक फरमाते थे और श्री कल्याण ऋषि जी व्याख्यान में भीमसेण हरिसेण चरित्र फरमाते थे। पर्यूषण पर्व में अन्तगढ सूत्र सम्पूर्ण फरमाया।

संवत्सरी के दिन ५००-७०० श्रोताओं के बीच में महावीर जैन स्कूल के प्रधानाध्यापक श्रीमान् गिरधारीलाल जी ने यह प्रस्ताव रक्खा कि "पूज्य श्री के उपकारों और व्याख्यानों को देखते हुए आपकी प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। आपके अनुवादित शास्त्रों और लिखित ग्रंथों से जैन समाज का जो भारी उपकार हुआ है वह जैन इतिहास के लिये मूल्य वान सामग्री है। हमारी यह सभा आपके ऋण से उऋण होने के लिये कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस प्रकार से सुदामा के तन्दुल भी कृष्ण के लिये कम आदर की वस्तु नहीं थी, अतः यह सभा आप की सेवा में "जैन दिवाकर" की पदवी प्रदान करती है। आशा है आप इसे स्वीकार करेंगे।" पश्चात् सारी सभा ने उसका समर्थन किया।

तत्पश्चात् पूज्य श्री ने फरमाया कि यह गुरुतर भार आप मेरे कन्धों पर किस लिये रख रहे हैं। सेवक में यह भार वहने की क्षमता नहीं है। एक आचार्य पद भी पूरी तरह से निभजाय तो सौभाग्य की बात समझूंगा।

तदनंतर आलोचना का पाठ सुनाया। इस प्रकार सानंद पर्यूषण पर्व समाप्त हुआ। पर्यूषण की तपश्चर्या का वर्णन करना व्यर्थ है; क्योंकि

पूज्य श्री के प्रताप से तपश्चर्या का ठाठ लगा हुआ था। यहां के वृद्ध श्रावकों का कहना है कि ऐसा तप १५ वर्षों में कभी नहीं हुआ।

पूज्य श्री के दर्शन के लिये पंजाब, यु० पी० हरियाणा, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, वरार, खान देश, दक्षिण, तैलंग, करणाटक आदि सुदूर वर्ती प्रान्तों के लोग सैंकड़ों की संख्या में उपस्थित हुए थे।

हैडमास्टर श्री गिरधारीलालजी के आग्रह से श्री महावीर जैन हाईस्कूल में पूज्य श्रीने 'सर्वमान्य धर्म' पर सारगर्भित व्याख्यान दिया था। ३०० विद्यार्थी, सब अध्यापक और अनेक जैन–जैनेतर उपस्थित थे। हैडमास्टर ने पूज्य श्री के रोचक प्रभावशाली व्याख्यान की प्रशंसा करके आभार प्रदर्शित किया।

आश्विन कृष्णा ९ को अमृतसर से लाला साहेब रतनलालजी तथा जंडियालेवाले राजा साहेब टेकचन्दजी आदि पांच श्रावक दर्शनार्थ आये थे और सुखशाता के समाचार पूछने के बाद प्रार्थना की कि:—

शास्त्र सुधार और जैनधर्म का देश–विदेश में प्रचार हो ऐसा कार्य करने का है, इसलिये आप जैसे विद्वान आचार्य की सहायता की परमावश्यकता है। अतः कृपा करके आप चतुर्मास समाप्त होने के बाद अमृतसर अवश्य पधारें।

पूज्य श्री ने उत्तर में फरमाया कि आप जानते ही हैं कि मुझे पहिले दक्षिण में जाकर साम्प्रदायिक-सम्मेलन आदि कार्य करने की आवश्यकता है। फिर जैसी स्पर्शना होगी वैसा देखा जायगा।

उन्होंने कहा–"कुछ दिन के बाद पंजाब से मुख्य २ श्रावकों का एक डेप्युटेशन इस विषय में आपको प्रार्थना करने के लिए आने वाला है वह आपको अवश्य पंजाब की तर्फ विहार करायेगा" ऐसा कह कर चले गये।

पूज्य श्री देहली पधारे जब से ही अलग २ बाजार वाले अपने २ बाजार पावन करने पूज्य श्री से साग्रह अर्ज कर रहे थे। सदर में विराजित स्थविर मुनि श्री दीपचन्दजी म. के पं० शिष्य मुनि श्री लाजपतरायजी ने दो वक्त व्याख्यान में पधार कर अर्ज की, परिषदा ने भी

साग्रह समर्थन किया। चौमासे के प्रारम्भ में दो बाजारों की आज्ञा रखली होने से पूज्य श्री ने स्वीकार की। चातुर्मास के बाद करीबन् ८०० मिल दक्षिण में पधारने का होने से कहीं अधिक ठहरने की सम्भावना न होने से दोनों बाजार स्पर्शने के भाव से आश्विन शु० १२ बुधवार को सदर बाजार पधारे। अन्यान्य बाजार के श्रोता अत्यधिक संख्या में आने लगे।

कार्तिक कृ० २ रविवार को कॉन्फरेंस के प्रमुख श्री हेमचन्द भाई पूज्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। दो घण्टे पूज्य श्री और प्रमुख सा० के बीच में समाज संगठन, सम्वत्सरी ऐक्यता आदि विषयों पर वार्तालाप हुआ। दूसरे दिन सब्जी मण्डी पधारे। श्रीमान् सेठ लाला शेरसिंह जी के भव्य बंगले में ठहराये गये। सभी बाजारों के जैन जैनेतर श्रोता आते रहे। जैन समाज भूषण दानवीर लाला ज्वालाप्रसादजी अपने पुत्ररत्न को पंचकूला गुरुकुल में प्रविष्ट कराने को जाते और लौटते समय पूज्य श्री के दर्शनार्थ ठहरे। रविवार होने से वकीलों और राजकीय लोगों के आग्रह से दुपहर में १॥ घण्टा सप्त कुव्यसन पर जाहिर व्याख्यान हुआ।

महावीर विद्यालय में "विद्या से उभयलोक में लाभ" बताकर पूज्य श्री विहार कर पुनः महावीर भवन पधारे। दीपावली के रोज महावीर प्रभु के जीवन में से अनुकरणीय विषयों को सुनाया। दूसरे रोज प्रातः ६॥ बजे से पुच्छीस्सुणं (वीर स्तुति) और उत्तराध्ययन सूत्र (वीर प्रभु की अन्तिम भेट रूप खजाना) मूल पौने तीन घंटे सुनाया। बाद में उत्तराध्ययन का महत्त्व सुनाया।

श्रीमान् लाला कोकनमलजी संखवाल की मातेश्वरी श्रीमती गंगादेवी जीने अपने विशाल भवन का आधा हिस्सा धर्म स्थानक के लिये दिया है। यह स्थानक सब साधु साध्वी काम में लेने लगजायें, इस हेतु से मंगलाचरण रूप पूज्य श्री को उस स्थानक पर व्याख्यान फरमाने की श्रावकों की प्रार्थना से कार्तिक शु० ८ को पूज्य श्री ने उस स्थान में व्याख्यान फरमाया। (शय्या) दान पर श्री भगवती सूत्र में जयन्ति बाई का, सूयगडाङ्ग सूत्र में उदक पेढाल का और स्थानक

की दलाली के लिए दशाश्रुतस्कंध में श्रेणिक महाराज के ढंढेरा का जो अधिकार है; वह स्पष्टतया सद्बोध के साथ फरमाया।

कार्तिक शुक्ला १० को होशियारपुर के डेप्युटेशन ने पूज्य श्री को पोष शु० २ के पूर्व होशियारपुर पधारने की प्रार्थना की। क्योंकि पोष शु० २ को आचार्यपद महोत्सव, कई दीक्षाएँ और कान्फरेन्स की जनरल कमेटी होने वाली है। पूज्य श्री ने जो उत्तर अमृतसर के डेप्युटेशन को दिया वही इस डेप्यु० को दिया।

का० शु० १४ को बहुत पोषधोपवास हुए। परिषदा भी अत्यधिक थी। पूज्य श्रीने भगवती सूत्र के २४ वें शतक का प्रथमोद्देश पूर्ण किया। मुनिवरों का पारस्परिक प्रेम और गुणग्राहकता बताई गई।

पूर्णिमा को धर्म प्राण लौंकाशाह की जयंति मनाने का उपदेश फरमाया। सर्वत्र सूचनाएँ हुई और दूसरे दिन श्री लौंकाशाह जयति मनाने के लिये महावीर भवन के चौक में आम सभा हुई। सभी मुनिराज, सभी साध्वियां और अनेक श्रावक श्राविकाओं की परिषद् जुड़ी। सम्पूर्ण चौक खचाखच भर गया था।

प्रारम्भ में पूज्य श्री ने जैन धर्म को अनादि अनन्त सिद्ध करके काल दोष से धर्म के नाम में घुसे हुए विकारों को हटाने वाले जैन क्रांतिकार श्रीमान् लौंकाशाह का जीवन वृतान्त, मूर्तिवाद की उत्पत्ति, साधुमार्गी जैनों की प्राचीनता, सच्चे अहिंसादि धर्म पर १॥ घण्टा व्याख्यान फरमाया। बाद में मुनि श्री मूलचन्दजी म०, श्री० कल्याण ऋषि जी म०, श्री० हरिऋषि जी म० और श्री० लाजपतराय जी म०, के व्याख्यान हुए।

प्र० श्री० रत्नकँवर जी म० ने शिष्या परिवार के साथ हितशिक्षा का रोचक भजन फरमाया। महावीर विद्यालय वालों ने पूज्य श्री के गुणानुवाद का संस्कृत अष्टक अर्थ सहित सुनाया। तत्पश्चात् अग्रगण्य श्रावकों ने पूज्य श्री के चातुर्मास से हुई ज्ञान प्राप्ति, अनेक प्रकार के लाभ, शान्ति और उपकार बताकर शीघ्र होने वाला विरह दुःख प्रगट किया।

प्रवर्तीनी जी श्री० रत्नकँवर जी म० के चातुर्मास से बाइयों में धर्म जागृति, तपस्या और उपकार हुए, इसका वर्णन करते हुए; महासतीजी के ज्ञानादि गुणों की तारीफ की।

पूज्य श्री ने चातुर्मास के अनुभव, भाइयों की ज्ञानजिज्ञासा, भक्ति भाव, प्रेम आदि की प्रशंसा की। इस वक्त चतुर्विध संघ में विरह दुःख छा रहा था। सब गद्गदित थे। श्री० छोटेलाल भाई ने अन्त में सभी का आभार मान कर महावीर प्रभु के जयनाद कराये।

अन्त में पूज्य श्री के मुखारविंद से मंगल पाठ सुन कर सभा बिसर्जन हुई।

मार्ग० कृ० १ को पूज्य श्री का विहार होने को था। सब संतों को पक्खी के उपवास का पारणा था। और श्रावक श्राविकाओं का अत्याग्रह होने से पूज्य श्री प्रातः स्वयं गोचरी पधारे। पत्तलवाली गली में विराजती अतिजीर्ण वृद्धा आर्याजी को दर्शन दिये।

व्याख्यान में देहली श्री संघ की ऐक्यता की प्रशंसा और आन्तरिक त्रुटियों को दूर करने को फरमाया। फल स्वरूप शास्त्रज्ञ श्री मुन्नालाल जी भाई ने किसी विरोध से २८ वर्ष से बारादरी के स्थानक में आना बन्द कर दिया था, वे पूज्य श्री के ज्ञानादि गुणों से आकृष्ट होकर दर्शनार्थ आने लगे थे। पूज्य श्री को भी आपने शास्त्र रहस्य की कई बातें बताई, उनको पूज्य श्री की विहार की तैयारी के समय कुछ आगेवान् श्रावक लाये। पूज्य श्री ने मतभेद का मतलब संक्षिप्त में समझाकर विरोध मिटा दिया। परस्पर खमत खामणा हुई और श्री मुन्नालालजी ने स्थानक में आते रहने का स्वीकार किया। सैकड़ों श्रावकों ने हर्ष-ध्वनि से महावीर प्रभु और पूज्य श्री के जयनाद से भवन को गुञ्जा दिया, पूज्य श्री ने विहार किया।

विहार के समय महावीर जैन हाईस्कूल व महावीर जैन विद्यालय का विद्यार्थी मण्डल, अध्यापकगण आदि लाइन सर चलते थे। बाद में पूज्य श्री ठा० ५ पं० मुनि नाथूलाल जी म० ठा० ६ चलते थे। बाद

में हजारों जैने जैनेतर पुरुष जयनाद से बाजार गर्जाते चल रहे थे। इसके पीछे कन्याशाला की बालिकाएँ श्रेणीबद्ध चलती थी। पीछे प्रवर्तिनीजी श्री० रत्नकँवरजी म० ठा० ८ और सैकड़ों श्राविकाएं चौविसी स्तवनों से बाजार गर्जाती चल रही थीं। करीबन् १ मील लम्बा जुलूस था। चांदनी चौक से ठंडी सड़क दरियागंज होते हुए देहली दरवाजे के बाहर वृक्ष की छांया में पूज्य श्री ठहर गये। मंगलिक सुनायी। कुछ जनता पीछे लौटी और कुछ साथ ही चली। तीन मील पर काशी नरेश के 'काशी भवन' में विराजे। शांति भगवान् के स्तवन के बाद जीव 'दया (विश्व का अचल प्रेम) से अपन खुद शांति के बरताने वाले बन सकते हैं' इस विषयक स्पष्टी करण करके संगठन को निभाने की सूचना के पश्चात् मंगलिक सुनायी। अनेक विध व्रत प्रत्याख्यान हुए। बहुत श्रावक श्राविका शाम तक वहीं ठहरे। दो संत तथा कई श्रावक रात्रि को भी रहे।

जनता एक आवाज से कहती थी कि, पूज्य श्री के शान्तिमय बर्ताव और ज्ञानामृत की वृष्टि से इस चौमासे में अभूत पूर्व आनन्द आया। पुनः ऐसी ही कृपा करने की साग्रह विनती करने लगे। लोगों की पूज्य श्री के प्रति हार्दिक प्रेम भक्ति का दृश्य रोमांचक एवं प्रभावक था।

अब पूज्य श्री विहार में हैं। मार्ग में अनेकानेक घोर परीषह सहते हुये, गांव गांव में भगवान् महावीर का लोककल्याणकारी संदेश सुनाते जारहे हैं। जहां जाते हैं वहीं व्याख्यानादि के ठाठ लगजाते हैं और जैन जैनेतर सभी आप से धर्म चर्चा करके महान लाभ उठाते हैं।

वर्तमान समय में पूज्य श्री की सेवा में-व्याख्यानी श्री कल्याण ऋषि जी, साताकारी श्री मुलतान ऋषि जी, तपस्वीजी श्री फतेह ऋषि जी वैयावची श्री हरि ऋषि जी चार शिष्य हैं। सब के सब बड़े आज्ञाकारी एवं सुविनीत हैं। सर्व मुनि मंडल पूज्य श्री की सेवा में ज्ञान-दर्शन चारित्र का अक्षय लाभ उठा रहा है।

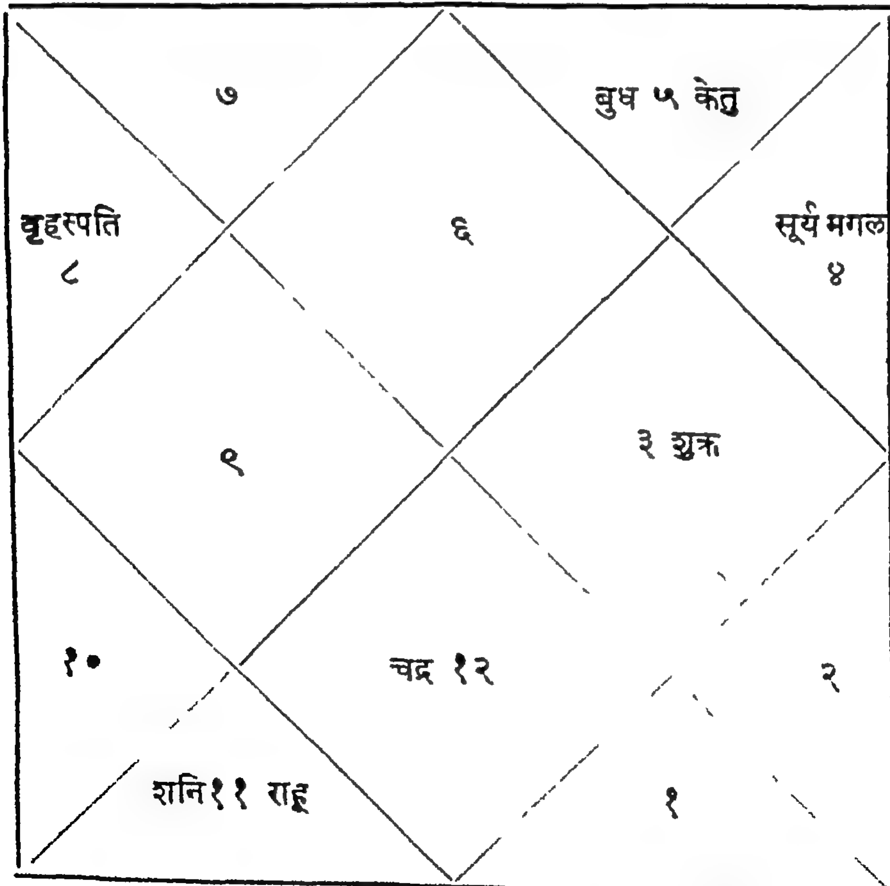
पूज्य श्री स्थानकवासी जैन संसार के प्रकाशमान सूर्य हैं। जैन साहित्य की शोभा वृद्धि में आपका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण

३२ जैनागमों का हिन्दी अनुवाद करके तो आपने समाज पर वह असीम उपकार किया है, जो जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। प्रभु महावीर से प्रार्थना है कि–पूज्य श्री चिर काल तक जैन धर्म का उद्योत करते रहें और भव्य जनों को अपने प्रवचन सुधारस से परितृप्त करते रहें।

पूज्य श्री का जन्म लग्न।

[पूज्य श्री का यह जन्म लग्न भूल के कारण जीवन चरित्र के प्रारम्भ में नहीं दिया जासका; अतः एव पाठकों के परिचय के लिये यहां अन्त में दिया जा रहा है।]

शुभ सम्वत १९३३ भाद्रपद कृष्णा ४ बुध वासरे उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र ४०–३४ दिनमान ३२–४५ तत्रेष्टम् ११–०–० कन्या लग्ने।



निवेदकः–

मत्री, ऋषि श्रावक समिति।

श्रीमती विदुषी सती 'अनारदेवी' का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त।

आप–पटियाला स्टेट के अन्तर्गत महेन्द्रगढ़ (कानोंड) नगर के निवासी, अग्रवाल वंशावतंस, दक्षिण हैदराबाद के बादशाह हि० हा० सरकार महबूब अलीशाह के ख्वास जौहरी, राजा बहादुर के प्रतिष्ठितपद से अलंकृत, श्री स्थानक वासी जैन धर्म के स्तंभस्वरूप, श्वे० स्था०जैन कान्फरेंस का चतुर्थ अधिवेशन हैदराबाद में अपने निजी खर्च से कराने वाले, अनेक संस्थाओं व सभाओं को सहस्राधिक संख्या में द्रव्य की सहायता देने वाले. श्री जैन धर्म के परमादरणीय ३२ सूत्रों के उद्धार का व अमूल्य प्रकाशन का कार्य प्रारंभ कराने वाले, ऐसे स्वर्गीय श्रीमान् लाला सुखदेवसहायजी की सुपुत्री हैं। तथैव सुशीला, पति भक्तिपरायणा, सेवा प्रिया, सरल एवं विनम्र स्वभाव वाली, हजारों रुपयों का दान धर्म स्वयं करने वाली तथा सामयिक प्रेरणा द्वारा अपने परिवार से कराने वाली, चारों तीर्थ की यथोचित सेवा भक्ति उदार भावों से करने वाली व्रत नियम और अठाई तपोमय धर्म का लाभ लेने वाली, स्वर्गीया श्रीमती भगवती देवीजी की आप प्राणों से प्यारी आत्मजा हैं।

श्रीमान् लाला ज्वालाप्रसादजी की आप बडी बहन हैं। लालाजी अपने व्यक्तित्व के एक अद्वितीय सत्पुरुष हैं। आपका स्वभाव अतीव सरल एवं शान्त है। छोटे से छोटे व्यक्ति का भी सस्नेह सत्कार करना आपकी आदरणीय विशेषता है, जो श्रीमानों में विरलही कहीं मिला करती है। श्रीमान् होकर भी निरभिमानी होना, यह एक उच्च आदर्श है। आपका रहन सहन इतना सीधा और सादा है कि–आपको देखने वाले सज्जन सहसा आश्चर्य चकित होजाते हैं। आप बड़ेही कोमल हृदय के पुरुष हैं। कितनेही असहाय एवं अनाथ मनुष्यों का आपकी तरफ से पालन होता है। महेन्द्रगढ में आपकी तरफ से दान शाला लगी हुई है,

जहां से अनेक दीन हीन मनुष्य, प्रतिदिन भोजन पाते हैं। शीतकाल में गरीबों को कंबल और सोड़ वगैरह भी बांटा करते हैं। आपका साहित्य प्रेम भी प्रशंसनीय है। आज तक सैकड़ों छोटे बड़े ग्रंथ, और ४२०००) के महान् व्यय से मुद्रित जैन धर्म के महामान्य ३२ सूत्र हिन्दी अनुवाद सहित, आपकी तरफ से अमूल्य वितरण किये गये हैं। अब भी कोई न कोई पुस्तक प्रतिवर्ष भेंट स्वरूप प्रकाशित होती ही रहती है। साधु साधवियों के प्रति होने वाली आपकी भक्ति अपूर्व है। अनेक दीक्षा महोत्सव आपकी तरफ से हुये हैं और प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी म० का महेन्द्रगढ में तथा शास्त्रोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज का इन्दोर में, आचार्य पदारोहण महोत्सव के कराने का असीम लाभ भी आपने ही उठाया है। गुरुकुल पंचकूला को, आपकी तरफ से महती सहायता मिली है। आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में, गुरुकुल समिति ने आपको जैन समाज भूषण की पदवी से अलंकृत किया है। पूज्य पिताजी के स्मारक में वहां साहित्य भवन तथा सामायिक भवन, ८–९ हजार के खर्चा से बनाया है। इसके अतिरिक्त २००००–२५०००) की और भी चंदा आदि में सहायता दी है। अपने निवास स्थान महेन्द्रगढ़ में भी पूज्य पिताजी के नाम से एक वृहत् पुस्तकालय एवं वाचनालय चल रहा है। पाथरडी (अहमदनगर) जैन पाठशाला को २१०० और कडा (अहमदनगर) जैन पाठशाला को १२०० का दान दिया है। इसी वर्ष श्रावण में महेन्द्रगढ विराजित प्रतापी पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज का स्वर्गवास हुआ, सो उत्सव का समस्त व्यय आपकी तरफ से ही हुआ था। यही नहीं, पूज्य श्री की पवित्र स्मृति में ३०००) का दान भी निकाला है। इस प्रकार समाज हित के लिये आज तक लक्षाधिक द्रव्य का सद्-व्यय आपने किया है।

आपकी भोजाई श्रीमान् लालाजी की धर्म पत्नी भी बड़ी उदार हृदया एवं धर्मनिष्ठा हैं। गृहकार्य में दक्ष और सभी से प्रसन्न चित्त रहने वाली हैं। स्त्री स्वभाव सुलभ ईर्षा और गर्व तो आपमें देखने को नहीं मिलता। चारों तीर्थ की यथार्थ तया सेवा भक्ति करने वाली हैं।

समय समय पर संवर, सामायिक, पौषध, वेला तेला आदि तप धर्म भी खूब करती रहती हैं। प्रकृति इतनी शान्त है कि—घर के नोकर चाकर एवं अन्य जन आपकी सर्वदा प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकार बाईजी का पितृपक्षीय परिवार बड़ाही आदर्श परिवार है।

आपका जन्म सं० १९३९ श्रावण सुदी पंचमी के दिन महेन्द्रगढ़ में हुआ तथा विवाह संम्बन्ध भी यहां पर सं० १९४९ के माघ मास में बनारस निवासी धर्मात्मा श्रीमान लाला विश्वेश्वरदासजी के सुपुत्र लाला रामदासजी के साथ बड़ेही ठाठबाठ से संपन्न हुआ। किन्तु कराल काल की कुटिल गति के कारण यह स्नेहसम्बन्ध विशेष काल न रह सका। दक्षिण हैद्राबाद में जवाहिरात की दुकान होने के कारण आपके पिताश्री सुखदेवसहायजी समस्त परिवार सहित हैदराबाद में ही रहते थे, इसलिये आप भी वहीं रहने लगी थी। उस समय वृद्धावस्था के कारण तपस्विराज श्री केवल ऋषिजी महाराज भी हैदराबाद में स्थिरवास से रहे हुये थे, सेवा में श्री अमोलक ऋषिजी महाराज थे। उक्त मुनिराजों के पास धर्मोपदेश श्रवण कर आपको वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ। फलतः सं० १९७१ के माघ में श्रावक के बारह व्रत धारण किये। तब से व्रतों का निरतिचार पालन, धर्म ग्रन्थों का पठन—मनन, उपवास वेला तेला आदि तप करती हुई धर्म ध्यान में ही अपना बहुमूल्य समय बिताने लगी। अपनी अन्य स्वधर्मी बहनों को भी बारह व्रतों का ज्ञान कराने के उद्देश्य से 'श्रावक के बारह व्रत' नामक पुस्तक श्री अमोलक ऋषिजी म० से सविस्तार लिखा कर एवं १००० हजार प्रति छपाकर अमूल्य वितरण की। श्रावगी जाति की सौ० गुलाबबाई तथा हुंबड जाति की सौ० जवेर बाई—दोनों शास्त्रज्ञ एवं महा तपस्विनी श्राविकाओं का सत्संग होने से आपके ज्ञानादि गुणों में अच्छी वृद्धि हुई।

आपकी प्रवृत्ति वैराग्य भाव में स्वभावतः ही है। इसीलिये ज्ञानादि गुणों में अपनी आत्मा को रमाती हुई एवं बहुत ही सीधे सादे रहन सहन व खान पान से रहती हैं। जिस किसी के भी साथ रहने सहने का व वार्तालाप का प्रसंग आता है तो आप सांसारिक सम्बन्ध की बातें

बहुत कम करती हैं, इसके विपरीत धर्म सम्बन्धी त्याग वैराग्य की तथा चारों तीर्थ के गुणानुवाद की ही बातें किया करती हैं। समय समय पर शास्त्रों में की अनेक सद्बोधप्रद कथाएँ भी सुनाया करती हैं, जिससे अन्य मतावलम्बी बहनों को भी जैन धर्म की अनुरागिनी बनाकर उन्हें अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान कराती हैं—पाप से बचाती हैं। गृहकार्य करते समय भी जीव जन्तुओं की रक्षा का बहुत उपयोग रखती हैं; अतः आश्रव के काम में भी संवर निपजा लेती हैं। आप बड़ी ही विचार वान विदुषी श्राविका हैं। आपके जगदम्बाप्रसादजी पुत्र रत्न हैं, जो व्यापार कला में कुशल-विनय विवेकादि गुणालंकृत-अतीव धर्मनिष्ठ हैं। पुत्र वधू भी बड़ी सुशीला एवं चतुर है। दो पौत्र और दो पौत्रियां हैं, यों आपका सभी परिवार सुखद एवं सुयोग्य है।

तपस्विराज श्री केवल ऋषिजी म० का स्वर्गवास होने के पश्चात् श्री अमोलक ऋषिजी म० के पास तीन महापुरुषों की दीक्षा, आपके पिता श्रीने १००००) रुपये के खर्च से हैदराबाद में कराई थी, तब आपने भी बहनों का उत्साह बढाकर यथोचित प्रत्येक कार्य में भाग लेकर उत्सव को खूब दिपाया था। जब श्री अमोलक ऋषिजी म० शास्त्रोद्धार संबन्धी कार्य के लिये सिकंदराबाद (दक्षिण) में छः वर्ष तक विराजमान रहे, तब भी आप वहां यथावसर दर्शनार्थ जाती थी और ज्ञानादि गुणों में अभिवृद्ध करती हुई महान् धर्म लाभ लेती थी। महाराज श्रीने कर्नाटक देश में विचरते हुये जब रायचूर में चौमासा किया, तब भी आपने लाला जी ज्वालाप्रसादजी के साथ वहां रहकर धर्माराधन किया था। मिरज गांव में जब श्री स्थविर पद विभूषित रत्न ऋषिजी म० श्री अमोलक ऋषिजी म० पं० श्री आनंद ऋषिजी म० ठा० छः से विराजमान थे, तब लालाजी के साथ दर्शनार्थ वहां गई थी और पाथरडी पाठशाला को लालाजी ने जब २१००) रुपये दिये तब आपने भी अपनी तरफ से १२५) भेंट किये थे। सं० १९८९ ज्येष्ट शुक्ला १२ बुधवार को इन्दोर में श्री अमोलक ऋषिजी म० के आचार्य पदारोहण (पूज्य पद) महोत्सव पर भी लालाजी के साथ पधारी थी और उत्सव में विशेष भाग लिया था।

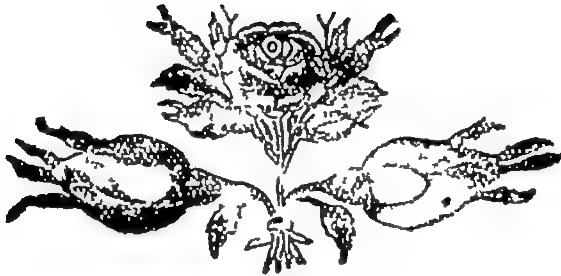
विषय सूची

सं० १९९० चैत्र एवं वैसाख में अजमेर नगरी में वृहत् साधु सम्मेलन हुआ था, २३८ साधु और ४० आर्याजी तथा ६०–७० हजार श्रावक श्राविका आदि एकत्र हुये थे, उस समय श्रीमान् लालाजी भी स्वतंत्र मकान लेकर संपूर्ण परिवार के साथ वहां रहे थे। ऐसे अपूर्व अवसर पर चौदह ही प्रकार के दान की उत्तमोत्तम वस्तुओं का संग्रह आपके घर पर था। सैकड़ों साधु साधवियों को अढलक भाव से प्रति लाभ कर अद्वितीय लाभ लिया जाता था। उस समय साधु साधवियों ने लालाजी के घर का नाम 'कुंवयावण की हाट' रक्खा था–अर्थात् जिस समय जो वस्तु चाहिये, उस समय उसी वस्तु का जोग प्रायः लालाजी के घर से मिलता था। यही नहीं, प्रतिदिन १००–१५० स्वधर्मियों का भोजन भी आपके घर होता था। अजमेर पधारे हुये चतुर्विध संघ तथा जैनेतर लोग भी कहते थे कि–जैसा दान और सेवा का लाभ लालाजी ने लिया, वैसा दूसरा कोई नहीं लेसका। उक्त अवसर पर आप भी वहां थी और आलस प्रमाद का त्याग कर चारों तीर्थ की सेवा का महान् लाभ लेती थी–अपने हाथ सेही दान देने का व सेवा भक्ति करने का काम करती थी। सं० १९९१ में महेन्द्रगढ़ (पटियाला) में पूज्य श्री मोतीरामजी म० वृद्धावस्था के कारण पहिले ही विराजमान थे और इसी समय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी भी वहां पधारे थे, तथा चौमासा भी किया था। उस समय लालाजी ने पंचकूला गुरुकुल के अध्यापक व ब्रह्मचारियों को तथा हैंदरावाद कलकते आदि स्थानों से अपने सम्वन्धियों को बुलाकर एवं धर्माराधन तपश्चर्या आदि कराकर चौमासा खूब ही दिपाया था। इस अवसर पर आपने भी अठाई तप किया था, आपके साथही उद्यमीलाल की दादी तथा मातेश्वरी ने–विशनुदयाल की मातेश्वरी ने–भाई जुगलकिशोरजी ने–हैदरावाद वाले रामलालजी की बहू ने–लालाजी के पांच नौकरों ने–तथा वैरागी देवीचंद ने–इस भांति तेरह अठाई हुई थी। इसके अतिरिक्त और भी उपवास, वेला, तेला, पचोला, आंविल, दया, पोषध, सामायिक के मास खमन (३१ सामायिक एक साथ) चारों खंध, सप्त व्यसन के त्याग आदि हुये थे। और भी व्याख्यान पूर्ण होने

के बाद हमेशा दलाली करके कुछ न कुछ प्रत्याख्यान सभी को कराती थी। इस समय अठाई तप की खुशी में आपने अपने पास के द्रव्य में से २०००) रुपये सत्कार्य में लगाने के लिये अर्पण किये थे; उन्हीं के खर्च से यह 'परमात्ममार्ग दर्शक' नामक ग्रंथ का द्वितीय संस्करण पाठकों को अमूल्य भेंट दिया जाता है।

निवेदकः—

मंत्री, ऋषि श्रावक समिति

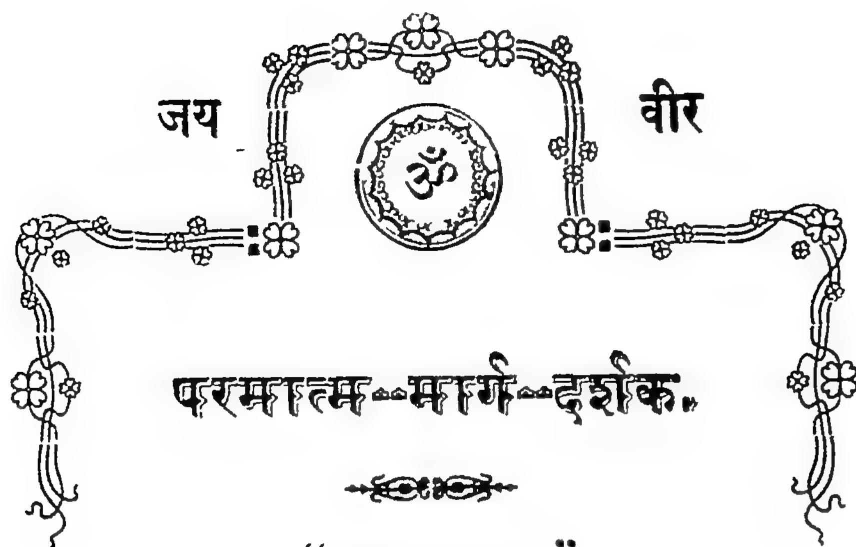


विषय सूची



श्री परमात्म–मार्ग दर्शक ।

॥ श्री परमात्मने नमः ॥



परमात्म-मार्ग-दर्शक

"मङ्गलाचरणम"

ज्ञानलक्ष्मी घनाश्लेष-,
प्रभवानन्दनान्दितम् ।
निष्ठितार्थमज नौमि ,
परमात्मानमव्ययम् ॥

—:०:—

जो परम अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध आत्मा के धारक हैं, अथवा परा-उत्कृष्ट मा-कैवल्य लक्ष्मी से जिनकी आत्मा संयुक्त होचुकी है; जो अनंत-ज्ञान रूप लक्ष्मी के घनाश्लेष से उत्पन्न हुए परम अतीन्द्रिय अनंत आनंद से सर्वदा आनंदित हैं; जो निष्ठितार्थ हैं अर्थात् सब प्रयोजन पूर्ण होने के कारण कृतार्थ हैं; जो संसार में आकर फिर जन्म नहीं लेने के कारण अज हैं; जो अव्यय अर्थात् अविनाशी नाश रहित हैं; ऐसे श्री सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमपिता परमात्मा को मेरा त्रिकरण तथा त्रियोग की विशुद्धि से बारंबार नमस्कार हो ।





प्रवेशिका ।

"अप्पा—सो—परमप्पा" ।

—:०:—

तत्वज्ञ महान् सत्पुरुषोंका फरमान है कि- " आत्मा है वही परमात्मा है " अर्थात् आत्मा का जो निज-शुद्ध सत्य स्वरूप है, वही परमात्म स्वरूप है। परन्तु अनादी कर्मों के प्रसंग से यह आच्छादित होने के कारण, आत्मा नाम से पहचाना जाता है। जैसे व्यावहारिक सत्कर्मों द्वारा सामान्य मनुष्य भी भट (सिपाइ), तलार (कोतवाल) मंत्री (प्रधान), राजा और महाराजा पदको प्राप्त होते हैं, वैसे ही यह आत्मा शास्त्रोक्त ऊंच (अच्छे) कर्तव्यों द्वारा, सम्यक्त्व आदि गुणस्थानारोहण करता-करता, अंत में परमात्म पदको (तीर्थंकर पदको) प्राप्त करता है। अन्य पदों को प्राप्त हुए प्राणी का तो पतन (पड़ना) भी हो जाता है, परन्तु जो आत्मा परमात्म पदको प्राप्त हुई है, वह कदापि नहीं पड़ती है। अर्थात् अनंतानंत काल तक परमात्माही बनी रहती है और अक्षय, अव्याबाध, निरामय सुख भोगती है। ऐसा अप्रतिपाती और सर्वोत्कृष्ट सुख मय जो परमात्म पद है, उसे प्राप्त करने के लिए सर्व सुखार्थी मुमुक्षु जनोंको अभिलाषा होवे, यह स्वाभाविक ही है। और इस अभिलाषा-वांछाको पूर्ण करने का उपाय भी, सर्वज्ञ प्रभुने भव्य जीवों पर परम कृपालु होकर जैनागम-शास्त्र द्वारा फरमाया है, प्रकाश किया है। उसी उपायको यहां स्वआत्मा और पर आत्मा के हितार्थ, यथा बुद्धि विस्तार युक्त बताकर, उस परमात्म-पदको प्राप्त करने के प्रति, प्रवृत्त करना चाहता हूँ:—

आर्या-गाथा

अरिहंत सिद्ध पवयणे, गुरुथेरे बहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसिं । अभिक्खनाणोवगये ॥ १ ॥
दंसण विणय आवस्सए य, सीलव्वय निरइयारे ।
खणलव तव चियाए, वेयावच्चे समाहीए ॥ २ ॥
अपुव्व नाण ग्गहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणाय ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥
—ज्ञाता सूत्र, अ० ८

भाषा-दोहे

अरिहत सिद्ध सूत्र गुरु, स्थविर बहु सूत्री जान ।
गुण करता तपस्वी तणा । उपयोग लगावत ज्ञान ॥ १ ॥
शुद्ध सम्यक्त्व नित्य आवश्यक, व्रत शुद्ध शुभध्यान ।
तपस्या करता निर्मली । देत सुपात्रे दान ॥ २ ॥
वेयावच्च सुख उपजावता, अपूर्व ज्ञान उद्योत ।
सूत्र भक्ति मार्ग दीपत, बँधे तीर्थंकर गोत ॥ ३ ॥

—:०:—

भावार्थ-(१) अर्हंत भगवंत के गुणानुवाद (२) सिद्ध भगवंत के गुणानुवाद (३) प्रवचन-शास्त्र अर्थात् श्री जिनेन्द्र की वाणी के गुणानुवाद (४) गुरु महाराज के गुणानुवाद (५) स्थविर महाराज के गुणानुवाद (६) बहु सूत्री-उपाध्याय महाराज के गुणानुवाद (७) तपश्वी महाराज के गुणानुवाद (८) ज्ञान में बारम्बार उपयोग लगाना (९) सम्यक्त्व निर्मल पालना (१०) गुरु आदि पूज्य पुरुषोंकी विनयभक्ति करना, (११) निरंतर षड़ावश्यक-प्रतिक्रमण करना, (१२) शील ब्रह्मचर्य आदिक व्रत-प्रत्याख्यान निरतिचार—दोष रहित पालना (१३) सदा निवृत्ति वैराग्यभाव रखना (१४) बाह्य-प्रगट और अभ्यंतर-गुप्त तपश्चर्या करना (१५) सुपात्र दान उदार भावों से देना (१६) गुरु, तपस्वी, गिलाणी, (रोगी) नवदीक्षित,

इन की वैयावृत्य-सेवा भक्ति करना, १७ समाधि भाव-क्षमा करना १८ अपूर्व-नित्य नए ज्ञानका अभ्यास करना १९ सूत्रभक्ति-जिनेश्वरजी के वचनों का भक्ति भाव पूर्वक श्रवण, पठन, मनन करना और २० जैन धर्मकी तन मन धनसे, प्रभावना—उन्नति करके उसे दिपाना। इन बीस कामों के करते करते जब कभी उत्कृष्ट रसायण आवे-अर्थात् हूबहू रस आत्मा में परगमे, उन गुणों में आत्मा तल्लीन होवे, तब तीर्थंकर गोत्र उपार्जन होता है। अर्थात् उस आत्मा को आगामी तीसरे जन्म में, तीर्थंकर पद-परमात्म पद की प्राप्ति होती है। *

अब इन बीसही बोलों का, आगे पृथक् पृथक प्रकरणों में सविस्तर वर्णन किया जायगा।

---

* उमास्वामीकृत तत्वार्थाधिगम सूत्र की छठी अध्याय में कहा है—

सूत्र—दर्शन विशुद्धि विंनय संपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी संघसाधुसमाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन — भक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्ग प्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमितितीर्थकृत्वस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन की परमोत्कृष्ट विशुद्धि, २ विनययुक्त नम्रता रखना, ३ शीलव्रतादिव्रत अतिचार-दोष रहित पालना, ४ अभीक्ष्ण-सदा वारम्वार ज्ञान में उपयोग लगाना, ५ संवेग-वैराग्यभाव रखना, ६ सुपात्र को यथा शक्ति दान देना, ७ तपश्चर्या करना, ८-९ संघ और साधू की वैयावृत्य करके समाधि उपजाना, १०-१३ अर्हत, आचार्य, बहुसूत्री और शास्त्र-इन चारों की आज्ञाका भक्ति-पूर्वक आराधन करना, १४ सामायिकादि छः आवश्यक, निरतर परम शुद्ध भाव से करना, १५ सम्यग्—ज्ञानादि जो मोक्ष मार्ग है, उसकी अनुष्ठान और उपदेश आदि द्वारा प्रभावना-महिमा प्रगट करना, और १६ अर्हंत शासन के अनुष्ठान करने वाले ज्ञानी, तपस्वी, बाल-वृद्ध-साधु, शिष्य, ग्लानी (रोगी) आदि की वत्सलता भक्ति करना। इन सोलह कामों के करने से, तथा इन में के २-४ आदि यथा शक्ति गुणोंका आराधन करने से जीव, तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करता है। ये सोलह बोल, उपरोक्त गाथा मे कहे हुए बीस बोलों मे ही समाजाते हैं।



प्रकरण—पहिला



"अर्हंत–गुणानुवाद"

अहो अर्हंत भगवंत! आप पूर्व जन्म में बीस बोलोंमें से कुछ या सब बोलों की आराधना करके, महान्–पुण्य रूप महालक्ष्मी का संचय करके, मध्य में स्वर्ग नर्क का एक भव करके, मति श्रुति अवधी इन तीन ज्ञानों से युक्त होकर, सर्वोत्तम निष्कलङ्क कुल मे मातेश्वरी को उत्तमोत्तम १४ स्वप्न अवलोकन होने के साथ ही अवतरते हो। उसे च्यवन कल्याण कहते हैं। उस समय आपके पुण्य के प्रभाव से आपके पिताश्रीजी के घरमें उत्तम द्रव्य (रत्न सुवर्ण वस्त्राभूषण व सुगन्धित द्रव्यों) की वृष्टि होती है, घर-पुर-देशमें, धन-धान्य-निरोगता-सुवृष्टि आदि सुख–संपत्ति की वृद्धि होती है, मातेश्वरी को शुभ दोहद–डोहले होते है, वे दोहद देवयोग से सर्व पूर्ण होते हैं; नव मास आदि काल सुख से पूर्ण होता है। जब आप जन्म धारण करते हो उसवक्त तीनों ही लोक में महा दिव्य प्रकाश होता है जिससे आश्चर्य–चकित हो नर्क के जीवों को निरंतर दुःख देने वाले यम–परमाधामी भी, नेरियों (नर्कके जीवों) को मारना छोड देते हैं। अस्तु जब निरंतर दुःखानुभव करने वाले नर्क के जीवों को भी सुखानुभव होता है तो अन्य जीवों को सुख होवे, इस में संशय ही क्या? अर्थात् आप के जन्म के समय निगोद से लगाकर सर्वार्थसिद्ध तक सुख शांति का बरताव होता है। उस समय आपके

पुण्य से आकृष्ट (खेंचे) हुए छप्पन्न कुमारिका देवी, और चौंसठ इन्द्र आदि असंख्य देव देवी, और आपके पिता आदि अनेक गण मनुष्य, जन्मोत्सव बड़ी धूम धाम के साथ करते हैं। इसे जन्म कल्याण कहते हैं।

—"जन्मकाल ही महापुरुषों का जब करता है जग कल्यान,
तो फिर समझ लीजिये उनका कैसा होगा भविष्य महान।"

अहो परमैश्वर्य के धारक प्रभू! आपके शरीर की रचना भी एक अलौकिक–अद्भुत होती है। समचउरंस संस्थान से संस्थित अंगोपांग, सब संपूर्ण अत्यंत मनोहर मानोपेत होते हैं। पर्वत के शिखर जैसा १२ अंगुल ऊंचा, अतिश्याम (काले) चिकने कुंचली पड़े हुए दक्षिणावर्त सघन बालों से भरा हुआ, सुशोभित मस्तक है। अष्टमी के चन्द्र जैसा झलझलाट करता हुआ ललाट (लिल्लाड) है। संपूर्ण चन्द्र तुल्य गोलाकार सौम्य प्रदीप्त कान्तीवंत मुखारविंद है। परमाणोपेत दोनों कर्ण हैं। धनुषाकार काली भौं है। कमल-पुष्प सम विकसित नेत्र हैं। गरुड़ पक्षी जैसी लम्बी सरल नासिका है। दाड़िम की कली (दाणे) जैसे अत्यन्त-श्वेत पंक्तिबन्ध ३२ दाँत हैं। शंख जैसी चार अंगुल प्रमाण ग्रीवा (गरदन,) सिंह समान स्कन्ध और नगर के प्रधान द्वार की भोगल जैसे जानु-(घुटने) तक लटकते हुए हाथ हैं। रक्तवर्ण, मांस से पुष्ट, चन्द्र–सूर्य–शंख–चक्र–साथीया–मच्छ आदि सर्व शुभ लक्षणों से अलंकृत करतल (हथेली) हैं। छिद्र रहित करांगुली, और रक्त वर्ण नख हैं। विस्तीर्ण, विशाल (चौड़ा), पुष्ट तथा श्रीवत्स साथियेसे अंकित हृदय है। पुष्ट, उतरते हुए पासे वाला, मत्स्य (मच्छ) जैसा उदर (पेट) है। पद्म कमल जैसी विकश्वर गंगावर्त–सी नाभी है। केशरी सिंह के समान कटि भाग है। अश्व सम गुप्त पुरुष चिन्ह है। कपोत जैसा निर्लेप स्थण्डिलस्थान है। हाथी की सूंड जैसी उतरती हुई जंघा और मांस से पुष्ट गुप्त जानू (गोडे) हैं। कछुवे जैसा सुसंस्थित चरण (पग) और रक्त वर्ण वाले चिकने नख हैं। पर्वत–मगर–ध्वजा–आदि सर्व

शुभ लक्षणों से अलंकृत, उदय होते हुए सूर्य जैसे दैदिप्यमान रक्त वर्ण वाले चरणतल हैं। किं बहुना आप का सभी शरीर, एक हजार आठ उत्तमोत्तम लक्षण तथा तिल मश आदि व्यंजन करके विभूषित, सर्व दोषों से वर्जित, निर्धूम अग्नि एवं ऊगते सूर्य जैसा देदिप्यमान, भलभलाट करता हुआ अति ही सुन्दर मनोहर होता है। चन्द्रमा के प्रकाश जैसी शरीर की प्रभा पड़ती है। नख और केश (बाल) मर्यादा से अधिक अशोभनीक बढते नही हैं। रक्त और मांस गोदुग्ध से भी अति उज्वल (श्वेत) और मधुर (मिष्ट) होता है। श्वाशोश्वास में पद्म कमल से भी अधिक सुगन्ध महकती है। आपके आहार और निहार को चर्मचक्षुधारक सामान्य मनुष्य नहीं देख सकते, अवधी आदि ज्ञान वाले ही देख सकते हैं। शरीर को किसी भी प्रकार का अशुभ लेप नहीं लगता। ऐसे सर्वोत्तम शरीर के धारक होते हैं। समस्त लोक में शांत राग रूप (सर्वोत्तम) प्रमाणु मानो इतने ही थे कि जितने से आपका शरीर बना है; क्योंकि आपके समान अत्युत्तम शरीर का धारक, इस जगत में अन्य कोई भी नहीं है। जैसे तारागणों को जन्म देनेवाली तो सब दिशाएँ हैं परन्तु सूर्यको जन्म देनेवाली तो अकेली पूर्व दिशा ही है तैसे ही आप जैसे पुत्र रत्न को जन्म देनेवाली रत्न कूंख धारणी सतीशिरोमणी एक आप ही की माता हैं।

अहो भगवंत ! आप तीन ज्ञान सहित जन्म लेते हो, इस लिये आपको अपने कर्तव्य कर्म का ज्ञान शुरू मे ही होता है। तदनुसार आप संसार व्यवहार साधने के लिये तथा पूर्वोपार्जित भोगावली कर्मों को क्षय करने के लिए ही भाव वैराग्य भरते हुए रुक्षवृत्ति से संसार कार्य करते हो; अतः संसार सागर मे रहते हुए भी जल में कमल के समान निर्वन्ध रहते हो। अर्थात् कर्मों द्वारा वद्ध नहीं होते हो।

अहो दया सिन्धु ! आप दीन जनों के उद्धार के लिये, धर्म

परायण जनों को धर्म का अव्वल मार्ग दर्शाने के लिये या धर्म की प्रभावना (उन्नति) करने के लिये, जीत व्यवहार का अनुसरण करके दीक्षा जैसे अत्युत्तम कार्य में भी विलम्ब करते हो, और बारह महीने तक निरंतर एक क्रोड़ आठ लाख सोनैये (६ माशे सुवर्ण की मोहर) का अमोघ धारा से सवा पहर दिन चढ़े तक दान देते हो ! बारह महीने में तीन अर्ब अठासी क्रोड़ अस्सी लाख (३,८८,८०,०००००) सोनैये (मोहरों) का दान देते हो। और आप के दान की महिमा भी अचिन्त्य है, अर्थात् आपके दिये दान को केवल दरिद्र लोग ही ग्रहण करते हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु बड़े बड़े चक्रवर्ती महाराजा और शेठ सेनापति आदि मान्य पुरुष भी बड़े आदर भाव से ग्रहण करते हैं; क्यों कि आपके हाथ का दान अभव्य को प्राप्त नहीं होता है, और आपके हाथ का दिया हुआ सोनैया जिसके घरमें जबतक रहता है तबतक उस घरमें महान् रोग, दरिद्रता, उपद्रव आदि दुःख नहीं होते हैं। अहो प्रभू ! आपके हाथ से दिये हुए पुद्‌गलों में भी, कैसी विचित्र शक्ति प्राप्त होजाती है। हॉ, नीतिकारों ने ठीक ही तो कहा है-

" उत्तमों के संग से अति नीच भी उत्तम बने ,
स्पर्श मणि के सग से लोहा सुखद कांचन बने। "

अहो कृपालु देव ! आपको निश्चय है कि मै इस भवके अंत में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करूँगा, तो भी कर्त्तव्य परायण होकर निश्चय की सिद्धि के लिये व्यवहार साधने के अर्थ, सर्व सांसारिक राज ऋद्धि का त्रिविध त्रिविध त्याग करके दिगम्बर—नग्न होते हो और सुगन्धित-कोमल केशों का स्वहस्त से पंच मुष्टी लोच कर, 'सिद्धाणं नमो किच्चा' अर्थात् सिद्ध भगवंत को नमस्कार कर, दीक्षा वृत्ति धारण करते हो। अर्थात् जावजीव पर्यंत सर्वथा सावद्य जोग (जिससे दूसरे को दुःख होवे, ऐसे मन वचन काय की प्रवृत्ति) का त्याग करते हो कि उसी समय आपको चौथे मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होजाती है, और उसी समय इन्द्र आपके स्कन्ध पर

एक देव-दुष्य नामक वस्त्र की स्थापना करते हैं। परन्तु आप उस वस्त्र को किसी भी कार्य मे नहीं लेते हो, अहो आश्चर्यकारी है वैराग्यदशा आपकी! वह वस्त्र थोड़े ही काल बाद कहीं गिरजाता है, और आप अप्रमादी भाव से भूमण्डल में अप्रतिबन्ध रूप से विहार करते रहते हो।

अहो जिनेन्द्र! आप जिस कार्य के लिये प्रवृत्त होते हो, उस कार्य को दत्तचित से पूर्ण निश्चल रह कर पूरा करते हो, यही आपकी शूरता-वीरता-धीरता रूप उत्तमता का लक्षण है। अर्थात् दीक्षा धारण किये बाद पूर्वोपार्जित बाकी रहे कर्मों का नाश करते समय, देव-दानव-मानवों द्वारा किये हुए अनेक दुःसह परिसह उपसर्ग, आप समभाव के साथ सहन करते हो। उन उपसर्गों से आपके परिणाम किंचित् मात्र भी कम्पायमान-चलाय मान नहीं होते हैं, प्रत्युत विशेष रूप से उन उपसर्गों के सम्मुख दृढ होने के कारण वे बेचारे उपसर्ग अपने आप ही डरकर शांत पड़जाते हैं। तप करते हुए आप कदापि विश्रान्ति धारण नहीं करते। कर्म शत्रुओं को चक-चूर करने के लिए चौथ[1] छट्ठ[2]-अठ्ठम[3]-मास-दो-मास यावत् छः[4] छः मास की अत्युग्र तपश्चर्या करके क्षुधा-तृषा-शीत-ताप-दंशमच्छर आदि अनेक दुष्कर काय-क्लेश तप करने में निरंतर संलग्न रहते हो। और नये कर्मोंका बन्धन न होवे, इस लिये मौन वृत्ति धारण करके, एकान्त वासी बनके, सदा ज्ञान-ध्यान-तप-संयम में अपनी आत्मा को तल्लीन बनाके, परम शांत रस में रमण करते ही रहते हो, कि जिससे वे कर्म आपका स्पर्श तक नहीं करते, बेचारे सदा दूर ही रहते हैं।

अहो नाथ! मुझे आश्चर्य होता है, कि—संसारी जन, शत्रु-ओं का पराजय करने के लिए क्रोध मे धमधमायमान होकर, संग्राम आदि की योजना करते हैं: परंतु आपने तो क्षमा-शांत भाव से शत्रुओं का नाश किया, यह अपूर्व युक्ति आपने बहुत ही अच्छी निकाली। इस

१ एक उपवास, २ बेला (दो उपवास) ३ तेला (तीन उपवास) ४ छः महीने के उपवास।

संसार में प्रत्यक्ष ही देखते हैं, कि—उष्णता से शीत का जोर अधिक होता है। * धूप उतनी शीघ्रता से दहन नहीं कर सकती जितनी कि-शीघ्रता से ठण्ड और वर्फ दहन कर सकती हैं। अर्थात् शीत काल (सियाले) में जब पाला पड़ता है, तब क्षण मात्र में ही हरे-भरे क्षेत्रसमूह दग्ध होते चले जाते हैं। अस्तु, आध्यात्मिक परम शान्ति की प्रबलता से, कर्म रूप शत्रुओं का दहन होवे तो, इस में आश्चर्य ही क्या है ? इसी भाव पर एक महा कविने, अपनी कविता-मयी भाषा में क्या ही अनूठा कहा है—

—"हाँ, क्रोध का तो नाथ तुमने प्रथम ही क्षय कर दिया।
फिर कर्म-रिपुओं पर कहो कैसे विजय हासिल किया॥
हेमंत में अतिही सुशीतल तुहिन पड़ता है यदा।
क्या हरितपादपमय सघन वन ध्वस्त नहीं होते तदा॥"

अहो प्रभू ! इस अनोखी युक्ति मे वेचारे चार (ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अंतराय) घन घातिक कर्म शत्रू, जब त्रास पाकर थोड़े ही काल में पलायन कर जाते हैं, तो उसी समय आपकी अनंत आत्मिक शक्ति प्रगट हो जाती है। अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य–इन अनंत चतुष्टय की प्राप्ति होती है; जिससे आप सर्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव और भव को एक ही समय में जानने तथा देखनेवाले होजाते हो, क्षायिक यथाख्यात चारित्र और अनंत दान–लाभ–भोग–उपभोग और वीर्य लब्धि की प्राप्ति होजाती है, और पूर्वोपार्जित तीर्थंकरनामकर्म–रूप महापुण्य का उदय होने मे स्वाभाविक एवं देवकृत अनेक महान् ऋद्धियाँ प्रगट होजाती हैं। जहां परिपदा का विशेष आगम होने का अवसर होता है, वहां समवसरण की अलौकिक रचना होती है, अर्थात् पृथवी से अढाई कोस ऊंचे– २०००० पंक्तियों से युक्त—चांदी सुवर्ण और रत्नों के त्रिकोट (गढ) के अन्दर, मध्य भाग में मणिरत्न के सिंहासन पर भी चार अंगुल अधर, केवल दृश्य रूप छत्र-चमर-भामंडल से युक्त विराजते हो। तब चार ही दिशा में आप के चार

* इस लिये ही संभवत: पंजाब में शीत–ठण्ड–को जाडा (जव्वर) कहते हैं।

मुख दीखते हैं, और अशोक नामक वृक्ष सदा छाया करता है। सहश्र ध्वजा के परिवार से युक्त आगे की तरफ इन्द्र ध्वजा फरराती दीखती है। धर्म चक्र और साढे बारह करोड़ बाजों का आकाश में गरणाट शब्द सुनाई देता है। योजन प्रमाण अचित्त पुष्पों की वृष्टि, इत्यादि अतिशय दीखते हैं। परन्तु यह सब विश्रसा पुद्गल होने से दीखते तो हैं, किन्तु हाथ में नहीं आते हैं। और इस लिये इन से किसी प्रकार की अयत्ना भी नहीं होती है।

अहो ईश्वर ! आपके सद्‌गुण रूप सुरभिगन्ध से आकर्षित हुई और सद्बोध श्रवण करने की पिपासु, द्वादश प्रकार की परिषदा (४ जात के देवता, ४ जात की देवांगना, मनुष्य मनुष्यणी, तिर्यंच तिर्यंचणी, और साधू साध्वी, श्रावक श्राविका) का क्रोडों की संख्या में आगमन होता है। उस समय आप का सद्बोध भी बड़ा ही आश्चर्य कारक होता है, अर्थात् चार कोस में भरी हुई परिषदा, आपके फरमाये हुये बचनों को, एकसां बराबर श्रवण करती है। आर्य, अनार्य, पशु, पक्षी आदि सभी को अपनी अपनी भाषा में बोध प्रगमता है, सब समझ जाते हैं। और सिंह बकरी आदि का जो जाति विरोध है वह, अथवा जन्मान्तर का वैर विरोध भी समवसरण मे बिलकुल ही स्मरण नहीं होता है, सब जीव आपस में स्नेह भाव-मैत्री भाव से वर्तते हैं। छः राग और तीस रागणियों से भरा हुआ, सरल और ऊंचे शब्दों में गहन गंभीर्यता युक्त, परस्पर विरोध रहित, पूर्व संशय को हरण कर ने वाला, नया संशय न उपजाने वाला, भाषा के सर्व दोषों से रहित, देश काल उचितता तात्त्विक ज्ञान से भरपूर, मध्यस्थ रूप, निर्भय रूप, विलम्ब रहित, हर्षयुक्त, भादवे के मेघ की तरह या केशरी सिंह की तरह गाजते हुए गुंजारव शब्दों में धर्मोपदेश फरमाते हैं,-जिसे श्रवण कर बड़े बड़े सुरेन्द्र, नरेन्द्र, विद्वद्वरेन्द्र चमत्कार को प्राप्त होते हैं। श्रोताओं के हृदय में हूबहू रस प्रगमता है, वाणी में तल्लीन हो अहा ! अहा !! करते हैं। और अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। अहो प्रभू ! इस जगत में आप जैसा उपकार करने का, अन्य किसी में जरा भी सामर्थ्य नहीं है।

अहो महादयालु ! आप के महान् पुण्य प्रताप के प्रभाव से आप जिधर पधारते हो उधर ही आगे को भूमि, खड्ड और टेकरे रहित होकर बराबर हो जाती है, काँटे अधोमुख होजाते हैं, ऋतू भी सम प्रगमती है—अर्थात् उष्ण काल में शीतलता और शीतकाल में उष्णता रूप हो सब जीवों को सुख देती है। आप विराजते हो वहां चारों तरफ मंद-मंद शीतल सुगन्धित पवन चलती है, जिससे सर्व दुर्गन्ध दूर हो जाती है तथा धीमी धीमी सुगन्धित अचित्त गंधोदक की वृष्टि से सब रज दब जाती है। अशुभ वर्ण—गंध—रस—स्पर्श का नाश हो, शुभ प्रगमते हैं। पचीस-पचीस योजन में मारी मृगी (प्लेग) इत्यादि किसी प्रकार की बिमारी होवे तो सर्वथा नष्ट हो जाती है। टीडी मूषक आदि क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। स्वचक्र परचक्र का भय नहीं होता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष—दुष्काल नहीं पड़ता है। और पहिले किसी भी प्रकार का उपद्रव होवे तो भगवंत के पधारने से वह भी सर्व नष्ट होजाता है। वाह वा पुण्य प्रतापी पुरुषोत्तम अद्वितीय परमात्मा ! आपके आश्रितों को भी आपका सहवास, जबकि द्रव्य से ऐसा सुख देनेवाला होता है, तो फिर आपके भाविक—भक्त जन, यदि अनंत अक्षय मोक्ष के सुख प्राप्त करें तो इस में आश्चर्य ही किस बात का ?

अहो परमात्मा ! यह तो आपके बाह्यगुणों का यत्किंचित् वर्णन हुआ। आप जैसे बाह्यगुणों द्वारा सुशोभित हो, तैसे ही अभ्यन्तर गुणों द्वारा भी पवित्र हो, अर्थात् अज्ञान, मिथ्यात्त्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, निद्रा, शोक, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भय, मत्सरता, प्रेम, क्रीड़ा, हाँस, मोह, ममत्व इत्यादि सब दुर्गुण संबन्धी अपनी अपवित्रता का नाश करके आप निर्दोषी परम पवित्र हुये हो, जिससे आपके गुण निष्पन्न अनेक नाम हैं। जैसेः—

१–आपने घन घातिक कर्मोंका नाश किया, अतः आप 'अरिहंत' कहलाते हैं, २ भवांकुर तथा कर्मांकुर का नाश किया, अतः 'अरुहंत' कहलाते हैं ३ सुरेन्द्र, नरेन्द्रादि सब के पूज्य हुये इसलिये 'अर्हंत' कहलाते हैं ४ ज्ञानवंत, महात्मवंत, यशश्वी, वैरागी, मुक्त, रूपवंत, अनंतबली, तपश्वी, श्रीमंत, धर्मात्मा, सर्व पूज्य, परमेश्वर–इन बारह गुणों से युक्त हुये जिससे 'भगवंत' कहलाये ६ परम उत्कृष्ट पदको प्राप्त हुये अथवा सर्व के इष्ट–सुख के कर्ता हुये जिससे 'परमेष्टी' कहलाये ७ सर्व के रक्षक एवं सब के मालिक हुए, जिससे 'परमेश्वर' कहलाये ८ गुरू के उपदेश बिना स्वयमेव प्रतिबोध पाये, इस लिये 'स्वयंबुद्ध' या 'सहस बुद्ध' कहलाये ९ साधू–साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की, इस लिये 'तीर्थंकर' कहलाये १० सर्व पुरुषों से अत्युत्तम होने से 'पुरुषोत्तम' ११ शूर–वीर–धीर होने से 'पुरुष सिंह' १५ सर्व देवों के पूज्य होने से 'देवाधिदेव' १३ रागद्वेष के क्षय होने से 'वीतराग' १४ सब जगज्जीवों के रक्षक होने से 'लोक नाथ' १५ जन्मते ही त्रिलोक-में प्रकाश करने से अथवा ज्ञान द्वारा सर्व लोक मे प्रकाश करने से 'लोकप्रकाशक' १५ सातों भय के नाश करने से 'अभय' १६ अनंत ज्ञानादि ऋद्धि के धारक होने से 'अनंत' १७ सर्व भव्यों को मर्यादा में चलाने वाले होने से 'महा गोप' १८ मोक्ष पुरी में जाते हुये अन्य भव्य गणों को ज्ञानादि संबल देकर साथ रखने से 'सार्थवाह' १९ चारों दिशा में आज्ञा द्वारा धर्म का प्रसार करने से 'धर्म चक्री' २० संसार रूप समुद्र में पडे हुए जीवोंको आधार भूत होने से 'धर्मद्वीप' २१ अनेकान्त वाद के स्थापक होने से 'स्याद्वादी' २२ सर्व चराचर पदार्थों के ज्ञाता होने से 'सर्वज्ञ' २३ सर्व पदार्थों के द्रष्टा होने से 'सर्व दर्शी' २४ संसार से पार हुये अर्थात् पुनर्जन्म रहित हुये अथवा सर्व कार्य की समाप्ति करके इच्छा रहित हुये इसलिये 'पारंगत' २५ हितोपदेश द्वारा सर्व के रक्षक होनेसे 'आप्त' २६ जिनका स्वरूप अज्ञानियों के लक्षमें न आवे इसलिये 'अलक्ष' २७ चिद् का अर्थ ज्ञान और घन का अर्थ समूह है, अस्तु संपूर्ण ज्ञान–मय होने से 'चिद्–घन' २८ आप के आत्म–प्रदेशों

पर कर्म रूप अंजन नहीं लगता, अतः 'निरंजन' २९ अनंत दान आदि लब्धि के प्रगट होजाने से सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य वाले हुये, इसलिये 'प्रभू' ३० सर्व प्रकार के कर्मों का आवरण दूर होने से, चैतन्य का अपना निज स्वरूप प्रगट हुआ, इसलिये 'केवली' ३९ परम उत्कृष्ट आत्मपद को प्राप्त होने से 'परमात्मा'। ऐसे ऐसे गुण निष्पन्न एक सहश्र और आठ नाम का कथन तो जिन सहश्रीमें किया गया है परन्तु आप तो अनंत गुणों के धारक हो इसलिये आपके अनंत ही नाम हैं, जिनका वर्णन करता हुआ कौन पार पाने समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

अहो कृपानिधे ! धर्म की आदि के कर्त्ता आप ही हो, अर्थात् आपके पहले धर्मोपदेशक कोई भी नहीं हुआ। जो जो धर्मोपदेशक धर्मोपदेश करके अपना अपना नाम चलाते हैं; वह सब कुछ आपही का दिया हुवा ज्ञान-दान का प्रसाद है। ऐसे ही सर्व जगज्जीवों को अभय के दाता, ज्ञानचक्षु के दाता, मुक्ति मार्गके बताने वाले, जन्म-जरा-मरण-आधि-व्याधि-उपाधि के दुःख को मिटाकर शरण में रखने वाले, अनंत अक्षय तप संयम रूप जीवत्व (खरची) के देनेवाले, पुनः किसी भी

शिवोऽथादि संख्योऽथ बुद्ध पुराण ,
पुमानप्यलक्ष्यो ऽप्यनेको ऽप्यथैक ।
प्रकृत्यात्म वृत्याप्युपाधि-स्वभाव ,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेंद्र ॥

अर्थात्— १ कर्मोंके उपद्रव से रहित होने से आप 'शिव' हो २ अपने तीर्थ की आदि के कर्ता होने से आप 'आदि-सख्य' हो ३ तत्व-पदार्थों के जाननेवाले होने से आप 'बुद्ध' हो ४ अनादिसे हो इसलिये 'पुराण'—'वृद्ध' हो ५ सर्व जीवोंके रक्ष होनेसे 'पुमान' हो ६ इन्द्रिय-जनित ज्ञान के ग्रहण में नहीं आने से 'अलक्ष्य' हो, ७ अनन्त पर्यायात्मक वस्तुओं के ज्ञाता होने से 'अनेक' हो, ८ द्रव्याश्रित निश्चय नय से 'एक' हो ९ श्रद्धा, भासना और रमणता की प्रणति कर स्वसमय हो। ऐसी ही अहो परमात्मा ! मेरी गति होवो। यो अनेक प्रकार से कवियों ने आपके नाम का कथन किया है।

प्रकार के दुःखमें जीव नहीं पड़ें—ऐसे सद्बोध के करनेवाले एक आप ही हो ! अहो दानेश्वर आपके परमोपकार का मैं कहां तक कथन करूं ! सर्व जगजन्तुओं पर आपका अनंतानंत उपकार प्रवर्तरहा है ।

अहो निरोपम ! मैं आपकी तुलना किसी के भी साथ नहीं कर सकता हूं । क्योंकि संसार में के अन्य देव कहलाने—वाले कितने ही देवता, स्त्रियों के वशीभूत होकर अपने किए हुए कोट्यानुबन्ध तप को हार गये, वन वन में उनके साथ नाचते फिरे, स्त्रियोंके वियोग से रुदन किया, विषयासक्त हो पुत्री के साथ गमन किया, परस्त्री को अपनी स्त्री के डरके मारे जटा में छिपा रक्खी, स्त्रियों के संमुख निर्लज्ज होने के कारण ऋषियों ने शाप दिया जिससे लिंग--पतन हुवा, शरीर में सहस्रों भग पड़े, लांछन लगा, कितने ही नाम धारी देव गांजा भङ्ग आदिके नशे में उन्मत्त रहे, कितने ही अन्धे-लूले-लंगड़े-काणे-कुष्टी बने। ऐसीर अनेक कथाएँ, उन देवों के भक्तों ने ही, उनके पुराणों में लिखी हैं तथा उपर्युक्त कलङ्कों की स्थापना की है। परन्तु अहो निर्दोषी प्रभू! आपको चोरी करने की भी कुछ जरूरत नहीं है, क्योंकि आपके पास अनंत अक्षय ज्ञानादि ऋद्धि का खजाना है, जिससे आपकी तृष्णा का सर्वथा नाश होगया है । और जैसे कल्पांतकाल का क्षुब्ध हुआ पवन भी मेरू पर्वत को नहीं हिला सकता है, तैसे ही इन्द्र की अपसराएँ भी आपके चित्त को चलित नहीं करसकती हैं तो दूसरी स्त्रियों का कहना ही क्या ? और ज्ञान वैराग्य में आपकी आत्मा सदा तल्लीन रहती है, इसलिये आपको अपने मन को शांत करने के लिए नशा, गायन, वाजिंत्र, नृत्य वगैरह किसी की भी आवश्यकता नहीं है । आपने शत्रुओं के उत्पन्न होने का मूल जो राग द्वेष है उनका नाश कर दिया, इसलिये आपका कोई भी शत्रु न रहा तो फिर आपको शस्त्रादि धारण करने की क्या जरूरत है ? अर्थात् कुछ नहीं । आप सर्वज्ञ हो, इसलिये आपको याद दास्त के लिये माला सुमरणी आदि रखने की भी कुछ जरूरत नहीं । आप महा संतोषी सदा तृप्त हो, इसलिये आपको धूप पुष्प फल नैवेद (पूजापे) की कदापि इच्छा नहीं होती है । आपका मूल शरीर ही १००८ उत्तम लक्षण और

सर्व उत्तमोत्तम विभूतियों द्वारा स्वतः ही अत्यन्त सुशोभित हैं, इसलिये आपको वस्त्राभुषण आदि किसी भी प्रकार के शृंगार की जरूरत नहीं। आप जगत् प्रकाशी हो, इसलिये आपके आगे दीपक के प्रकाश की कुछ जरूरत नहीं। आप महा दयालु हो, इसलिये आपको पृथवी-पाणी-अग्नि-वायु-वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा करके खुश करने वाले भी बड़ी जबरदस्त भूल करते हैं, अर्थात् आप हिंसा से कदापि संतुष्ट नहीं होते हो। इत्यादि आपके अनेक सद्गुणों का मेरे हृदय में भास होने से, आपके सिवा अन्य सब देव केवल नाम मात्र के ही भले हीं देव हों, परन्तु गुणों से तो कुदेवही भाषित होते हैं; और सच्चे देवाधि देव तो आपही हो—ऐसा मुझे निश्चय हुआ है।

अहो गुणागर देव! आपके कितने ही गुण ऐसे हैं, जो अल्पज्ञ जीवोंको बड़ा ही आश्चर्य उत्पन्न करते हैं। जैसे-१ आप सर्वज्ञ होकर भी जीव की आदि और अलोक का अंत नहीं जानते हो! २ सर्व दर्शी होकर भी स्वप्न कदापि नहीं देखते हो! ३ वीतराग होकर भी अपनी आज्ञाका आराधन किये बिना मोक्ष नहीं देते हो ४ द्वेष रहित हो फिरभी, आपकी आज्ञा भंग करने वाले को अनत संसार परिभ्रमण करना पड़ता है ४ स्त्रीके त्यागी होकर भी शिवरमणी (मोक्ष) की अभिलाषा है ५ वज्र आदि आयुध (शस्त्र) रहित होकर भी 'मोह' नामक महा दैत्य का संहार किया ६ राज्यासन के त्यागी होकर भी जगत् नाथ कहलाते हो! ७ अनत बलवंत होकर भी एक कुंथुवे की भी घात नहीं कर सकते हो ८ अनंत ऋद्धि के धारक होकर भी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हो ९ सर्व-त्यागी होकर भी त्रिगढे की विभूति भोगते दीखते हो १० आप समभावी हो तथापि आपकी निंदा करने वाला दुःख पाता है, और वंदन करने वाला सुख पाता है ११ सबको अभय दान के देने वाले होकर भी पाखण्डियों का मान मर्दन करने के लिये आपके आगे आकाश में धर्म चक्र गरणाट करता हुआ चलता है १२ दयालु होकर भी, कर्म शत्रुओं का समूल नाश कर डाला १३ तीर्थ की स्थापना करके भी और गुप्त निधान तथा अनेक ऋद्धिसिद्धी जानते देखते हुए भी अपने

सेवकों को नहीं बताते हो १४ विनय के सागर होकर भी, किसी के आगे मस्तक नहीं झुकाते हो-दीनता नहीं बताते हो। १५ निर्मोही होकर भी, सेवकों को तारते हो १६ अद्वेषी होकर भी निर्गुणों का संग त्यागते हो। ऐसी ऐसी अनेक बातें है, मैं कहां तक लिखू! अहो नाथ आपका चरित्र बड़ाही आश्चर्य-जनक है।

अहो जिनेश्वर! आपके नाम द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के गुणों का प्रकाश दरसाते हैं। जैसे—१ "ऋषति गच्छति परम पदमिति ऋषभः"— अर्थात् जो परम पद (मोक्ष) को जाता है वह ऋषभदेव। और आपकी माता ने चौदह स्वप्नों की आदि में ऋषभ--वृषभ (बैल) का स्वप्न देखा था अथवा आपके चरण (पग) में बैल का लांछन (चिन्ह) था इस लिये आपका नाम ऋषभदेवजी रक्खा गया। २ "परिषहादिभिर्नजितः इत्यजितः"— परिषह, उपसर्ग तथा कर्म आदि दुर्जय शत्रुओं का पराजय किया, इसलिये अजित। और आप गर्भ में थे, उस समय आपकी माता अपने पति से संवाद में जीत गई थी, इसलिये भी आपका नाम अजितनाथजी रक्खा ३ "शं सुख भवत्यस्मिन् स्तुते स शंभवः"— जिनकी स्तुति करने से सुखकी प्राप्ति होवे वह शंभव। और आप गर्भावास में थे, उस समय देश में पड़ा हुआ दुष्काल मिटकर सुकाल हुआ तथा धान्य आदि की बहुत उत्पत्ति हुई इसलिये आप शंभवनाथ कहे गये ४ "अभिनन्द्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनंदनः"— जिनकी देवेन्द्रादि ने स्तुति करी, सो अभिनंदन। और आप जब से गर्भ में पधारे, तब से बहुत बार शक्रेन्द्र आए और आपकी स्तुति की, इसलिये आपको अभिनंदन कहते हैं। ५ "शोभना मतिरस्येति सुमतिः"— श्रेष्ट मति अर्थात् बुद्धि के धारक होने से सुमति। आपके गर्भावास में आए पीछे, आपकी माता की बुद्धि बहुत निर्मल और प्रबल होगई थी जिससे आपको सुमतिनाथ कहा ६ "निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव-प्रभाऽस्य पद्मप्रभः"— विषयकषायरूप कीचड़ से पद्म कमल के समान अलग रहे अतः पद्म प्रभु। और पद्म कमल जैसी आपके शरीर की रक्त प्रभा, तथा आपकी माता को पद्म कमल की शय्या पर शयन करने का

डोहला (वांछा) उत्पन्न हुआ जो स्वयं इन्द्रने पूर्ण किया, इन दो कारणों से आपका पद्म प्रभ नाम रक्खा ७ "शोभनौ पार्श्वौ अस्य सुपार्श्वः"—दोनों पासे शोभनोक होने से सुपार्श्व। और आपकी माता की दोनों ओर की पसलियां पहले वांकी—टेढी थी, किन्तु आपके गर्भ में आने ही सीधी होगई–इसलिये सुपार्श्वनाथ नाम दिया ८ "चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषाऽस्य चन्द्र प्रभः"— चन्द्रमा के जैसी सौम्यलेश्या होने से चन्द्रप्रभ। और आपके शरीर की चन्द्रमा की जैसी कान्ति थी तथा आप गर्भ में थे उस समय आपकी माताजी को चन्द्रमा घोल कर पीजाने का डोहला उत्पन्न हुआ था, जो बुद्धि के प्रभाव से पूर्ण किया गया, इमलिये चन्द्र प्रभू नाम दिया। ९ "शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिः"— जिसकी अच्छी विधि अर्थात् क्रिया हो वह सुविधि। और आपके गर्भ में आये वाद, आपकी माताजी अच्छी विधि यानी विशेष चतुरता से रहने लगी–इसलिये सुविधि नाथ नाम दिया, १० "सकल–सत्व–संताप हरणात् शीतलः"— सकल जीवों के संताप का नाश किया और उन्हें शीतल-शांत बनाया, इमलिये शीतल। और आपके पिताजी को ज्वर होने से दाह होरहा था और अनेक उपचारों से भी शांत नहीं हुआ था, किन्तु आपके गर्भ में विराजमान हुए बाद आपकी माता के हाथ के स्पर्श से वह दाह एकदम शांत होगया–मिटगया–इसलिये शीतलनाथ ११ "श्रेयन् समस्त भुवनस्येव हितकरः प्राकृत शैल्या छान्दसत्वाच्च श्रेयास इत्युच्यतेः"— सर्व जग जन्तुओं के एकांत हित ही के कर्ता, सो श्रेयांस। और आपके पिता के घरमें एक देवशय्या थी, उस पर शयन करने वाला व्यक्ति अवश्य असमाधि पाता थाः परन्तु आप गर्भ में आए तब आपकी माता जी को उस शय्या पर शयन करने की वांछा हुई और शयन किया तथा उन्हें किंचित भी असमाधि न हुई, प्रत्युत अधिक सुख प्राप्त हुआ–इसलिये श्रेयांसनाथ नाम दिया १२ "तत्र वासूना पूज्य. वासुपूज्यः"— देवताओं द्वारा पूज्य हो, सो वासु पूज्य। वसुपूज्य राजा के पुत्र, इसलिये वासु पूज्य। आप के गर्भ में आये वाद इन्द्रने आपकी माता की पूजा की इस-लिये वासु पूज्य। वैश्रमण भण्डारी देव ने आपके पिता के घर में वसु

(लक्ष्मी--द्रव्य) की वृष्टि की इसलिये वासु पूज्य नाम दिया १३ "विगतो मलोऽस्य विमलः" विमलज्ञानादि-योगाद्वा विमलः' — अष्ट कर्म रूप मल (मेल) दूर हुआ इसलिये विमल । तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की निर्मलता होने से विमल । और जिस समय आप गर्भवास में आए उस समय माताजी की बुद्धि तथा शरीर निर्मल हुआ इसलिये विमल नाथ नाम दिया । १४ "न विद्यते गुणानामतोऽस्य अनंत, अनतकर्मांश-जयाद्वाऽनन्तः"— "अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनतः"— गुणों का अंत नहीं, इसलिये अनंत । अनंत कर्मांशों का नाश किया, इसलिये अनंत । अनंत ज्ञानादि चतुष्टय के धारक होने से अनंत । और विचित्र रत्नों से जड़ी हुई रत्नों की माला, जिसके मूल्यका कुछ अंतही नहीं,- ऐसा स्वप्न आपकी माता ने देखा-इसलिये अनंतनाथ नाम दिया । १५ "दुर्गती पतन्त सत्वसघात वारयतीति धर्म्म"— दुर्गति में पडते हुये जीवों को धारण करे अर्थात् उन्हें दुर्गति में न गिरने दे, वह धर्म । और आपके गर्भ में आये पीछे माताजीकी धर्म पर अधिक प्रीति हुई, जिससे धर्म नाथ नाम दिया १६ "शातियोगात्तदात्मकत्वात्तत्कर्तृकत्वाच्चाय शाति."— शांतस्वभावी, शांत-स्वरूपी, और शांति के कर्ता होने से शान्ति । तथा देश में मृगी का रोग प्रचलित था, सो आपके गर्भवास में पधारते ही और आपकी माता के चारों दिशा में अवलोकन करते ही सर्व रोग का नाश होकर सारे देश में शांति होगई थी, इसलिये शांति नाथ नाम दिया । १७ "कु पृथ्वी तस्या स्थितवानिति कुंथुः"— 'कु' नाम पृथ्वी का है और 'थु' नाम स्थिर होने का है, जो पृथ्वी में स्थिरी भूत हो सो कुंथु । और आपके गर्भ में आये पीछे माताजी ने रत्नों के कुंथुओं की राशी देखी, इस लिये कुंथुनाथ नाम दिया १८ "सर्वोत्तम महासत्व कुले य उपजायते, तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः"— संसार में सबसे अत्युत्तम महासात्विक कुल में जो उत्पन्न होवे, तथा कुल की अभि वृद्धि करे, सो अर । और आप गर्भ में थे उस समय आपकी माता ने स्वप्न में रत्नमय अर अर्थात् गाड़ी के चक्र का आरा देखा था-इस लिये "अरनाथ" नाम दिया । १९ "परिषहादिमल्लानजयत् निरुक्तात् मल्लि" — परिषहादि मल्लों को जीतने

से मल्लि। और आप गर्भ में आये उस समय आपकी माता को मालती के फूलों की शय्या में शयन करने का डोहला उत्पन्न हुआ जो देवता ने पूर्ण किया था—इसलिये मल्लिनाथ नाम दिया २० "मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनि:, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रत, मुनि श्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रत."—जो जगत की तीनों कालकी अवस्थाओं के परिवर्तनों को जाने सो मुनि और जिन के अच्छे व्रत हों सो सुव्रत। इन दोनों अर्थों के मिलने से मुनि सुव्रत नाम हुआ। और आप गर्भ में थे उस समय आपकी माताजी ने मौन सहित उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की थी, इसलिये मुनि सुव्रत नाम दिया २१ "परिषहोपसर्गादिनामनात् नमेस्तुवेति विकल्पेनोपान्त्येकाराभावपक्षे नमि"—परिषह और उपसर्ग आदि के आने पर आप बिलकुल ही क्षोभ नहीं पाते हुए उन्हें नमाया, इसलिये नमि नाथ। और आपके पिता की आज्ञा आस पास के सामान्य राजा नहीं मानते थे, पर आपके गर्भ में आये पीछे सब शत्रू अपने आपही आकर नम गये, इसलिये नमिनाथ नाम दिया २२ "धर्म चक्रस्य नेमिवन्नेमि."—धर्म चक्र की धारा चलाई सो नेमि। और आप गर्भ में पधारे तब माताजी ने अरिष्ट (श्याम) रत्नका धर्म चक्र आकाश में गरणाट करता हुआ देखा, इसलिये अरिष्टनेमि नाम दिया २३ "स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्व"—सर्व पदार्थों को ज्ञान के द्वारा स्पर्शित करे, इस लिये पार्श्व। और गर्भाशय में थे उस समय आपकी माता जी ने अन्धकार में जाते हुए सर्प का पार्श्व अर्थात् पासा देखा, इसलिये पार्श्वनाथ नाम दिया २४ "विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणी न वीर:"—जो विशेष रूप से कर्मों को प्रेरे यानी त्याग दे, सो वीर। और जन्मते ही सुमेरु नामक सर्वोच्च पर्वत को बाएँ पैरके अंगुष्ठ के स्पर्श मात्र से कंपा दिया, बचपन में दैत्य रूप धारण कर छलने आए देवको आपने हराया, अथवा अति घोर परिसह और उपसर्गों को समभाव से सहा—इसलिये 'महावीर' नाम दिया। और आपके गर्भावास में पधारे पीछे आपके पिता के घर में धन धान्य आदि संपत्ति की बहुत ही वृद्धि हुई देख कर 'वर्द्धमान' नाम दिया।

जैसे इस वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों के नाम

की स्थापना गुणानुसार हुई है, तैसे ही गत अवसर्पिणी काल में के अनंत तीर्थंकरों के नामों की स्थापना भी हुई थी। और इसी भांति आगामी काल में जो अनंत तीर्थंकर होंगे उनके नामों की स्थापना भी होगी। मतलब यह है कि तीर्थंकरों के नाम, द्रव्य और भाव दोनों ही तरह शुभ गुणों से भरपूर होते हैं! और इस बात को जरा दीर्घ दृष्टि से विचारें तो मन में बड़ा आश्चर्य तथा आनन्द होता है कि--जिन्हों ने गर्भाशय में रहे ही अपने पुण्य की प्रबलता का सब को सुखदायक उपर्युक्त प्रकार से चमत्कार बताया, वे महान् प्राणी बाहिर आकर अर्थात् जन्म लेकर क्या नहीं करेंगे ? अर्थात् सभी अच्छा करेंगे।

"युवाकाल में महापुरुषों से--
होता जग उपकार महान।
युवाकाल क्या बाल्य काल ही--
कर देता नव-शान्ति विधान।
बाल्य काल क्या जन्मकाल ही--
करता संकट का अवसान।
जन्मकाल क्या गर्भ काल ही--
करता उन्नतिमय उत्थान।
प्रात काल गर्भगत दिनमणि--
क्या नहीं करता स्वर्ण-विहान।
म्लान कमलदल विकसित होते--
करते हैं मधुकर मधुपान।"

अहो परमात्मन्! आप अचिन्त्य शक्ति के धारक हो, महादिव्य रूप के धारक हो, अलौकिक ऋद्धि से विभूषित हो। गणधर आदि सहस्रों मुनिगणों से वन्दनीय हो; स्याद्वादद्वारा सत्य-न्याय मोक्ष मार्ग के स्थापक हो; ज्ञान अतिशय, वाग (वाणी) अतिशय, अपायापगमातिशय और पूज्यातिशय, इन चार अतिशयों द्वारा सर्व [illegible]

आपकी जघन्य ७ हाथ की और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की अवगाहना होती है, और जघन्य ७२ वर्ष का तथा उत्कृष्ट ८४०००० पूर्व का आयुष्य होता है;- जिसमें कितने ही पूर्व और वर्ष तक श्रमण पर्याय यानी साधुपना पाल कर, केवल पर्याय पाल कर, ग्राम नगर आदि में उग्र विहार कर, सत्य धर्मका प्रकाश कर, अंतिम अवसर में द्वादशांग वाणी रूप रत्न करण्ड-को गणधर आचार्य के सिपुर्द कर, अत्यन्त अत्युत्तम भाव समाधि को प्राप्त होकर, अवशिष्ट चार अघातिक कर्मोंका सर्वथा नाश कर आप परम पद-सिद्ध पद को प्राप्त होते हो। उस पद का वर्णन आगे के दूसरे प्रकरण में करने की अभिलाषा रख, पहले आप श्री जी के चरणों में त्रि-करण त्रि-योग की विशुद्धि से अत्यन्त नम्रता युक्त बारम्बार वंदना नमस्कार करता हूं। कृपया दास की यह वन्दना स्वीकार कीजिए।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के

बालब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक पूज्य श्री अमोलकऋषिजी

महाराज रचित परमात्ममार्गदर्शक नामक ग्रन्थ का

'अर्हत गुणानुवाद' नामक प्रथम प्रकरण-

समाप्त





प्रकरण–दूसरा

" सिद्धगुणानुवाद "



हो सिद्ध भगवंत ! आपका पद वही जीव प्राप्त कर सकता है कि जो पन्दरह कर्मभोमियों के क्षेत्र में, आर्य देश में, मनुष्य पणे उत्पन्न हुआ हो । इसके अतिरिक्त चरम (अंतिम) शरीर का धारक हो, वज्र ऋषभ नाराच संघयण, भव्य सिधिकता, पण्डितवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, परम शुक्ल लेशा, केवल ज्ञान और केवल दर्शन–इतने गुणों की जोगवाई जिस जीवको होती है, वह जीव ही आपके परमोत्कृष्ट पद तक पहुंच सकता है ।

अहो सिद्ध प्रभु ! आपका पद प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त हुए केवली भगवंत को यदि आयुष्य कर्म तो अल्प हो और वेदनीय कर्म अधिक हो तो दोनों को बराबर करने के लिए स्वाभाविक ही आठ समय में समुद्घात (आत्म प्रदेश का मथन होकर स्वभाव से अन्य भाव में प्रगमना) होती है । १ प्रथम समय में, नीचे निगोद (सातमी नर्क के नीचे) से लगाकर ऊपर लोक के अंत तक, आत्म प्रदेश दंड के समान लम्बे होजाते हैं । २ दूसरे समय में वे दंडाकार प्रदेश पूर्व और पश्चिम मे कपाट

के समान विस्तृत हो जाते हैं। ३ तीसरे समय में उन कपाटवत् प्रदेशों का, दक्षिण तथा उत्तर में मथन हो जाता है, ४ चौथे समय में संपूर्ण लोक में जो कहीं किंचित् मात्र भी स्थान बाकी रहा हो, वह उन प्रदेशों द्वारा अति पूर्ण भर जाता है। उस समय केवली भगवंत विश्वव्यापी हो जाते हैं। * उक्त समय में जिन का बदला देना होता है वह सब उन प्रदेशों द्वारा चुका देते हैं और तुरंत निवृत्तीकरण होता है। ५ पांचवे समय में लोकपूर्णता से, ६ छट्टे समय में मथनता से ७ सातवे समय में कपाट अवस्था से, निवृत्त होते हैं और ८ आठवे समय में दंडत्व का उपसंहार होकर अपने स्वाभाविक मूल रूपको प्राप्त होते हैं। × यह समुद्घात होते वक्त पहले और सातवे समय में औदारिक काय योग की, दूसरे और छट्टे समय में औदारिक मिश्र काय योग की, (यह मिश्रता कार्माण योग के साथ होती है) और चौथे पांचवे समय में केवल एक कार्माण योग की ही प्रवृत्ति होती है। उक्त समय में अनाहारिक होते हैं। यह समुद्घात उन्हीं केवल ज्ञानियों को होती है; जिनका आयुष्य केवल ज्ञान उत्पन्न होने के समय मात्र छः महीने का ही शेष रहता है। इसके विपरीत अन्य केवलियों के नही।

अहो सिद्ध भगवंत! आपके पदको प्राप्त होने के इच्छुक, उपरोक्त समुद्घात से निवृत्त होने के बाद अथवा जिनके समुद्घात न भी हुई हो- ऐसे केवली भगवंत, जब अयोगी अवस्था को प्राप्त होते हैं तब मन बचन और काया के योगों का निरोधन करते हैं—शुक्ल ध्यान के तीसरे पाये सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति को ध्याते हैं—और उस समय उनके तीनों योग कंपायमान क्रिया से निवृत्त होकर स्थिरीभूत शैलेशी (पर्वत जैसी) अवस्था को धारण करते हैं। उक्त तीसरे पाये को ध्याते हुए ही अचिन्त्य आत्मवीर्य की शक्ति प्रगट होती है। तब बादर काया योग स्वभाव से स्थिर

---

* जो ईश्वर को विश्वव्यापी कहते हैं, वे संभवतः इसी कारण से कहते होंगे।

× यह समुद्घात इच्छापूर्वक नहीं की जाती है, क्योंकि किसी भी काम के करने मे असंख्यात समय लगते हैं, और यह तो मात्र आठ समय मे ही होती है। इस लिये यह विना की हुई स्वभाव से ही होती है।

होकर सूक्ष्म होता है, फिर बादर वचन योग स्थिर होकर सूक्ष्म होता है, अंत में क्षण भर के बाद सूक्ष्म काया योग का—फिर सूक्ष्म वचन योग का—और फिर सूक्ष्म मन योग का अपचय होजाता है। उस समय निजात्मानुभव में अत्यंत लीन होकर चिद्रूप अवस्था को प्राप्त होते हैं। तब केवल पांच लघु अक्षर (अ-इ-उ-ऋ-लृ) के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतनी ही स्थिति शेष रह जाती है। इस वक्त शुक्ल ध्यान का चौथा पाया 'समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति' नामक होता है और तब जो चरम—अंतिम शरीर है उस के संस्थान अवगाहना से तृतीयांश अवगाहना की न्यूनता करते हैं, अर्थात् जो आत्म प्रदेश और कर्म प्रदेश, पहले खीर नीर की तरह मिल रहे थे, सो भिन्न—पृथक् होने से मात्र आत्मा के ही प्रदेश रहते हैं तथा वे घनरूप होजाते हैं। कर्ण नासिका आदि में जो छिद्र थे सो उनके पूरे जाने से तृतीयांश भाग की अवगाहना कम हो जाती है। जैसे उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य की अवगाहना वाले केवली की, उस समय तीनसौ तेतीस धनुष्य और बत्तीस अंगुल की अवगाहना रहजाती है और दो हाथ की (वामन संस्थान आश्रित) जघन्य अवगाहना वाले की, उस समय एक हाथ आठ अंगुल की अवगाहना रह जाती है। इस समय वे विदेही एवं देहातीत अवस्था वाले कहे जाते हैं। फिर स्वभाव से ही उनके आण पाण (श्वासोश्वास) का निरोधन हो जाता है और जब शरीर से अलग होते हैं तब आत्मा ऊर्ध्व दिशा को स्वभावसे ही गमन करती है। जैसे (१) कुम्हार का चाक घुमाकर छोड देने पर भी फिरता रहता है तैसे ही कर्म के धक्कों से छुटी हुई आत्मा सिद्ध स्थान तक चली जाती है (२) जैसे मिट्टी के और शण के लेप से भारी हुआ तुम्बा नामक फल पाणी में डूब जाता है और वहां धीरे धीरे गल जाने से लेप का संग छूटते ही स्वभावतः सीधा ऊपर आता है, तैसे आत्मा का देही के असंग होने से ऊर्ध्व जाने का स्वभाव है (३) जैसे एरंड नामक वृक्ष के फल का बीज फलके बन्धन से मुक्त होते ही सहसा ऊँचा उछलता है, तैसे कर्म बन्धन से मुक्त होते ही आत्मा ऊँची जाती है (४) और जैसे अग्निशिखा का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है, तैसे आत्मा का भी ऊर्ध्व गमन करने का

स्वभाव है। इन चार दृष्टांतों के अनुसार आत्मा लोक के अन्त तक जाता है। उस समय आत्मा जितने अपने प्रदेश हैं उतने ही आकाश प्रदेशों का अवलम्बन कर, विग्रह गति रहित हो, केवल एक समय मात्र में ही सात-राजू परिमित क्षेत्र का उलंघन करती है। आगे जीव को गतिस्वभाव की प्रेरक धर्मास्तिकाय नहीं है, अतः लोक के अन्त में ही आत्मा स्थिरीभूत हो जाती है और तब वह आत्मा सिद्ध पद को—आपके पदको—आपके रूपको प्राप्त होती है। इस तरह गये काल मे अनंत सिद्ध हुए हैं, वर्तमान काल में महा विदेह क्षेत्रों से संख्याते सिद्ध होते हैं—यों आप सब सिद्ध वनस्पति के दंडक को छोड कर शेष तेईस दंडकों मे अनंत गुणे अधिक हो और वनस्पति से (निगोद आश्रित) अनंतवे भाग हो। इस भांति भिन्न-भिन्न जीव सिद्ध हुए हैं, यों गिने तो अनंत हो और स्वरूप आश्रित तो आप एक ही हो।

अहो सिद्ध परमात्मा! आप जहां विराजमान हो वहां नीचे पृथ्वीमय एक शिलापट्ट है। उसे सिद्ध शिला कहते हैं। वह पैंतालीस लाख योजन की लम्बी चोड़ी है, मध्य में आठ योजन की मोटी है, और वहाँसे क्रमशः कम होती हुई किनारे पर मक्खी की पांख से भी अधिक पतली है। तेल से भरा हुआ दीवा, पताशा, ताशा नामक वार्जित्र, और उलटे रक्खे हुए छत्र के आकार के समान आकार वाली है। अर्जुन (श्वेत) सुवर्ण की, घटारी मठारी, अत्यन्त सुहाली, सुगन्ध से घमघमायमान, देदिप्यमान प्रकाश करती हुई, अत्यन्त सुहामणी मनोहर है। परन्तु अहो सिद्ध भगवंत, आप का उस शिला से कुछ सम्बन्ध नहीं है। आप उस पर विराजते नहीं हो, आप को उसका किसी प्रकार का आधार नही है। केवल उसके ऊपर सिद्धस्थान होने से, या सीधी अढाई द्वीपके ऊपर होने से, या सीधी-सुलटी होने से सिद्ध सिला नाम से कही जाती है। सिद्ध शिला के ऊपर केवल एक योजन ही लोक है, सो उस योजन के पांच भाग तो नीचे छोडना और ऊपर के छठे भाग में ३३३ धनुष्य और ३२ अंगुल जितनी जगह रही—उतनी जगह में अनंतानंत सिद्ध भगवंत-जो गये काल में हो चुके हैं-वे विराजते हैं। और आगामी काल में जो

अनंतानंत सिद्ध होंगे उनका भी उतनी ही जगह में समावेश होजायगा; परन्तु वहां किंचित् मात्र भी जगह अवरुद्ध नहीं होती। जैसे एक कोटडी में एक दीपक के प्रकाश का भी समावेश होता है, और वहीं हजारों दीपकों के प्रकाश का भी समावेस होजाता है, तो भी किंचित् मात्र जगह रुकती नहीं है–प्रकाश में प्रकाश समाता चला जाता है, ठीक तैसे ही अनन्तानंत सिद्धों के एकत्र रहने से भी किंचित् मात्र जगह नहीं रुकती; क्यों कि आपका स्वरूप ही 'ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति संत :' के अनुसार संतमहात्माओं ने ज्ञान जैसा बताया है। अर्थात् जैसे किसी ने बहुत विद्या का अभ्यास किया और उस समस्त विद्या का समावेश उसकी आत्मा में हुआ; परन्तु उस विद्या को वह करामलकवत् (हाथ में ऑवले नामक फल की माफिक) बता नही सकता है, तैसे ही आप सिद्ध परमात्माओं के स्वरूप को आत्मज्ञानी परोक्ष प्रमाण से और केवल ज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं, परन्तु अज्ञ जनों को बता नही सकते हैं। छद्मस्थों (आवरण युक्त ज्ञान वालों) की अपेक्षा से आप अरूपी हो–दृष्टि गोचर नहीं होते हो और केवली (निरावरण ज्ञान वाले) की अपेक्षा से आप रूपी भी हो क्यों कि जीवद्रव्यआत्मावंत हो। ऐसा आपके विचित्र स्वरूप का विचार करते हुये मनमें बडा ही आश्चर्य एवं आनंद उत्पन्न होता है! और उमंग हो आती है कि 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' अहो भगवंत! जैसे परोक्ष ज्ञान द्वारा आपने उक्त स्थान या सिद्ध स्वरूप के दर्शन दिये; तैसे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा भी अधिक नही, केवल एक ही बार दर्शन देकर, मुझे कृतार्थ कीजिये।

यह तो द्रव्यात्मक विचार हुआ, अब गुणात्मक विचार करते हैं। अहो भगवंत! आप अनंतानंत गुणों और अतिशयों के धारक हो! यथा आपने अनादि संयोगी अष्ट कर्मोंका समूल नाश किया जिससे आपको अष्ट गुणों की प्राप्ति हुई। (१) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई, जिससे सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवों की प्रवृत्ति को आप युगपत् (एकही समय में) जान रहे हो (२) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने से केवल दर्शन की प्राप्ति हुई, जिससे सर्व द्रव्यादि

की प्रवृत्ति को युगपत् देख रहे हो (३) वेदनीय कर्म के क्षय होने से अव्याबाध हुए, जिससे अनंत निराबाध शिवसुखी हो (४) दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने से अनंत शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्वी हो, जिससे आत्म भाव में ही रमण करते हो और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय होने से निष्कषायी हो, जिससे अनंत शांत स्वभावी हो (५) आयुष्य कर्म के क्षय होने से अजरामर हुए, जिससे संसार में पुनरागमन से रहित हो (६) नाम कर्म के क्षय होने से अमूर्त हुए, जिससे सर्व उपद्रवरहित शिव हो (७) गोत्र कर्म के क्षय होने से सर्व अप लक्षण (दोष) रहित हुये, जिससे सर्व मान्य हो (८) और अंतराय कर्म के क्षय होने से अनंत वीर्यवन्त हो, जिससे अनंत शक्ति के धारक हो ।

और भी आपके ३१ गुण अतिशय हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत—इन पांचोंही वर्णों से रहित हो । सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध—इन दोनों गन्धों से रहित हो। कटु, तिक्त, मधुर, अम्ल, क्षार—इन पांचोंही रसों से रहित हो । गुरु, लघु, कर्कश, कोमल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष—इन आठों ही स्पर्शों से रहित हो । वट्ट, तंस, चौरंस, परिमण्डल, आइतंस—इन पाचोंही संठाणों से रहित हो । स्त्री, पुरुष, नपुंसक—इन तीनों ही वेदों से रहित हो । जन्म, जरा, मरण—इन तीनों ही दुःखों से रहित हो । भगवान् ! ये आपके इकत्तीस अतिशय हैं ।

और भी आप ३१ दोषों से रहित हो—१ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ, ५ राग, ६ द्वेष, ७ रति, ८ अरति, ९ हॉस, १० मोह, ११ मिथ्यात्व, १२ निद्रा, १३ काम, १४ अज्ञान, १५ मन, १६ वचन, १७ काया, १८ संसार, १९ इन्द्रिय, २० कंदर्प, २१ शब्द, २२ रूप, २३ गन्ध, २४ रस, २५ स्पर्श, २६ आहार, २७ निहार, २८ रोग, २९ शोक, ३० भय, ३१ जुगुप्सा—इन इकत्तीस दोषों में से एक भी दोष आप में किंचित् मात्र भी नहीं है ।

और भी आप अनेक गुणगणों के सागर हो । जैसे-निराकार, निरालम्ब, निरासी, निरूपाधि, निरविकारी, अक्षय, अनादि, अनंत, अखण्ड, अक्षर, अनक्षर, अचल, अकल, अमल, अगम, अरूपी, अकर्मी,

अबन्धक, अनुदय, अनाद्रिक, अवेदी, अभेदी, अछेदी, अखेदी, असखायी अक्लेशी, अभोगी, अव्याबाध, अनंत अनवगाही, अगुरुलघु, अपरिणामी, अनिंद्रिय, अविकारी, अयोनी, अव्यापी, अनाश्रयी, अकम्प, अविरोधी, अखण्डित, अनाश्रव, अलख, अशोक, अलोकज्ञायक, स्वद्रव्यवत, स्वक्षेत्रवंत, स्वकालवंत, स्वभाववंत, द्रव्यास्तिक से नित्य, पर्यायास्तिक से अनित्य, गुण पर्यायभाव से नित्यानित्य, सिद्धस्वरूपी, स्वसत्तावंत, पर सत्तारहित, पर क्षेत्र अनवगाही, धर्मास्ति—अधर्मास्ति—आकास्ति—पुद्गलास्ति- और काल के स्वभाव से भिन्न, स्वभाव के कर्ता, पर भाव के अकर्ता, शुभ, अमर, अपर, अपरापर, स्वभावरमण, सहजानन्दी, पूर्णान्दी, अजर, अविनाशी, एक, असंख्य, अनंत,—यों अनंतानंत गुणों द्वारा आप संयुक्त हो। मैं अल्पज्ञ महा प्रमादी, किस प्रकार समस्त वर्णन कर सकता हूं।

अहो सिद्ध भगंवत! आप अतुल्य सुखसागर में विराजमान हो। इस संसार में ऐसा किसी का भी सुख नहीं है, कि जिसकी आपको उपमा देवें। यहां सामान्य सुख शेठ लोकों के गिने जाते हैं। उनसे सेनापति के सुख अधिक हैं। उससे मंत्रीश्वर के, उससे मंडलिक राजा के, उससे बलदेव के, उससे वासुदेव के, उससे चक्रवर्ती के, उससे जुगलियों के, उससे देवता के, उससे इन्द्रके, उससे अहमेद्रके सुख अधिक हैं। उससे सामान्य साधु के, उनसे तपश्वीजी के, उनसे बहुसूत्री जी के, उनसे आचार्यजी के, उससे गणधर जी के और उनसे अर्हत भगंवत के सुख अधिक देखे जाते हैं। और तीर्थंकर भगवान से सिद्ध भगवंत के सुख अनंत गुणे अधिक हैं। यथा दृष्टांत—जैसे किसी जंगली मनुष्य को पकड़ कर राजा अपने स्थान में ले गया। वहां उसे अत्युत्तम भोजन कराया और पीछा उस के स्थान पर पहुँचा दिया। तब वह जंगली निज कुटम्ब के संमुख राजभोजन की प्रशंसा करने लगा, परन्तु उस भोजन के स्वाद की समता करने वाला कोई भी पदार्थ जंगल में बता सका नहीं। तैसे ही अहो सिद्ध प्रभू! आपके सुख की समता करने योग्य कोई भी पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है। वस्तु का स्वाद तो उसको भोगने वाला

ही जानता है, परन्तु उस स्वाद का वर्णन शब्द द्वारा नहीं हो सकता।

अहो सिद्ध भगवंत! आपके सुख तो अतीन्द्रिय हैं, अर्थात् इन्द्रिय-गोचर (इन्द्रियों से जानने में आवें) नहीं है। और अनोपम भी हैं अर्थात् किसी वस्तु की उपमा देने में आवे, ऐसे नहीं हैं। इस लिये आपके सुख अनुभवी सिवाय अन्य नहीं जान सकता है। ऐसे अनंत अक्षय सुख में आप सदा विराजमान हो।

अहो सिद्ध प्रभू! कितने ही मतान्तरी आपके सुखों की भिन्न-भिन्न प्रकार से मन मानी कल्पना करते हैं। जैसे—बौद्ध लोग अत्यंत अभाव को प्राप्त होना ही मोक्ष बताते हैं; परन्तु वे यों नहीं विचारते हैं कि—जहां अत्यंत अभाव हुआ—आत्माही नहीं रही—तो फिर वहां मुक्ति के सुखों का अनुभव किसको होगा? वैशेषिक मतावलम्बी, ज्ञान के अभाव से जड़ता प्राप्त होने को मुक्ति मानते हैं; परन्तु वे यों नहीं विचारते हैं कि ज्ञान का अभाव करके अपने को जड़ पाषाणवत् बनाने से कौन खुशी होगा? कितनेक वेदान्ती और पुराणी लोग, मुक्ति में गये जीवों की भी पुनरावृत्ति (पीछे संसार में लौट आना) बताते हैं; उनकी यह बात बहुत अविचार की है क्यों कि-संसार शब्द का अर्थ होता है कि-"संसरणं संसारः।" यानी बारम्बार परिभ्रमण करना। और ऐसे संसार से छूटने को मुक्ति कहते हैं, यदि मुक्ति में गये पीछे भी जन्म लेना बाकी रहा तो फिर संसार से मुक्ति में विशेषता ही क्या है? ईसाई और मुसलमान आदि कितनेक मुक्तिमें अप्सरा यानी परियों के भोग एवं अमृत भोजन वगैरह बताते हैं सो तो प्रत्यक्ष ही विषय—लम्पटता है। जैमनीय के मतावलम्बी मुक्ति का नाश ही बताते हैं, उनके अज्ञान का तो कहना ही क्या? इस प्रकार अनेक मतान्तरी, अनेक तरह से मुक्ति का कथन करते हैं; परन्तु

* दृष्टान्त—किसी कृपण शेठ ने हलवाई से कहा, अरे हलवाई! तेरी मिठाई की लोग बहुत प्रशंसा करते हैं, इस लिये कहके बता कि तेरी मिठाई कैसी अच्छी है? हलवाई बोला, शेठ! मिठाई का स्वाद कहकर नहीं बताया जाता है; वरन् दाम खरच कर चखने से ही जाना जाता है? तैसे ही मोक्ष के सुख जिन्होंने करणी करके प्राप्त किये हैं वे ही जानते हैं।

जो कुछ मुक्ति का सत्य स्वरूप अर्हंत भगवंत ने कैवल्य ज्ञान रूपी दुर्बीन से प्रत्यक्ष देख कर फरमाया है, वही सत्य है। उनके वचनानुसार ही, अहो सिद्ध भगवंत! मैंने आपको पहचाना है और आपके सत्य स्वरूप में श्रद्धालु बना हूँ। और चाहता हूँ कि इसी स्वरूप को मेरी आत्मा भी शीघ्राति शीघ्र प्राप्त हो!

अहो सिद्ध परमात्मा! अब आपके स्वरूप की विवेचना स्याद्वाद सप्तभंगी द्वारा करता हूं। (१) प्रथम भंग स्यादस्ति है। अनेकान्तता से अथवा सत् अपेक्षा से अस्ति होना, इसका संक्षिप्त अर्थ है। अस्तु, स्वद्रव्य से अपने गुण पर्यायों के समुदाय हैं, स्वक्षेत्र से अपने आत्मिक असंख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र के अवगाहक हैं, काल से समस्त लोकालोक में प्रति समय होने वाली उत्पात और व्यय की वर्तना के ज्ञाता हैं, स्वभाव से अनंतज्ञान–अनंतदर्शन–अनंतचारित्र–और अनंत अगुरु लघु पर्यायों के धारक हैं। यह सिद्ध भगवंतों का अपना अचल अस्तित्व है। (२) द्वितीय भंग स्यान्नास्ति है। इसके द्वारा सिद्धों में परद्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल और परभाव का नास्तित्व है। (३) तृतीय भंग स्यादस्ति स्यान्नास्ति है। जिस समय प्रथम भंग में कहे अनुसार सिद्ध प्रभू में स्वगुणों का अस्तित्व रहा हुआ है, उसही समय द्वितीय भंग में कहे अनुसार परगुणों का नास्तित्व भी रहा हुआ है। इस प्रकार एकही समय में सिद्धों में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों है। (४) चतुर्थ भंग स्याद-वक्तव्य है। सिद्ध भगवंत के अनंतानंत गुणोंका वर्णन वाचाद्वारा सर्वथा असंभव है, इसलिये सिद्ध महाराज अवक्तव्य भी हैं। अर्थात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति दोनों भंग एकही समय में सिद्ध भगवंत में हैं, किन्तु वे एक साथ एक ही समय वचन द्वारा नहीं कहे जा सकते। 'स्यादस्ति' मात्र इतना कहते ही असंख्यात समय गुजर जाते हैं। अतः जब 'अस्ति' कहते हैं तब 'नास्ति' नहीं कह सकते और जब 'नास्ति' कहते हैं तब 'अस्ति' नहीं कह सकते। क्योंकि शब्द क्रमवर्ती है, एक समय में दो शब्दों का उच्चारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। यह हुई सिद्धों की अवक्तव्यता। (५) पंचम भंग स्यादस्ति अवक्तव्य है। प्रथम भंग में कहे अनुसार

सिद्धों में अस्तित्व भी है और साथ ही चतुर्थ भंग में कहे अनुसार अवक्तव्यत्व भी है (६) षष्ट भंग स्यान्नास्ति अवक्तव्य है। द्वितीय भंग के अनुसार नास्तित्व और चतुर्थ भंग के अनुसार अवक्तव्य–यों दोनों भंगों के समन्वय से सिद्धों में यह छट्ठा भंग है। (७) सप्तम भंग स्यादस्ति स्यान्नास्ति अवक्तव्य है। तृतीय भंग के अनुसार सिद्धों में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एकही समय में सिद्ध हैं तथा साथ ही चतुर्थ भंग के अनुसार वचन द्वारा अवक्तव्यता भी है। इस रूप से सिद्ध भगवंत में सप्तम भंग भी है। अहो प्रभू! इस प्रकार सप्तभंगी से आपके स्वरूप का विचार करते हुए हृदय में अपूर्व आनंद एवं शान्तरस का अनुभव होता है। आपका स्वरूप अगम्य तथा अगोचर है, अज्ञानी जीव की वहां तक पहुंच नहीं हो सकती, उसके लिये तो बस आप जैसा बनजाय, तब कहीं काम बने।

अहो सिद्ध भगवंत! आप का अलौकिक स्वरूप छह कारकों से भी विचारता हूँ:–(१) 'कर्ता–' जो ज्ञानादि गुण आत्मा में पहले गुप्त रूप से रहे हुए थे, आपने उनको सर्व प्रकार से पूर्णतया प्रकट किया। इस लिये ज्ञानादि गुणों के प्रकट कर्ता आप ही हो। (२) 'कारण'–ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने में ज्ञानादि गुण ही कारण रूप हैं, (३) कार्य'–ज्ञान गुण के द्वारा अनंत ज्ञेय रूप (जानने योग्य) पदार्थों को जानने का कार्य करते हो। दर्शन गुण के द्वारा अनंत दृश्य पदार्थों को देखने का कार्य करते हो। चारित्र गुण के द्वारा अनंत आत्मिक गुणों में अभिरमण करते हो। और वीर्य गुणके द्वारा अनंत गुणों में सहायकता रूप कार्य करते हो (४) 'संप्रदान'–समय समय में अनंत पर्याय ज्ञान से जानना, दर्शन से देखना, चारित्र से अपने वास्तविक आत्म स्वरूप में रमणता, और वीर्य से समय समय में अभिनव पर्याय से सहायकता (५) 'अपा दान'-ज्ञानादि पर्याय में पूर्व पर्याय का व्यय होना अर्थात् पदार्थों में जो पर्याय नवीन उत्पन्न हुई थी वह भी ज्ञान से जानी थी, और उस पर्याय का व्यय यानी नाश हुआ, वह भी ज्ञान से जाना (६) 'आधार'-ज्ञानादि गुण की सदा ध्रुवता–निश्चलता जानना। आपका स्वरूप इन छः कारकों से सहित है।

अहो सिद्ध परमात्मा! आप नाम रूप से एक हो; क्योंकि आप

सब एक सिद्ध नाम से ही बुलाये जाते हो। क्षेत्र से असंख्य हो, क्योंकि असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र स्पर्श रहे हो। * गुण रूप से असंख्यात और अनंत हो, क्यों कि आत्म प्रदेश असंख्याते हैं और एकेक आत्म प्रदेश पर अनंत अनंत गुण प्रकट हुए हैं। पर्याय रूप से अनंत हो; क्यों कि एकेक गुण की अनन्तानन्त पर्यायों की वर्तना है एवं एकेक पर्याय पर अनन्तानन्त धर्म प्रगटे हैं। इस भांति पांच भंगों से आप के स्वरूप का चिन्तन होता है (२) आप अभोगी हो; क्योंकि शुभाशुभ इन्द्रियों के विकार से सर्वथा निर्वृत्त होगए हो। साथ ही उपभोगी भी हो; क्योंकि अनंत ज्ञानादि गुणों का बारंबार भोग करते हो (३) आप नित्य हो: क्योंकि आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र—ये तीन गुण और अव्याबाध, अमूर्तिक, अनव गाहक—ये तीन पर्याय नित्य हैं। और एक अगुरु लघु पर्याय, आपके सब गुणों में उत्पाद तथा व्यय रूप हानि वृद्धि को प्राप्त होती है, इस लिये आप अनित्य भी हो (४) आप योगी हो, क्यों कि आप के ज्ञानादि गुणों का संयोग है। और आप अयोगी भी हो, क्यों-कि मन वचन काय के योग से रहित हो (५) आप अभव्य हो; × क्यों-कि आपका ज्ञानादि गुण रूप जो निज स्वभाव है, उसका पलटा कदापि नहीं होता है। और भव्य भी हो; क्यों कि अगुरु लघु पर्याय के द्वारा आपके अनंत गुणों में हानि वृद्धि रूप कार्य, समय समय में उत्पाद व्यय रूप हो रहा है—पलट रहा है। और नो भव्य अभव्य भी हो; क्यों कि मोक्ष स्थान प्राप्त कर लिया है (६) आप स्थिर स्वभावी हो, क्यों कि

* क्षेत्र से असख्यात प्रदेशी क्षेत्र स्पर्श रहे हो, यह कथन व्यावहारिक वचनाश्रित है। निश्चय नय से तो सिद्ध प्रभू स्वक्षेत्री ही है, पर क्षेत्री नहीं हैं। क्यो कि जिस आकाश प्रदेश में सिद्ध की अवगाहना है, उसही क्षेत्र में अजीव पुद्गल खंध, तथा निगोद राशी शरीर वगैरह अनेक द्रव्य हैं। इस लिये सिद्ध की अवगाहना से क्षेत्र रुकता नहीं है। जैसे दीपको का प्रकाश चाहे कितना ही क्यों न एकत्र हो किन्तु अपने स्थान को रोकता नहीं है—भीड़ नहीं करता है।

+ अभव्य उसे कहते हैं, कि जिसके स्वभाव का कदाचित भी परि-वर्तन न हो।

सर्व कर्मों का क्षय करके अपने निजात्मरूप को प्रकट किया; जिससे लोकाग्र में जो सिद्ध स्थान है वहां सादि अनन्त रूप से विराज मान हुए हो। जिन आकाश प्रदेशों को अवगाहन करके विराजे हो, वहां से किसी भी समय चलित होकर अन्य आकाश प्रदेशों की स्पर्शना कदापि नहीं होगी—इस लिये स्थिर हो। और अस्थिर भी हो, क्योंकि प्रतिसमय अगुरु लघु पर्याय का पलटा होता रहता है। इन पर्यायों से हानि वृद्धि होती है (७) आप रमणीक हो, क्योंकि आपने शुक्ल ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिये अघातिये सर्व कर्मों का आवरण जला कर नाश किया। जिससे अनंत ज्ञानादिमय जो आपका शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ है, उस में आप की रमणता सो रमणीकपणा है। और इन्द्रियों के सुख के हेतु जो पर स्वभाव रूप विभाव दशा है, उससे आप सदाही अरमणीक हो। इत्यादि अनेक प्रकार से आपके स्वरूप का चिंतन करते हुये आत्मा में अद्वितीय आनन्द उत्पन्न होता है।

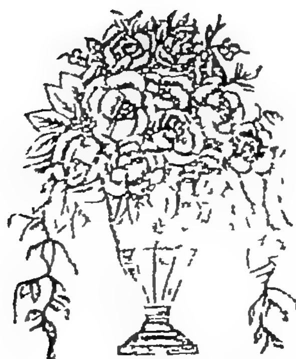
अहो सिद्ध भगवन्त ! इस संसार में सिद्ध नाम धारण करने वाले अनेक हैं। जैसे—नय सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध, शरीर द्रव्य सिद्ध, भव्य शरीर द्रव्य सिद्ध, यात्रा सिद्ध, विद्या सिद्ध, मंत्र सिद्ध, तंत्र सिद्ध, यंत्र सिद्ध, अंजन सिद्ध, पादुका सिद्ध, गुटिका सिद्ध, खड्ग सिद्ध, माया सिद्ध, बुद्धि सिद्ध, शिल्प सिद्ध, तप सिद्ध, ज्ञान सिद्ध, आदि—आदि। परन्तु आपकी तुलना कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि उपर्युक्त सर्व प्रकार के सिद्ध स-कर्मी हैं और आप सच्चे भावसिद्ध सर्व कर्मों के क्षय होने से ही हुए हो, इसलिये सब सिद्धों से उत्तम एवं वरिष्ठ आप ही हो। ऐसा मुझे प्रति भासित होने से सर्व प्रकार के सिद्धों से मेरा रुचिभाव हट कर बस अब एक आपही में लगा है।

अहो सिद्ध निरंजन ! ज्ञानावर्ण आदि कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का विनाश होने से आप अष्ट कर्म रहित हुए हो ; जिससे—ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सम्यक्त्व, सूक्ष्म अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध—ये आठ गुण आपमें प्रगट होने से आप सर्व उत्तमोत्तम गुणों के स्थान हो। जैसे—(१) पूर्व काल में छद्मस्थ अवस्था में भावना गोचर किये हुए विकार

रहित तथा स्वानुभव रूप ज्ञान के फल स्वरूप, और एकही समय में लोक तथा अलोक के संपूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुये विशेषों को जानने वाला, प्रथम केवल ज्ञान नाम का गुण है। (२) संपूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्ध आत्मसत्ता का अवलोकन रूप जो पहिले दर्शन भावित किया था, उसी दर्शन के फल स्वरूप और एकही काल में लोकालोक के संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुये सामान्य को ग्रहण करने वाला, केवल दर्शन नामक द्वितीय गुण है (३) अत्यंत घोर परिसह तथा उपसर्गादि आनेके समय जो पहिले आपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया था, उसही के फल स्वरूप अनन्त पदार्थों के ज्ञान में खेदाभाव रूप लक्षण का धारक तृतीय अनन्त वीर्य नामक गुण है। (४) केवल ज्ञान आदि गुणों का स्थान रूप जो निज शुद्र आत्मा है वह ग्राह्य है—इस प्रकार की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व, जो कि पहले तप श्चरण करने की अवस्था में उत्पादित किया था उसही के फल स्वरूप समस्त जीव अजीव आदि तत्वों के विषय में विपरिताभिनिवेश (जो पदार्थ जिस रूप में है उसके विपरीत आग्रह) से शून्य प्रणाम रूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नामक चौथे गुण के धारक हो। (५) सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल ज्ञान का विषय होने से आपके स्वरूप को सूक्ष्म कहा जाता है, सो सूक्ष्मत्व पंचम गुण है। ६ एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेक दीपकों के प्रकाश का समावेश होजाता है, उसही प्रकार जिस क्षेत्र में एक सिद्ध भगवंत रहे हैं उसी क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष के परिहार पूर्वक जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य है, वही छठा अवगाहन गुण है (७) यदि सिद्ध रूप सर्वथा गुरू (भारी) हो तो लोह पिण्ड के समान सिद्धों का अधः पतन नीचे गिरना होवे। और यदि सर्वथा लघु यानी हलका हो तो वायु से ताडित अर्क (आकडे के) वृक्ष की रूई के समान उनका निरंतर भ्रमण ही होता रहे। परन्तु सिद्ध स्वरूप ऐसा नही है, इसलिये सातवां अगुरु लघु गुण कहा जाता है (८) स्वभाव से उत्पन्न और शुद्ध जो आत्म स्वरूप है उससे उत्पन्न तथा रागादि विभावों से रहित ऐसे सुख रूपी अमृत का जो एक देश अनुभव पहिले किया उसी के फल स्वरूप अव्याबाध—अनन्त सुख—नामक अष्टम गुण के धारक आप हो।

ये जो सम्यक्त्व आदि आठ गुण कहे हैं सो मध्यम रुचि के धारकों के लिये हैं। विस्तार रुचि के धारक भव्यों के प्रति तो विशेष भेद-नय का अवलम्बन करने से—गति रहितता, इन्द्रिय रहितता, शरीर रहितता, योग रहितता, वेद रहितता, कषाय रहितता, नाम रहितता, गोत्र रहितता और आयुष्य रहितता आदि—विशेष गुण और इसी प्रकार—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण—ऐसे अनन्तानंत गुणों का कथन जैनागमों मे किया है। उन जैनागमों का स्वरूप दर्शाने के पहिले ऊपर लिखे आदि अनन्तानन्त गुण गणों के धारक श्री सिद्ध परमात्मा को मैं त्रि-करण त्रि-योग की विशुद्धि से वारम्वार नमस्कार करता हूँ। अहो परमात्मा प्रभू! दास की अभिवन्दना स्वीकार कीजिये।

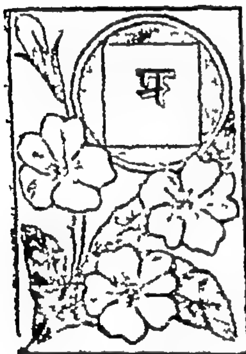
परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का सिद्ध
गुणानुवाद नामक द्वितीय प्रकरण
समाप्त





प्रकरण–तीसरा

"प्रवचनगुणानुवाद"



वचन का शब्दार्थ होता है–प्रकर्ष प्राप्त वचन। अर्थात् जो वचन सर्व श्रेष्ठ हो तथा सब जीवों का हितकारी हो उसे प्रवचन कहते हैं। ऐसे अतिशयआदि गुण-युक्त वचन–वाणी–का प्रकाश श्री अर्हंत भगवंतने किया है, इस लिये अर्हंत के वचनों को ही प्रवचन यानी शास्त्र कहा जाता है। शास्त्र जगत् में दो प्रकार के हैं–लोकोत्तर और लौकिक। धर्म सम्बन्धी ग्रंथों को लोकोत्तर शास्त्र कहते हैं और संसार व्यवहार सम्बन्धी ग्रंथों को लौकिक शास्त्र। इन दोनों शास्त्रों की मूल उत्पत्ति का वर्णन यहां संक्षेप में दर्शाया जाता है:—

इस सृष्टि में बीस क्रोड़ा क्रोडी सागर के बारह आरोंवाला काल-चक्र, सदा अनादि काल से स्वभावतः फिर रहा है, जिस में दश क्रोड़ा क्रोड़ी सागर को अवसर्पणी काल कहते हैं। इस अव सर्पणी काल में पहला आरा चार क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, तीसरा आरा दो क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, चौथा आरा ४२ हजार वर्ष कम एक क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का, और पांचवा छट्ठा आरा इक्कीस–इक्कीस हजार वर्ष का है। इन आरों में आयुष्य,

अवगाहना और पुण्याई दिनोंदिन घटती जाती है, अतः इसे अवसर्पणी काल कहते हैं। ऐसा ही दश कोड़ाकोड़ी सागर का उत्सर्पणी काल होता है, जो इस से उलटी तरह का होता है अर्थात् इस काल में आयुष्य आदि की दिनों दिन वृद्धि होती जाती है। अवसर्पणी काल के पहिले के तीन आरों में (कुछ कम में) जुगलिये मनुष्य होते हैं, वे धर्म अधर्म, पुण्य पाप आदि बिलकुल नहीं समझते हैं। उस समय पुस्तक तथा उपदेशक कोई नहीं होता है। जब तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व* और ऊपर तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहजाते हैं, तब तीर्थंकर भगवान् का जन्म हुआ करता है। वे विद्या ज्ञान और शास्त्र आदि की प्रवृत्ति करते हैं। जुगलियों का काल समाप्त हो जाता है और धर्म, कर्म, विद्या, शास्त्र आदि की कर्मभौमिक प्रवृत्ति चल पड़ती है। यह रीति अनादि काल से चली आरही है और इसी प्रकार अनंत काल तक भविष्य में भी चलती रहेगी। ×

इस वर्तमान अवसर्पणी काल के तीसरे आरे की समाप्ति में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवान् हुये। वे अवधि ज्ञान सहित थे, इसलिये कृत कर्म की भविष्यता का सब कारण जानते थे। जिस समय कल्पवृक्ष मनुष्यों की इच्छा पूर्ण करने से बन्द होगये तब वे जुगलिये आपस में लड़ने लगे। उनका समाधान करने के लिये शक्रेन्द्रजी के कहने से ऋषभदेवजी ने राज धारण किया और पांच मूल शिल्पकारों की स्थापना की। कुम्भकार, लोहकार, चित्रकार, वस्त्रकार, नाविक—इन पांचों के प्रत्येक के २०-२० प्रकार होने से सर्व १०० प्रकार के शिल्पकार स्थापित किये। भरतजी प्रमुख १०० पुत्रों को पुरुष की ७२ कलायें पढ़ाई। ब्राह्मी सुंदरी दोनों पुत्रियों को स्त्री की ६४ कलाएँ पढाई। और ब्राह्मी जी को १८ प्रकार की लिपी पढ़ाई तथा सुन्दरी जी को १९४ अंक तक का गणित—शास्त्र पढ़ाया। यहां से व्यावहारिक विद्या के शास्त्र प्रचलित हुए।

---

* ७० लक्ष ५६ हजार को एक क्रोड़ से गुणाकार करने से ७०५६०००००००००० इतने वर्ष का एक पूर्व होता है।

+ उत्सर्पणी के तीसरे आरे के ३ वर्ष ८॥ महीने व्यतीत होते हैं तब प्रथम तीर्थंकर होते हैं। वे अवसर्पणी के २४ वें तीर्थंकर जैसे ही होते हैं।

श्री ऋषभ देवजी तिरासी लाख पूर्व संसार में रहे, फिर भरतजी के पांचसौ पुत्र आदि चार हजार पुरुषों के साथ मुनि दीक्षा धारण की। एक हजार वर्ष दुष्कर तप कर, घन घातिक कर्मों का नाश कर, केवल ज्ञान-केवल दर्शन प्राप्त किया और सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने। * इसके फलस्वरूप सर्व द्रव्य-जगत् के सूक्ष्म—बादर—त्रस—स्थावर—चर—अचर आदि द्रव्य पदार्थों को, सर्व क्षेत्र-लोक अलोक या उर्ध्व अधो तिर्यक दिशा को, सर्व काल-भूत भविष्यत वर्तमान को, और सर्व भाव-जीवों की प्रणति प्रणाम-तथा अजीवों के वर्णादि पर्याय के उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव को, जानने देखने लगे। किंचित् मात्र भी गुप्त न रहा।

---

* कितने ही मतावलम्बी गधे के शृग की तरह सर्वज्ञ की सर्वथा नास्ति बताते हैं। उनसे पूछा जाता है, कि तुम सर्वज्ञ की नास्ति इस देश और इस काल आश्रित बताते हो या सर्व देश और सर्व काल आश्रित बताते हो ? अगर इस देश और इस काल आश्रित बताते हो तो यह बात हम भी स्वीकार करते हैं कि इस भरत क्षेत्र में और इस वर्तमान पचम काल मे कोई सर्वज्ञ नहीं होता है। अगर सर्व देश और सर्व काल आश्रित नास्ति बताते हो तो हम पूछते हैं कि तुमने यह कैसे जाना कि सर्व देश सर्व काल मे अब कोई सर्वज्ञ नहीं हैं, और न अतीत में ही कोई हुए हैं? यदि तुम कहो कि हमने स्वत जान लिया हैं, तो हम तुमको ही सर्वज्ञ कहेंगे, क्योंकि उर्ध्व-अधो-तिर्यक और भूत-भविष्यत्-वर्तमान के जानने वाले को ही हम सर्वज्ञ कहते हैं। हमारी यही सर्वज्ञ की परिभाषा है।

अगर तुम तीन लोक और तीन काल को नहीं जानते हो, तो फिर सर्वज्ञ है ही नहीं—ऐसा हठ किस आधार पर करते हो ? क्योंकि जानने और देखने वाला यदि 'नहीं' कहे तो बात स्वीकार की जासकती है। परन्तु अनजान की बातको कौन स्वीकार करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। अस्तु तीन लोक और तीन काल का जानने वाला तो स्वय ही सर्वज्ञ है, अत वह कदापि सर्वज्ञ की नास्ति नहीं करेगा और अनजान की बात को कोई भी बुद्धिमान नहीं मानेगा, क्योंकि वह अज्ञानी है और अल्पज्ञ है। अत सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करना, सर्वथा उपहासास्पद है। और जो सर्वज्ञ की नास्ति के लिये गधे के शृग का दृष्टांत देते हो वह भी अयोग्य है क्योंकि गर्दभ के शृंग नहीं होता है परन्तु गो वृषभादि के तो होता है—शृग का तो अभाव नहीं है। इसी प्रकार नास्तिकों को—

गत तीसरे भव में जो तीर्थंकर नाम कर्म की उपार्जना की थी; उसकी निर्जरार्थ अर्थात् उन शुभ कर्मोंका क्षय करने के लिये, केवल ज्ञान रूप उत्कृष्ट ज्ञान के प्रभाव से जो सर्व पदार्थ जाने देखे थे, उसमें से फक्त सारांश तत्व रूप वाणी के ३५ गुणों से संयुक्त प्रवचन का प्रकाश हुआ। उक्त पैतीस गुणों का यहां संक्षेप में वर्णन किया जाता है:—

(१) संस्कारयुक्त वाणी का प्रकाशन। जिनवाणी शब्दागम के नियमों से विरुद्ध नहीं होती, किन्तु शब्दागम के नियमों से युक्त होती है। (२) भगवान ऐसे गंभीर स्वर से वाणी का प्रकाश करते हैं, कि एक योजन तक के विस्तृत प्रदेश में बैठी हुई परिषदा भी पूर्णरूप से ठीक–ठीक श्रवण कर सकती है (३) बहुत मान पूर्वक वचन उचारते हैं तो भी

—सर्वज्ञता न हो तो मत हो, परन्तु अन्य अनेक प्राणी तो भूत काल में हुये हैं। और जिन्होंने दृष्टि गत न आवे ऐसे दूर देशीय मेरु पर्वत एवं स्वर्ग नरकादिक का वर्णन तथा सूक्ष्म प्रमाणुओ का वर्णन किया है, और जिनके वचनों से ही हम उन अदृश्य बातों को अनुमान प्रमाण एव आगम प्रमाणादि द्वारा सिद्ध कर सकते हैं, वे अवश्य सर्वज्ञ हैं। जो वस्तु किसी के भी प्रत्यक्ष होगी वही अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो सकती है, अन्य नहीं। क्योंकि राम रावणादि की अभी जो कथा प्रचलित है, सो राम रावणादि हुए हैं, तभी तो उनकी कथा का कथन हुआ है। इसी प्रकार सूक्ष्म परमाणु तथा स्वर्ग नरकादि है, तभी तो उनकी कथनी शास्त्र में चलती है, और अनुमान से सिद्ध होती हैं। ऐसी ऐसी गुप्त अदृश्य अलौकिक त्रिकालवर्ती एव त्रिलोकवर्ती जो पदार्थ अन्यके जानने में नहीं आते हैं, वे जिनके जानने में आये हैं वेही सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उनकी नास्ति कदापि नहीं होती है। जैसे तुम दूसरो के मन के भाव एवं सूक्ष्म परमाणु नहीं जानते हो तो उनकी नास्ति नहीं है, ऐसे ही तुम्हारे नहीं जानने से तथा नहीं मानने से सर्वज्ञ की नास्ति नहीं है। गये काल में अनत सर्वज्ञ हुये हैं कि जो दूर देशी अदर्शी पदार्थों का ऐसा कथन कर गये हैं, कि वैसा अन्य नहीं कर सके। वर्तमान में महा विदेह क्षेत्र मे सर्वज्ञ हैं, और आगामी काल में अनंत सर्वज्ञ होकर धर्ममार्ग को प्रदीप्त रक्खेंगे।

सादी भाषा के माफिक समझते हैं, (४) प्रभू की वाणी के उच्चारण की गंभीरता, महा मेघकी गर्जना से भी अधिक है (५) जैसे गुफा में अथवा शिखर बन्ध मंदिर में शब्दों के उच्चारण करने से प्रतिध्वनि उठती है, तैसे प्रभू के वचन की भी प्रतिध्वनि उठती है। (६) प्रभू की वाणी छः राग और तीस रागनी से भरी हुई स्वाभाविक ही होती है। जिसे सुनते हुए श्रोतागण तल्लीन हो जाते हैं; जैसे वीणा से मृग तथा पूंगी से सर्प तल्लीन होता है (७) सरस, स्निग्ध तथा दूसरे के हृदय में पैठती चली जाय—ऐसी वाणी वागरते हैं। ये सात गुण उच्चारण आश्रित कहे, अब अर्थ आश्रित कहते है। (८) थोड़े से शब्दों में अर्थ बहुत भरा हुआ होता है, इसलिये प्रभू के वचनों को सूत्र कहा जाता है। (९) एक बार " अहिंसा परमो धर्मः " कह कर फिर कहीं दूसरी बार "धर्म के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं " ऐसा विरोधी वचन कदापि नहीं प्रकाशते हैं। पहला और अंतिम वचन सदा मिलता हुआ रहता है (१०) वचन की गड बड़ बिलकुल नहीं होती है। अर्थात् चलते हुए वर्णन को पूरा करके ही दूसरा वर्णन शुरू करते हैं, जिससे श्रोतागणों को अलग अलग अर्थ की समझ होजाती है, (११) ऐसे खुलासे के साथ फरमाते हैं, कि सुनने वाले को बिलकुल ही संशय उत्पन्न नहीं होता। और एक बात को दूसरी बार कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। (१२) सब दोषों से रहित एवं व्याकरण के नियमों के साथ अत्यन्त शुद्ध वचन प्रकाशते हैं कि उन वचनों में स्वमति तथा अन्यमति बड़े बड़े विद्वान भी किंचित् मात्र दोष नहीं निकाल सकते (१३) ऐसे मनोज्ञ वचन का उच्चारण होता है कि जिसको सुनते ही श्रोतागणों का मन एकाग्र हो जाता है, दूसरी तरफ जाता ही नहीं। (१४) ऐसी विचक्षणता के साथ वाणी का उच्चारण होता है कि जो देश के और काल के बिलकुल भी विरुद्ध नहीं जाती। अर्थात् सब देश में और सब काल में प्रभू के वचन शोभनीक ही होते हैं (१५) अर्थ का विस्तार तो करते हैं, परन्तु पिष्ट पेषण (कहे हुए को दूसरी बार कहना) एवं अडंग बडंग कहकर वक्त पूरा नहीं करते हैं, (१६) जो वचन सद्बोध देने वाले सारभूप होते हैं

उन्हीं का कथन करते है। उपदेश आदि में नवतत्व पदार्थ का ही वर्णन करते हैं। असार निरर्थक तथा आरंभादि की वृद्धि के बोधक वचनों को छोड़ देते है (१७) कभी प्रसंगवश यदि सांसारिक क्रिया एवं चार विकथा आदि आरंभ रूप कार्य के प्रकाशन का मौका आजाता है तो उसका विस्तार नहीं करते, संक्षेप में ही पूरा कर देते हैं। (१८) ऐसे खुलासे के साथ फरमाते हैं कि छोटा सा बालक भी मतलब को समझ जावे (१९) व्याख्यान में अपनी स्तुति और परकी निंदा हो—ऐसा वचन नहीं प्रकाशते है। पाप की निंदा करते हैं, परन्तु पापी की नहीं। (२०) भगवंत की वाणी दूध मिश्री एव अमृत से भी अधिक मिष्ट लगती है। श्रोताओं की श्रवण—अभिलाषा बनी ही रहती है, व्याख्यान छोड़ कर जाने का विचार ही नहीं होता (२१) किसी की गुप्त (छिपी) बात को केवल ज्ञान से जानते हुए भी कदापि प्रकाशित नहीं करते हैं। (२२) सुरेन्द्र नरेंद्रादि बड़े प्रतापी लोग प्रभू के दर्शनों को आते हैं, परन्तु प्रभू किसी की भी खुशामद नहीं करते हैं। जिसकी जैसी योग्यता देखते हैं, उसको उतने ही भावों का प्रकाश करते हैं (२३) भगवंत की देशना सार्थक होती है। अर्थात् परोपकार और आत्मार्थ की सिद्धि करने वाली होती है, परन्तु निरर्थक कदापि नहीं जाती। (२४) अर्थ की तुच्छता तथा छिन्न—भिन्नता कदापि नहीं होती है, (२५) नियमित (प्रमाणिक) स्वर-व्यंजन—सन्धि—विभक्ति—काल—क्रिया—आदि संयुक्त शुद्ध वाक्यों का उच्चारण होता है (२६) बहुत जोर से भी नहीं, बहुत धीरे से भी नहीं, बहुत जल्दी से भी नहीं, बहुत आहिस्ते भी नहीं—इस तरह मध्यम भाव से वचन का प्रकाश करते हैं। (२७) श्रोतागण भगवंत की वाणी को सुन कर बड़ा चमत्कार पाते हैं कि—अहा बचन प्रकाशने की क्या अद्वितीय चातुरी है! (२८) भगवंत के वाक्य पूर्ण हर्षित हृदय से भरे हुए निकलते हैं, जिससे सुनने वाले को हूबहू रस प्रगमता है (२९) अनंत बली प्रभू को बीचमें विश्राम लेने का कुछ कारण ही नहीं है। कितने भी लम्बे काल तक व्याख्यान चलता रहे तो भी थकते नहीं हैं। (३०) अनेक संख्यक श्रोतागण अनेक तरह के प्रश्न मन में धारकर आते

हैं, परन्तु उनको पूछने की कुछ जरूरत नहीं पड़ती है—व्याख्यान सुनते सुनते ही सबको उत्तर मिलजाता है, (३१) परस्पर सम्बद्ध—यानी एक से दूसरा मिलता हुआ वचन प्रकाशित करते हैं, जो श्रोताओं के हृदय में बराबर बैठते जाते हैं, (३२) अर्थ—पद—वर्ण—वाक्य सब अलग अलग स्फुटरूप से फरमाते है (३३) सात्विक वचन प्रकाशते हैं—अर्थात् बड़े बड़े नरेन्द्र सुरेन्द्र बृहस्पति यम दैत्य आदि कोई भी भगवंत के हृदय में क्षोभ नहीं उपजासकते हैं, (३४) एक बात को पूरे तौर से दृढ़ करके फिर दूसरी बात फरमाते हैं। अर्थात् जो अधिकार फरमाते हैं, उसकी सिद्धि जब तक नहीं होजाती तब तक दूसरा अधिकार नहीं छेड़ते है (३५) भगवंत को व्याख्यान फरमाते हुए कितना ही समय क्यों न व्यतीत हो जावे, तो भी श्रोताओं का उत्साह बराबर बढ़ता ही रहता है—अधिक से अधिक रस प्राप्त होता ही जाता है।

इस प्रकार उत्तमोत्तम पैंतीस गुणों से युक्त वाणी का प्रकाश होता है। जैसे बाग में वृक्षों से अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि होती है और बाग का माली उन फूलों को टोकरी में ग्रहण कर हार—गजरे—तुर्रे आदि अनेक प्रकार के पुष्प—भूषण बनाता है, जिनमें यथा योग्य स्थानों पर सुशोभित अनेक रंगों के पुष्प पत्र जमाता है, तैसे ही श्री ऋषभदेवजी तीर्थंकर भगवंत रूप वृक्ष से वाणी रूप फूलों की वृष्टि हुई, उसके श्री उसभषेण जी आदि चोरासी गण धरों ने द्वादश विभाग किये और जिस जिस स्थान में जो जो समास योग्य देखा वैसा वैसा समास उसमें संग्रह कर शास्त्र बनाये। वे द्वादशांग इस प्रकार हैं:—

(१) अपने घर का सुधारा करने के अर्थ मुनियों को निज कर्तव्य बताकर उसमें चलाने के लिये या अपने अपने घर की शुद्धता का स्वरूप अन्य भव्यों को बताकर आचार रूप अत्युत्तम रंग उनकी आत्मा पर चढ़ाने के लिये या शुद्धाचार द्वारा संसार को शुद्ध बनाने के लिये 'श्री आचारांगजी' शास्त्र का प्रति पादन किया। जिसके १८००० पदों में* आत्म ज्ञान से लगा कर साधुत्व के ऊँचे पद तक की समस्त रीति भांति का

* ३२अक्षर का श्लोक, ऐसे ५१०८८६८४० इतने श्लोको का एक पद होता है।

यथार्थ स्वरूप बताया गया है।

(२) जिनके आचार का सुधारा हो उनके विचार का सुधारा होवे, यह बात स्वाभाविक ही है। और शुद्ध विचारों वाला तत्वातत्व तथा धर्माधर्म का निर्णय चाहवे, यह भी स्वाभाविक ही है। इसलिये उन शुद्धात्माओं के हृदय में शुद्ध–तत्व का प्रकाश करने के लिये दूसरे "श्री सुयगडांगजी सूत्र" का प्रति पादन किया। जिसके ३६००० पदों में जगत् में प्रचलित होने वाले चारवाकादि अनेक मत मतान्तरों के आचार विचारों का स्वरूप बता कर–सत्यासत्य का निर्णय कर–सत्य पक्ष से समाधान किया है।

(३) जिनका हृदय तत्वातत्व के विचार से निर्णयात्मक बना है वे स्वाभाविक ही संकल्प से मुक्त होकर आत्मा को अपने स्वरूप में स्थापन करते हैं। इसलिये तीसरे "ठाणांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ४२००० पदों में एकेक बोल से लगाकर दश दश बोलों में बड़े सुन्दर ढंग से तत्व ज्ञान से भरी हुई द्विभंगी–त्रिभंगी–चौभंगी षडभंगी–सप्तभंगी–अष्टभंगी–वगैरह गहन ज्ञान की बाबतो में आत्मार्थी को कलोल कराने वाले समाम का समावेश किया गया है।

(४) जिनकी आत्मा तत्व ज्ञान में स्थिरीभूत होकर रमण करती है, उनकी आत्मा में अनेक ज्ञानादि गुणों का समावेश होवे या वृद्धि होवे, यह स्वाभाविक ही है। इसलिये चौथे "समवायांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ६४००० पदों में इस संपूर्ण विश्व में रही हुई एक वस्तु से लगाकर सख्याती असंख्याती और अनंती वस्तुओं के नाम गुण रूप का कथन है। तथा ५४ उत्तम पुरुषों की जरूरी हालतों का वर्णन और अन्य भी ज्योतिष आदि का बहुत वर्णन किया गया है।

(५) जिनकी आत्मा में ज्ञानादि गुणों का समावेश हुआ हो उन्हें उन गुणों में रमण करते हुए अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उत्पन्न होवें, यह स्वाभाविक है। इसलिये पंचम "विवाह पनत्ती जी सूत्र" की स्थापना की। जिसके २८८००० पदों में सूक्ष्म बादर पदार्थों का एवं चरण करणानुयोग—धर्मकथानुयोग–गणितानुयोग, इन चार अनुयोगमय

पदार्थों का बहुत छटा के साथ प्रतिपादन किया। इस शास्त्र का दूसरा नाम "भगवती जी" सूत्र भी है। साक्षात् भगवंत की वाणी भगवती ही है।

(६) जिनको विविध ज्ञानका बोध हुआ उनकी परोपकार वृत्ति स्वाभाविक ही होती है, और वे प्राप्त किये ज्ञान का दान दूसरे जीवों को देने के प्रति प्रवृत्त होते है, इसलिये छठे "ज्ञाता धर्म कथांग जी" सूत्र का प्रतिपादन किया। जिसके ५०१५००० पदों में त्याग, वैराग्य, नीति, आत्मज्ञान वगैरह उत्पन्न करने वाली ३५०००००००० धर्म-कथाओं का समावेश किया। जिन कथाओं के श्रवण-पठन-मनन से आत्मोन्नति, उच्चगति आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

(७) जो आत्मज्ञानी, त्यागी, वैरागी परोपकार वृत्ति से धर्मोपदेश कर सद्धर्मका प्रचार करेंगे और श्रोतागण उस सद्बोध को एकान्त-आत्महितार्थ-महा उपकार की वृत्ति से स्वीकारेंगे, वे श्रोता ज्ञानदाताओं के उपासक-भक्त-स्वाभाविक ही बनेंगे-इस लिये सप्तम "उपासक दशांगजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ११७०००० पदों में श्रमणोपासक अर्थात् धर्मोपदेशदाता श्रमण यानी साधुओं के उपासक यानी भक्त श्रावकों का आचार विचार, धर्म में प्रवृत्ति करने की विधि, उपसर्गादि से अडिग रहकर आत्मार्थ सिद्ध करने का उपाय, प्रति पादन किया गया है।

(८) जो धर्म के लिये अपना तन-मन समर्पण करके शुद्ध वृत्ति तह चित्तसे उद्यमी बनेंगे और जिनाज्ञा मुजब करणी करेंगे तो उसके फल स्वरूप उनके संसार का अंत सहज स्वाभाविक ही होजाता है— इस हेतु से अष्टम "अंतगडदशांगजी" सूत्र का प्रतिपादन किया। जिसके २३२८००० पदों में संसार मार्ग का अंत कर लोकान्तिक एवं भवान्तिक मोक्षरूप गढ की प्राप्ति करने के हेतुभूत गुणरत्न संवत्सर आदि दुष्कर तप करने की तथा महान् उपसर्ग सहकर इष्टितार्थ—आत्मार्थ सिद्ध करने की रीतियां दृष्टांत युक्त कथन की है।

(९) मोक्ष प्राप्ति की करणी करते समय कितनेक तो संपूर्ण

कर्मो का नाश कर डालते हैं, और कितने ही आयुष्य की कमी होने से तथा शुभ परिणामों द्वारा पुण्य की वृद्धि होने से संपूर्ण कर्मका नाश नहीं कर पाते हैं तो उन्हें उस उत्कृष्ट करणी के फल स्वरूप सांसारिक सुखोंमें सर्वोत्कृष्ट सुखका स्थान प्राप्त होता है— यह अधिकार दर्शाने के लिये नवमे " अनुत्तरोववाईजी " सूत्रका प्रति पादन किया। जिसके ९२०४-००० पदों में ८४९७०२३ स्वर्ग के विमाणों में जो सर्वोत्कृष्ट पांच अनुत्तर विमान है— उनमें उत्कृष्ट संयम तप के पालने वाले ही पुण्य वृद्धि के कारण से उत्पन्न होते हैं। वहां ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य है। ३३ हजार वर्षमें भूख लगती है, उसवक्त ही अत्युत्तम पुद्गलों का आहार रोम-रोम से खेंच लेते हैं। ३३ पक्ष में श्वास लेते हैं। देवता जहां बैठते हैं वहां ऊपर चंदोवे में २५६ मोती का झूमका है। इत्यादि द्रव्य सुखों में तथा निरंतर चौदह पूर्वके पठन मनन में मशगूल हो आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य ही होते हैं और एक तथा दो भवके अंतर से कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इत्यादि कथन किया गया है।

(१०) मोक्ष तक न पहुँच कर जो जीव अनुत्तर विमानों तक ही रह जाते हैं, इसका मुख्य हेतु शुभाश्रवही है। जब तक जीव को थोड़ासा भी आश्रव शेष रहता है, तब तक मोक्ष कदापि नहीं मिलती है। इन आश्रवों को रोकने का मुख्य उपाय संवर है। संपूर्ण संवर प्राप्त होते ही पंच लघु अक्षर उच्चारण के काल में ही मोक्ष प्राप्त करलेते हैं। इत्यादि भाव दरशाने के लिये दशमांग " प्रश्नव्याकरणजी " सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके ९३११६००० पदों में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह— इन पांच आश्रवों की और दया, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य, अममत्व—इन पांच सम्वरों की उत्पत्ति एवं फल का तत्व ज्ञान से भरा हुआ विवेचन किया।

(११) आश्रव (पाप) और संवर (धर्म) इन दोनों का क्या फल होता है ? इसका स्वरूप दर्शाने के लिये एकादशमांग "विपाकजी" सूत्र का प्रति पादन किया। जिसके १८०००००० पदों में गुरु कर्मी पापात्मा जीव किस तरह पापों का उपार्जन करते हैं और उनका फल

नरक तिर्यंचादि गति में कैसी विडम्बना के साथ भोगते हैं, और धर्मात्मा जीव धर्म एवं पुण्य किस तरह करते हैं, और उसका फल इस भव पर भव में कैसा सुख दाता होता है—यह स्वरूप द्रष्टांतों कर के समझाया है।

(१२) और जब यहां तक ज्ञानकी प्राप्ति होगई तो फिर पूर्ण श्रुतज्ञानी बनने वालों के लिये पूर्ण श्रुतज्ञान का स्वरूप बताने वाला बारहवां "दृष्टिवादांग" सूत्रका प्रति पादन किया। जिसकी बहुत विशाल पांच वस्तुएँ बनाई। पहिली वस्तु के ८८०००० पद और दूसरी के १८१०५००० पद बनाये। तीसरी वस्तु में चौदह पूर्व की विद्या का समावेश कियाः—(१) "उत्पाद पूर्व" में धर्मास्ति आदि छः द्रव्यों का स्वरूप दर्शाया। जिसकी १० वस्तु के ११०००००० पद हैं (२) "अग्निप्रवाद पूर्व" जिसमे द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है। जिसकी ४ वस्तु के २२०००००० पद हैं (३) "वीर्य प्रवाद पूर्व" जिसमें सब जीवों के बल—वीर्य—पुरुषाकार—पराक्रम का वर्णन है। इसकी ८ वस्तु के ४४०००००० पद हैं (४) "आस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व" मे शाश्वती अशाश्वती वस्तुओं का कथन है। इसकी १६ वस्तु के ८८०००००० पद हैं (५) "ज्ञान प्रवाद पूर्व" में पाँच ज्ञान का वर्णन है। इसकी १२ वस्तू के १७६०००००० पद है (६) "सत्य प्रवाद पूर्व" में १० प्रकार के सत्य का वर्णन है। इसकी १२ वस्थु के २५२०००००० पद हैं (७) "आत्म प्रवाद पूर्व" में आठ आत्मा का वर्णन है। इसकी १६ वस्तु के ३०४०००००० पद है (८) "कर्म प्रवाद पूर्व" में आठ कर्म की प्रकृति उदय—उदीरिणा—सत्ता वगैरह का वर्णन है। इसकी १६ वस्तू के ६०८०००००० पद हैं। (९) "प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व" में दश प्रत्याख्यान के ९००००००० भेदों का वर्णन है। इसकी ३० वस्थु के १२१६०००००० पद हैं। (१०) "विद्या प्रवाद पूर्व" में रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का एवं मंत्रादि का विधियुक्त वर्णन है। इसकी १४ वस्तु के २५०००००० पद हैं (११) "कल्याण प्रवादपूर्व" में आत्मा के कल्याण करने वाले ज्ञान—संयम—तप का वर्णन है। इसकी १० वस्तु के ४८६४०००००० पद हैं (१२) "प्राण प्रवाद पूर्व" में चार प्राण से लगाकर दश प्राण तक के धारण करने वाले प्राणियों का

वर्णन है। इसकी १० वत्थु के ९७२८००००० पद हैं (१३) "क्रिया विशाल पूर्व" में साधु और श्रावक का आचार तथा २५ क्रियाओं का वर्णन है। इसकी १० वत्थू के एक क्रोड़ा क्रोड़ी और एक क्रोड़ पद हैं। और १४ वें "लोक विन्दु सार पूर्व" में सर्व अक्षरों के सन्निपात (उत्पत्ति का रूप) और सर्व लोक में रहे हुए पदार्थो का वर्णन है। इसकी १० वत्थू और दो क्रोड़ा क्रोड़ी पद हैं। यह १४ पूर्व की विद्या जो कोई कदापि लिखे तो पहिला पूर्व लिखने में एक हाथी डूबे जितनी स्याही लगे, दूसरे में दो हाथी डूबें जितनी स्याही लगे, तीसरे में चार हाथी डूबें जितनी स्याही लगे—यों दुगुने करते हुए चौदही पूर्व लिखने में १६३८३ हाथी डूबें जितनी स्याही लगे, इतनी बड़ी दृष्टि वाद अंग की तीसरी वत्थू रची। चौथी वत्थू में ६ बातें हैं। पहिली बात के ५०० पद और शेष पांच बातों के अलग अलग २०९८९०२०० पद हैं। दृष्टि वादांग की पांचवी वत्थू का नाम चूलिका है, जिसके १०५९४६००० पद हैं। इतना बड़ा ज्ञान का सागर दृष्टि वादांग बनाया।

इस तरह द्वादशांगमय जिनेश्वर की वाणी की रचना करके गणधर महाराजों ने मुमुक्षुओं पर बहुत असीम उपकार किया है।

यह द्वादशांग वाणी केवल श्री ऋषभ देवजी भगवंत ने फरमाई और ऋषभसेनजी गणधर ने रची—ऐसा नहीं जानना। यह तो प्रवाह रूपेण अनादि काल से चली आती है, और अनंत काल तक चली जायगी। जो भी तीर्थंकर भगवंत गत काल मे हुए और अनागत—आगामी काल में होंगे, उन सबने ऐसी ही वाणी वागरी है एवं वागरेंगे और उनके गणधरों ने रची है—एवं रचेंगे। केवल चरितानुवाद कथा का (ऐतिहासिक) जो कथन होता है उसमें अंतर पडता है। जैसा जैसा जिस कथानुयोग में समास होता है वैसा वैसा उस समय मे या थोड़े काल मे बने हुए बनाव का समावेश, उसमें तीर्थंकर तथा गणधर महाराज कर देते है। यह कथा भाग, उनका शासन वर्ते वहां तक या उस सर्पणी आदि विशेष काल तक चलता है। अवसरानुसार बदला भी जाता है, परन्तु परमार्थ मतलब तो वही बना रहता है। अर्थात् उसही मतलब जैसा उस समय में

का घटित वर्णन वहां करने में आता है, जिससे वह विशेष असर कारक होता है। जैसे उपाशक दशांगजी मे भगवंत श्री महावीर स्वामी के बारे में हुए दश श्रावकों का कथन है। और श्री नेमिनाथ भगवंत के समय के उपाशक दशांग का दूसरा अध्याय " झूटलजी नामक श्रावक " का मेरे देखने में आया है। ऐसे ही जिन जिन तीर्थंकरो की जिस जिस समय प्रवृत्ति होती है उस उस समय के बनावका कथन, चरितानुवाद में कथा जाता है। इसलिये प्रवचनशास्त्र द्वादशांग में प्रवृत्त हुई श्री जिनेश्वर भगवंत की यह वाणी, अनादि अनंत है।

यह तो प्रवचन अर्थात् जैन शास्त्र–जैनागम–की उत्पत्ति का वर्णन किया गया। अब त्रिषष्टि शला का पुरुष चरित्र के अष्टम पर्व के द्वितीय सर्ग के अनुसार, चार वेद आदि अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों की उत्पत्ति कहते हैं।

श्री ऋषभ देवजी के जेष्ठ पुत्र भरत नामक चक्रवर्ती, षट खण्ड में आज्ञा प्रवर्ताकर पीछे स्वस्थान आये, परन्तु फिर भी चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। तब पुरोहितजी बोले कि आपके जो ९९ भाई हैं, उन्होंने अभी तक आज्ञा नहीं मानी है। अतः उनसे आज्ञा मनवाइये, फिर यह चक्ररत्न आयुधशाला मे प्रवेश करेगा। अस्तु भरतजी बाहूबलीजी के सिवाय ९८ भाइयों को बुलाकर कहने लगे कि तुम स्वस्थानों मे सुख से राज करो, परन्तु इतना ही कहो कि " हम तुम्हारी आज्ञा मे हैं "। यह बात उन ९८ भाइयों को पसंद नहीं आई। अतः वे अपने पिता श्रीऋषभ देवजी के पास आये और कहने लगे कि–आपने तो सबको अलग अलग राज देकर दीक्षा ली, किन्तु अब भरत राज के घमंड में आकर जबरदस्ती हमसे अपनी आज्ञा मनवाता है। अतः इस विषय मे आप फरमावो सो करें? तब भगवंत ने फरमाया कि—" संबुज्झ किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा " अर्थात् अहो मगधादि राजपुत्रो! बूझो–बूझो प्रति बोध पावो! क्यों नहीं चेतते हो? इससे भी अधिक राज इस जीव को अनंती बार प्राप्त होगया परन्तु कुछ गरज सरी नहीं। गरज सारने वाला तो एक बोध बीज सम्यक्त्व रत्न ही है। इसलिये उसीको स्वीकार करो। वह तुम्हे ऐसा

राज देवेगा कि जिसपर भरत का तो क्या, परन्तु काल जैसे दुर्दान्तका भी कुछ जोर चलने वाला नहीं है। इत्यादि सद्बोध श्रवण कर ९८ ही भाइयों ने दीक्षा धारण करी। यह समाचार श्रवण कर भरतजी बड़े दिलगीर हुए। और लौकिक अपवाद मिटाने के लिये तथा भाइयों को खुश करने के लिये गाड़ी में मिष्टान्न भर कर वहां लाये * और भगवंत से प्रार्थना करी कि मेरे भाइयों—मुनिवरों—को यह आहार ग्रहण करने की आज्ञा दीजिये। भगवंत ने फरमाया कि सन्मुख लाया हुआ आहार, साधु को नहीं कल्पता है। तब भरतजी बड़े विचार में पड़े और पूछा कि अहो प्रभू! अब इस आहार का क्या करूँ? तब शक्रेन्द्रजी ने कहा कि तुह्मारे से जो गुणाधिक होवें उन्हें देने मे भी नफा ही है। यह सुन भरतजी ने विचारा कि मेरे से गुणाधिक तो पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हैं। इसके बाद भरतजी ने श्रावकों को भोजन कराया। और उन श्रावकों से कहा कि आप सब मेरे महल के नीचे की धर्मशाला में विराजे रहो, धर्म ध्यान करते रहो और हर वक्त "जितो भगवान वर्द्धते भयं तस्मान्माहन माहनेति" + यह शब्द उच्चारण करते रहो। तुह्मारी वस्त्र आदि यथोचित भक्ति का प्रबंध मैं करूंगा। श्रावकों ने यह बात स्वीकार करली। और भरतजी जब भोग में मशगूल होते थे उस वक्त श्रावकों का उपरोक्त शब्द सुन कर वैरागी बन जाते थे। श्रावकों के मुख से माहन शब्द श्रवण कर सब लोग उनको "माहन" नाम से बुलाने लगे। (यहां से ब्राह्मण× की उत्पत्ति हुई) भरतजी के यहां सीधा भोजन मिलता देख कर बहुत से लोग श्रावक होगये। तब भरतजी ने परीक्षा करके— जो सच्चे श्रावक थे

* उस वक्त धर्म की प्रवृत्ति हुए थोडा ही समय हुआ था, जिससे लोग साधु के आचार से बहुत कम वाकिफ थे।

+अर्थात् क्रोधादि कषाय जगत को जीत रही है और उससे ही भयकी वृद्धि होती है।

× माहण शब्द मागधी भाषा का है, इसका अर्थ ब्राह्मण होता है।

— जीव सहित जगह पर श्वेत तम्बू बधाया और निर्जीव जगह पर काला तम्बू बधाया और ढिंढोरा पिटाया कि जो श्रावक हों श्वेत तम्बू के नीचे खड़े रहें

वे रख लिये और उनको पहचानने के लिये कांगणी रत्न से कपाल पर तीन लकीर खेंचदी। (यह तिलक की उत्पत्ति) तथा उनको पढ़ने के लिये श्री ऋषभदेवजी के वचनानुसार श्री ऋषभ देवजी की स्तुति एव श्रावकाचारगर्भित चार वेद रचे। जिनके नाम ये हैं— १ संसारदर्शन वेद २ संस्थापन परामर्शन वेद ३ तत्व बोध वेद ४ और विद्या प्रबोध वेद। (यह वेदोत्पत्ति) * ये चार ही वेद नवमे सुविधि नाथ भगवान तक तो वैसे ही रहे, किन्तु उनके शासन काल में हूंडा सर्पणी काल के प्रभावसे चारों तीर्थ का विच्छेद हो गया, और ब्राह्मणों से श्रावकों का आचार

और दूसरे लोग काले तम्बू के नीचे खड़े रहें। ऐसा सुन कर बहुत लोग श्वेत तम्बू के नीचे भर गये और थोड़े से श्रावक काले तम्बू के नीचे खड़े रहे। भरतजी ने वहा आकर पूछा तो श्वेत तम्बू वाले सब चक उठे कि हम श्रावक हैं। काले तम्बू वाले बोले कि हमारे में श्रावक के गुण हैं या नहीं, सो परमेश्वर जाने। हमतो वहा जीवों का घमशान देख कर यहा आकर खड़े हैं। भरतजी ने इनको ही सच्चे श्रावक जान कर भक्ति करी।

* इसी समय साख्य मत की उत्पत्ति हुई सो कहते है— जिस समय श्री ऋषभ देवजी ने दीक्षा ली उस समय उनके साथ भरतजी के ५०० पुत्रों ने भी दीक्षा ली थी। उनमें से एक का नाम मरीचि था। उससे मुनि दीक्षा का निर्वाह नहीं हुआ, और वापिस ससार में जाते हुए शरम आई। तब एक मनकल्पित मत खड़ा किया। साधु तो मन आदि त्रिदड से विरत है और मैं त्रिदड से सर्वथा विजित हू, इसलिये त्रिदड (ती खोनी लकड़ी) रक्खूंगा। साधु तो सयम से शुद्ध हैं, और मै कषाय से मलीन हूँ —इसलिये भगवें रंग के वस्त्र धारण करूगा। साधुओ के शिर पर तो जिनाज्ञा रूप छत्र है, और मैंने जिनाज्ञा का भग किया, इसलिये काष्ट का छत्र धारण करूगा। इत्यादि मनकल्पित रूप धारण कर एव महाव्रतों का भग कर फक्त अनुव्रती रहा। स्थूल प्राणातिपात आदि व्रत पालने लगा, और श्री ऋषभ देवजी के साथ साथ विचरने लगा। (यहा से त्रिदडी के मत की स्थापना हुई) समवसरण के बाहिर रहता हुआ ही उपदेश करता और किसी को वैराग्य आता तो दीक्षा लेने के लिये श्री ऋषभदेवजी के पास भेज देता। एक बार बीमार होजाने पर किसी साधु श्रावक ने इसकी

नहीं पलने से उन्होंने वेदों का अर्थ पलट दिया तथैव नाम भी पलट कर ऋग, यजु, साम, और अथर्व वेद रख लिया। आगे चलकर पर्वत नामक आचार्य ने अज शब्द का जो पुराणा शाली धान्य अर्थ होता था, उसे भूल कर अज नाम बकरे * का स्थापन किया। और मान की मरोड़ में फिर

—भक्ति करी नहीं, तब एक शिष्य बनाने की इच्छा हुई। एक कपिल नामक गृहस्थ को वैराग्य आया, उससे कहा कि श्री ऋषभदेवजी के पास दीक्षा लो—मेरे में तो साधु के गुण नहीं हैं। कपिल बोला—मैं तो आपही का शिष्य होऊंगा। अपना अनुरागी जान कर चेला बनाया। मरीचि आयुष्य पूर्ण कर पञ्चम ब्रह्मदेवलोक में गया, कपिल के आसुरी नामक शिष्य हुआ। बाद में कपिल भी आयुष्य पूर्णकर ब्रह्मदेव-लोक में गया, और अवधी ज्ञान से अपने शिष्य को अज्ञ जान कर वहा आया। और 'षष्टि तत्र शास्त्र' की रचना कराई। उसमें अव्यक्त से व्यक्त और प्रकृति से महान, महान से अहकार, अहंकार से गण षोड़स, गण षोडशसे पंच तन्मात्र, और पंच तन्मात्र से पच भूत उत्पन्न होते है, इत्यादि रचना रची। यह जैन से विरुद्ध प्रथमतः साख्य मत के शास्त्र की उत्पति हुई।

* शुक्तिमती नगरी में खीर कदवकाचार्य के पास आचार्य का अपना पुत्र 'पर्वत' और राजा का पुत्र 'वसु' और ब्राह्मण का पुत्र 'नारद' विद्याभ्यास किया करते थे। उस वक्त आकाश मे जाते हुए जघा चारण मुनि, दूसरे अपने साथी मुनि से बोले कि इन आचार्य के तीन शिष्यों में से दो नरक गामी हैं और एक स्वर्ग गामी है। यह बात आचार्य ने भी सुनी और परीक्षा के लिये आटेके तीन मुरगे (कुकडे) बना कर तीनो को दिये, और कहा कि जहा कोई भी नहीं देखता हो वहा इन्हे मार लावो। दोनों तो विना विचारे एकान्त में जाकर मार लाये। किन्तु नारद ने विचार किया कि कोई नहीं तो सर्वज्ञ तथा खुद मैं तो देख रहा हू। यो विचार कर विना मारे ही गुरूजी को पीछा लाकर देदिया और पूछने से उपजा हुआ विचार कह दिया। यह देख कर यानी अपने पुत्र और राज पुत्र को नरक गामी जानकर आचार्य ने वैराग्य प्राप्तकर दीक्षा लेली। पर्वत गुरुजी की गादी पर बैठा और उधर वसु राजा भी पिता की गादी पर बैठा और नारद ब्रह्मचारी होकर देशाटन करने लगा। एक समय पर्वत अपने शिष्योंको विद्याभ्यास करा रहे थे, कि उसी समय नारदजी भी वहीं थे। 'अजैर्यष्टव्यमिति'

उस अर्थ को नहीं पलटते हुए 'अजा मेध यज्ञ' की स्थापना करी। और फिर पर्वत को "महाकालासुर" परमाधामी देवकी सहायता मिली।

—इस श्रुति का अर्थ पर्वत ने बकरा होमना करा। तब नारद ने कहा, गुरू जी ने तो इसका अर्थ निर्जीव तीन वर्ष का शाली किया था; तुम ऐसा खोटा अर्थ मत करो। यह बात पर्वत ने कबूल नहीं करी, और वसु राजा के पास निर्णय करें एव वहा जो झूठा ठहरे वह अपनी जिह्वा कटवावे, ऐसी शर्त लगाली। यह बात पर्वत की माता ने जानी और अपने पुत्र की रक्षा के लिये तुरत वसु राजा के पास गई। पुत्र की भिक्षा मागते हुए सब हाल कह दिया। वसु राजा ने गुरु पत्नी की शर्म मे आकर अभय वचन दिया। इतने मे दोनो आये। सब बात कही। वसु राजा ने मिश्र भाषा बोली कि गुरु जी ने बकरी और शाली दोनो ही अर्थ किये थे। इतना बोलते ही दैवयोग से वसु राजा, अधर सिंहासन से नीचे गिरा और मरकर नरक में गया। नारद देशाटन को चला गया। इधर पर्वत ने अपना कुमत बढाना शुरू रक्खा। उसी समय की बात है कि चरणु-युगल नगर के अयोधन राजा की दिनी नामक कन्या का मन, अपनी माता के भतीजे मधु पिंगल के साथ पाणिग्रहण यानी विवाह करने का था। परन्तु दिती को व्याहने के लिये एक सागर नामक राजा उत्सुक हुआ। उसने अपने पुरोहित से खोटी सहिता रचाई और दिती के स्वयवर मडप मे सागर राजाने ठराव किया कि 'जो राजा अपलक्षणी होवे उसे सवरा मडप के बाहिर निकाल देना चाहिये'। फिर पुरोहितजीने अपनी कल्पित सहिता सबको सुनाई, जिसे श्रवण कर मधू पिंगल अपने को अपलक्षणी समझकर मडप से निकल गया, और सन्यासी बन के अज्ञान तप कर मर गया, और महा कालासुर नामक परमाधामी देव हुआ। विभग ज्ञान से दिती के साथ सागर को सुख भोगता देखा और सब कपट जान गया। क्रोध मे धमधमायमान हो सागर को नरक मे डालने के लिये पर्वत के पास आकर कहने लगा कि तुमने हिंसामय यज्ञकी स्थापना करी सो अच्छा किया, मै भी तुम्हारा सहायक हूं। चलो सागर राजा को भी इस धर्म में लावें। यो कह सागर के शरीर में अत्यन्त वेदना करदी और ग्राम मे भी बीमारी चलाई। जिससे राजा प्रजा सब घबरा गये। तब पर्वत ने सौत्रामणी अजामेध यज्ञ कराया, जिससे शाति हुई। यहा से यज्ञ कर्म की अधिकाधिक वृद्धि होने लगी।

उस देवने पूर्व भव का वैर लेने के लिये एवं सागर नामक राजा को नरक में डालने के लिये भरमा कर हिंसक यज्ञ की खूबही वृद्धि कराई। इनकी देखा देखी राजपुर के मरुत राजा ने भी यज्ञ में अनेक पशू होम ने शुरू किये, उसको नारदजी ने हिंसक यज्ञ से बचाकर धर्म यज्ञ बताया कि–जो स्वर्ग चाहता हो तो तप रूप अग्नि, ज्ञान रूप घृत, कर्म रूप इंधन से कषाय रूप पशुओं का आत्म रूप यष्टा के द्वारा यज्ञ कर। यह सुनकर हिंसक-गुरू क्रोधातुर होगए तथा नारद को मारने के लिये एक दम टूटपड़े–तब नारदजी भाग कर जैन धर्मी राजा रावण के पास गये, और उसको सब हाल बतलाया। रावण तुरन्त राजपुर आया और यज्ञ करना बंद कराया, जिससे वेदांतियों ने रावण को वेदों को खण्डन करने वाला राक्षस ठहराया। ऐसे ऐसे कितने ही कारणों से अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों में हिंसा घुस गई है, नहीं तो सर्व मतों के शास्त्रों की उत्पत्ति का मुख्य हेतु श्री जिनेश्वर की वाणी ही है। *

यह सक्षेप में अन्य मतावलम्बियों के वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति के विषय में कुछ ऐतिहासिक विवेचन किया है। इसी प्रकार पुराणों वगैरह की उत्पत्ति सम्बन्धी भी कितनीक बातें मिलती है, परन्तु व्यर्थ ही ग्रन्थ–गुरुता होजाने के कारण से यहां नहीं लिखा। सब शास्त्रों की उत्पत्ति का मुख्य हेतु इस काल में श्री ऋषभ देव भगवंत की वाणी ही है। इसी वाणी को सरस्वती वगैरह सोलह × नामों से मानों प्रशंसा करी हो, ऐसा प्रतीत होता है।

---

* इसी तरह का वर्णन श्रीमद्भागवत के स्कंध ७ अध्याय १४ और श्लोक ७-८ मे है। जिस प्रकार वहा प्राचीनवर्हिनामक राजा को सद्बोध देकर हिंसक यज्ञ से बचा लेने का बोध किया हैं, वैसा ही बोध यहा मरुत राजा को किया है।

आर्य समाज प्रवर्तक दयानन्द सरस्वतीजीने भी वेदों की श्रुतियो का जो हिंसामय अर्थ था उसे पलट कर सुधार किया है सो प्रसिद्ध है।

× १ कंठ से जिसकी उत्पति सो 'सरस्वती' २ सार–सार पदार्थों को दर्शावे सो 'शारदा' ३ सर्वोत्तम गुणो से भरी हुई सो 'भारती' ४ हस यानी चैतन्य के निज गुण को धारण करने वाली सो 'हस वाहनी' ५ सर्व जगत् मे मानी जाय–

जिस तरह श्री ऋषभ देवजी ने आगम वाणी प्रकाशी और उस-भसेण गणधरजी ने द्वादशांग में कथन करी, उसी तरह अजित नाथ भगवंत ने प्रकाशी और उनके गणधरों ने कथी। यों यह जिन-वाणी रूप गंगा का प्रवाह आगे बढ़ता बढ़ता चौवीसवें तीर्थंकर श्री महा-वीर स्वामी तक चला आया। अनादि काल से सृष्टि का यह नियम है कि एक अवसर्पणी या उत्सर्पणी काल में चौवीस से ज्यादा तीर्थंकर नहीं होते हैं। इस नियम के अनुसार आगे तीर्थंकर नहीं होनेपर भी गौतम स्वामी एवं सुधर्मा स्वामी आदि आचार्यों ने जिन वाणी का प्रवाह आगे चालू रक्खा, तो भी काल दोष के प्रभाव से ज्यों ज्यों स्मृति की न्यूनता तथा शून्यता होती गई त्यों त्यों ज्ञान भी घटता गया। इस प्रकार आचार्यों ने तथा गणधरों ने वारहवें दृष्टि वादांग का विच्छेद होता देख कर तदनुसार ग्यारे अंगों के उपांगों की रचना करी।

(१) आचारांगजी का उपांग 'उववाई सूत्र' है। आचारांगजी में साधु के आचार विचार का वर्णन है, सो तदनुसार आचार वंत साधु, तप संयम में सदा उद्यमवंत रहे, इसलिये उववाइजी में भगवंत श्री महा वीर स्वामी के समीप में रहने वाले चौदह हजार साधुओं के ३५४ प्रकार के तप का कथन किया। तथा कौनसी करणी से जीव विराधक (भगवंतकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला)होता है, और कौनसी करणी से आराधक होता है, करणी का आगे क्या फल होता है, मोक्षका स्वरूप कैसा? इत्यादि अधिकारों का कथन किया।

—सो 'जगविख्याता' ६ सर्व वचनों में उत्तमता की धारक सो 'वागेश्वरी' ७ सदा कौमार यानी ब्रह्मचर्य अवस्था धारण करने वाली सो 'कौमारी' ८ ब्रह्म यानी निर्विकल्प समाधि पदको स्थापन करने वाली सो 'ब्रह्मदायनी' ९ सर्व दोष रहित सो 'विदुषी' १० ब्रह्म—निज रूपको प्राप्त करने वाली सो ब्रह्मदायनी, ११ ब्रह्म-रूपसे प्रगटी सो 'ब्राह्मणी' १२ इच्छित पदार्थ की दाता सो 'वरदायनी' १३ शुद्ध वाणी सो 'वाणी' १४ सर्व भाषा मे उत्तम सो भाषा, १५ बुद्धि उत्पन्न करने वाली सो श्रुत देवी, और १६ सर्व द्वंदविध्वंसनी सो निर्द्वन्द्विनी। ये सरस्वती देवी के सौलह नाम है।

(२) सुयगडांगजी का उपांग " रायपसेणी है "। सुयगडांगजी में नास्तिकादि मतान्तरों का अधिकार चला है, उसका खुलासा रूप बताने के लिये रायपसेणी में नास्तिकमती प्रदेशी राजा का वर्णन है। तथा राजा प्रदेशी किस धर्म का माननेवाला था, जैन मुनि केशी कुमार के साथ उसने किस प्रकार संवाद किया था, जैनी बनकर उसने क्या करणी की थी और उसके फल स्वरूप अगले भव में कैसा सुखपाया—इत्यादि कथन किया है।

(३) ठाणांगजी का उपांग "जीवाभिगमजी" है। ठाणांगजी के दशठाणों में जीवोंकी प्रवृत्ति का अधिकार कहा, उसी के विशेष विस्तार के लिये जीवाभिगमजी में चौवीस दंडक में रहे हुए जीवों की शरीर अवगाहना आदि का विस्तार से कथन किया है।

(४) समवायांगजी का उपांग " पन्नवणाजी " है। समवायांगजी में एकेक बोल से लगाकर अनंत बोल तक की कथनी में जीव तथा कर्म प्रकृति आदि का संक्षेप में स्वरूप बताया गया है, उसका ही विशेष खुलासा वर्णन पन्नवणाजी के ३६ पदों में किया गया है।

(५) विवाहपन्नती (भगवती) जी का उपांग 'जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति' है। भगवती जी में कहे हुये छः आरे, चक्रवर्ती की ऋद्धि, ज्योतिष चक्र आदि कितनी ही आवश्यकीय बातों का दृष्टांत युक्त विशेष खुलासा करने के लिये जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति की रचना करी।

(६) ज्ञाता धर्म कथांगजी का पहिला उपांग " चन्द प्रज्ञप्ति जी" है। ज्ञाताजी के पहिले श्रुतस्कंध का दशवाँ अध्याय चन्द्रमादेव का है। और दूसरे श्रुतस्कंध में कही हुई २१६ पासत्थी आर्याओं में से कितनी ही आर्याएं चद्रमा देवके विमान में उपजी हैं, इसके खुलासे के लिये चन्द्र प्रज्ञप्ति मे चन्द्रमा की ऋद्धि—गति—मंडल—नक्षत्र—योग्य—ग्रह—राहु तथा चन्द्र आदि पांच संवत्सर का वर्णन किया।

(७) ज्ञाता धर्म कथांग का दूसरा उपांग " सूर्य प्रज्ञप्ति " है। उन ज्ञातावर्णित २१६ साध्वियों में से कितनी ही साध्वी सूर्यदेव के विमान में उत्पन्न हुई हैं, उसकी स्पष्टता के लिये सूर्य प्रज्ञप्ति मे सूर्य के १८४

मंडल-दक्षिणायन उत्तरायण-पर्व राहु-सूर्य आदि के पांच संवत्सर और १९४ अंक तक की गिनती आदि का कथन किया है।

(८) उपाशक दशांगजीका उपांग "निरियावलिकाजी" है। उपाशक दशांगजी में तो गृहस्थाश्राम में रहकर धर्म करणी करने वाले गृहस्थों की धर्मक्रिया एवं गति आदि का वर्णन है। और निरियावलिका में जो गृहस्थ पाप कर्म में जन्म पूरा करते हैं उनकी तीर्यंच या नरक गति होने का वर्णन है। तथा पाप के ठिकाने पर भी जो विनायक नागनतुवा तथा उसके मित्र की तरह धर्म मे रत होजाते है उनका भी सुधारा हो जाता है, इत्यादि कथन किया है।

(९) अंतगड दशांगजी का उपांग "कप्पवडंसियाजी" है। अंतगड जी में कर्म क्षय करके मोक्ष मे गये हुओं का बयान है, और कप्पवड़ंसियाजी में करणी करते हुए जिन के पूरे कर्म नहीं खपे और जो देव लोक में ही रह गये, उनका अधिकार है।

(१०) अनुत्तरोववाईजी का उपांग "पुप्फियाजी" है जिन महान् पुरुषों ने संयम धर्म की पूर्ण रूपेण आराधना की वे सर्वोत्कृष्ट सुख के स्थान अनुत्तर विमान में पैदा हुए, यह अधिकार अनुत्तरोववाईमे है। और जिन्होंने अंगीकृत संयम धर्म की पूर्णतया आराधना नहीं की वे जोतिषी आदि सामान्य देवता चन्द्र, शुक्र, मणीभद्र, पूर्णभद्र आदि बने-यह अधिकार पुप्फिया जी में है।

(११) प्रश्न व्याकरणजी का उपांग "पुप्फचुलियाजी" है। आश्रव और संवर रूप करणी का स्वरूप प्रश्न व्याकरणजी में कहा। और आश्रव एवं संवर दोनों की मिश्रित करणी होने से स्त्री पर्याय की प्राप्ति होती है-इत्यादि के खुलासे के लिये श्री, ह्री, धृति, कीर्ति आदि देवियों का और उनकी पूर्व जन्म संबन्धी क्रिया का अधिकार पुप्फ चुलियाजी में कथित है।

(१२) विपाकजी का उपांग "वन्हिदशाजी" है। विपाकजी में शुभाशुभ कर्मों के फल बताये गये हैं। और शुभ कर्मों का विशेष आधिक्य होने से बलभद्रजी के निषधादि कुमार देवलोक के सुख भोग कर

मुक्ति में पधारेगे—यह वर्णन वन्हि दशा में किया।

इस के अतिरिक्त भगवंत श्री महावीर स्वामी ने मोक्ष पधारते समय सूक्ष्म और बादर समासों में तत्व ज्ञान से भरपूर रत्न करंड के समान "श्री उत्तराध्यनजी सूत्र" फरमाया। तथा सयभवाचार्य ने अपने सांसारिकपुत्र मनक मुनि के लिये संक्षेप में साधु का आचार बतानेवाला "दशवैकालिक सूत्र" और इसी प्रकार ज्ञान तथा बुद्धि का स्वरूप बताने वाला "नंदीजी सूत्र" बनाया। तत्पश्चात् निक्षेपोंके सूक्ष्म ज्ञान का बताने वाला "अनुयोगद्वार सूत्र" तथा साधुओं के आचार को शुद्ध बनानेके लिये "व्यवहार" कल्प आदि छेद सूत्र तथा "पइन्ना" आदि बहुत से विभाग बनाकर सूत्र की विद्या कंठाग्र रखने का प्रयास चला। यह प्रयास भगवंत श्री महावीर स्वामी के मोक्ष पधारे पीछे ९७५ वर्ष से कुछ अधिक काल तक चालू रहा। इस समय में सत्ताईसवें पट्टधर श्री देवढीगणी क्षमा श्रमण विराजमान थे, उनके सामने घटते घटते मात्र एक पूर्व जितना ही ज्ञान कंठाग्र रह गया था। और एक बार ऐसा योग बना कि आचार्य महाराज किसी व्याधि की निवृत्ति के लिये सूंठ की गांठ लाये थे। और शाम को पाणी चुकाने के बाद खा लेवेगें के विचार से कान में रखली किन्तु शाम को उसे खाना भूल गये। प्रति क्रमण करती दफा जब वंदना नमस्कार करने के लिये नीचे की ओर झुके तो वह सूंठ की गांठ संमुख आपडी। उसे देखकर आचार्य महाराज को विचार हुवा कि अभी एक पूर्वका ज्ञान होते हुए भी जब स्मृति में इतना फरक पडगया है, तब आगे तो बहुत ही फरक पड जायगा, फिर कंठाग्र ज्ञान रहना मुशकिल होजायगा और ज्ञान का अभाव होने से, इस भारत वर्ष में अज्ञान मिथ्यात्व रूप अन्धकार में फँस कर बिचारे धर्मार्थी जीव कालीधार डूब जावेंगे—ऐसी करुणा लाकर लिखित ज्ञानकी जरूरत समझी और तदनुसार शास्त्र × लिखने शुरू किये।

× पाठक वृंद ! जो गत पृष्ठो मे द्वादशांगी ज्ञानका पदो से प्रमाण बताया गया है उस मे की मात्र द्वादशम दृष्टि वादांग की एकही वस्थू के—जिस मे १४ पूर्व के ज्ञान का समावेश हुवा है—लेख करने मे १६३८३ हाथी डूबे इतनी स्याही—

उक्त समय में द्वादशांग आदि शास्त्रों के जितने मूल श्लोक लिखे गये, उनका परिमाण बताया जाता है—(१) आचारांगजी के मूल श्लोक २५००, (२) सुयगडांगजी के २१००, (३) ठाणांगजी के ३७७०, (४) समवायांगजी के १६६७, (५) भगवतीजी के १५७७२, (६) ज्ञाता धर्म कथांग के ५५००, (७) उपासक दशांग के ८१२, (८) अंतगड दशांग के ७९०, (९) अणुत्तरोववाई के १९२, (१०) प्रश्न व्याकरण के १२५०, (११) विपाकके १२१६—इस प्रकार ग्यारह अंग लिखे और (१) उववाइजी के ११६७, (२) रायपसेणीजी के २०७८, (३) जीवाभिगमजी के ४७००, (४) पन्नवणाजी के ७७८५, (५) जंबूद्वीप प्रज्ञप्तीजी के ४४४६, (६) चन्द्र प्रज्ञप्ती के २२००, (७) सूर्य प्रज्ञप्ती जी के २३०० (८–१२) निरयावलिका, कप्पिया, पुप्फिया, पुप्फि चूलिया और वन्हि दशा—इन पांचों का एक ही वर्ग होने से सब मिलाकर ११०९ – ये बारह उपांग लिखे। (१) व्यवहार के ६०० (२) बृहत्कल्प के ४७३, (३) निशीथ के ८१५, (४) दशा श्रुतस्कन्ध के १८३० ये चार छेद। (१) दशवैकालिक के ७००, (२) उत्तराध्ययनजी के २०००, (३) नंदीजी के ७००, (४) अनुयोगद्वार के १८९९- ये चार मूल सूत्र। और आवश्यक के १०० श्लोक। इनके अतिरिक्त अन्य सूत्र भी लिखे जिनके नाम नीचे लिखे अनुसार है—१ दशा कल्प,

—लगती है, तो द्वादशांग का संपूर्ण ज्ञान लिखने में कितनी स्याही, कागज, कलमें और समय का व्यय होवे सो उसका प्रमाण आपही अपनी बुद्धि से कर लीजिये! इतना लेख गतकाल में किसी ने लिखा नहीं, वर्तमान काल में कोई लिख सकता नहीं, और आगामी काल मे कोई लिखेगा भी नहीं। ऐसे तो वे ही महा प्रबल बुद्धि के धारी लब्धिवंत मुनिराज महाराज थे, जो कंठाग्र कर सकते थे। अन्यकी क्या ताकत जो इतना ज्ञान याद रख सके। परन्तु परम उपकारी श्री देवर्द्धी गणी क्षमा श्रमण महाराजने उस द्वादशांग में से सार सार लिखना शुरू किया, दूसरे विद्वान मुनियो से लिखाया और उनकी देखा देखी अन्य आचार्यों ने भी लिखा, यों अलग अलग लेख होने से कितने ही स्थानो में पाठान्तर होगये है।

२ महा निशीथ ३ ऋषि भाषित ४ दीप सागर प्रज्ञप्ती ५ खुड्डिया विमाण विभत्ति ६ महालिया विमाण विभत्ति ७ अंग चूलिया ८ वंग चूलिया ९ विवहारचूलिया १० अरुणोववाए ११ वरुणोववाए १२ गरुडोववाए १३ धरणोववाए १४ वेसमणोववाए १५ वेलंधरोववाए १६ देविंदोववाए १७ उठाणसुय १८ समुठाणसुए १९ नाग परिया वलिया २० कप्पवडिसिया २१ कथिआ कप्पिया २२ चलकप्प सुयं २३ महा कप्प सुयं २४ महापन्नवणा २५ पम्माय पवाय़ं २६ देविन्द्रस्तव, २७ तदुल वियालिया, २८ चंदग विझयं २९ पोरसीमंडल ३० मंडल प्रवेश ३१ विद्या चारण विणज्जउ ३२ गणिविज्जा ३३ ज्ञाण विभत्ति ३४ मरण विभत्ति ३५ आय विसोही ३६ वियरायसुयं ३७ संलेहना सुयं ३८ विहार कप्पो ३९ चरण विसोही ४० आउरपच्चखाण ४१ महापच्चखाण ४२ दृष्टिवाद। * इस प्रकार ७२ शास्त्र का लेखन हुआ। सूत्रों के नाम तथा विषय नंदीसूत्र से मालूम होते हैं; क्योंकि नंदीजी में बहत्तर ही नाम हैं। ये सूत्र लिखकर भण्डार में बहुत जापते के साथ रक्खे गये। इसके बाद इस हुंडा सर्पणी के भारी कर्मी जीवों के पापोदय के कारण बारह-बारह वर्ष के दो बार बड़े भयंकर दुष्काल पड़े, जिनमें संयमियों के संयम का निर्वाह होना मुशकिल होगया। ७८४ साधु तो संथारा करके स्वर्ग पधार गये। शेष रहे साधु उदर पूर्ति के लिये भेष बदल कर यंत्र—मंत्र आदि के द्वारा निर्वाह करने लगे। उन्होंने ज्ञान भण्डार की सार संभाल बिलकुल ही नही की। पुनः अनार्यों और अन्य धर्मियों का जोर बढ जाने से उन्होंने अनेक जैन शास्त्रों का नाश किया। बहुत से शास्त्र पानी में डुबा दिये गये, आग में जला दिये गये—इस प्रकार अनेक विघ्नों के उत्पन्न होने से जैन ज्ञानको बड़ा जबर दस्त धक्का लगा, बहुत ज्ञान का नाश हुआ। फिर कल्प सूत्र में कहे अनुसार भगवंत श्री महावीर स्वामी के नाम पर बैठे हुए २००० वर्षके अवधिवाले भस्म ग्रह का जब जोर कम हुआ, तब नाम मात्र रहे हुये जैन साधुओं की आँखें खुलीं और उन्हें जैन शास्त्रों के

* यह बारहवे अग के नाम से ही किसी दूसरे शास्त्र की रचना हुई दिखती है।

भण्डार की याद आई। अस्तु भंडारों को खोलकर देखा तो बहुत से शास्त्र तो कीडों के खाद्य बन चुके थे और कितने ही अत्यंत जीर्ण शीर्ण होगये थे। उस नष्ट भ्रष्ट शास्त्र पुंज में से मात्र ऊपर कहे हुए बत्तीस शास्त्र तो पूर्ण निकले और शेष गत पृष्ठों में गिनाये हुये चालीस शास्त्रों का बहुत सा भाग नष्ट होगया। तब कितनेही शास्त्र तो आचार्यों ने पूर्वा-पर समास मिला कर पुरे कर दिये और कितनेही पूर्वोक्त नाम कायम रखकर दूसरे मन माने समास जोड़ कर लिख लिये। जैसे महा निशीथ सूत्र आठ आचार्यों ने मिलकर बनाया है, यह खुलासा उसी में है। इस लिये ही आवश्यक सूत्र की वृत्ति में कहा है कि इस काल में कालिक सूत्र २१ और उत्कालिक सूत्र १५–यों ३६ सूत्र नहीं हैं, बाकी के सूत्र हैं।

देखिये भव्यों! इस पंचम कालके मनुष्यों के पुण्य की हीनता। इस समय तीर्थंकर भगवंत, केवल ज्ञानी, गणधर महाराज, मन पर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, श्रुत केवली, पूर्वधारी आदि महान् ज्ञान के सागर पुरुषों में से एक भी दृष्टि गत नहीं होते हैं; और जो कुछ लिखित सूत्रों का आधार था वह भी इतना कम होगया है। इतने थोड़े से ज्ञान के आधार से भी इस समय में साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका रूप चारही तीर्थ अपने अपने तप संयम का निर्वाह कर रहे हैं, विना सेनापती कर्मों के साथ युद्ध कर रहे हैं, सिंह के समान गर्जना कर पाखण्डी वनचरों को भगा रहे हैं–कि बहुना, समय के अनुसार श्री जिनेश्वर भगवान के मार्ग का प्रकाश चारों तरफ फैला रहे हैं। ज्ञान में अपनी और अन्य की आत्मा को तल्लीन करते हैं। उक्त संयमी जीव भी परमात्म पद प्राप्त करने के अधिकारी हैं। कहा भी है—

एकम पितु जिन वचन निर्वाणपदस्य दायक भवति।
श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिक मात्र पद सिद्धा. ॥

अर्थात्–श्री जिनेश्वर भगवंत के मुख से प्रकासित हुआ एक भी पद, अभ्यास करने से उत्तरोत्तर ज्ञानकी प्राप्ति द्वारा संसार सागर से पार उतार देता है, क्योंकि केवल सामायिक मात्र पद से अनेक सिद्ध होगये, ऐसा अनेक स्थानों में श्रवण किया है।

ऐसे परम उपकारी श्री जिनेश्वर भगवंत के प्रवचन, इस पंचम काल में 'अजिणा जिण संकासा' अर्थात्–इस वक्त तीर्थंकर तो नही हैं, परन्तु उनके बचन ही तीर्थंकर जैसा उपकार करते प्रवर्त रहे हैं, सुखेच्छू जीवों के पूर्ण आधार भूत हैं। उन्हें भगवती सूत्रकी आदि में श्री गणधर महाराज ने भी "नमो बंभीए लिवीए" 'ब्राह्मी लिपी को नमस्कार हो-' इस रूप से अहो परमेश्वर! आपके वचनों को नमस्कार किया है। उनको मैं भी त्रिकरण त्रियोग की पूर्ण विशुद्धता के साथ नमस्कार करता हूं। और इन प्रवचनों के गहन ज्ञान का यथार्थ बोध श्री सद्गुरु के द्वारा ही होता है, अतः उनके गुण आगे के प्रकरण में दर्शाने की इच्छा रखता हुआ इस प्रकरण की यहां ही समाप्ति करता हूं।

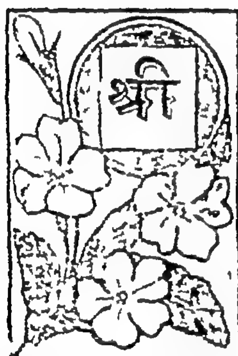
परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का प्रवचन
गुणानुवाद नामक तृतीय प्रकरण
समाप्त।





प्रकरण—चौथा

"गुरु गुणानुवाद"



गुरु देवजी महाराज के गुणोंका कथन और उत्तमता तो अनादि सिद्ध सर्व मान्य श्री नवकार महा मंत्रही दर्शा रहा है, कि अष्ट कर्म के नाश करने वाले, श्री-जिनेन्द्र के वंदनीय, सर्व से अत्युत्तम, और सर्व के वरिष्ठ श्री सिद्ध परमात्मा हैं। उनका नाम नवकार महा मंत्र के पहले पदमें न देकर दूसरे पदमें स्थापन किया है। और जिन्होंने केवल ज्ञान के प्रभाव से जाने हुये द्रव्यादि पदार्थो का स्वरूप पैतीस गुणों से युक्त वाणी द्वारा जगत वासी भव्य जीवों को बताया, या परमात्मा सिद्ध भगवंत का स्वरूप बताया, ऐसे सद् ज्ञान के दाता जगद् गुरु महाराज श्री अर्हत भगवंत को नवकार महा मंत्र के पहिले पदमें 'नमो अरिहंताणं' कह कर नमस्कार किया—इससे जाना जाता है कि मुमुक्षुओं को देव से भी अधिक गुरु की विनय भक्ति करने की आवश्यकता है: क्यों कि गुरु ही देवका सत्य स्वरुपसे समझाने वाले हैं। इस विषय में एक वैष्णव कविने क्या ही अच्छा कहा है—

—गुरु गोविंद दोनों खडे, किसके लागू पाय।
बलिहारी गुरु देवको, जिन गोविंद दिये बताय॥

गुरु शब्द का मूलार्थ भारी यानी वजनदार होता है, परन्तु जो शरीर से या कर्मों करके भारी होवें, उनको देव से अधिक जानने का यहां भाव नहीं है। यहां तो जो गुणाधिक होवें अर्थात् ज्ञानादि गुणों से भारी होवें, उन गुरुओं को ही देवसे अधिक मानने का भाव दर्शाया गया है। शास्त्रों में जगतारक गुरु के मुख्य रूपेण छत्तीस गुण वर्णन किये हैं।

गुरु के ३६ गुण

पंचिदिय संवरणो, तह नव विह बंभ चेर गुत्तीधरो।
चउविह कस्साय मुक्को, ए ए अटारस्स गुणेहि संयुत्तो ॥१॥
पंच महव्वय जुत्तो, पंच विहायार पालण समत्थो।
पंच समिइतिगुत्तो, ए ए छत्तीस गुण गुरु मज्झ ॥२॥

अर्थात—१ 'अहिंसा'—स्वात्मा, परात्मा, जीव, त्रस, स्थावर आदि सबकी रक्षा करे २ 'अमृषा'—झूठ नहीं बोले, ३ 'अदत्तव्रत'—चोरी नहीं करे, किसी की बिना दीहुई वस्तु ग्रहण नहीं करे ४ 'ब्रह्मव्रत'—स्त्री, पुरुष, नपुंसक के साथ या किसी भी प्रकार से ब्रह्मचर्य का खंडन करे नहीं ५ 'अपरिग्रह'—सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु पर ममत्व रक्खे नहीं (ये पंच महाव्रत धारण करे) ६ 'श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह'—विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे शब्द कानों से सुने नहीं ७ 'चक्षु इन्द्रिय निग्रह'-विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे रूप आँखों से देखे नहीं ८ 'घ्राणेन्द्रिय निग्रह'-विषयानुराग जागृत होवे, ऐसे गंध नाक से सूंघे नहीं ९ 'रसेन्द्रिय निग्रह' विषयानुराग जगे, ऐसा रस जिह्वा से भोगे नहीं १० 'स्पर्शेन्द्रिय निग्रह'-विषयानुराग जगे, ऐसे शयनासन वस्त्रादि भोगे नहीं और यदि कभी ये शब्दादि विषय सहज स्वभाव से ही इन्द्रियों में प्रगम जावें तो उनपर राग द्वेष करे (इन पांच इन्द्रियों का निग्रह करे) ११ 'ज्ञानाचार' ज्ञान का अभ्यास स्वयं करे और दूसरों को करावे १२ 'दर्शनाचार' निर्मल सम्यक्त्व आप पाले और दूसरों से पलावे १३ 'चारित्राचार'—संयम आप निर्मल पाले दूसरों से पलावे १४ 'तपआचार'—तपश्चर्या आप करे और दूसरों से करावे १५ 'वीर्याचार'—धर्मोन्नति के कार्य में आप पराक्रम फोड़ तथा दूसरों से फोड़ावे [ये पांच आचार पाले—पलावे] १६ 'ईर्यासमिति'—

दिन के समय आंखों से जमीन को देखकर और अप्रकाशित जगह में तथा रात्री के समय रजोहरण से पूंज कर चले १७ 'भाषा समिति'—यथावसर सत्य तथा पथ्य वचन बोले १८ 'एषणा समिति'—सर्व प्रकार से निर्दूषण वस्त्र—पात्र—स्थान आदि याचना (मालिक आदि से मांग) कर भोगवे १९ 'आदान निक्षेपणा समिति' वस्त्र—पात्र— आदि संयम योग्य उपधि, यत्ना से ग्रहण करे और भोगवे २० 'परिठावणिया समिति'—अयोग्य एवं अकल्पनीक वस्तु निर्वद्य स्थान में परठे यानी डाले। (ये पांच समिती पाले) २१ 'मनगुप्ति'—पाप कार्य में मनको नहीं प्रवर्तने दे २२ 'वचन गुप्ति'—सावद्य वचन नहीं बोले, २३ 'कायागुप्ति' पाप के काम करे नहीं (ये तीन गुप्तियां पाले) २४ 'क्रोध निग्रह'—प्रकृतियों को क्रूर प्रणति से निवार कर शांत भाव धारण करे २५ 'मान-निग्रह'—प्रकृतियोंकी कठिन वृत्तिको निवार कर नम्र भाव धारण करे २६ 'माया निग्रह'— प्रकृतियों को वक्र भाव से निवार कर सरल करे २७ 'लोभ निग्रह'—विस्तार पाती हुई प्रकृतियों को रोक कर संकोचे एवं अल्पेच्छा धारी होवे (इन चार कषायों को जीते) २८ विकार उत्पन्न होवे, ऐसी जगह मे रहे नहीं २९ विकार उत्पन्न होवे, ऐसी कथा वार्ता करे नहीं ३० विकार उत्पन्न हो, ऐसे आसन से या आसन पर बैठे नहीं ३१ विकारी शब्द कान में पड़ें वहां रहे नहीं, ३२ पूर्वकृत विकारी वृत्तियों का चिन्तन करे नहीं ३३ विकारी वस्तुओं का अवलोकन करे नहीं ३४ विकार उत्पन्न होवे ऐसा आहार करे नहीं ३५ विकार उत्पन्न होवे, इतना अधिक आहार करे नहीं ३६ और विकार उत्पन्न होवे, इस तरह शरीर को शृंगारित करे नहीं। (ये नव वाड विशुद्ध ब्रह्मचर्य पाले) ऐसे ३६ गुणों के धारक गुरु महाराज होते हैं।

ऐसे गुण युक्त गुरु महाराज को तीन प्रकार से वंदना—नमस्कार करते हैं:—

(१) जघन्य वंदना—मुख को ढके हुए वस्त्र का उत्तरासन कर, दोनों हाथ कोहनी तक जोड़ कर, गुरु महाराज के सन्मुख अवस्थित होकर, आवर्तन करता हुआ (जैसे अन्य मती आरती को घुमाते हैं वैसे जोड़े

हुये दोनों हाथों को घुमाता हुआ) नीचा नमकर कहे कि 'मत्थयेण वंदामि सुख साता है पूज्य, इत्यादि शब्दों से गुणानुवाद करे सो जघन्य वंदना ।

(२) मध्यम वंदना—ऊपर कही हुई विधि के अनुसार तिखुत्तो के पाठ से वंदना करे । 'तिखुत्तो' जोड़ हुये दोनों हाथ मस्तक और दोनों घुटने ये पांच ही अंग तीन वक्त उठ बैठ कर जमीन के लगावे । 'आयाहिण' दोनों हाथ जोडे हुये 'पयाहिणं' प्रदक्षिणावत् हाथों को फिरा कर 'वंदामि' गुणानुवाद युक्त 'नमसामि' नमस्कार करे । 'सक्कारेमि' सत्कार देवे, 'सम्माणेमि' सम्मान देवे 'कल्लाण' (ऐसा मनमें पक्का समझे कि) ये ही मेरी आत्मा के कल्याण के कर्ता हैं 'मगल' परम मंगल (पाप का नाश) के कर्ता ये ही हैं 'देवय' धर्म देव यही हैं, 'चेइय' ज्ञानादि गुणों के सागर ये ही हैं । 'पज्जुवासामि' पर्युपासना यानी सेवा भक्ति करने योग्य ये ही हैं । ऐसे उत्कृष्ट भाव से 'मत्थयेण वदामि' मस्तक झुकाकर गुणानुवाद युक्त जो नमस्कार करे, सो मध्यम वंदना ।

(३) अब रही उत्कृष्ट वंदना सो उसका विस्तार युक्त वर्णन आगे के बारहवें प्रकरण के तीसरे वंदना नामक आवश्यक में देखिये ।

इस तरह वंदना करने से जीवों को बड़े बड़े छः गुणों की प्राप्ति होती है:—

१ 'विनयोपचार' विनय का आराधक पणा २ 'मानभग' मिथ्याभिमान नामक महा शत्रुका नाश ३ 'पूज्य भक्ति' पूज्य पुरुषों की भक्ति का महालाभ ४ 'जिनाज्ञाराधन' जिनेश्वर भगवंत की अनुज्ञा का पालन ५ 'धर्मबृद्धि' गुरु की कृपा से सूत्र धर्म और चारित्र धर्म की वृद्धि ६ 'अक्रिय' इस भांति धर्म की आराधना से सकल कर्म का नाश होकर जो पाप रहित सिद्ध रूप परम पद है उसकी प्राप्ति ।

परन्तु वंदना के बत्तीस दोषों को टाल कर जो वंदना करते हैं उनको ही इत्यादि गुणों की प्राप्ति होती है । वे बत्तीस दोष ये हैं—

वंदना के बत्तीस दोष

१ 'अणाढा दोष' वंदना करने से जो कर्मोंकी निर्जरा रूप फल

होता है उसे नहीं जानता, किंतु अपने कुल परंपरा से ये अपने गुरू हैं इसलिये वंदना करनी ही चाहिये इत्यादि विचार से आदरभावरहित होकर वंदना करे तो दोष लगे २ 'स्तब्धदोष'-यह दोष दो प्रकार से लगता है। एक तो शरीर में शूल आदि रोगों की पीडा से दुःखित हुआ वंदना करते समय प्रफुल्लित चित्त न होवे, सो द्रव्यस्तब्ध दोष। और दूसरा स्वाभाविक ही शून्यता से हुल्लास भाव नहीं आवे सो भाव स्तब्धदोष ३ 'परविध दोष'-जैसे मजूर को मजूरी देकर कोई काम करावे और वह जैसे तैसा करके चला जावे, ऐसेही विचार से यथा विधि वंदना नहीं करे सो परविध दोष ४ 'सपिण्ड दोष'—आचार्यजी, उपाध्यायजी और साधूजी सबको मिली हुई एकही बार वंदना करे—अलग अलग नही करे सो सपिंड दोष ५ 'टोल दोष' वंदना करते समय शरीर को एक ठिकाने स्थिर नहीं रक्खे, तीड पक्षी की तरह हिलता हुआ वंदना करे तो दोष ६ 'अकुशदोष'-जैसे हाथी अंकुश के डर से महावत की इच्छानुसार चले तैसे ही गुरूजी के कोप के डर से वंदना करे, किन्तु स्वेच्छा से नहीं करे तो दोष ७ 'कच्छप दोष'—काछवे की तरह चारोंही तरफ देखता जाय और वंदना करता जाय तो दोष ८ 'मच्छ दोष'-जैसे मच्छी पाणी के आश्रय से रहे वैसे किसी भी प्रकार के आश्रय के लिये वंदना करे तो दोष ९ 'मनः प्रदुष्ट दोष'-अपने मन के मुताबिक गुरूजी ने कार्य नहीं किया, इसलिये मन में द्वेष भाव रख कर वंदना करेतो दोष १० 'वदीका वदन-दोष'-दोनों हाथ घुटनों पर रख कर वंदना करे—दोनों हाथों के बीच दोनों घुटने रख कर वंदना करे—दोनों हाथों के बीच एक घुटना रखकर वंदना करे—खोले में एक हाथ रख कर वंदना करे—दोनों हाथ खोले में रखकर वंदना करे—तो दोष। ११ 'भयदोष' संसार में अपयश होजाने के डर से या गुरू महाराज के कोप के डर से वंदना करे तो दोष १२ 'भजन दोष'-और सब लोगों ने वंदना करी तो मुझे भी करनी चाहिये, इस विचार से वंदना करेतो दोष १३ 'मित्र दोष'-गुरू महाराज के साथ मित्रता करने के लिये वंदे अर्थात्—पूज्य बुद्धि न रक्खे तो दोष १४ 'गारवदोष'-मैं यथा विधि वंदना करूंगा तो लोग मुझे पंडित एवं

विनीत कहेंगे, इत्यादि अभिमानभाव से वंदे तो दोष१५ 'कारण दोष'गुरू-महाराज को यथा विधि वंदना करूंगा तो गुरू महाराज मुझे इच्छित वस्तु देवेंगे १६ 'स्तैन्य दोष' लोग देखेंगे तो मुझे छोटा समझेंगे, इस लिये कोई देखे नहीं इस तरह छिपकर वंदना करेतो दोष१७ 'प्रत्यनीक दोष'-गुरू महाराज स्वाध्याय या आहार वगैरह अन्य कार्य में लगे होवें उस समय उनको खिजाने के लिये वैर भावसे वंदना करे तो दोष १८ 'रुष्ट दोष'-क्रोध में स्वयं रुष्ट होकर तथा गुरुजी को रुष्ट करके वंदे तो दोष १९ 'तर्जित दोष' तर्जनी (अंगुष्ठ के पास की) अंगुली से गुरूजी को बताकर कहे कि ये किस कामके हैं—कुछ देते तो हैं ही नहीं—यों ही व्यर्थ वंदना करनी पड़ती है—ऐसा कहे या विचारे तो दोष २० 'शठ दोष'—मूर्ख की तरह गुण अवगुण कुछ नहीं समझे, केवल अन्य की देखा देखी दंडवत् वगैरह करे तो दोष २१ 'हीलना दोष'-वस्तुतः तुम वंदना के योग्य तो नहीं हो, परन्तु तुम्हारी इज्जत रखने के लिये वंदना करता हूं, इत्यादि गुरुजी से निंदाके वचन कहे तो दोष २२ 'कुंचित दोष'-बातें भी करता जाय और वंदना भी करता जाय तो दोष २३ 'अतरित दोष'-बहुत दूरसे जाने नहीं जाने जैसे वंदना करलेवे तो दोष २४ 'व्यंग दोष'-सन्मुख रहकर वंदना नहीं करे, किन्तु आजू बाजू रहकर करे तो दोष २५ 'कर दोष'-जैसे राजाजी का हॉंमल दिये विना छुटकारा नहीं, त्यों गुरूजी को वंदना किये बिना भी छुटकारा नहीं होने का, इत्यादि विचार से वंदे तो दोष २६ 'मोचन-दोष'—चलो वंदना कर आवें, पाप काट आवे, फिर सारे दिन के लिये निश्चिंत रहेंगे—इत्यादि विचार से वंदे तो दोष २७ 'आश्लिष्ट दोष'-वंदना करते समय अपना मस्तक एवं हाथ गुरू के चरणों को नहीं लगाता हुवा, केवल ऊंटकी तरह गरदन झुका कर चला जावे तो दोष २८ 'न्यून दोष'-वंदना करते समय पूरा पाठ नहीं पढे, पूरी विधि नहीं साधे, जलदी जलदी कर डाले तो दोष २९ 'चुलीका दोष'-वंदना का पाठ बहुत जोर से हांक मार मार कर उच्चारण करे तो दोष ३० 'मूक दोष'-कुछ भी बोले बिना चुप चाप वंदना करे तो दोष ३१ 'ढढर दोष'-लक्कड़ के ठूंठ जैसा दंडायमान खड़ा रहकर, फक्त मुखसे शब्दोच्चारण करे तो दोष ३२

'आवली दोष'-बड़े छोटे को अनुक्रम से वंदना नहीं करे। सब साधुओं को वंदना नहीं करे। अपने स्नेही मुनि को अधिक वंदे और दूसरों को थोड़ा वंदे। कभी वंदना करे कभी नहीं करे। किसी को यथा विधि करे, किसी को विना विधि करे। इत्यादि रूप से वंदना करे सो आवली दोष। ये बत्तीस दोष टाल कर तथा हर्ष हुल्लास भाव से युक्त होकर कि–मेरे अहो भाग्य हैं कि मुझे ऐसे सद्गुरु मिले हैं-यह जोग बार बार नहीं मिलता है–मेरी असीम पुण्याई से यह कर्मों की निर्जरा करने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है–इस समय लाभोपार्जन कर लिया सो मेरा है–यह महात्मा पुरुष तो सर्व जगत् के वंदनीय हैं–इनको किसी की वंदना की गर्ज नहीं है–जो इनको वंदना करते हैं वे अपने लाभ के वास्ते ही करते हैं–इत्यादि विचार से परमभक्तिभावपूर्वक यथा विधि त्रिकरण त्रियोग की विशुद्धि से वंदना करने से पूर्वोल्लिखित सात लाभों की प्राप्ति होती है।

पूर्वोक्त गुणों से युक्त गुरू महाराज की तेतीस अशातनाएँ, जो कि–ज्ञानादि गुणों की आच्छादन करने वाली होती है, उनका परित्याग करना चाहिये। समवायांगजी सूत्र के अनुसार वे अशातनाएँ इस प्रकार हैं–

गुरुजी की ३३ अशातना

१–गुरु महाराज के आगे चले नहीं २ बराबर चले नहीं ३ पीछे अड़कर चले नहीं ४ आगे खड़ा रहे नहीं ५ बराबर खड़ारहे नहीं ६ पीछे अड़कर खडा रहे नहीं ७ आगे बैठे नहीं ८ बराबर बैठे नहीं ९ पीछे अड़कर बैठे नहीं १० गुरू महाराज के पहिले शुचि करे नहीं ११ गुरू महाराज के पहिले ईर्यावही (आवागमन के पाप से निवृत्त होने का पाठ) पडिकमे नहीं १२ कोई भी दर्शन आदि कार्य के लिये आवे तो गुरू महाराज के पहिले आप उसे बुलावे नहीं १३ आप सोता हो और गुरुजी बुलावें तो सुनते ही तुरन्त उठकर उनके प्रश्न का उत्तर नम्रता से देवे १४ किसी कार्यार्थ कहीं जाकर पीछा आया, उसके मध्य में जो कुछ हुआ हो सो सब निष्कपटता से गुरुजी के आगे प्रकाश दे १६ आहार वस्त्र पुस्तक आदि कोई भी वस्तु किसी के पास से ग्रहण करनी हो तो पहिले गुरुजी को बताकर फिर ग्रहण करे १६ कोई भी

वस्तु दूसरे के पास से ग्रहण करके पहिले गुरुजी को आमंत्रित करे कि इसे आप ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिये ! यदि गुरूजी उस वस्तु को स्वीकार करें तो आप बहुत खुश होवे १७ यदि गुरु महाराज उस वस्तु को ग्रहण नहीं करेतो गुरुजी की आज्ञा से वहां विराजते हुए अपने स्वधर्मियों को आमंत्रण करे कि हे महानुभाव ! मेरे पर अनुग्रह करके इस वस्तु को ग्रहण करो ! यदि कोई भी ग्रहण नहीं करे तो फिर आप गुरुजी की आज्ञा से उस वस्तु को भोगवे १८ गुरु और शिष्य एक ही मंडल पर आहार करने बैठे होवें तो सरस एवं मनोज्ञ आहार गुरुजी के भोगने में आये ऐसा करे १९ गुरूजी जो आदेश (हुक्म) फरमावें उसे सुना अनसुना नहीं करे, परन्तु बहुत ही आदर भाव से ग्रहण करे २० गुरुजी की आज्ञा सुनते ही तुरन्त आसन छोड़ कर—खड़ा होकर—हाथ जोड़कर उत्तर देवे, २१ गुरुजी के साथ वार्ता लाप करते समय 'जी ! तहेत ! प्रमान !' आदि उच्च शब्दों के साथ बचन सुने एनं प्रत्युत्तर देवे २२ अरे तू क्या कहता है, इत्यादि हलके शब्दों से नहीं बोले २३ गुरु महाराज कृपा करके जो जो हित शिक्षा देवें, उसे आप बहुत ही उत्सुकता से ग्रहण करे और तदनुसार वर्ताव करने की इच्छा प्रदर्शित करे। तथैव यथा शक्ति वर्ताव भी करे २४ गुरुजी फरमावें कि बृद्ध ज्ञानी रोगी तपस्वी नवदीक्षित—इनकी वैयावच्च (सेवा—भक्ति) करो तथा अमुक कार्य करो तो तुरन्त अपना सब काम छोड़ कर गुरुजी कहें सो करे। परन्तु यों नहीं कहेकि सब काम मै अकेला ही करता रहूँ क्या ? कुछ तुम भी करो ! २५ छद्मस्थता के कारण व्याख्यान आदि किसी भी कार्य में गुरु महाराज भूल गये हों तो शिष्य गुरुजी की भूल प्रगट करे नहीं। यदि पूछें तो, अतिसंमान पूर्वक वचनों से नम्रता के साथ यथातथ्य बात कहे २६ गुरुजी खुशी से आज्ञा देवें तो आप गुरुओं का उपकार दर्शाता हुआ उत्तर देवे। २७ गुरुजी की महिमा सुनकर आप नाराज न हो, प्रत्युत विशेष खुशी होवे २८ साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविका में भेद नहीं करे कि ये मेरे हैं और ये गुरुजी के हैं २९ गुरुजी महाराज को धर्मोपदेश तथा संवाद करते हुये अधिक समय होजाय एव गोचरी आदि

का काल उल्लंघता हो तो भी आप यों नहीं कहे कि अब कहां लग घसीटोगे। अमुक काम का भी कुछ ध्यान है ? भाव यह है कि किसी भांति की अंत्तराय नहीं देवे ३० गुरु महाराज के वस्त्र, पात्र, विछोना आदि उपकरण को अपने पैर आदि अंग नहीं लगावे। यदि कदाचित् भूल से लग जाय तो उसही वक्त गुरु महाराज को वंदना करके अपराध की क्षमा याचना करे ३१ गुरुजी ने व्याख्यान में जो अधिकार फरमाया हो उसी परिषदा में उसी अधिकार को आप विशेष विस्तार के साथ अपनी प्रशंसा के निमित्त पीछा नहीं कहे ३२ गुरुजी के वस्त्र पाट प्रमुख उपकरण अपने काम में नहीं लेवे, यदि कभी ऐसा ही प्र-योजन पडजाय कि वापरे विना काम नही चले, तो गुरू महाराज की आज्ञा लेकर यत्ना सहित वापरे ३३ गुरूजी से सदा नीचा रहे। द्रव्य से तो आसन नीचा रक्खे, हाथ जोड़ ऊंचे वचनों से वार्तालाप करे, आज्ञा प्रमाणे काम करे। और भाव से निरभिमान, निष्कपटा, नम्रता, दासा-नुदास वृत्ति से सदा रहे और गुरु महाराज का सदा भला चाहवे। इन तेतीस अशातनाओं को टालने के लिये जो जो गुण ऊपर बताये गये हैं, तदनुसार प्रवृत्ति करके सदा गुरू भक्ति करने वाले जीव, परमात्म मार्ग में प्रवर्तने वाले होते हैं।

अशातना का फल

दशवैकालिक सूत्र मे फरमाया है कि—जो कोई मूर्ख जाज्वल्य मान अग्नि को पांव से दबाकर बुझाना चाहता है, उसके पांव जरूर ही जलते हैं। जो दृष्टि मात्र मे अन्य को जला डाल ने वाले दृष्टि विष सर्प को कोपाय मान करके सुख चाहता है, वह अवश्यही मरता है। जो हलाहल विष (जहर) खाकर अमरत्व चाहता है, वह अवश्य ही मरता है। जो मस्तक की टक्कर से पहाड़ को फोडना चाहता है उसका मस्तक अवश्य ही फूटता है। जो कोई मुष्टि प्रहार से भाला या बरछी नामक शस्त्र की धार को तोड़ना चाहता है उसका हाथ अवश्य ही कटता है। यद्यपि इत्यादि कार्य प्रत्यक्षतः अहितकर हैं फिर भी मंत्र प्रयोग से या पूर्व

पुण्याई के जोग से सुख दाता भी होजावें, परन्तु गुरु महाराज की अशातना करके कोई किसी भी तरहका सुख चाहवे तो यह कदापि नहीं होने का, और दुःख तो जरूर ही होगा! गुरूजी की अशातना करने से ज्ञान आदि सर्व गुणों का नाश होता है, और 'गुरु हीलणाए नयावि मोखो' अर्थात् गुरु महाराज के निंदक को मोक्ष त्रिकाल में कदापि नहीं मिलती है।

गुरु भक्ति की विधि

जैसे अग्नि होत्री ब्राह्मण अग्नि की घृत, मधु आदि अनेक द्रव्यों से और अनेक मंत्रों से सभक्ति भाव पूजा करता है, तैसे ही श्री केवल ज्ञानी भगवंत भी आसेवणा (ज्ञानकी) और ग्रहण (आचारकी) की हित शिक्षा देने वाले गुरू महाराज का मनसे सदा भला चाहते हैं, वचन से सदा गुणानुवाद करते हैं, और काया से खड़े होना, संमुख जाना, आसन बिछाना, आहार पाणी वस्त्र औषधी आदि जो चाहिये सो लादेना, और यावत पंचांग से नम्रीभूत हो नमस्कार करना*—इत्यादि यथा योग्य भक्ति भाव करते हैं, तो छद्मस्थ करे इसमें विशेषत्व ही क्या? ऐसा जानकर परमात्म मार्ग में चलने वाले शिष्य को गुरु महाराज की अहर्निश विनय भक्ति करनी चाहिये। श्री सूयगडांगजी सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्याय में कहा है—

भगवचण उदाहु आउसतो उदगा? जे खलु तहा
भूतस्स समणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मिय
सुवयण सोचा निसम्म अप्पणो चेव सुहम्माए
पडिलेहीए अणुत्तर जोग खेम पय लंभिए समाणे
सेवितावत अढाइ परिजाणेंति वदति नमसति सक्कारेइ
जाव कल्लाण मगलं देवय चेइय पज्जुवासति

—सूत्र पाठ ३७ वाँ

अर्थ—श्री गौतम स्वामी भगवंत, उदक पेढाल पुत्र श्रावक से

* केवली भगवत गुरूको नमस्कार करने जाते हैं, परन्तु गुरू करने नहीं देते हैं।

कहते हैं कि—अहो आयुष्मान् उदक ! निश्चय कर के समण—साधू जी के पास से और माहण—श्रावक के पास से धर्मसम्बन्धी एवं शास्त्रसम्बन्धी केवल एक ही अक्षर तथा पद श्रवण कर—हृदय में धारण कर—अपनी सूक्ष्म बुद्धि से अलोचन यानी विचार कर—मन में समझे कि इन महात्मा के सद्बोध से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिस ज्ञान के प्रशाद से मैं परम कल्याण क्षेम कुशल रूप जो मोक्ष पद है, उसको प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त हुआ हूँ। उन एकही अक्षर के दातार गुरू महाराज का आदर सत्कार करे, उन्हें पूजनीक जाने, उनके साथ हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से वार्ता लाप करे, मस्तक नमाकर नमस्कार करे, यावत् आप कल्याण के करता हो—मंगल के कर्ता हो—धर्म देव हो—ज्ञानवंत हो—इत्यादि उपमाओं से स्तुति करे, और यथा शक्ति यथा योग्य पर्युपासना सेवा भक्ति करे।

जैन ही नहीं, अन्यमत के शास्त्रों में भी गुरु महाराज की ऐसी ही प्रशंसा वर्णन की गई है। गुरू महाराज के भक्तों को गुरू की ज्ञान संयम और लौकिक शुद्धता तो अवश्य देखनी: परन्तु ये मेरे से वय में छोटे हैं—या कम पढे हुए हैं—या क्षमादि गुणों में न्यून हैं—इत्यादि बातों की ओर लक्ष्य लगाने की कुछ भी जरूरत नहीं। * अपने को तो उनके उपकार की तरफ ही एक मात्र लक्ष रखने की जरूरत है। गुरू महाराज के तुल्य उपकार का कर्ता इस विश्वमें दूसरा कोई भी नहीं है। माता, पिता, कलाचार्य, सेठ, भाई, कुटंब, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र—आदि सब से अधिक उपकार के कर्ता गुरु महाराज ही हैं; क्योंकि दूसरे जो कुछ उपकार करते हैं उनके मन में सेवा भक्ति का, धन—वस्त्र—आहार आदि की प्राप्ति का कुछ न कुछ मतलब रहा हुआ होता है। इनकी तरफ से जो कुछ भी सुख प्राप्त होगा वह अपनी पुण्याई के अनुसार ही होगा, अधिक सुख देनेमें ये जराभी समर्थ नही हैं। तथा जो अपनी पुण्याई के अनुसार

* साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविका—इन चारों तीर्थों ने जिनको गुरु पद पर [illegible] आचार्य पद पर स्थापित कर दिये, वे वय तथा बुद्धि से कम भी होवें तो भी चारों तीर्थ को उनके हुकम में ही चलना चाहिये।

भी अपने को सुख देते हैं, वह भी फक्त इसही लोक संवन्धी देते हैं, परन्तु आगे के जन्म में सुखी करने को समर्थ नहीं हैं। और गुरु महाराज तो विना मतलव मात्र जीवों के उद्धारार्थ आहार वस्त्र पात्र आदि की साता उपजाकर, पुस्तक लेखनी आदि ज्ञान साधनों का संयोग मिलाकर, यथोचित रीति से ज्ञान दर्शन चारित्र रूप दान देते हैं कि जिसके प्रशाद से अज्ञानी पशु तुल्य शिष्य भी पण्डित पद को प्राप्त होते हैं— वड़े वड़े इन्द्र नरेन्द्र राजा सेठ आदि के पूज्य होते हैं। इतना ही नहीं, सर्व प्रकार से सुख समाधि के साथ आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग तथा मुक्ति सुख के अधिकारी वना देते हैं। इसीलिये कविराज पूज्य पाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने फरमाया है कि—

मनहर छंद

गुरू मित्र गुरू मात, गुरू सगा गुरू तात,
गुरू भूप गुरू भ्रात, गुरू हित कारी है।
गुरू रवि गुरू चन्द्र, गुरू पति गुरू इन्द्र,
गुरू देत आनन्द, गुरू पद भारी है॥
गुरू देत ज्ञान ध्यान, गुरू देत दान मान,
गुरू देत मोक्ष स्थान; सदा उपकारी है।
कहत है तिलोक रिख, हित कारी देत सीख,
पल पल गुरूजी को, वंदना हमारी है॥

अर्थात्—संकट के समय में मित्र के समान सहायता के कर्ता, माता के समान ज्ञानादि से पोपण के कर्ता, सगे-सम्बन्धी के समान मदत के कर्ता, पिता के समान विद्याधन के दाता, राजा के समान अन्याय से वचाने वाले, भाई के समान सहायता के कर्ता, सूर्य के समान प्रकाश के कर्ता, चन्द्र के समान शीतलता के कर्ता, पति के समान शोभा के कर्ता, इन्द्र के समान आधार भूत, सर्व जीवों को एकान्त आनन्द के दाता श्री गुरू देवजी महाराज ही हैं। वल्कि इन से भी अधिक उपकार के कर्ता हैं। ये तो फक्त उपमा वाचक शब्द हैं; क्योंकि ज्ञान रूप उत्कृष्ट दान

इसी प्रकार गुरू महाराज, अनघड़ टोल जैसे मनुष्य को वचन रूप टांची से घड़ कर सुधारा करने के लिये, बादाम फल के जैसी वृत्ति धारण करते है। बादाम ऊपरसे तो कठिन दीखता है, परन्तु अंदर से कोमल और मधुर होता है। तैसेही गुरू महाराज शिष्य को अनेक कटु वचनों से आयंबिल उपवास आदि तप कराते है तथा एकान्त वास, मौन वृत्ति, वगैरह धारण करने का अभ्यास कराते है। उस समय अल्पज्ञ शिष्य को गुरू की यह वृत्ति खराब लगती है, और कभी कभी घबराकर अमर्यादित विचार उच्चार तथा आचार भी करने लगता है। तब निकटस्थ दूसरे लोगों को मालूम पड़ने लगता है कि–यह तो बिगड़गया, परन्तु शिष्य की यह वृत्ति देखकर गुरुदेव बिलकुलही नहीं बबराते हैं; अपने कर्तव्य से जराभी पीछे नहीं हटते हैं। क्योंकि वे तो जानते हैं कि–बिगाड़े बादही सुधारा होता है और ज्ञानामृत रूप औषधी, शुद्ध आचार विचार रूप पथ्य पालन के साथ देतेही रहते हैं, जिससे वह थोड़ेही समय में जैसा कि नवीन जन्मा हुआ हो ऐसा बन जाता है। मूर्खसे–विद्वान, जड़से पण्डित, और अपूज्य से परम पूज्य बनकर जब वह लौकिकानन्द और आत्मानन्द में लीन बनता है, तब आंतरिक चक्षुओं के खुलने से गुरू महाराज के परम उपकार का हृदय में दिग्दर्शन करता हुआ आशीर्वादों का अजपा जाप लगादेता है, कि अहो गुरु दयाल ! मेरे जैसे नर पशू को सच्चे नर पदपर स्थापन करने वाले, अन्धेको नेत्र देने वाले, भूले को मार्ग बताने वाले, ज्ञान विजिया की मधुर घूटें पिलाकर अद्वैतानंद में रमण कराने वाले आपही हो। भला हो, गुरूमहाराज! आपका सदाही भला हो !!

ऐसे परम पूज्य गुरूजी स्थविर होते हैं तथा शिष्य को स्थविर पद में स्थापन करते हैं, और उन स्थविर भगवंत के गुणानुवाद करने से पहिले श्री गुरू महाराज को नव कोटि विशुद्ध नमस्कार करता हूं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "गुरु
गुणानुवाद" नामक चतुर्थ प्रकरण समाप्त।



प्रकरण–पांचवाँ

"स्थविर गुणानुवाद"



न महात्माओं की आत्मा ज्ञान आदि सद्गुणों में स्थिरीभूत होकर चिरस्थायी पद भोगती हो अथवा जो महात्मा अपने सद्गुण रूप चमत्कारी विद्या के जोर से अन्य अल्पज्ञ जीवों की अस्थिर, सद्गुणों से चलित तथा दुर्गुणों की तरफ जाने वाली आत्मा को आकर्षणकर यानी खेंच कर पुनः सद्गुणों में स्थापन कर निश्चल करें, उन महात्माओं को शास्त्र में स्थविर भगवंत कहा है।

ग्रंथकार उक्त स्थविरों के दो विभाग करते हैं:–लौकिक स्थविर और लोकोत्तर स्थविर।

१ लौकिक स्थविर–अर्थात् संसार मार्ग में प्रवृत्त हुये जीव, जब आधि (चिन्ता) व्याधि (रोग) उपाधि (दुःख) से व्याकुल होकर चल विचल बनें, तब उनको व्यवहार में स्थिर करनेवाले माता, पिता, गुरु, पति, स्वजन, मित्र, वगैरह वयोवृद्ध एवं गुणवृद्ध जन, लौकिक स्थविर कहलाते हैं। उनकी सेवा भक्ति करना सो लौकिक स्थविर भक्ति।

श्री ठाणांगजी सूत्र के तीसरे ठाणे में फरमाया है कि गुरु और

गुरुणी, माता और पिता. सेठ और सेठाणी–इनके उपकार से ऊरण होना मुशकिल है।

इस जगत् मे माता का उपकार सबसे अधिक गिना जाता है। क्योंकि माता गर्भवास से लगाकर प्रसूति काल तक तथा जन्म लेने के पश्चात् योग्य अवस्था को प्राप्त हो वहां तक, इतना ही नहीं समस्त जीवन तक, आप अनेक दुःख संकट सहन कर, अपने तन मन धन को लगा कर पुत्रकी परवरिस एवं सुख बृद्धि की तरफ ही लक्ष्य रखती है। ऐसी पूज्य माता का भक्तिवंत पुत्र समस्त आयु भर किंकर बना रहे, उसके कहने से पहिले ही अभिप्राय को समझ कर कार्य एवं बर्ताव करे, जो जो उसकी इच्छा हो सो यथा शक्ति पूर्ण करे, चरणपखाले, पगचंपी करे, देश काल प्रकृति के योग्य भोजन करावे, वस्त्र पहनावे इत्यादि सर्व कार्य उत्साह युक्त करे, और माता की तरफ से होनेवाले ताडन तर्जन कटुवाक्य आदि को हितकारी जान कर नम्र भाव से सहे, परन्तु कदापि कटु-वाक्यादि किसी भी प्रकार से उसका मन नहीं दुःखावे—ऐसी भक्ति जीवन भर करे तो भी ऊरण नहीं होवे। परन्तु माता को धर्म मार्ग दर्शाकर, व्रत नियम धारण करा कर, आयुष्य के अंतमें आलोयणा निंदना करा कर, धर्म भाता बंधाकर, परभव पहुंचावे तो ऊरण होवे।

ऐसे ही पिता भी उपकारी होते हैं, कि जो पुत्र को जन्म से लगा कर योग्य वय को प्राप्त हो वहां तक, औषध–उपचार–भोजन–वस्त्र–आदि–सामग्री का संयोग मिलाकर पोषते हैं। समय समय पर हितशिक्षा देते रहते हैं। और विज्ञान वय प्राप्त होते ही कालाचार्य के पास गणित लिखित आदि अनेक लौकिक विद्याभ्यास कराते है तथा धर्म–ज्ञान भी पढाते हैं। यौवन वय में अनाचार से बचाजे के लिये वय रूप और विद्या में समान कन्या के साथ विवाह कराते हैं। अंत में अनेक कष्ट सहन कर उपार्जन करी हुई प्राण से प्यारी संपत्ति का मालिक बनाते है। ऐसे उपकारी पिता का सुपुत्र, माता की भक्ति के अनुसार पिता की भी भक्ति करे, तावे जिन्दगी दास बनकर रहे, तो भी ऊरण नहीं होवे। परंतु माता की तरह पिता को भी अंतिम समय में धर्म रूप भाता बंधाकर समाधि-

मरण करावे तो ऊरण होवे।

ऐसे ही कलाचार्य का भी उपकार अपार है। क्योंकि पशू के तुल्य अज्ञानी तथा सर्वदा क्रीड़ाप्रिय शिशुओं को भी अनेक योग्य युक्तियों से तथा इनाम आदि के लालच से तथा गरमी नरमी से, विद्याध्ययन के मार्ग पर लगाया और लिखित, गणित, आदि अनेक लौकिक विद्याओं का अभ्यास कराया। जिससे वे अपने शरीर का और कुटुम्ब आदि का पोषण कर सुख से आयुष्य व्यतीत कर सकें, ऐसा बना देते हैं। ऐसे कलाचार्य को वे विद्यार्थी भी वस्त्र भूषण आदि द्रव्य से वा सत्कार संमान सेवा भक्ति से संतोषें और जन्म भर उनका उपकार नहीं भूलें तो भी ऊरण न होवे। परंतु अन्य धर्मावलंबी होवें तो स्वयं को धर्म ज्ञान की समझ आये पीछे उन्हे स्वधर्मी बनावें और जो वे स्वधर्मी होवें तो आयुष्य के अंत में धर्म रूप भाता बंधावें तथा समाधि मरण करावे तो ऊरण होवें।

ऐसाही सेठजी का भी उपकार गिना जाता है। क्योंकि जिन्होंने भूले भटके दुःखी दरिद्री प्राणी को द्रव्य वस्त्र आहार आदि अनेक सहायता द्वारा संतोष उपजाया, द्रव्योपार्जन करने की अनेकानेक कला कौशल एवं न्याय नीति सिखलाई, और अपने प्राण से प्यारे द्रव्य के भंडार को सिपुर्द कर उसे अपने जैसा जीवन भर के लिये सुखी बनादिया। परन्तु कर्म गति विचित्र है। इसके चक्र में आकर उक्त सेठजी कभी दीन हीन अवस्था को प्राप्त होजायँ तो उनको देखतेही वह कृतज्ञ गुमाश्ता सब कार्य छोड़ कर उनके संमुख जाकर सुखशांतिप्रद वचनों से संतोषे तथा नम्रता के साथ अपने घर में लाकर कहे कि—यह सब धन संपत्ति एवं घरबार आपही का है। मै तो आपका ऋणी दास हूं। यह सब आप सँभालिये और दास लायक कुछ सेवा चाकरी फरमाइये। इत्यादि नम्र निवेदन करता हुआ सेठ जी को गृहस्वामी बनावे और आप गुमास्ता (चाकर) होकर रहे, तोभी ऊरण नहीं होवे। हां जो वे सेठ अन्य धर्मी होवें तो स्वधर्मी बनावे और अंतिम अवस्था में समाधि मरण करा कर धर्म रूप संबल (भाता) बँधावे तो ऊरण होवे

इस भाँति उपकार से ऊरण (अदा) होने की रीति श्री ठाणांगजी सूत्र में फरमाई है। इसके सिवाय और भी व्यावहारिक रीति एवं प्रवृत्ति से विचार कर देखें तो—

जेष्ट बन्धव तथा मित्र भी उपकारी कहे जाते हैं। क्योंकि वे भी आपत्ति आने पर तथा उत्सव आदि कार्य में यथा शक्ति हरेक तरह की सहायता करते हैं—अच्छी सलाह देकर धैर्य बन्धाते हैं—कार्यसाधने के सु-मार्ग से सूचित करते हैं—समय पर अपना तन धन अर्पण कर स्नेही का कार्य सुधारते हैं—इज्जत रखते हैं—तथा काम पड़े तो प्राण भी झोंक देते हैं। ऐसे स्वजन मित्र के उपकार के बदले में यदि कृतज्ञ मित्र, अपना सर्वस्व अर्पण करके उनका तावे उम्मर का दास भी बनजाय तो भी ऊरण नहीं हो; परन्तु अन्य धर्मी हो तो स्वधर्मी बनावे, एवं समाधि मरण कराकर अंतिम अवसर सुधारे तो ऊरण होवे।

इसी प्रकार स्त्री के प्रति पति भी बड़े उपकारी गिने जाते हैं, क्यों कि ये स्त्री के चंचल स्वभाव को स्थिर करने वाले होते हैं। योग्य और मधुर बचनों से बातचीत कर, साधु सतियों के दर्शन कराकर, धर्म ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा करते हैं तथा धर्म में लगाते हैं। क्यों कि धर्म की जानकार स्त्री, कुलीन लज्जा शील एवं विनीत होकर, कुटुम्ब को सुख दाई होती है। और भी पति ने आहार वस्त्र भूषण आदि उपभोग परिभोग की वस्तुएँ (जिससे लज्जा का निर्वाह हो, परन्तु उद्धत पणा मालूम नहीं पड़े ऐसे) देकर संतोषी है, और अकेली कहीं बाहर आने जाने से तथा अयोग्य कार्य से रोक कर सदा घरके और धर्म के कार्यों में लगा रक्खी है, कि जिससे गृहणी का मन चंचल एवं कुमार्गी न होने पावे। ऐसे प्रिय पतिदेव का उपकार चुकानेके लिये उनकी मरण पर्यंत दासी बन कर स्नान मंजन वस्त्र भूषणादि से विभूषित करे—मनोज्ञ भोजन पान मधुरालाप भाव भक्ति आदि सेवा करके संतोषे—अपने पतिके पिता (ससुर) माता (सासु) भ्रात (जेठ—देवर—मित्र) बहिन (नणंद) वगैरह कुटुम्ब को भी आहार वस्त्रादि सामग्री से और लज्जा युक्त मधुरालाप से संतोषे तथा यथोचित यथा शक्ति गृह कार्य करे—और भरतार के कुटुम्ब की तरफ से होते हुये सर्व

विर की भक्ति भी परमात्मा का मार्ग है।

(३) सूत्र स्थविर। भगवंत की फरमाइ हुई उस वाणी को सूत्र कहते हैं जो गणधर महाराजने द्वांदशांग में विभक्त की है। इसका विस्तार युक्त वर्णन तीसरे प्रकरण में किया जा चुका है। उसमें का जो अवशिष्ट भाग आज उपलब्ध है वह देखने में तो थोड़ा मालूम होता है, परन्तु तात्त्विक ज्ञानमय गहन अर्थों से भरा हुआ है। विना गीतार्थों के उनके अर्थों का समझ में आना, बुद्धिगम्य होना और अनेकानेक युक्तियों के साथ दूसरों के हृदय में प्रगमाना, बहुत ही कठिन है। जिनके पूर्व संचित ज्ञानावरणी कर्म पतले होगये हैं और जिन्हें गीतार्थ पण्डित मुनिवरों का संयोग मिला है, उनको यथोचित विनय भक्ति के द्वारा प्रसन्न कर के तथा चोयणा प्रतिचोयणा कर के जो शास्त्रों के गूढार्थ के जानकार हुये हैं वे सूत्र स्थविर कहे जाते हैं। क्योंकि स्थिरात्मा हुये विना शास्त्र का गहन अर्थ आत्मा में पैठता नहीं है—जैसे हिलते हुए पाणी में सूर्य का प्रतिबिंब स्थिर नहीं रहता है। इसलिये सूत्र का गहन ज्ञान जिनकी आत्मा में टिका है—और जिनकी आत्मा स्थिर हुई है, वे स्थविर कहे जाते हैं।

ऐसे सूत्रों के गहन ज्ञान के पारगामी महात्मा, जब ज्ञान दान की बकसीस करने के लिये अर्थात् धर्मोपदेश करने के लिये तात्त्विक ज्ञान रूप सुधारस से भरपूर विद्या विनोद उपजाने वाली एवं अनेक तर्क वितर्क आपही उत्पन्न करके आपही उसका समाधान करने वाली देशना फरमाते हैं, उसवक्त ज्ञान के रसीले श्रोताओं की आत्मा धर्म में स्थिरी भूत होजाती है। यही नहीं, बहुत काल जाव जीव तक तथा अन्य जन्मों मे भी. वे फिर किसी के चलाने से एवं कर्मों की विचित्रता के प्रेरे हुए कदापि धर्म से चलाय मान नहीं होते हैं, और अंततः वक्ता श्रोता दोनों ही मोक्ष स्थान में अनंत काल के लिये स्थिरात्मा बन जाते हैं। इसलिये सूत्रों के गहन अर्थ के जानने वाले स्थविर भगवंत कहे जाते हैं।

ये स्थविर भगवंत यदि दीक्षा में अधिक होवेंतो गुरू महाराजकी तरह इन की भी सेवा भक्ति करनी, एवं असातना टालनी चाहिये। और जो दीक्षा में

परिसह–दुःख कटुवाक्य आदि समभाव (क्षमा) मे सहे। इत्यादि पति भक्ति करे, तो भी ऊरण न होवे। परन्तु पति को धर्म मार्ग में लगाकर अंतिम अवसर में समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

इन स्वजनों तथा मित्रों के सिवाय और कोई भी अपने से वय में विद्या में गुणों में अधिक होवें और उनके द्वारा अपने को सद्बोध आदि किसी भी सद्‌गुण की प्राप्ति होती हो तथा अपने कार्य में किसी भी प्रकार की मदद मिलती हो तो उनको भी व्यवहार पक्ष में स्थविर समझना चाहिये। मित्रता भी जगत् में एक अत्युतम पदार्थ गिना जाता है, इस लिये मित्रता रखने वालों के साथ कृतज्ञ मित्र, अंतः करण की विशुद्धि से वर्ताव करे–योग्य ऊंचे मधुर वचनों से सत्कार करे–आहार वस्त्र आदि जो वस्तु उनको खपती हो देकर उन्हें संतोपे–हिल मिल कर रहे–परस्पर दूसरे के संकट के समय सहायता करे–यावत् जन्म पर्यंत उनका दास बना रहे तो भी ऊरण नहीं होता है, परन्तु सच्ची मित्रता तो यह है कि–अगर मित्र सत्य धर्म से नावाकिफ होवे तो उन्हें वाकिफ करे–सत् गुरूकी संगति करावे–व्याख्यानादि श्रवण का संयोग मिलाकर उनके अंतः करण में धर्म की रुचि जगावे–और यथा प्रसंग उनको सम्यक्त्वी व्रती भी बनावे और समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

अपने कुटुम्ब में से या हर किसी को यदि वैराग्य प्राप्त होवे और वह संयम लेना चाहे तो आप आज्ञा देकर एवं धर्म दलाली कर उसके कुटुम्ब को समझा बुझाकर आज्ञा दिलावे। और उत्सव के साथ दीक्षा दिलावे तो कृष्ण महाराज व श्रेणिक राजा के समान तीर्थंकर गोत्र उपार्जे।

यह व्यावहारिक स्थविरों की भक्ति का वर्णन ग्रन्थानुसार किया है। उववाई जी सूत्र में फरमाया है कि माता पिता का भक्त, देव लोक में ६४००० वर्ष का आयुष्य पाता है। इससे जाना जाता है कि व्यावहारिक भक्ति भी पुण्य फल की उपार्जना करने वाली होती है। और इसी कारण श्री तीर्थंकर भगवान आदि जो उत्तम पुरुष हुए है, उन्होंने भी अपने स्थविरों का सन्मान एवं भक्ति की है–अर्थात् यथोचित व्यवहार का साधन किया है। यह तो सत्य समझिये कि जो व्यवहार सुधारेगा वही

परिसह-दुःख कटुवाक्य आदि समभाव (क्षमा) से सहे। इत्यादि पति भक्ति करे, तो भी ऊरण न होवे। परन्तु पति को धर्म मार्ग में लगाकर अंतिम अवसर में समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

इन स्वजनों तथा मित्रों के सिवाय और कोई भी अपने से वय में विद्या में गुणों में अधिक होवें और उनके द्वारा अपने को सद्बोध आदि किसी भी सद्गुण की प्राप्ति होती हो तथा अपने कार्य में किसी भी प्रकार की मदद मिलती हो तो उनको भी व्यवहार पक्ष में स्थविर समझना चाहिये। मित्रता भी जगत् में एक अत्युतम पदार्थ गिना जाता है, इस लिये मित्रता रखने वालों के साथ कृतज्ञ मित्र, अंतः करण की विशुद्धि से वर्ताव करे-योग्य ऊंचे मधुर वचनों से सत्कार करे-आहार वस्त्र आदि जो वस्तु उनको खपती हो देकर उन्हें संतोषे-हिल मिल कर रहे-परस्पर दूसरे के संकट के समय सहायता करे-यावत् जन्म पर्यंत उनका दास बना रहे तो भी ऊरण नहीं होता है, परन्तु सची मित्रता तो यह है कि-अगर मित्र सत्य धर्म से नावाकिफ होवे तो उन्हें वाकिफ करे-सत् गुरूकी संगति करावे-व्याख्यानादि श्रवण का संयोग मिलाकर उनके अंतः करण में धर्म की रुचि जगावे-और यथा प्रसंग उनको सम्यक्त्वी व्रती भी बनावे और समाधि मरण करावे तो ऊरण होवे।

अपने कुटुम्ब में से या हर किसी को यदि वैराग्य प्राप्त होवे और वह संयम लेना चाहे तो आप आज्ञा देकर एवं धर्म दलाली कर उसके कुटुम्ब को समझा बुझाकर आज्ञा दिलावे। और उत्सव के साथ दीक्षा दिलावे तो कृष्ण महाराज व श्रेणिक राजा के समान तीर्थंकर गोत्र उपार्जे।

यह व्यावहारिक स्थविरों की भक्ति का वर्णन ग्रन्थानुसार किया है। उववाई जी सूत्र में फरमाया है कि माता पिता का भक्त, देव लोक में ६४००० वर्ष का आयुष्य पाता है। इससे जाना जाता है कि व्यावहारिक भक्ति भी पुण्य फल की उपार्जना करने वाली होती है। और इसी कारण श्री तीर्थंकर भगवान आदि जो उत्तम पुरुष हुए हैं, उन्होंने भी अपने स्थविरों का सन्मान एवं भक्ति की है-अर्थात् यथोचित व्यवहार का साधन किया है। यह तो सत्य समझिये कि जो व्यवहार सुधारेगा वही

निश्चय भी सुधारेगा, इस लिये व्यवहार नहीं विगाड़ना चाहिये।

अब जो स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के स्थविर भगवंत फरमाये हैं, उनके विषय में कुछ विवेचन किया जाता है:– १ वय स्थविर, २ दीक्षा स्थविर ३ और सूत्र स्थविर।

(१) वय स्थविर। इस वर्तमान काल के अनुसार जिनकी ६० वर्ष के ऊपर वय होगई हो, उनको वय स्थविर कहते हैं। मनुष्य जन्म में सुखी प्राणी की जो ज्यादा उमर होती है, उसे पुण्यवंत गिनते हैं।

नंदीजी सूत्र में चार प्रकारकी बुद्धि कही है, उस में प्रणामिया बुद्धि चौथी कही है। उसका अर्थ है कि ज्यों ज्यों वय वढती जाती है, त्यों त्यों कितनेक पुरुषों की बुद्धि भी अधिकाधिक विकसित होती जाती है। और यह प्रसंग भी वहुत स्थानोंमें दृष्टि गोचर होता है, क्योंकि उनको इस सृष्टि में जन्म धारण किये बहुत वर्ष होगये हैं। उन की दृष्टि के नीचे कितनी ही बातें गुजर गई हैं, उन्होंने कई तरह से सुख दुःख का अनुभव कर रक्खा है। इत्यादि कारणों से जिनकी आत्मा स्थिरीभूत होगई है, और जो प्राचीन ऐतिहासिक वार्ताएँ सुनाकर तथा अनेक चमत्कार बताकर दूसरे की आत्मा को स्थिर कर सकते हैं, इस लिये वे स्थविर कहे जाते हैं। और कितनेक स्थानों में इस से उलटा भी मालूम होता है, परन्तु उलटा प्रसंग देख कर अर्थात् वृद्ध अवस्था में बुद्धि की मंदता देख कर, उनका किसी भी तरह अपमान करना या 'साठी बुद्ध नाठी' वगैरह वचन कह कर उनका मन दुःखाना उचित नहीं है। क्योंकि नाक कितना ही उंचा हो परन्तु मस्तक के तो नीचे ही गिना जायगा, तैसे ही हम कितने ही बुद्धि के सागर हों तो भी जेष्ठ पुरुषों के तो नीचे ही रहेंगे। ऐसा जानकर वृद्ध पुरुषों की अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिये। जो पुरुष वय में वृद्ध होवें और जाति दीक्षा आदि दरजे में कदापि कम भी होवें, उनका भी यथा योग्य विनय करना, यही उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है। जो दीक्षामें बड़े होवें उनको तो गुरु तुल्य समझ कर पिछले प्रकरण में कहे अनुसार उनकी भक्ति करना और दीक्षा में समान या न्यून होवें तो उनको भी आइये विराजिये आदि आदर वचनों से संलाप करना और उनकी प्रकृति

समान तथा छोटे होवें तो भी उनको बड़े के समान ही समझे और उन के ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होने योग्य स्थानक, आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, ज्ञान के भंडार शास्त्र, ग्रन्थ, पत्र, स्याही, लेखन वगैरह सब सुखदाई संयोग मिला दे। तथा उन को ज्ञान वृद्धि के काम के सिवाय अन्य काम न बतावे, क्योंकि अन्य काम में उनका समय व्यय नहीं होगा तो वे ज्ञान वृद्धि के ग्रन्थ आदि रचने के कार्य में लग कर अपनी आत्मा को तथा अन्य अनेकों की आत्मा को धर्म मार्ग में स्थिर कर महान् उपकार करेंगे, आप धर्म रूप महालाभोपार्जन कर सुखी होवेंगे और अनेकों को सुखी बनावेंगे। सूत्र स्थविर भगवंत का वर्णन, विशेष विस्तार के साथ बहु सूत्री के प्रकरण में देखिये। इस तरह जो सूत्र स्थविर की भक्ति है, वह परमात्मा का मार्ग है।

सूत्रानुसार तीनों स्थविरों के जो यह गुणानुवाद कर, त्रिकरण त्रियोग की शुद्धि से वारम्वार नमस्कार करता हूं, सो अवधारियेजी।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "स्थविर
गुणानुवाद" नामक पचम प्रकरण समाप्त।





प्रकरण—छठा

"बहुसूत्रीगुणानुवाद"



न महा पुरुषों ने गुरु आदि गीतार्थों की तह मन से भक्ति कर के श्री जिनेश्वर प्रणीत तथा गणधर ग्रथित द्वादशांग रूप शास्त्रों का एवं आचार्य कृत अनेक तत्व-मय—अनेक भाषामय—अनेक ग्रन्थों का अभ्यास किया हो, और उन्हें ज्ञान के सागर जानकर उन के पास बहुत से ज्ञानार्थी आकर ज्ञानका अभ्यास करना चाहते हों, उनको यथोचित यथायोग्य ज्ञानका अभ्यास कराते हों—सूत्र आदि पढ़ाते हुये संशयों का छेदन करते हों, और चरण करणादि गुण सहित होते हों, उनको बहु सूत्री जी एवं उपाध्यायजी, भगवंत कहते हैं।

द्वादशांग सूत्र और तत्सम्बन्धी सूत्रों का वर्णन तो तीसरे प्रवचन गुणानुवाद नामक प्रकरण में किया है, उनमें से जिसकाल में जितने प्रव-चन मौजूद हों उनका पूर्ण रूप से स्वयं अभ्यास करे और उनका तत्वज्ञान थोड़ेसे में समझे तथा अन्य को समझावे, वह अपने अपने समय में बहुसूत्री कहा जाता है। समस्त सूत्र ग्रंथों में मुख्यतया सात प्रकार के समास हैं—

(१) 'विधि सूत्र' जिसमें साधु श्रावक के आचार विचार का वर्णन हो सो विधि सूत्र। जैसे दशवैकालिक जी आचारांगजी आदि।

(२) 'उद्यम सूत्र' जिसके श्रवण पठन से जीवों को वैराग्य का उत्साह प्राप्त होकर वे अंतःकरण से धर्म मार्ग में उद्यमी बनें, तन तोड़ परिश्रम करें। जैसे उत्तराध्ययन जी, सुयगडांगजी आदि।

(३) "वर्णक सूत्र" जिसमें नगर, पहाड़, नदी, क्षेत्र, द्वीप, समुद्र, स्वर्ग, नरक आदि वस्तुओं का वर्णन होवे, तथा 'रिद्धित्थीमीए' आदि शब्दों से उपमाएँ दर्शाई होवे, वह वर्णक सूत्र है। जैसे उववाईजी जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति आदि।

(४) 'भय सूत्र' जिसके श्रवण से अंतरात्मा पापों से भयभीत हो ऐसा नरक तीर्यंच आदि दुर्गतियों में परमाधामी आदि सम्बंधी पीडा का और कर्म विपाक के बोलों का वर्णन होवे वह भयसूत्र है। जैसे दुःख विपाकजी प्रश्न व्याकरण का आश्रव द्वार आदि।

(५) 'उत्सर्ग सूत्र' जिससे एकान्त निश्चय मार्ग में सर्वथा निर्दोष वृत्ति से प्रवर्तने का बोध होवे, वह उत्सर्ग सूत्र है। जैसे ३२ योग संग्रह १८ स्थानक आदि।

(६) 'अपवाद सूत्र' जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की प्रति-कूलता के कारण से अथवा विकट उपसर्ग आदि संयम के नाश का प्रसंग उपस्थित होने से, अपने संयम व्रत की रक्षा के निमित्त यत्ना और पश्चाताप युक्त कोईक वक्त किंचित दोष का जान कर सेवन करले तो उसका यथा विधि प्रायश्चित लेकर शुद्ध होने का उपदेश होवे, वह अपवाद-सूत्र है। जैसे चार छेद सूत्र आदि।

(७) 'तदुभय सूत्र' जिसमें उत्सर्ग और अपवाद दोनों का मिश्रित वर्णन होवे वह तदुभय सूत्र है। जैसे रोग आदि असमाधि उत्पन्न होने पर यदि आर्त ध्यान की प्राप्ति न होती हो तो औषध उपचार करने की कुछ जरूरत नहीं, और यदि आर्त ध्यान-चिन्ता उत्पन्न होने लगे-ज्ञान ध्यान में विघ्न पड़ने लगे तो योग्य निर्वद्य उपचार के द्वारा दुःख नि-वारण करके शांत बनना। इत्यादि वर्णन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध

आदि में जो है, वह तदुभय सूत्र की कोटि में है।

आप स्वतः शास्त्राभ्यास करते समय तथा दूसरों को कराते समय उपरोक्त सात प्रकार के समास में से जो समास जिस स्थान पर जिस तरह घटित होता हो उसे उसी तरह घटित करके दिखाना, बहु सूत्री का कर्तव्य है। और भी बहु सूत्री भगवंत, शास्त्रों के ज्ञान को नय-निक्षेप-प्रमाण-अनुयोग और निश्चय व्यवहार द्वारा स्वयं जानते हैं तथा दूसरों को समझाते हैं।

नय का स्वरूप।

मुख्य रूप से नय दो हैं, निश्चय और व्यवहार। जो पदार्थ के अपने निज स्वरूप को मुख्य करे सो निश्चय नय है। और दूसरी व्यवहार नय है सो उपनय है: क्यों कि यह अन्य पदार्थ के भाव को अन्य पदार्थ में आरोपण करती है और पर निमित्त से होने वाले नैमित्तिक भाव को वस्तु का निज भाव कहती है। यह नय एक देशमें सर्व देश का * और कारण मे कार्य का उपचार करती है-इसलिये इसे व्यवहार नय कहते हैं।

परन्तु व्यवहार नय को सर्वथा असत्य कहना ठीक नहीं है, क्यों कि एकेंद्रिय आदि जीव व्यवहार नय की दृष्टि से जीव कहे गये है। जो व्यवहार नही मानें तो उनकी हिंसा का पाप भी नहीं मानना होगा, क्यों कि निश्चय नय से तो जीव नित्य है-अविनाशी है। यों सब व्यवहार का लोप हो जायगा, इसलिये निश्चय व्यवहार दोनों ही मानने योग्य है। कहा है कि:—

* उपचार उसे कहते हैं जो मुख्य वस्तु तो नहीं है, परन्तु निमित्त के वश होकर अन्य द्रव्य-गुण-पर्याय को अन्य द्रव्य-गुण-पर्याय मे आरोपण करता है। जैसे किसी की क्रूरता या वीरता देखकर कोई कहे कि यह मनुष्य क्या है सिंह है। परन्तु उस मनुष्य के अग मे सिंह की माफक तीक्ष्ण नख, पीत नेत्र, वगैरह लक्षण नहीं होते, फक्त शूरता वीरता देख कर ही सिंह कहा। इसे उपचार तथा व्यवहार कहते है।

जइ जिण मय पवज्जह , तामा ववहारणिच्छयं मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ , तित्थ अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात्–अहो ज्ञानी जनो ! जो तुम जिनेश्वर के मार्ग पर चलना चाहते हो तो तुम्हें व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से एक को भी छोड़ना योग्य नहीं है। क्योंकि व्यवहार को छोड़देने से रत्न त्रय स्वरूप जो धर्म तीर्थ है, उसका नाश होता है और निश्चय को छोड़देने से तत्व के शुद्ध स्वरूप का अभाव होता है।

जैसे दंड और चक्र आदि निमित्त कारण के विना उपादान कारण रूप मिट्टी के पिण्ड से घट बनाने का कार्य सिद्ध नहीं होता है, तैसे ही व्यवहार रूप बाह्य क्रिया का त्याग करदेने से–सर्व निमित्त कारणों का नाश होने से, फक्त अकेले उपादान कारण से मोक्ष रूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये अर्वाचीन युगके अध्यात्म ज्ञानियों को यह बात ध्यान में रखकर पहिले निश्चय और व्यवहार इन दोनों का जान पना कर लेना चाहिये, पश्चात् यथा योग्य स्थान निश्चय में निश्चय रूप और व्यवहार में व्यवहार रूप श्रद्धा करना योग्य है, पक्ष पाती कदापि नहीं होना चाहिये। क्योंकि एकान्त पक्षी मिथ्यात्वी गिने जाते हैं, और जैन सिद्धान्त के वेत्ता हठ ग्राही नहीं होते हैं। जैन मत का कथन ही अनेक प्रकार का अविरोध रूप है।

अब गौणता पक्ष से नय के सात भेद किये हैं, सो कहते हैं।

(१) 'नैगम नय'। 'न एको गमो यस्य स. नैगम' अर्थात् जिसके एक गम (विकल्प) नहीं, जो बहुत विकल्प यानी भेदों से युक्त होवे सो नैगम नय। इस नय वाला सामान्य * और विशेष दोनों को ग्रहण करता है। वस्तु अनन्त हैं, परन्तु यहां फक्त जीव का ही उदाहरण लेते हैं। जैसे

* सामान्य जाति वगैरह को कहते हैं जैसे–मनुष्य। हजारों मनुष्य अलग अलग हैं तो भी सब की एक ही जाति मनुष्यता है। और विशेष सो भिन्न भिन्न व्यक्ति। जैसे सर्व मनुष्य एक रूप होकर भी अलग अलग गुण से अलग अलग पहचाने जाते हैं। यह ऊंचा है, यह नीचा है, ऐसे ही यह गोरा है, यह काला है–ऐसा प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ भेद तो अवश्य ही होता है। कहते भी हैं कि–

जीव गुणपर्याय वाला है, अर्थात् जीवमें सामान्य धर्म जीवत्व है—जीव सदा काल जीवता ही रहता है, यह सामान्य। और जीवकी पर्याय का परिवर्तन होता है, अर्थात् नरक तिर्यंच मनुष्य देव इत्यादि गति एवं जाति से भिन्न भिन्न भेद होते हैं, । यह विशेष इसी प्रकार यदि अजीव पर लेवें तो यह घट है—यह सामान्य धर्म और यह रक्त है पीत है छोटा है बड़ा है—यह विशेष धर्म। न्याय और वैशेषिक मत वाले इस नय को ही मान्य करते हैं।

(२) 'सग्रह नय'। 'सगृह्णाति इति सग्रहः' अर्थात्—जो संग्रह एकत्रित करे सो संग्रह नय। इस नय वाला विशेष धर्मको गौण रख कर सत्ता रूप सामान्य को मुख्यत्व करके स्वीकारता है। जैसे जीवका नाम लेने से सब जीवों का एवं जीवोंके असंख्य प्रदेशों का समावेश होगया। इसी प्रकार जगत् का नाम लेने से जगत् के सर्व पदार्थोंका, बगीचे का नाम लेने से उसमें के सर्व पदार्थोंका बोध होजाता है। अद्वैत (वेदांत) और सांख्य मतवाले इस नय को मानते हैं।

(३) 'व्यवहारनय'। "वि विशेषनयैव सामान्यमवहरति" अर्थात् जो सामान्य को विशेषतया ही स्वीकार करता है, वह व्यवहार नय है। इस नय वाला मुख्यतया विशेष धर्म को ही ग्रहण करता है। जैसे जीव विषयवासनासहित कर्म वाला है। इस में शरीर और विषयेच्छा ये दोनों कर्म हैं, सो सिद्ध के नहीं है। इस लिये कर्म है सो जीवकी पर्याय है, परन्तु सत्तारूप नहीं है। क्योंकि कर्म से बदलता जाता है। जैसे जीव के दो भेद हैं—ग्रंथी अभेदी सो अभव्य, और ग्रन्थी भेदी सो भव्य। भव्यजीव के दो भेद हैं-मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी। सम्यक्त्वी जीव के दो भेद हैं—देशविरति, और सर्व विरति। (पंचमहाव्रत धारी) सर्व विरति जीव के दो भेद हैं—प्रमत्त और अप्रमत। अप्रमत्त के दो भेद हैं—श्रेणि अप्रतिपन्न और श्रेणिप्रतिपन्न। श्रेणिप्रतिपन्न के दो भेद हैं—सवेदी और अवेदी। अवेदी के

—"पाग भाग सूरत शकल, वाणी चाल विवेक।
ऐता मिलाया नहीं मिले, देखे नर अनेक।"

इससे जाना जाता है कि सामान्य विना विशेष नहीं, और विशेष विना सामान्य नहीं। वस्तु मात्र मे सामान्य और विशेष दोनों धर्म पाते है, परन्तु नय भेद से इनके मानने में फरक पड़ता है।

दो भेद हैं-सकषायी और अकषायी। अकषायी के दो भेद हैं-उपशांत मोही, और क्षीण मोही। क्षीण मोही के दो भेद हैं-छद्मस्थ और केवली। केवली के दो भेद हैं-संयोगी और अयोगी। अयोगी के दो भेद हैं-संसारी और सिद्ध। इस प्रकार व्यवहार नय, संग्रह नय द्वारा ग्रहण करी हुई वस्तु के भेदान्तर करता है। चार्वाकमतावलम्बी इस नय को मानते हैं।

(४) "ऋजुसुत्रनय"। ऋजु का अर्थ सरल है और सूत्रका अर्थ बोध है। अर्थात् जो सरल रूपसे बोध कराता हो उसे ऋजु सूत्र नय कहते हैं। इस नय वाला केवल वर्तमान काल की बात को ही मानता है। क्योंकि वस्तु के अतीत पर्याय का तो नाश होगया है और अनागत पर्याय की उत्पत्ति नहीं हुई है, केवल वर्तमान ही समुपलब्ध है। जैसे कोई वस्तु गत काल में काले रंग की थी, वर्तमान में लाल होगई है और आगामी काल में पीली होने वाली है। इस दशा में ऋजु सूत्र, भूत भविष्य की पर्याय का त्याग कर, केवल वर्तमान में लाल दिखती हुई पर्याय को ही ग्रहण करता है। बौद्ध दर्शन वाले इस नय को मानते हैं।

(५) "शब्दनय"। "शप्यते आहूयते वस्तु अनेन इति शब्दः" अर्थात् जिससे वस्तु बोलने में आवे सो शब्द। और एक वस्तु के अनेक नाम के शब्दों का एक ही अर्थ समझे सो शब्द नय। जैसे कुंभ, कलश, घट, इत्यादि शब्दों का अर्थ एक घडा ही समझता है। वह भी पृथु (पहोला) बुध्न (गोल) संकुचित उदर वाला मिट्टीका बना हुआ और प्रवाही पदार्थ को संग्रह कर सकने में समर्थ, ऐसे भाव (गुण) संयुक्त पदार्थ को घट मानता है। भाव यह है कि शब्द के वाच्यार्थी पर्याय को मानने वाला शब्द नय है।

(६) "समभिरुढ नय"। स सम्यक् प्रकारेण पर्यायशब्देषु निरूक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरुढ." अर्थात्-जो जो पर्याय जिस जिस अर्थ के योग्य हो, उस उस पर्याय को उसी उसी अर्थ में अलग अलग माने, शब्द के अर्थ की उत्पत्ति में लक्ष रक्खे सो समभिरूढनय। * जैसे जिसमें घट घट

* शब्द नय वाला, शब्द पर्याय भिन्न भिन्न होते हुये भी शब्द को एक ही अर्थ का वाचक समझता है, और समभिरुढ नय वाला प्रत्येक शब्द का अलग अलग अर्थ करता है, इतना ही इन दोनों नयों में भेद है।

शब्द की ध्वनि होती होगी उसे ही घट कहेगा, खाली को नहीं।

(७) "एव भूत नय" । एव—इसी प्रकार × भूत—तुल्य जैसा । अर्थात् जो पदार्थ अपने गुणों करके पूर्ण हो और जिस क्रिया के योग्य हो, उस ही क्रिया में लगा हो—वही क्रिया करता हो और उस ही क्रिया में उस के परिणाम होवें, उसे एवं भूत नय कहते हैं। जैसे घड़ा पाणी से भरा हो, स्त्री के सिर पर धरा हो, मार्ग में लेजारहा हो, घट घट शब्द कररहा हो, उसेही एवंभूत नयवाला 'घडा' कहेगा न कि घर में पड़ेहुये को। पांचमी छठी—सातमी इन तीनों नयोंको व्याकरणज्ञ लोग मानते हैं।

इन सातों नयों का दो नयों में भी समावेश होजाता है। प्रथम की चार नयों को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, क्योंकि ये द्रव्य के अस्तित्व को ही मुख्यता में ग्रहण करते हैं। जैसे १ नैगम नय वाले जीवको गुण पर्यायवंत कहते हैं। २ संग्रह नय वाले असंख्यात प्रदेशात्मक को जीव कहते हैं। ३ व्यवहार नय वाले संसारी और सिद्ध यों भेदात्मक विवक्षा करते हैं। ४ और ऋजु सूत्र नय वाले सोपयोगी जीव कहते हैं। इस तरह ये चार नय द्रव्य की मुख्यता करते हैं। और पीछे की तीन नयों को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। क्योंकि ये पर्याय भाव के अस्तित्व को ही मुख्यता में ग्रहण करती हैं, इसलिये ये मात्र भाव निक्षेप को ही स्वीकार करती हैं। तथा पहिली नय से दूसरी नय अधिक शुद्ध, दूसरी से तीसरी नय अधिक शुद्ध, यों सातों ही नय उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध हैं। और पहिली नय दूसरी नय से अधिक विषय वाली, दूसरी नय तीसरी नय से अधिक विषय वाली, यों पहिली की नय आगे की नयों से अधिक विषय वाली है। जैसे १ संग्रह नय मात्र सामान्य को ही ग्रहण करती है, और नैगम नय सामान्य विशेष दोनों को ग्रहण करती है २ व्यवहार नय एक आकृति युक्त विशेष वस्तु को ही ग्रहण करती है, और संग्रह नय जिसमें आकृति उत्पन्न होने की सत्ता है, उसे भी ग्रहण करती है। जैसे व्यवहार नय वाला मृत्तिका ने जो घटकी आकृति धारण करी है, उसेही घट कहेगा और संग्रह नय वाला जिस मृत्तिका के पिंडका घट बनता है उसे भी कह देता है। ३ ऋजु सूत्र नय, मात्र एक वर्तमान काल

को ही मानता है और व्यवहार नय तीनों कालों को मानता है ४ शब्दनय वचन के लिंग में भेद नहीं मानता है और ऋजु सूत्र नय वचन के लिंग आदि का भिन्न भिन्न भेद करता है। ५ समभिरूढ़ नय अर्थ वाचक पर्याय का ही ग्रहण करता है और शब्द नय एक पर्याय का ग्रहण करके इंद्र शक्र आदि शब्दों को ग्रहण करता है ६ एवंभूत नय प्रति समय क्रिया करने के भाव को ही ग्रहण करता है और समभि रूढ नय सक्रिय को ग्रहण करता है। ऐसे सातों ही नय एकेक से अल्पविपयी है।

ये सातों ही नय अपने अपने स्वरूप का अस्तित्व कायम करती हैं और दूसरी नयों के प्रति उदासीनता दर्शाती हैं। वैसे सब नय भिन्न-भिन्न अर्थ के ग्राही हैं। क्योंकि एवंभूतनय के अर्थ को अगर समभि रूढ़नय भी ग्रहण करने लग जाय तो एवंभूत और समभिरूढ दोनों नय एक ही होजायँगी—पृथक् पृथक् नाम रखने की फिर जरूरत ही क्या ? इसलिये समस्त नय अपना अपना अस्तित्व कायम करती हुई दूसरी नयों के प्रति उदासीनता न रक्खे तो वे दुर्नय तथा नयाभास कहलायँगी।

नयाभास का लक्षण 'स्वाभिप्रेतात् अशात इतराशापलापी नयाभास' है। अर्थात्—पदार्थ के अपने इष्ट अंश से दूसरे अंश का निपेध करे और शुद्ध नय जैसा मालूम दे तो उसे नयाभास कहते हैं। इसलिये जो एकान्त नय का ग्रहण करते हैं वे दुराग्रही एवं ज्ञान मूढ कहे जाते हैं, ऐसा जान कर ज्ञानियों को विशुद्ध नय का ही ग्रहण करना चाहिये।

अब कोई प्रश्न करे कि जब सातो नय भिन्न भिन्न अभिप्राय वाले हैं तो सातों का एक ही वस्तु में समावेश किस तरह होसकता है ? यहां उक्त प्रश्न का समाधान एक दृष्टान्तद्वारा करते हैं:—जैसे एकही पुरुष पिता की अपेक्षा से पुत्र है, पुत्र की अपेक्षा से पिता है, दादा की अपेक्षा से पोता है, पोता की अपेक्षा से दादा है, मामा की अपेक्षा से भाणजा है, भाणजा की अपेक्षा से मामा है, काका की अपेक्षा से भतीजा है, भतीजा की अपेक्षा से काका है, और स्त्री की अपेक्षा से पति है—यों सातों ही पक्ष एक पुरुष पर, अपेक्षा वाद से लागू होते है। परन्तु ऐसा नहीं समझिये कि पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा तो वह सबही का पुत्र समझा जायगा।

इस भांति सातों नय परस्पर भिन्न होकर भी सबकी सब एक वस्तु पर लागू होती हैं और इसेही सापेक्ष व्यवहार कहते हैं। यही सम्यक् ज्ञान का कारण है। उपरोक्त दृष्टान्त से विचारने पर सातों नयों का भिन्न भिन्न स्वरूप और सातों नयों का एक ही पदार्थ पर लागू होना, स्पष्टतः दीखता है—किसी भी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने का कारण ही नहीं रहता है—और प्रत्यक्ष दीखता है कि एक नय के ज्ञान से अधिक नय का ज्ञान वाला पुरुष अधिक प्रज्ञाशील होता है—ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही जाती है।

यह नय का ज्ञान बड़ा ही गहन है। सर्वज्ञ के सिवाय कोई भी पार नहीं पा सकता है। बड़े बड़े विद्वान् आचार्यों ने नय ज्ञान सम्बंधी अनेक ग्रन्थों की रचना रची और अन्त में लिख दिया कि—

इति नयवादाश्चित्राः क्वचिद्विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः।
लौकिक—विषयातीता स्तत्व—ज्ञानार्थमधिगम्या :॥

यह नय वाद विचित्र है, अनेक प्रकार का है, कहीं कहीं विरुद्ध जैसा भी दीखता है, परन्तु वस्तुतः विशुद्ध निर्मल होता है। यह नयों का ज्ञान लौकिक विषय से तो बाहिर है, परन्तु तत्व ज्ञानियों को तो बहुत ही जानने लायक है।

नैकान्तसंगतदशा स्वयमेव वस्तु।
तत्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्त.॥
स्याद् वाद शुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो।
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलघयन्तः॥

अर्थात्—आत्मार्थी संत, जिन भाषित स्याद्वाद न्याय रूप दृष्टि के द्वारा सर्व वस्तुओं को सहज भाव से अनेकान्तात्मक देखते हैं, जिससे वे परम विशुद्ध निर्मल ज्ञान के धारक होते हैं।

इस प्रकार बहुसूत्रीजी, नयों द्वारा सूत्रार्थ को स्वयं जानते हैं और श्रोताओं को यथातथ्य रूप मे प्रगमाते हैं।

निक्षेप का स्वरूप ।

किसी भी वस्तु का चार प्रकार से निक्षेप तथा आरोप किया जाय सो निक्षेप कहलाता है ।

(१) आकार और गुण आदिक की अपेक्षा के विना मात्र किसी भी नाम से किसी वस्तु का व्यवहार करे सो "नाम निक्षेप" । जैसे ज्ञानचंद, जीवराज, साधूराम आदि ।

(२) किसी भी वस्तु का किसी भी प्रकार का आकार होवे या बनावे सो " स्थापना निक्षेप " । जैसे जीव का चित्र सो जीव की स्थापना, पुस्तक सो ज्ञान की स्थापना और साधू का बाह्यरूप सो साधू की स्थापना ।

(३) भूत और भविष्यत् कार्य होने के प्रति जो कारण रूप होवे सो " द्रव्य निक्षेप " । जैसे जहांतक निजात्म ज्ञान न हो वहांतक द्रव्य-जीव ।बोध यानी समझ रहित सो द्रव्य ज्ञान ।और गुण रहित एवं वैराग्य रहित सो द्रव्य साधू आदि ।

इन तीनों निक्षेपों को अनुयोगद्वार शास्त्र में "अवत्थू" यानी शून्य कहा है ।

(४) तद्रूप यथानाम तथा गुण होवे सो "भाव निक्षेप" । जैसे–निजात्म स्वरूप का जिसे ज्ञान होवे सो भाव जीव । अर्थ–परमार्थ की समझ से ज्ञान होवे सो भाव ज्ञान । और विभाव के त्याग से स्वभाव में रमण करे सो भाव–साधू ।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप तो भाव निक्षेप के निमित्त कारण हैं, और द्रव्य निक्षेप भाव निक्षेप का उपादान कारण है ।

प्रमाण का स्वरूप ।

जिस के द्वारा वस्तु के वस्तुत्व का बोध होवे सो "प्रमाण" । वह चार प्रकारका है:–(१) शास्त्र द्वारा जिसका बोध हो सो "आगमप्रमाण" । (२) किसी अन्य की उपमा देने से जो बोध हो सो "उपमा प्रमाण" । (३) अनुमान लगाकर वस्तु का जो बोध हो सो "अनुमान प्रमाण" । (४) और वस्तु को प्रत्यक्षतः देख कर जाने सो "प्रत्यक्ष प्रमाण" ।

अनुयोग का स्वरूप।

हेय-छोड़ने योग्य, ज्ञेय-जानने योग्य और उपादेय आदर ने योग्य बातों का जिससे पूर्ण ज्ञान होवे, उसे उपयोग कहते हैं। वह चार प्रकार का है–(१) परम पुण्यात्मा त्रेसठ शला का पुरुष आदि सत्पुरुषों के भवान्तर आदि का कथन सो "धर्म कथानुयोग"। २ लोकालोक के आकार का और उसमें रहे हुए चन्द्र सूर्यादि पदार्थों का कथन सो "गणितानुयोग" (३) स्वमती अन्यमती की एवं साधू श्रावक की क्रिया का कथन सो "चरण करणानुयोग" (४) और नय निक्षेप प्रमाण आदि द्वारा संशय और विपर्यय रहित सत् जैन मत के स्वरूप का कथन होवे सो "द्रव्यानुयोग"।

व्यवहार और निश्चय का स्वरूप।

व्यवहार के दो भेद हैं—अशुद्ध व्यवहार और शुद्ध व्यवहार। अशुद्ध व्यवहार के पांच भेद हैं–१ अशुद्ध, उपचरित, अशुभ, शुभ और अनुपचरित। अब इन पांचों का खुलासा कहते हैं—(१) जीवों के सत्ता में राग द्वेषादि रूप अशुद्धि अनादि काल से लगी हुई है, सो अशुद्ध व्यवहार (२) कोई जीव, घर आदि स्थावर द्रव्य और पुत्र आदि जंगम द्रव्य–इत्यादि अपने से प्रत्यक्षतः भिन्न भिन्न वस्तुओं को भी ऋजु सूत्र नय के उपयोग से अपनी करके माने एवं उनका स्वामी बने सो अशुद्ध उपचरित व्यवहार। और धर्म स्थान, * ज्ञानोपकरण, धर्मोपकरण आदि स्थावर वस्तु और गुरु शिष्य श्रावक आदि जंगम वस्तु प्रत्यक्षतः अपने से भिन्न है तो भी ऋजुसूत्र नय के उपयोग से आप उनका मालिक बने सो शुद्ध उपचरित व्यवहार (३) कोई जीव, अठारह प्रकार के पाप उपार्जित करनेवाले कार्य तथा ससार व्यवहार साधने के लिये विवाह मृतकभोज

---

* श्री सुयगडागजी सूत्र के दूसरे श्रुतस्कध के सात वे अध्याय मे कहा है कि— लेप नामक श्रावक ने अपने मकान बनाते समय बचे हुये ईंट—चूना-लक्कड़ वगैरह द्रव्यों से एक शाला (उपाश्रय) बनाई थी। जिसका नाम शेष द्रविक उदक शाला रक्खाथा। उस में श्री गौतम स्वामी जी विराज मान हुये थे। धर्म स्थान बनाने वालों को यह बात ध्यान में लेने की है।

व्यापार आदि कार्य ऋजुसूत्र नय के उपयोग से करे सो अशुद्ध व्यवहार (४) कितनेक धर्मात्मा जीव, अठारह पाप के कामों का त्याग करके दान-शील-तप-भाव-करुणा-यत्ना-भक्ति-आदि ऋजुसूत्र नय के उपयोग से करें सो शुद्ध व्यवहार (५) शरीर आदि द्रव्य, सो कर्मरूप पर वस्तु हैं, इनको अज्ञानता के जोर से ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से अपनी करके माने सो अनुपचरित व्यवहार। इस भांति अशुद्ध व्यवहार नय के पांच भेदों का स्वरूप कहा।

उक्त अशुद्ध व्यवहार नय में जो पांच तरह से काम करने के लिये कहा है, वे काम गये काल में किये, वर्तमान काल में करे और आगामी काल में करेगा सो नैगम नय। शुभ व्यवहार और शुद्ध उपचरित व्यवहार तो शुभ कर्म के दलिये का संचय करे, और अशुद्ध-अशुभ-उपचरित-और अनुपचरित इन की प्रणति में प्रणम कर अशुभ कर्म के दलिये का संचय करे सो संग्रह नय। शुभा-शुभ कर्मों का बन्धन हुआ सो व्यवहार नय। गये काल में ग्रहण किये हुये दलिये का बन्ध वर्तमान में सत्ता रूप रहे और उनको आगामी काल में भोगेगा सो नैगम नय के मत से व्यवहार। और स्थिति परिपक्व होने पर उदय हुये कर्मों को सम्यक्त्वी उदासीन भाव से भोगवे और मिथ्यात्वी लुब्ध भाव से भोगवे सो बाधक व्यवहार। यों अशुद्ध व्यवहार पर नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र-ये चार नय लागू होती है।

अब शुद्ध व्यवहार नय का स्वरूप कहते हैं-शब्द नय के मत से सम्यक्त्व से लगा कर प्रमत्त अप्रमत्त गुण स्थान वर्ती साधू साध्वी श्रावक श्राविका जो शुद्ध व्यवहार नय से प्रवर्तते हैं उन में पांच नय मिलती हैं। आठोंही रुचक प्रदेश त्रिकाल में सिद्ध जैसी निर्मल अवस्था को धारण कर रहे हैं सो नैगम नय। सिद्ध जैसी आत्म सत्ता असंख्यात प्रदेशी है सो संग्रह नय। गुण स्थान के गुण एवं आचारके अनुसार प्रवृत्ति सो व्यवहार नय। संसार से उदासीनता वैराग्य रूप प्रणाम की धारा प्रवर्ते सो ऋजुसूत्र नय। जीवाजीव द्रव्य रूप अपना पराया अलग अलग जानने का भेद विज्ञान सो शब्द नय। इस प्रकार दृष्टि से देखने है

एक शब्द नय है, और अंतर दृष्टि से देखते हैं तो पांच नय मिलते हैं। यह शुद्ध व्यवहार नय, शब्द नय के मत से कही।

अब समभिरूढ नय के मतसे शुद्ध व्यवहार नय का स्वरूप कहते हैं। अष्टम गुण स्थान से लगाकर तेरह में चौदह में गुण स्थान वर्ती जीव, शुद्ध व्यवहार नय के अनुसार वर्तने वाले है (१) तीनही कालमें आठ रुचक प्रदेश निरावरण हैं, सो नैगम नय (२) जैसी सिद्ध की सत्ता को पहिले जानते थे वैसी ही प्रगट हुई सो संग्रह नय (३) अंतःकरण में निजात्म स्वरूप में रमण रूप क्रिया और बाह्य करणी का कारण सो व्यवहार नय (४) शुद्ध उपयोग में प्रवृत्ति सो ऋजुसूत्र नय (५) क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रगटे सो शब्द नय (६) और शुक्ल ध्यान के दूसरे तीसरे पाये वर्ते सो समभिरूढ़ नय। ऐसे केवली भगवंत में व्यवहार दृष्टि से देखें तो एक समभिरूढ़ नय है, और अंतरंग में निश्चय दृष्टि से देखें तो उक्त छः नय पाती हैं।

अब शुद्ध निश्चय व्यवहार नय का स्वरूप कहते है— एवंभूत नय के मत से, जो सिद्ध भगवान् अष्टकर्म के क्षय होने से अष्टगुण—संपन्न लोकान्त में विराजमान सादि अनंतवें भांगे वर्तते है, उन में शुद्ध निश्चय नय पाती है। और उन में जो सातों नय उतारें तो—१ सिद्ध परमात्मा के आठ रुचक प्रदेश गये काल में आवरण रहित थे, वर्तमान में हैं, और आवते काल में रहेंगे सो नैगम नय (२) सिद्ध की आत्म—सत्ता निरावरण अंतःकरण शुद्ध निर्मल जैसी थी वैसी है सो संग्रह नय (३) सिद्ध प्रभू के ज्ञान में संसार में के समस्त द्रव्यों के उत्पाद व्यय ध्रुवभाव को जाने सो व्यवहार नय, (४) सिद्ध परमात्मा अपने प्रणामिक भाव में रहे हुये सामान्य विशेष रूप उपयोग में सदा काल वर्ते सो ऋजुसूत्र नय (५) पहिले भेद विज्ञान के होने से क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रगट हुये थे सो वर्तमान मे भी हैं सो शब्द नय (६) अनंत ज्ञानादि चतुष्टय रूप जो लक्ष्मी प्रगट हुई है, वह उनही के पास है सो समभिरूढ नय (७) और सिद्ध परमात्मा के अष्ट कर्म नाश हुये, जिस से अष्ट गुण की प्राप्ति हुई और लोक के अग्रभाग में विराजमान हुये सो एवं भूत नय।

यों व्यवहार नय मे तो सिद्ध प्रभू में एक एवं भूत नय है, और अंतरंग दृष्टि से देखेंतो कार्य रूप सातों ही नय मिलती हैं।

यों नय–निक्षेप–प्रमाण–अनुयोग–निश्चय- व्यवहार आदि के द्वारा बहुसूत्री जी भगवंत पूर्वोक्त द्वादशांग सूत्र तथा अन्य गणधर आचार्यों के रचित ग्रन्थ, जिस काल में जितने होवें उन सबके जानकार होवें। और ज्ञान श्रवण करने के रसीले श्रोता गणों की परिषद के मध्य भाग में विराजमान होकर, जब वर्षाकालीन मेघ की गर्जना के समान गर्जते हुये स्याद्वाद शैली से व्याख्यान फरमाते है, उसवक्त " अजिणा जिण संकासा जिनेश्वर तो नहीं हैं परन्तु जिनेश्वर जैसे मालूम पड़ते हैं। ऐसे उपाध्याय भगवंत की श्री उत्तराध्यनजी सूत्र में १६ उपमाएँ वर्णन की हैं। वे यहां कहते हैं:—

(१) "शख" जैसे शंख में यरा हुआ दूध दोनों के उज्ज्वल होने से अधिक शोभता है, तैसे ही सद्गुणों के द्वारा बहुसूत्री जी उज्ज्वल हैं और उनमें भरा हुआ ज्ञानादिगुण स्वाभाविक उज्ज्वल होने से शोभता है। जैसे शंख में दूध का विनाश नहीं होता है, तैसे बहुसूत्री के भी ज्ञानका विनाश नहीं होता है। क्योंकि चोयणा प्रति चोयणा सदा होती रहती है जैसे वासु देव के पंचायण शंख के प्रबल नादसे शत्रुओं का नाश होता है। तैसे बहुसूत्रीजी के प्रबल सद्बोध से पाखंड का नाश होता है। इत्यादि गुण से बहुसूत्रीजी शंख जैसे है।

(२) "अश्व" जैसे कंबोज देश में उत्पन्न हुआ जातिवंत घोड़ा शीघ्र गति आदि गुणों से शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी उत्तम जाति में उत्पन्न हुए और उत्तम आचार्य के पास अनुष्टुप् उपजाति, आर्या आदि छंदों मे शास्त्रोच्चारण की रीति सीखे हुये, मधुर स्वाध्याय गुणो से शोभते हैं। जैसे जातिवंत घोड़ा सुशीलवंत सुलक्षण वंत होता है तैसे बहुसूत्री जी भी शुद्ध आचार वंत और सुलक्षणवंत तेजस्वी होते है। जैसे जातिवंत अश्व सवार की आज्ञानुसार चलता है और अपने उत्कृष्ट गति के वेग से महा संग्राम में से अपने स्वामी को अखंड बचालेता है, तैसे बहुसूत्री जी गुरु की आज्ञा में चलते है और पाखंडियों के समूह में भी जैन मार्ग की

विजय करते है। जैसे जातिवंत अश्व तोप आदि के भयंकर शब्द से और शस्त्र के प्रहार से भी त्रास नहीं पाता हुआ अचल स्थिर रह कर शत्रुओं पर स्वामी की विजय कराता है, तैसे बहुसूत्री पाखंडियों के आडम्बर से तथा उपसर्गों से बिलकुल ही त्रास नहीं पाते हुये स्थिर रह कर उनका पराजय करते हैं। जैसे उत्तम अश्व महाराजाओं का माननीय पूजनीय होता है, तैसे बहुसूत्री जी नरेन्द्र सुरेन्द्र के माननीय पूजनीय होते हैं।

(३) "सुभट"। जैसे पालण (खोगीर) आदि अनेक भूषणों द्वारा सुसज्जित अश्वपर बैठा हुआ शूरवीर योद्धा दोनों तरफ बाजित्रों के नाद और वंदीजनों की विरुदावली से शोभता है तैसे बहुसूत्रीजी विचित्र अधिकारों द्वारा सुसज्जित शास्त्र रूप अश्वपर आरूढ़ हुये पांच प्रकार के स्वाध्याय रूप बाजित्रों और शिष्यों के आशिर्वाद रूप शुभ विरुदावली से शोभते हैं। जैसे शूर सुभट अनेक शस्त्रसंयुक्त वैरियों के फंदे में फंसकर भी अपनी हिम्मत से निडर पने रहता हुआ फतेह करता है, तैसे बहुसूत्री जी अनेक निजागम रूप शस्त्र कवचादि से संयुक्त अन्यमतियों के किये हुये अनेक परिसहों एवं उपसर्गों से अड़िग रहकर उनका पराजय करते हैं अर्थात् उनको भी सुधारकर सन्मार्ग में लगाते हैं।

(४) "हाथी"। जैसे साठ वर्ष की पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान हाथी, अनेक हथणियों के परिवार से परिवरा हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी शास्त्र का पूर्ण परिचय करके पूर्ण अवस्था जैसी प्रबल बुद्धि को प्राप्त हुये अनेक विद्यार्थी पाठकों से परिवृत शोभते है। जैसे हाथी शरीर आदि संपदा के द्वारा चतुरंगणी सेना में अग्रणी होता है, तैसे बहुसूत्री जी सूत्र ज्ञान आदि संपदा के द्वारा चारोंतीर्थ रूप सेना में अग्रणी होकर शोभते है। जैसे हाथी दोनों तीक्षण दाँतों से पर चक्री की सेना का पराभव करता है, तैसे बहुसूत्री जी निश्चय व्यवहार रूप तीक्षण दाँतों से पाखंडियों का पराभव कर शोभते है।

(५) "वृषभ"। जैसे बैल—सांड तीक्षण शृंग युगल और पुष्ट स्कन्ध से युक्त, गायों के परिवार से परिवरा हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप वृषभ, निश्चय व्यवहार रूप शृंग युगल और द्वादशांगी के ज्ञान

की पूर्णता रूप पुष्ट स्कन्ध से युक्त, साधू साध्वियों के परिवार से परि-वृत्त, पाखंडियों का मान मर्दन करते शोभते है। जैसे धोरी बैल लिये हुये भार को प्राणान्त संकट का भी सामना करता हुआ अचल भाव से पार पहुचाता है, तैसे बहुसूत्री संयमरूप भार या प्रतिज्ञारूप भार को परिग्रह उपसर्ग से विचलित न होते हुये पार पहुँचाते हैं।

(६) 'सिंह'। जैसे केशरी सिंह तीक्षण दाढ़ों और तीक्षण नखों के बलपर किसी से भी पराभव नहीं पाता है, और मृग आदि वनचर पशुओं के अधिपति के रूप में बन कर शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सिंह सात नय रूप तीक्षण दाढ़ों तथा तर्क वितर्क रूप तीक्षण नखों के बलपर किसी भी परवादी से पराभव नहीं पाते हुये वितंडा (मिथ्यावादी) रूप पशुओं का पराभव करते शोभते हैं।

(७) 'वासुदेव'। जैसे वासुदेव महारथ में आरूढ़ हुये शंख चक्र गदा आदि शस्त्रों द्वारा वैरियों से अप्रतिहत रहते हैं और अपने पराक्रम से शोभते है, तैसे बहुसूत्री जी रूप वासुदेव ज्ञान दर्शन चारित्र रूप शस्त्रों से सज्जित एवं शील रूप रथ में विराजित होकर क्षमा रूप कवच धारण किये हुये अपने पराक्रम से कर्म शत्रुओंका नाश करते शोभते हैं।

(८) "चक्रवर्ती"। जैसे चक्रवर्ती महाराजा चौदह रत्न नवनिधान आदि ऋद्धि के द्वारा तीन दिशा में समुद्र पर्यंत और उत्तर दिशा में चूल हेमवंत पर्वत पर्यंत संपूर्ण भरत क्षेत्र के छः ही खंडों में एक छत्र राज करते हुये शोभते है, तैसे बहुसूत्री जी रूप चक्रवर्ती चौदह पूर्व के ज्ञान रूप चौदह रत्न नव बाड़ ब्रह्मचर्य रूप नव निधान आदि ऋद्धिके द्वारा ज्ञान रूप चक्रके प्रभाव से संपूर्ण धर्म रूप भरतक्षेत्र में या लोकके अंत तक धर्म राज प्रवर्ताते हुये शोभते हैं।

(९) "शक्रेन्द्र"। जैसे पहिले स्वर्गके देवेन्द्र शक्रेन्द्र जी हजार * आँखों के स्वामी बज्र रूप आयुध के द्वारा सर्व देवताओं पर अपनी आज्ञा प्रवर्ताते हुये शोभते है, तैसे बहुसूत्री जी रूप इन्द्र श्रुत ज्ञान रूप सहस्र

* शक्रेन्द्र जी के ५०० सामानीक देव सदा सम्मतिकार्य में आते हैं। इस लिये उनकी १००० आँखें गिनने से सहस्र चक्षु कहे जाते हैं।

आँखों के स्वामी, दयारूप वज्रायुध से छः ही काय के जीवों की रक्षा करते हुये एवं चारों तीर्थ मे आज्ञा प्रवर्ताते हुये शोभते हैं।

(१०) "सूर्य"। जैसे सूर्य जाज्वल्य मान तेज प्रकाश की वृद्धि करके अन्धकार का नाश करता हुआ शोभता है, तैसे बहुसूत्री रूप सूर्य तप संयम में चढते प्रणाम रूप तेज प्रताप से उत्तम लेश्या रूप जाज्वल्य मान पणे से मिथ्यात्व रूप अन्धकार का नाश करते हुये एवं भव्य जीवों के हृदयकमलों को विकशित करते हुये विशुद्ध मार्ग का प्रकाश करते हैं तथैव शोभते हैं।

(११) "चन्द्र"। जैसे शरद पूर्णिमा का चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र ताराओंके परिवार से परिवरा हुआ सौम्य (शीतल) लेशा से शोभता है, तैसे बहुसूत्रीजी रूप चन्द्रमा मूल गुण उत्तर गुण की अखंडना रूप पूर्ण कलाओं से, क्षमा दया रूप सौम्य लेशा से तथा चार तीर्थ के परिवार से परिवरे हुये जैन धर्म का प्रकाश करते हुये शोभते हैं।

(१२) "कोठार" जैसे धान्य भरने का कोठार चारों तरफ से मजबूत बंदोबस्त किया हुआ सुदृढ कपाटों द्वारा अन्दर भरे हुए मालको मूषक एवं चौर आदि उपद्रवों से बचाकर रक्षा करता है तैसे उपाध्याय जी हृदय कोठार में श्रुत ज्ञान रूप भरे हुये अखूट माल को विषय-कषाय निंदा-विकथा आदि प्रमाद रूप चोरों और मूषकों से बचाकर सदा स्वरक्षण करते-हुये शोभते हैं।

(१३) "जबू वृक्ष" जैसे उत्तर कुरूक्षेत्र में रहा हुवा रत्नों का जंबू सुदर्शन नामक वृक्ष, सर्व वृक्षों में प्रधान, जंबूद्वीप के मालिक अणाढीय देवका स्थान, पत्र पुष्प फल आदि के द्वारा शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप जंबूवृक्ष, सर्व साधुओं में प्रधान उत्तम है दर्शन जिनके-इसलिये सुदर्शन, अणाढी देवके समान तीर्थंकर भगवंत का फरमाया हुवा ज्ञान जिनकी आत्मा में निवास कर रहा है, और दया रूप पत्र यश रूप पुष्प, अनुभव ज्ञान रूप अमृत फलों का स्वाद भव्यों को चखाते हुये शोभते हैं।

(१४) "सीता नदी" जैसे नीलवंत पर्वत के केशरी द्रहमें से निकली हुई सीता नामक महानदी पूर्व महाविदेह के मध्य भागसे बहती

हुई पांच लाख बत्तीस हजार नदियों के परिवार से परवरी हुई समुद्र में मिलती हुई शोभती है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सीता नदी उत्तम कुल रूप नीलवंत पर्वत से निकल कर, श्रुत ज्ञान रूप अनेक नदियों के पानी से भरे हुये संसार के भव्य जीवों का उद्धार करते हुये मोक्ष रूप समुद्र में जाकर मिलते हैं।

(१५) "मेरु"। जैसे सर्व पर्वतों से ऊंचा और प्रधान मेरू नामक पर्वत चार वन और सल्यविसल्यसंरोहनी चित्रावेल संजीवनी आदि अनेक औषधियों से शोभता है, तैसे बहुसूत्री जी रूप मेरु पर्वत सर्व साधुओं में ऊंचे और प्रधान, अनेक लब्धि रूप औषधियों से संपन्न ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-रूप चार बन कर के शोभते हैं।

(१६) "सयभूरमण समुद्र"। जैसे सब द्वीप समुद्रों में अंतिम और सबसे बड़ा * अखूट पाणी से भरा हुआ अनेक रत्नों से सयंभूरमण समुद्र शोभना है, तैसे बहुसूत्री जी रूप सयंभूरमण समुद्र सर्व विद्या के पारगामी, ज्ञान रूप अखूट पाणी से भरे हुये, चारित्र के गुण रूप अनेक रत्नों से भरे हुये शोभते हैं। ऐसी ऐसी अनेक शुभ उपमायुक्त श्री बहुसूत्री जी भगवंत, जैन शासन को दिपाते हैं।

यह बहुसूत्री जी का ज्ञान गुण आश्रित गुणानुवाद किया। अब कुछ चारित्र के गुण आश्रित गुणानुवाद किया जाता है। श्री बहुसूत्री जी भगवंत, करण सित्तरी अर्थात् जो समय समय पर यथावसर क्रिया करनी पड़ती हैं उस के ७० गुण और चरण सित्तरी अर्थात् जो सदा करनी पड़ती हैं ऐसी क्रिया के ७० गुण संयुक्त होते हैं। इसका यहां संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(१-४) आहार, वस्त्र, पात्र, और स्थानक—ये चार निर्दोष भोगवे सो पिण्ड विशुद्धि। (५—१६) 'अनित्य भावना' अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचि भावना आश्रव भावना, संवर भावना, निर्जरा भावना, लोक संठाण भावना, बोधि दुर्लभ

* अर्धराजू क्षेत्र में असख्यात द्वीप समुद्र और अर्धराजू में मात्र एक सयभूरमण समुद्र है।

भावना, धर्म भावना, ये वारह भावनाएँ शुद्धमन से भावें। (१७-२८) पहली एक मासकी प्रतिमा, दूसरी दो मास की यावत् सातमी सात मासकी, आठमी नवमी दशमी सात अहोरात्रि की, ग्यारमी दोदिनकी, वारहमी तीन दिनकी-ये साधूकी वारह प्रतिमा। (२९-३३) श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्श-ये पांच इन्द्रियां वशमें करे। (३४-५८) वस्त्र ऊंचा रक्खे मजवूत पकड़े, जलदी जलदी नहीं करे, आदि से अंत तक देखे-ये चार देखने आश्रित कही। ५ यदि कोई जीव दिखाई देतो वस्त्र थोड़ा झटके, ६ खूब अच्छी तरह पूंजे ७ वस्त्र शरीर नचावे नहीं, ८ वस्त्र मसले नहीं, ९ विना पडिलेहे नहीं रक्खे १० ऊंचा नीचा तिरछा लगावे नहीं, ११ जोर से झटके नहीं १२ जीव को यत्ना से अलग धरे-ये वारह प्रतिलेखना प्रशस्त कही। १३ "आरंभडा" सो जलदी जलदी करे, या विपरीत करे, १४ "समद" सो वस्त्र ममले, १५ "मोसली" सो ऊपर नीचे तिरछी लगावे, १६ "फफोडन" सो जोर से झटके १७ "विखिता" सो वस्त्र विखेरे तथा देखे अनदेखे मिलावे, १८ "वेदिका" सो पांच * प्रकार से विपरीत करे, १९. वस्त्र मजबूत नहीं पकड़े, २० वस्त्र लम्बा करके रखदे २१ वस्त्र धरती पे रुलावे, २२ एकही वार पूरा वस्त्र देखलेवे २३ २४ शरीर को और वस्त्र को हिलावे २५ पांच प्रमादका सेवन करे-ये तेरह अप्रशस्त प्रतिलेखना हैं। सर्व पचीस प्रकार की पडिलेहणा हुई (५९-६१) मन वचन काय-इन तीनों योगों का निग्रह करे। (६२-६५) द्रव्य से वस्तु का, क्षेत्र से स्थानका, काल से समयका, भाव से परिणामका, कि यदि अमुक तरह से योग वनेगा तो ग्रहण करूँगा-ये चार अभिग्रह। (६६-७०) ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपना, परिठावणिया—ये पांच समिति पाले। ये सत्तर गुण करण सत्तरि के हुये

* १ एक गोड़े पर दोनो हाथ रखकर पडिलेहे सो उची वेदिका २ दोनों हाथ गोड़ेसे नीचे रख कर पडिलेहे सो नीची वेदिका ३ दोनों हाथों के वीच दोनों गोड़े रख कर पडिलेहे सो तिरछी वेदिका ४ दोनो गोड़ो के वीच दोनों हाथ रख कर पडिलेहे सो पार्श्व वेदिका ५ दोनो हाथों के बीच एक गोड़ा रखकर पडिलेहे सो एक वेदिका।

(१-५) अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य, निर्ममत्व-ये पांच महाव्रत पाले। (६-१५) खंति, मुत्ति, अज्जव, मद्दव, लाघव, सच्च, संजम, तव, चेइय, ब्रह्मचर्य-ये दश प्रकार का यति धर्म आराधे। (१६-३२) पृथिवी, पाणी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, और अजीव वस्त्रादि इनका रक्षण तथा पिय. उपेहा, पूंजणिया, परिठावणिया, मननिग्रह, वचन निग्रह, काय निग्रह-ये सतरह प्रकार का संयम पाले। (३३-४२) आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, रोगी, स्थविर, स्वधर्मी, कुल, गण, संघ-इन दश की वैयावृत्य सेवा करे। (४३-५१) नव बाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य पाले (देखो प्रकरण १२ वां) (५२-५४ ज्ञान, दर्शन, चारित्र-इनकी आराधना करे। (५५-६६) बारह प्रकार का तप करे (देखो प्रकरण ७ वॉ) (६७-७०) क्रोध, मान, माया, लोभ-इन चारों कषायों को जीते। ये सत्तर गुण चरण सित्तरी के धारक बहुसूत्री जी होते हैं।

और भी बहुसूत्री जी भगवंत (१) स्वमत तथा अन्य मत के शास्त्रों के जानकार होते हैं। (२) आक्षेपिनी, विक्षेपनी, संवेगनी, निर्वेगनी-ये चार प्रकार की धर्म कथा मोटे मंडान से करते हैं (३) धर्म पर कोई अपवाद आपड़े तो उसे दूर करते हैं, श्रुत ज्ञानकी प्रबलता से त्रिकालज्ञ होते हैं (५) उग्र तप करते है, (६) आचार गोचर की कठिन वृत्ति रखते हैं, (७) सर्व विद्या के पारगामी होते है, (८) और ज्ञान गर्भित रसीली कविता करके जैन मार्ग दिपाते हैं। इस भांति आठ प्रकार से जैन मार्ग की प्रभावना करने वाले होते है।

और भी बहुसूत्री जी भगवंत महा विनीत होते है-गुरू आदिक सर्व जेष्ठों के अवर्णवाद कदापि नहीं बोलते हैं, परन्तु उनकी विनय साधते है-भक्ति करते है। चपलता, कपटता, कुतूहल इत्यादि अपलक्षणों से रहित होते है। प्रश्नोत्तर में कितना भी क्यों न परिश्रम हो तो भी ये कदापि संतप्त-एवं क्रोधी नहीं होते हैं। श्रुत ज्ञानादि अनेक गुणों के सागर होते है। सुरेन्द्र नरेन्द्र के पूज्य होकर भी कदापि किंचित् मात्र अभिमान नहीं करते हैं। धर्मोपदेश वगैरह वार्तालाप में बहुत ही मधुर

भापी होते हैं। निंदकों तथा द्वेपियों के साथ भी मिष्ट वचनों से बोलते हैं। सदा क्लेश–कदाग्रह घटानेका ही प्रयत्न करते हैं। शांत दांत आदि अनेक गुण गणोंके सागर, सद्बोध से धर्म वृद्धि एवं तप वृद्धि करते हैं। इसी तपके वर्णन करने की अभिलापा रख कर, प्रथम श्री बहु सूत्री जी भगवंत को नव कोटि विशुद्ध वंदना नमस्कार करता हूं। कृपा निधे! दास की वंदना स्वीकार कीजिये।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "बहुसूत्री
गुणानुवाद" नामक षष्ठ प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–सातवाँ

—:०:—

"तपस्वीगुणानुवाद"



स्त्र में मुक्ति प्राप्त करने के ज्ञान–दर्शन–चारित्र और तप ये साधन फरमाये हैं, जिसमें का सर्वोपरि साधन 'तप' नामक चौथा साधन है। तप यह आत्मा का निजगुण है–अर्थात् आत्मा अनादि काल से तपस्वी है, और भविष्य में अनन्त काल तक तपस्वी रहेगा। यद्यपि हम कुछ जीवों को भोगोपभोग भोगते हुये देखते हैं, परन्तु वे भोगोपभोग आत्मा (जीव) नहीं भोगता है। जीवात्मा तो सदा अनाहारिक–अभोगी है, अरूपी आत्मा रूपी पुद्गलों का भोग कदापि नहीं कर सकता है। यह तो पुद्गलों का भोग पुद्गलही करते हैं, परन्तु संसारी आत्मा अज्ञानता से या अनादि सम्बन्ध के कारण उन पुद्गलों के भोग को अपना ही भोग समझकर सुख दुःख वेदता है। अर्थात् जब इच्छित मनोग्य पदार्थ भोगने में आते हैं, तब अहा अहा करके खुशी होता है कि क्या मजा आया है, परन्तु यह

मज़ा नहीं है—दुःख ही है। क्योंकि भोग के पदार्थ उत्पन्न करते समय बड़ी मुशीबत भोगनी पड़ती है। खेत में धान बोने से लगाकर अपने संमुख आवे वहां तक उसके लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है, उसे जरा अन्तर दृष्टि से विचारिये। और भोगते समय उसके स्वाद का कितनी देर सुख रहता है, और भोगने के पश्चात् शरीर में परगम कर एवं विकार उत्पन्न कर शरीर की और उन भोगे हुये पुद्गलों की क्या दशा होजाती है, इत्यादि विचार करने से माल्म पड़ जायगा कि भोगोपभोग में जो अज्ञानी सुख मानते हैं सो झूठ है—अर्थात् सुख नहीं है। और उन इच्छत वस्तुओं का कभी जोग नहीं बने तो भी दुःख ही होता है, कि हाय! भूख लगी—प्यास लगी—इत्यादि किसी भी प्रकार की इच्छा की अपूर्णता रहने से अनेक प्रकार से संक्लेश प्रणाम होने से दुःखी बनता है। यह जो भोगोपभोग की इच्छा है सो अष्ट कर्म में से तीसरे वेदनीय कर्म की प्रबलता का मुख्य कारण है। आहार की इच्छा को क्षुधा वेदनी कहते हैं, इस वेदनी से संसारी जीव सर्वदा पीड़ित हो रहे हैं। कितनेक नर्क तिर्यंच मनुष्य योनि के पापी जीवों को अमर्याद भाव से निरंतर आहार की इच्छा होती है, वे कितना भी भोगलेवें तो भी उनकी इच्छा तृप्त नहीं होती है, और पापोदय से तेतीस तेतीस सागरोपम पर्यंत उनको किंचत् भी इच्छित भोग का पदार्थ भोगने को नहीं मिलता है। और कितनेक पुण्यात्मा मनुष्य तथा तिर्यंचको तीन तीन दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है, कि तुरंत कल्पवृक्ष इच्छित पदार्थ देकर उनकी इच्छा पूर्ण कर देते हैं। तथा सर्वार्थसिद्ध के देवों को तेतीस हजार वर्ष में आहार की इच्छा होती है और तुरंत रोम रोम से रत्नों के शुभ पुद्गल ग्रहण कर इच्छा पूर्ण होती है। परंतु इच्छा है सो ही दुःख है।

"मनहरछन्द"

दीयो भोग भारी पे अघातु न पाप कारी,
याते इच्छा चारी पेट चेट का करारी है।
यामें चीज डारी ते ते कामहीतें टारी,
ऐसी कीसन निहारी यह कोटरी अन्धारी है।

कहाँ नर नारी सिद्ध साधक धर्म धारी,
पेट के भिखारी प्रीति पेटही तें टारी हैं।
पेट वारी थारी न्यारी, न्यारी हैं गुन्हे गारी,
पेटही विगारी सारी पेट ही विगारी हैं॥

जो इस भयंकर दुःख से निर्वृत्त होने का उपाय करते हैं, वेही तपस्वी जी कहलाते हैं। ये तपस्वीजी अव्वलतो इस दुःख की उत्पत्ति के कारण से वाकिफ होते हैं।

(१) मुख्य कारण तो पुद्गल पुद्गलों का भक्षण कर रहे हैं, जिसे मै ही भक्षण करता हूं—ऐसा मानने का अनादि काल से आत्मा का स्वभाव पड़ रहा है। वह स्वभावही हर वक़्त आत्मा को सताता है।

सो नत्थिदव्व सवणो , परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
तत्थ न जाओ न मड , तिल लोय पमाणिउसद्यो॥ ३३॥
तेयाला तिणिसया , रज्जूणय लोए खेतपरीमाण।
मुतुनठ पएसा , जत्थण डुरुडुल्लिओ जीवो॥ ३४॥
—भाव पाहुड

अर्थ—यह संपूर्ण लोक ३४३ राजू का है। इसमें केवल ८ रुचक प्रदेश जितनी जगह छोडकर बाकी का सर्व लोक यह जीव जन्म मरण कर स्पर्श आया है। एक प्रमाणु भी ऐसा नहीं है कि जो जीव के भोगोपभोग में नहीं आया हो। अर्थात् सब ही का भोग कर आया है।

(२) यह आत्मा जगत् के सर्व पदार्थों का भोग अनंती वार कर आया तो भी तृप्ति हुई नहीं। तथा रागद्वेष की प्रणति में प्रणम कर किसी भव में किन्हीं पदार्थों को पवित्र—मनोज्ञ—पथ्य समझ कर भोगा और किसी भव में उनहीं पदार्थों को अपवित्र—अमनोज्ञ—अपथ्य समझ कर छोड़ा, और उनके प्रतिपक्षियों को मनोज्ञ जान कर भोगा, ऐसेही यहां भी जीव अच्छे बुरे पदार्थों को देखकर राग द्वेप की प्रणति में आता है और प्रेम भाव कलुप भाव करके सुखी दुःखी होता है।

(३) पुद्गलो के मोह मे या अज्ञानता के भ्रम से पौद्गलिक सुख में लीन हुआ जीव, पौद्गलिक सुख का त्याग कर विरक्त होने

वाले तपस्वियों को खोटे-खराब जानने लगता है—उनकी निन्दा करता है कि भूखे मरने से क्या भगवान् मिलते हैं? नरकी देह (शरीर) है सो नारायण की देह है, इसे त्रसाने वाले—सताने वाले वस्तुतः महा पातकी हैं। इत्यादि अयुक्त शब्दोच्चारण करने वाले उस जन्म में या जन्मान्तर में तप नहीं कर सकने का तप अंतराय कर्म बान्धते है।

(४) स्वकुटुम्बी स्वजनों और मित्रों के मोह के वश में होकर, या कुपक्षके वश में होकर, स्वमतानुयायियों को तपश्चर्या करने की अन्तराय दे एवं मना करे कि तप करने से गरमी आदि रोग होता है—शरीर शक्ति—हीन होता है—इत्यादि तप के दुर्गुण बतावे और कहे कि नरक स्वर्ग की बातें सब की सब झूटी हैं, बिना काम तप करके क्यों दुःखी होना, इत्यादि कु-बोधकर तप नहीं करने दे या दूसरे के लिए हुये तप का भङ्ग करावे, तो तपान्तराय कर्म का बन्धन करे, जिससे आगे को तप करने की शक्ति नहीं पावे।

(५) किसी को वेदनीय कर्मोदय के कारण किसी प्रकार के रोग का उदय हुआ हो तो उसे कहे कि—तैंने अमुक तप किया, जिससे यह रोग उत्पन्न हुआ—या अमुक नुकसान हुआ—या अमुक मरगया, इत्यादि तप पर कलङ्क लगावे तो तप अंतराय कर्म बाँधे।

(६) तपका नाम रखकर भी आहार करे, या लोगोंमें तपस्वी कहला कर गुप्त रूपसे आहार करे, अथवा कहे कि "गधे की तरह चर परन्तु एकादशी कर" यों कह कर एकादशी व्रत का नाम धारण कर कंद मूल मेवा मिष्टान्न आदि भक्षण करे तो तप अंतराय कर्म बांधे।

(७) धन के लालच से, यश के लालच से, सुख के लालच से तप करे एवं तप के बदले में द्रव्य वस्त्र या इच्छित भोजन आदि ग्रहण करे तो तप अंतराय बाँधे।

आहारोपधि पूजादि प्रभृत्याशसया कृतं।
शीघ्र सच्चित्तहन्तृत्वा द्विपानुष्ठानमुच्यते॥

अर्थात्—जो मिष्टान्नादि आहार की, वस्त्रादि उपकरणों की, पूजा श्लाघा की, और ऋिद्धि आदि पौद्गलिक पदार्थों की, इस लोक में प्राप्ति

हो—ऐसी इच्छा से जो तपश्चर्या आदि क्रिया की जाती है, उसे शास्त्रों में विष (जहर) जैसा अनुष्ठान कहा गया है, क्योंकि ऐसे अनुष्ठान करने वालों की चित्तवृत्ति सदा मलिन रहती है।

(८) तपश्चर्या करके अहंकार करे कि मै वडा तपस्वी हूॅ–मैंने अमुक अमुक प्रकार के तप किये हैं और जिनसे तपश्चर्या न होवे उनकी निंदा हॉसी करे तो तप अंतराय बांधे।

(९) तप के संबन्ध में कायरता लावे कि क्या करे संवत्सरी का उपवास किये विना तो छुटकारा ही नहीं अथवा कब समय पूरा होवे और कब भोजन करूॅ—इत्यादि दुर्विचार तथा दुरभिलाषा रखने से तप अन्तराय कर्म बंधता है।

(१०) निर्मल तपस्वियों को खाना आदि का कलङ्क लगावे–व्यर्थ ही ईर्षा करे–निंदा करे–या आप सशक्त होकर तपस्वियों की वैयावृत्य नहीं करे, साता नहीं उपजावे और कोई दूसरा साता उपजाता होवे उसे अन्तराय देवे तो तप अंतराय कर्म बान्धे।

इत्यादि तप अंतराय कर्म बॅधने के कारणों को जानकर जिनको तप नामक धर्म निपजाना होवे, वे इन कर्मों से अपनी आत्मा बचाते हैं एवं तप करने के प्रति शक्तिवंत होते हैं, और तपस्वीजी कहलाते हैं।

(१) पूर्वोक्त रीति से जिन्होंने तप अंतराय कर्मका बन्धन किया हो और उसके फल स्वरूप जिनसे तप नहीं बनता हो तो, उनके लिये कर्मो को तोड़ने का मुख्य उपाय तो निश्चय नय की अपेक्षा से कर्मो की स्थिति की परिपक्वता होने पर उन तपोघातक कर्मों का क्षय होता है एवं क्षयोपशम होवे जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होता है तभी आंतरिक वीर्य शक्ति हुलसायमान होती है, और आत्मा कर्मों के संमुख होकर उसका अनादि सम्बन्ध तोडने के प्रति प्रयत्न शील होती है और इच्छा का निरोधन करती है। इच्छा का निरोधन करना है सो ही मुख्य तप है।

(२) तपस्वीजी विचारते हैं कि–यह जीव अनादि काल से खा-खा कर जगत के सर्व खाद्य पदार्थों को भोग चुका है, अनंत मेरु पर्वत

जितनी मिश्री और अनंत सयंभूरमण समुद्र के पाणी जितने दूध का, कल्प-वृक्षों से प्राप्त होने वाले इच्छित भोजन का और चक्रवर्ती के यहां की रस वतियों का भोक्ता भी अनंती वार हुआ है तो भी इच्छा तृप्ति न हुई। अब इन तुच्छ वस्तुओं के भोगने से क्या होना है? इत्यादि विचारों के द्वारा तृष्णा घटावे।

(३) यदि तपश्चर्या करते समय विशेप जोर लगे एवं तपश्चर्या करना दुष्कर लगे तो विचार करते हैं कि—रे जीव! जब नरक में रहाथा तब तुझे ऐसी क्षुधा जागृत हुई थी कि सर्व जगत के खाद्य पदार्थ एकही वक्त में खिला देवें तो भी क्षुधा शांत नहीं होवे, किन्तु अनाज का दाना किंवा खाने जैसा किंचित् भी पदार्थ वहां तुझे नहीं मिला और सर्व समुद्रों का पाणी एकही वक्त में पिला देवें तो भी तृपा शांत न होवे, किंतु एक बूंद भी पानी पीने को नहीं मिला! ऐसी वेदना एक दो दिन या वर्ष दो वर्ष नहीं, परन्तु तेतीस तेतीस सागरोपम तक अनन्तानन्त कालतक सही है। अब यहां तपस्या में तो कितना काल लगता है?

(४) रे जीव! और तू इस जगत में अपने सामने होते हुये वृत्तान्तों की ओर देख कि गौ—वृपभ—अश्व—गजादि अनेक पशु, वेचारे पराधीनता में फँसकर रात दिन तन तोड़ परिश्रम करते हैं, तो भी उनको पेटभर कर गला सड़ा घास और मुफत में मिलनेवाला पाणी भी वक्त सिर पूरा नहीं मिलता है। और इस से भी बुरा हाल विचारे वन वासी पशुओं का होता है। जब उष्ण ऋतु के प्रचंड तापसे वन में का घास आदि खाद्य पदार्थ और सरोवरों का पाणी सूक जाता है, तब वे विचारे वन पशू भूख और प्यास की प्रबल पीड़ा से व्याकुल होकर इतस्ततः भटकते हुये मूर्छा खाखा कर पड़जाते हैं, और तड़फ तड़फ कर प्राण—मुक्त हो जाते हैं। ऐसे हाल तो तेरे नहीं होते हैं।

रे जीव! उन सब को जाने दे, परन्तु तू अपने जाति भाई मनुष्यों की तरफ ही जरा दया दृष्टि करके देख कि गरीबों और कुलीनों का यह कलिकाल क्या हाल कर रहा है? गरीब तो वेचारे द्रव्य के अभाव से अनेकों की गुलामी करते हैं, मिट्टी पत्थरों के टोकरे सब दिन

ढोते हैं, काष्ट भारी लाकर बेचते हैं, इत्यादि कड़ी मेहनत से थोड़ा सा द्रव्य पाते हैं और पहर दो पहर रात्री गये बाद लूखी फीकी राबड़ी बना कर सब कुटुम्ब बॉट कर पीकर पड़ रहते हैं, ऐसे कष्ट में सारा जीवन पूरा करदेते हैं। और इन से भी बुरा हाल कुलीनों का होता है, वे तंग हालत में आकर न गुलामी कर सकते है, और न मांग ही सकते हैं। शर्म के मारे घर मे ही भूख से तड़फ तड़फ कर मरजाते हैं। ऐसा हाल तो तेरा नहीं है।

(५) अरे प्राणी! इनको देख कर तू क्या आश्चर्यान्वित एवं खेदान्वित होता है, खुद तेरा भी ऐसा ही हाल चारों गति के परिभ्रमण में अनन्ती वार हुआ है, परवश पड़ कर महा संकट सहा है। परन्तु उस से कुछ सकाम निर्जरा न हुई, अर्थात् धर्म का लाभ नहीं हुआ। कष्ट बहुत और लाभ थोड़ा—ऐसे ऐसे महा कष्ट अनेक वार सहे और कर्मों की कुछ निर्जरा होने से धीरे धीरे ऊंचे चढ़कर यह सामग्री पायी है।

(६) अहो मेरे प्यारे प्राणी! तुझे अनन्तानन्त पुण्यानुबन्ध के संयोग से मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घायु, पूर्ण इन्द्रिय, निरोगी शरीर, सत्गुरुसङ्ग, शास्त्र श्रवण, सत्श्रद्धान और तप करने की शक्ति—ये दश साधन प्राप्त हुये हैं। उक्त साधनों के बल से तू अपने इष्ट कार्यों की सिद्धि कर सकने में समर्थ हुआ है, अतः जो चाहे सो कर सकता है।

—सदनुष्ठान रागेण, तद्धेतु मार्ग गामिना।
एतच्च चरमावर्तेनो भोगादे र्विनाभवेत्॥
धर्मयौवनकालोय, भव वाल्दशापरा।
अत्र स्यात् सत्क्रियारागोऽन्यत्र चासत्क्रियादरः॥

अर्थात्—जिसका चर्म पुद्गल परावर्तन होगया हो—बाल दशा का अभाव होने से जो सम्यक् दृष्टि रूप यौवन अवस्था को प्राप्त हुवा हो—धर्म मार्गानु सारी हो—शुद्ध धर्म पर अनुरागभावयुक्त हो—यथा शक्ति शुद्ध क्रिया करता हो—उसे हेतु अनुष्ठान कहना अर्थात् इस अनुष्ठान से आत्मा का हित होता है।

अब इस प्राप्त हुई शक्ति को व्यर्थ न गवां। कुछ थोड़ी बहुत तो लेखे लगा। अर्थात् कर्म समूह को तोड़कर भव भ्रमण के संकट से या क्षुधा वेदनी के ताप से बचने के लिये उपाय करने का अलभ्य अवसर मिला है, तो अब तह मन तह चित्त से क्षुधा आदि परिसहों के संमुख होकर उन्हें शूरवीर धीर बनके सम भाव से सहन कर और घोर तप में पराक्रम फोड़ कि जिससे अनागत काल में तू ऐसा बन जाय कि फिर क्षुधा वेदनी कदापि प्रगटे ही नहीं, तुझे संताप उपजा सके ही नहीं। ऐसा करने से सर्व कर्मों तथा सर्व दुःखों से रहित निरिच्छित निराबाध अनंत अक्षय सुख रूप सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है।

(७) परन्तु सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति होवे, ऐसी तपश्चर्या होनी कुछ सहज नहीं है, बहुतही मुशकिल है। ऐसी दु-साध्य सिद्धगति को प्राप्त करने में बहुत जन खप करते हैं। कितनेक अन्नका त्याग कर कन्द-मूल-फल-फूल-पत्र-सेवाल आदि भक्षण करते रहते हैं, कि जिसमें जैन शास्त्रों में संख्याते असंख्याते अनंते जीवों का पिंड फरमाया है। कितनेक पंचाग्नि ताप तपते हैं, जिसमें छाने लकड़ी के आश्रित रहे अनेक त्रस जीव और प्रत्यक्ष अनेक पतंगिये झम्पापात कर उसमें पड़ मरते हैं। ऐसे ही कितनेक जटा बढ़ाते हैं-नख बढ़ाते हैं-भभूती रमाते हैं-हाथ पांव सुखाते हैं-उलटे झूलते हैं-नग्न रहते हैं—पाणी में पड़े रहते हैं-स्मशान में पड़े रहते हैं-कीलोंपर सोते हैं-और कितनेक मृगादि पशुका मांस भी खाते है-इत्यादि अनेक कष्ट सहने से वे तपस्वी कहलाते है। फिर धन की स्त्री की तथा स्थान की अनेक इच्छाएँ धारण कर कोड़ी कोड़ी के लिये मारे मारे फिरते है और पूछो तो कहते है कि हम साधू है अर्थात् मोक्ष मार्ग के साधक तपस्वी है, परन्तु उनसे मोक्ष सदैव दूर है।

प्रणिधानाद्य भावेन, कर्म्मानिध्यवसायिन ।
समूर्च्छिम प्रवृत्याभ मननुष्ठान मुच्यते ॥

अर्थात्—सूत्र कथित रीति से विरुद्ध दूसरों की देखा देखी उपयोग शून्य असंज्ञी की तरह जो क्रिया करने में आवे, उसे अननुष्ठान कहते हैं। इससे सकाम निर्जरा तो नहीं होती है, परन्तु पुण्य उपार्जन करलेते है।

(८) मोक्ष के अधिकारी तो वेही होंगे जोकि सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-दया-क्षमा-त्याग-वैराग्य-शील-संतोष युक्त तप करते हैं और घोर तप करके भी जिसके फल की किंचित् मात्र भी कदापि इच्छा नहीं करते हैं। यश को अपयश समझते हैं और अपयश निंदा को यश (कर्म हलके करने का सहज में प्राप्त हुआ उपाय) समझते हैं। सुख को दुःख और दुःख को सुख-जितना तप में ज़्यादा लगे उतना ही ज़्यादा निर्जरा रूप लाभ का कारण समझते हैं। विषय भोगको सच्चाही विष भोग (ज़हर के भक्षण जैसा) समझते हैं। धनको धूल, स्वर्ग को कारागृह (क़ैदखाना) समझते हैं। इत्यादि संसार दृष्टि से विपरीत श्रद्धालु हो तप करते हैं, और तप मे प्रवृत्ति होने की किसी को भी मालूम नहीं पड़ने देते हैं। इस तरह तप करने वाले जो महान् तपस्वी होते हैं, वेही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(९) अन्य तपस्त्रियों की महिमा सुनकर कदापि ईर्षा नहीं करते, प्रत्युत उनके गुणगान करते हैं। अन्य तपस्त्रियों को वैयावच्च आदि से साता उपजाते है, अर्थात् उनके स्वयं के लिये सुख स्थान और सुख शय्या का योग बना देते है, तेल आदि से शरीर को मर्दन करते है, लघू नीत आदि की परिठावणिया समिति करते है और पारणा के लिये प्रकृति के अनुकूल यथेच्छित मिष्ट स्निग्ध उष्ण आहार का योग बना देते हैं--इत्यादि विधि से साता उपजाते है, जिससे उनके तप की वृद्धि होती है। ऐसे वैयावृती जीव तपअन्तराय कर्म तोडकर तपस्वी बनते हैं तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(१०) तप धर्म की वृद्धि करने के लिये पुद्‌गलानन्दियों और नास्तिकों को तप का गुण बतावें कि प्रत्यक्ष ही देखिये काले स्याह कोयले अन्य किसी भी उपाय से श्वेत नहीं होते है, परंतु ताप (अग्नि) में देने से--जलाने से उसी वक़्त श्वेतरंग की राख मे परिणत होजाते हैं, तैसेही जो घोर पातकी सच्चा तप उपरोक्त रीति से करते हैं, वे घोर पापसे मुक्त होजाते हैं। उनकी अंतरात्मा पवित्र होजाती है।

(११) तपश्चर्या करने का सद्बोध प्रायः सभी मतावलम्बियों के

शास्त्रों में हैं। प्राचीन काल में भी उनके बड़े बड़े महात्माओं ने बहुत घोर तप किये हैं, जैसे विश्वामित्र ऋषि ६०००० वर्ष तक केवल लोह कीट का ही भक्षण करके रहे–पारासर ऋषि सेवाल यानी काई खाकर रहे–नव नाथ भी बारह बारह वर्ष तक कॉंटों पर खड़े रहे। ध्रुवजी ने बचपन से ही विकट तप करके ध्रुव–निश्चल पद प्राप्त किया। ब्रह्माजी ने ३॥ कोटी तप करके इन्द्रासन कॅपा दिया। ऐसे ऐसे कितने ही दृष्टांत हैं। वर्तमान में एकादशी चन्द्रायण आदि तप भी कई लोग करते है।

(१२) तैसे ही मुसलमानों के नबी महोमद साहब ने भी थोड़े से दूध चांवल खाकर ही गुजरान किया है। और भी बहुत से बड़े बड़े पैग़म्बरों—औलीयाओं मुरशदों के बहुत वर्षों तक जंगल में पत्ते खाकर निर्वाह करने के दाखले मिलते है, और अब भी रमज़ान का पूरा महिना रोजा रखते है, दिन भर थूक भी नहीं निगलते है। अतः वह भी किसी तरह का तप ही है।

(१३) तैसेही ईसाइयों (क्रिश्चियनों) के ईशु पैगम्बरने भी खुद अपने शरीर को परोपकार के लिये सूलीपर चढाकर प्राण त्याग किया था, यह बात खुद उनके बाईबिल शास्त्र में लिखी है। और अब भी बड़े-बड़े डाक्टर अनेक बीमारियों से निरोग करने के लिये अनेक दिन तक साफ भूखे रखते हैं, और निरोगियों को भी उपवास करने से फायदा कितनेक बताते हैं।

(१४) ऐसे ऐसे अन्य मतान्तरों के अनेक दृष्टांत मिलते हैं और प्रत्यक्ष तप करते हुये अब भी नज़र आते है। ऐसा अज्ञान और वांछा सहित तप करने से भी जो लाभ होता है तो फिर ज्ञान युक्त तप करने से लाभ की प्राप्ति क्यों नहीं होगी? अर्थात् जरूर ही होगी।

(१५) जैसे अन्य मतान्तरों में तप सम्बन्धी दाखले है, उससे भी अधिक असर कारक और विधि युक्त तप करने के जैन धर्म में भी अनेक प्रमाण हैं। प्राचीन काल में बड़े बड़े तपस्वी हुये हैं, जिन्होंने कनकावली–रत्नावली–मुक्तावली–गुणरत्न संवत्सर आदि अनेक प्रकार के तप किये हैं, जिमसे भविष्य में तो मोक्ष प्राप्त होती ही है और

वर्तमान में भी जैसे कृषक लोग गेहूं उत्पन्न करने के लिये ही गेहूं बोते हैं, परन्तु गेहूं के साथ घास फूस भी स्वभावसे ही उत्पन्न होजाता है, तैसे ही उस तप के प्रभाव से तपस्वियोंको अनेक प्रकार की लब्धियाँ पैदा होती थी।

(१६) जैन शास्त्रों में आत्म शक्ति रूप लब्धियाँ अट्ठाईस प्रकार की कही गई हैं—(१) "आमोसही" पैरों की धूल लगने से (२) "खेलोसही" श्लेष्म यानी थूक आदि लगने से (३) "विप्पोसही" मल मूत्र के स्पर्श से (४) "जलोसही" पसीना लगने से, (५) "सव्वोसही" सर्व शरीर में से किसी भी अंगोपांग का स्पर्श होने से, शरीर के समस्त रोग दूर हो जाते है। भाव यह है कि लब्धिवंत तपस्वी की उपरोक्त पांच लब्धियों से, रोगी मनुष्यों के सब रोग नष्ट हो जाते है। (६) "संभिन्नश्रुत" पांचों ही इन्द्रियों के विषय को एकही वार मे ग्रहण कर, उनका अलग अलग अभिप्राय समझ जावे (७) अवधि ज्ञान की प्राप्ति होवे (८) ऋजुमति, कुछ न्यून मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होवे (९) विपुल मति, पूर्ण मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति होवे (१०) केवल ज्ञान की प्राप्ति होवे (११) " चारण " आकाश मार्ग में उडकर इच्छित स्थान जाने की शक्ति प्राप्ति होवे (१२) "असिमविष" लब्धि के तीन प्रकार है। हलाहल जहर भी अमृत के समान परिणत होवे। वचन मात्र से विष नष्ट होजाय। कोप युक्त दृष्टि या वचन से दूसरे का नाश करदे (१३) गणधर का पद प्राप्त करे (१४) " पुव्वधारी " चौदह पूर्वका ज्ञान एक मुहूर्त में कंठाग्र करले (१५) "अर्हंत" अर्हंत भगवंत जैसी अतिशय आदि संपदा बना लेवे (१६) "चक्कवट्टी" चक्रवर्ती महाराज जैसी सेना रत्न आदि सब ऋद्धि बना लेवे (१७) "बल देव" बल देवकी ऋद्धि बना लेवे (१८) "वासुदेव" वासुदेव की ऋद्धि बना लेवे (१९) "खीरासव" नीरस आहार को हाथ के स्पर्श मात्र मे खीर जैसा सरस बना देवे (२०) " महुरासव " अत्यंत कटु आहार को भी मीठा बना देवे (२१) "सप्पीरासव" अत्यंत रुक्ष आहार भी सचिक्कण बना देवे (२२) "कोठग बुद्धि" के दो प्रकार हैं। एकतो जिस प्रकार कोठार में अन्न का नाश नहीं होता उसी प्रकार उनको

कितना भी ज्ञान दिया जाय वह सब याद रखलें—भूलें नहीं। दूसरा, जिम प्रकार कोठार में से वस्तु निकालते नहीं खूटे, त्यों उनका ज्ञान भी कभी नहीं खूटे (२३) "बीयबुद्धि" ज्यों खेत में बोया हुआ बीज एक का अनेक होता है, त्यों उनका ग्रहण किया हुआ एक पद सहश्र पद होकर प्रगमता है। (२४) "व्यंजन लद्धि" अपनी अनधीत विद्या में का भी यदि दूसरा कोई अक्षर भूल जाय तो आप बता देवें (२५) "पदानुसारणी" एक पद के अनुसार से समूचा ग्रन्थ समझ जाय या प्रकाश देवे (२६) "वैक्रिय" एक रूप के अनेक रूप मन चाहे सो बना लेवें (२७) "अखिण" अल्प वस्तु को स्पर्श मात्र से अखूट बना देवे और (२८) "पुलाकलब्धि" कुपित होने पर चक्रवर्ती महाराजा तक की सेना को जला कर भस्म कर देवें। ज्ञान—दया—क्षमा—निरभिलाषता युक्त तप करने से उक्त लब्धियों की प्राप्ति होती है।

(१७) परन्तु वे महात्मा इन लब्धियों का उपयोग नहीं करते थे-दूसरों को नहीं बताते थे, कि हम ऐसे पराक्रमी हैं। परंतु जैन धर्म पर एवं धर्मात्मापर जब किसी भयंकर विपत्ति के आपड़ने पर धर्म का या तीर्थ का विच्छेद होने जैसा मालूम पड़ताथा, तब छद्मस्थ की लहर नहीं रुकने से इन लब्धियों में से किसी एक लब्धि का प्रयोग करते थे और कार्य संपादन एवं अपवाद निवारण करते ही जिनाज्ञा उल्लंघन करने का प्रायश्चित ले शुद्ध होते थे। ऐसे निरभिमानी और पवित्र हृदय थे।

(१८) इस पंचमकाल में बहुत सी लब्धियों का विच्छेद हो गया है। इस वक़्त इक मासी द्विमासी आदि तप करने वाले एवं छाछ आदि एक दो द्रव्य पर ही सर्व आयु पूरी करने वाले बड़े बडे ज़बर्दस्त तपस्वीराज विराजमान हैं, परन्तु उनमें भी लब्धिका प्रभाव क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है। इसका मुख्य हेतु मुझे तो यही दिखता है कि—इस वक़्त निर्वांछित अर्थात् यशः आदि किसी भी प्रकार के फलकी अभिलाषा विना तप होना मुशकिल है, तैसेही लब्धियां भी प्राप्ति होनी मुशकिल हैं। और कितनेक महात्माओं के विषय में किसी प्रकार की लब्धि या आत्मशक्ति प्रगट होने की कितनीक बातें सुनी हैं, परन्तु अफसोस के साथ

कहना पड़ता है कि अपनी समाज में ऐतिहासिक लेख लिखने की प्रथा बहुत कम है, अतः सुनी सुनाई बातों को निश्चय के रूप में लिखना ठीक नहीं है।

(१९) सच्चे तपस्वियों को यदि कभी छद्मस्थ की लहर अभिमान आदि आजावे तो विचारते हैं कि—जो शक्ति तप करने की चतुर्थ काल में थी और वे जीवित की आशा छोड़कर जैसा उग्र तप करते थे, वैसा तप मेरे से कहां होता है, वैसे शुद्ध और स्थिर परिणाम मेरे कहाँ रहते हैं, जो मैं इस यत् किंचित् तप पर अभिमान करूं और इसके फलको गमावूं।

(२०) आत्मन्! प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव भगवंत को देखिये कि जिनको पूरे बारह मास तक आहार पाणी का विलकुल ही जोग नहीं बना, परन्तु किंचित् ही प्रणाम नहीं डुलाये। और इन्हीं के पुत्र श्री बाहूबल मुनिराज, एकसे बारह महीने तक ध्यान में ही खड़े रहे और चौवीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने बारह वर्ष और छः महीने में फक्त छुटक छुटक ग्यारह महीने और १९ दिन ही आहार किया! वैसे ही और भी बहुत से मुनिराज छः मासी, पांच मासी, चौमासी, त्रिमासी, द्विमासी, तथा निरंतर मास क्षमन के पारणे पक्ष पक्ष के पारणे आदि का तप करते थे और वे समस्त समय एकान्त ज्ञान ध्यान मे लीन हो गुज़ारते थे।

(२१) काकन्दी नगरी के धन्ना सेठ, ३२ क्रोड़ सोनैयां के धन को और ३२ सुन्दर स्त्रियों को त्याग कर साधू बने और निरतर बेले बेले तप करना शुरू किया। पारणे मे ऐसा आहार लिया कि जिसकी कोई भिखारी भी इच्छा नहीं करे। ऐसे दुष्कर तपसे आठ महीने में ही जिनके शरीर का सब रक्त मांस सूख गया। पांव सूखे वृक्षकी छाल जैसे, पगकी अंगुली सूखी हुई मूंग मसूर की फली जैसी, पगकी पींदी काग पक्षी की जंघा जैसी, गोडे काग जंघा वनस्पति की गांठ जैसी, सांथल बोरी वृक्ष की कूंपलों जैसी, कमर बूढे बैल के पग जैसे, पेट चमड़े की सूखी मशक जैसा, पांसलियां कांच के ढेर जैसी अलग दीखें, पीठ घडे जैसी, छाती

पत्ते के पङ्ख जैसी, बाहु अगथिये की सूखी फली जैसी, हथेली सूखे हुये वड़ पीपल के पत्ते जैसी, हस्तांगुली सूखी मूंग उड़द की फली जैसी, ग्रीवा घड़े एवं कमंडल के गले जैसी, ठोडी सूखी हुई आम्बी की कतली जसी, होंठ सूखी इमली जैसे, जिह्वा पालस [खांकरे] के पत्ते जैसी, नाक सूखी आम्ब की गुठली जैसी, आंख वीणा के छिद्र जैसी, कान प्याज [कांदे] के पत्ते जैसे, मस्तक सूखे हुये तुम्बे के फल जैसा—इस तरह का सब शरीर सूख कर होगया था—फक्त अस्थियों का पिंजर चमड़े से वींटा हुआ था। ज्यों कोयलों का भरा हुआ गाडा चलते समय खड़खड़ आवाज करता है, त्यों चलते हुये उनके शरीर में से हड्डियों की आवाज निकलती थी। शारीरिक शक्ति तो बिलकुल कम होगई थी, फक्त मनोबल से ही संयम का कार्य करते थे। इसी लिये भगवंत श्री महावीर स्वामी ने श्रेणिक राजा के संमुख चौदह हजार साधुओं में दुक्कर करणी और महा निर्जरा के करने वाले कहे हैं। यह मुनि एकमास का संथारा करके स्वार्थ सिद्ध विमान में पधारे हैं।

(२२) जैसे तपश्चर्या करके धन्नाजी ने शरीर प्राप्त करने का लाभ उठाया, तैसा ही और नौ मुनिवरों का अधिकार अनुत्तरोववाईसूत्र में है। और दुक्कर तपश्चर्या करने वाले खन्धक मुनिवर आदि का अधिकार भगवती जी प्रमुख सूत्रों में चला है। उन महात्माओं ने इस शरीर को एक उधारा लाया हुवा भाजन समझ लिया था। जैसे कोई सीरा प्रमुख पक्वान्न बनाने के लिये कढ़ाई नामक भाजन लाते हैं, और जिस काम के वास्ते लाते हैं वह काम उससे निपजालेते हैं तो वापिस लौटाते समय बिलकुल ही पश्चाताप नहीं करना पडता है, और जो उस कढ़ाई को मांज धोकर साफ रखते हैं, और "कढाई जल जायगी"—इस डरसे भट्टी पर नहीं चढ़ाते हैं वे कढ़ाई उसके मालिक को देती वक्त पश्चात्ताप करते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार यह शरीर भी धर्म कामार्थ उधार लाई हुई कढ़ाई है। इसे खिला पिला कर पोपते हैं, और तप धर्म करने में दुर्वल होजाने का विचार करते हैं, वे मरते वक्त पश्चात्ताप करते हैं कि कुछ नहीं किया। परन्तु फिर पश्चाताप किया क्या काम आवे! ऐसा जानकर वे मुनिवर—

इस शरीर रूप कढ़ाई को, निश्चय व्यवहार रूप दोनों ठिये (भींत) वाली भट्ठी पर चढ़ाकर, कर्म रूप इंधन में तप रूप अग्नि लगाकर, धर्म संयम रूप पक्वान्न निपजा लेते हैं, उनको मरती वक्त बिलकुल ही पश्चात्ताप नहीं होता है। वे समाधि मरण करके स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(२३) ऐसे महान तपस्वी सदेह होते हुये भी विदेह अवस्था को प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जैसे पक्वान्न बनाने वाला कढ़ाई जलने की तरफ नहीं देखता है, परन्तु अन्दर के मालको सुधारने की तरफ ही उसकी दृष्टि रहती है, क्यों कि कढाई जले विना पक्वान्न होता ही नहीं है, तैसे ही देहको कष्ट दिये विना तप निपजताही नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के अष्टम अध्याय का फरमान है कि—"देह दुक्खं महा फलं" अर्थात् धर्मार्थ देह को दुःख देने में महालाभ होता है। ऐसे वचनों का अवलम्बन कर, वे महात्मा तपस्वी, शारीरिक निर्बलता से मनको निर्बल नहीं होने देते थे। ज्यों-ज्यों ज़्यादा कष्ट पड़ता था, त्यों त्यों ज़्यादा ज़्यादा लाभ का कारण जान कर उत्साह बढाते ही रहते थे।

(२४) जैसे लोभी बनिये की दुकान पर ग्राहकों का विशेष आगमन होने पर गरदी मचती है, तब वह बनिया भूख प्यास शीत ताप थाक आदि सब दुःखों को भूल कर ग्राहकों की तरफ से होते वाक्य प्रहारों को समभाव से सहन करता हुआ, उनको मधुर वचनों से संतुष्ट करता हुआ, इच्छित नफे के साथ माल बेचकर उन्हें रवाना करता है; तैसे ही तपेश्वरी जी शरीर रूप दुकान में उदय आये कर्म ग्राहकों की तरफ से उत्पन्न होने वाले परिसहों को समभाव से सहते हुये, क्षुधा—तृषा आदि तपसे होते हुये दुःखों की तरफ विलकुल ही लक्ष्य नहीं रखते हैं। संवर निर्जरा रूप महा नफे के साथ, आयुष्य रूप माल, उनको देकर रवाने करते हुये परमानन्द परम सुख मानते हैं।

(२५) ऐसे समभाव से उत्सुकता युक्त किया हुआ थोड़ा भी तप, महा निर्जरा का कर्ता होता है। ग्रन्थकारका फरमान है कि—जितने कर्म नरक वासी जीव सौ वर्ष तक दुःख भोगकर खपाते हैं, उतने कर्म, ज्ञान सहित एक पोरसी के तप करने वाले खपा देते हैं। चउत्थ भक्त एक

उपवास से एक हजार वर्ष जितने, छठ भक्त-बेला करने से लक्ष वर्ष जितने, अष्टम भक्त—तेला करने से क्रोड़ वर्ष जितने, दशम भक्त-चौला करने से कोड़ा कोड़ वर्ष जितने, कर्म क्षय होते हैं। * यों आगे भी तप के फल का परिमाण जानना।

(२६) यह तो द्रव्य निर्जरा रूप फल, तप के प्रति मनको आकर्षित करने के लिये कहा है, परन्तु उत्तराध्ययनजी शास्त्र के नवमें अध्याय में श्री नमीरायऋषि ने शक्रेन्द्रसे फरमाया है—

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायस्स धम्मस्स, कल अग्घइ सोलसिं ॥ ४४ ॥

अर्थात्-मिथ्यात्वी अज्ञानी निरंतर मास मास क्षमन तप करे और पारणे में कुसाग्रपर (डाभ की अणी ऊपर) आवे उतना ही आहार करे, किन्तु वह ज्ञानयुक्त एक नवकारसी (दोघड़ी के) तप के सोलवें हिस्से में भी फल का दाता नहीं होता है। देखये, ज्ञानयुक्त अल्प तप से भी कैसा महान लाभ होता है !

२७ और भी ग्रन्थकार फरमाते हैं कि:—

साठिवाससहस्सा , तिसत्त खुतो दयण धोएण ,
अणुविन्न तामलीणा, अनाण तवुत्ति अप्पफलो ॥ १ ॥
तामलित्तण इतवेणं, जिणमइ सिझेइ अन्न सत्तजण ,
ए अन्नाण वसेण, तामलि ईसाणिंद गओ ॥ २ ॥

अर्थात्—तामली नामक तापस ने साठ हज़ार वर्ष में मात्र सेतीस वार मुख धोकर अन्न पाणी लिया, ऐसे अज्ञान तप के प्रभाव से वह फक्त दूसरे देवलोक का इन्द्र ही हुवा। जितना तप तामली तापस ने किया, इतना तप जो कभी जिनाज्ञा सहित करें तो सात जीव मोक्ष प्राप्त करें। देखिये, सज्ञान और अज्ञान तप में कितना अंतर है ? अज्ञान तपतो

** अठम भत्ते कोडी , कोडा कोडीये दशम भत्ते मि*
अओपरं बहु निज्जरे हेउ नूणं तवो भणिओ ॥ १ ॥

यह गाथा जिन हर्षजी कृत वीस स्थान के रास में की है

जीवने अनंती वार किया और उसके प्रभाव से नवग्रीवेक तक हो आया, परन्तु कुछ गरज़ सरी नहीं। ज्ञानयुक्त तप करने का मौका हाथ लगना बहुत मुशकिल है, इसलिये इस मौके को प्राप्त होकर के अहो आत्मा! अब तप करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐसा जानकर तपस्वीजी महात्मा यथा शक्ति तप करके लाभ उठाते हैं,

(२८) यथार्थ रूप से संपूर्ण तप का फल तो उसीको प्राप्त होता है कि जो तप करके निदान (उसके फल की वांछा नियाणा) नहीं करता है। अनुयोग द्वार सूत्र में नव प्रकार के निदान फरमाये हैं:-(१) तपेश्वरी सो राजेश्वरी " इस कहावत के अनुसार कोई तप के फल के बदले में नियाणा करे कि मुझे राज मिलो (२) कोई विचारे कि राजा को राज्य के निर्वाह करने की बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है, इसलिये मुझे ऋद्धिवंत सेठ का पद मिलो (३) कोई विचारे कि-सेठ को तो व्यापार आदि में महा कष्ट उठाना पड़ता है, इसलिये स्त्री का पद मिलो कि घरमें बैठी बैठी आनंद करूं (४) कोई विचारे कि स्त्री के जन्म में तो पराधीनता भोगनी पड़ती है, मुझे तो पुरुष पना मिलो, (५) कोई विचारे कि मनुष्यका शरीर तो अपवित्र है, इसलिये मुझे बहुरत्ता * देवता का पद मिलो (६) कोई विचारे कि देवताओं में अभोगिक पना आदि कई प्रकार के दुःख हैं, मुझे तो बहुरत्ता देवी का पद मिलो। ये छः प्रकार के निदान करने वाले × दुर्लभ बोधि होते हैं (७) कोई विचारे कि विषय भोग तो महा दुःख के देने वाले हैं, इस लिये अरत्ता जहां भोग की इच्छा नहीं होवे ऐसे नवग्रैवेक आदि स्थानों में देवता होऊँ (८) कोई विचारे कि देवताओं में तो व्रत प्रत्याख्यान या साधु जी को दान देने का योग

---

* बहुरत्ता के तीन भेद हैं—१ देवता और देवागना आपस में विषय लुब्ध हो भोग भोगवे २ दो देवता या दो देविया एक स्त्री का और एक पुरुष का रूप बनाकर आपस में भोग भोगवें ३ एकही देवता या देवी अपने दो रूप (स्त्री और पुरुष के) बनाकर भोग भोगवे। इस प्रकार के देवता या देवी बहुरत्ता कहे जाते हैं।

× आगे को बहुत काल तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होवे, वह दुर्लभ बोधि।

नहीं बनता है, इस लिये किसी श्रीमंत धर्मात्मा श्रावक के घर जन्म धारण करूं कि जिससे व्रत ग्रहण करूँ तथा सुपात्र को खूब दान देकर लाभ लूटूं (९.) कोई विचारे कि श्रीमंत धनेश्वरी के घर जन्म लिया तो विषय भोग में गर्क होजाऊंगा एवं कुटुम्ब आदि के मोह में पड़ जाऊंगा—फलतः साधु पणा नहीं ले सकूंगा ! इसलिये दरिद्री श्रावक के घर जन्म लेवूं कि जिससे मुझे चारित्र धर्म की प्राप्ति होवे। ये पीछे कहे हुये तीन प्रकार के नियाणे करने वाले को सम्यक्त्व, श्रावक पना और साधु पना की तो प्राप्ति हो जायगी, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगी।

और भी नियाणे दो प्रकार के होते हैं—भवप्रत्येक और वस्तु प्रत्येक। (१) भव प्रत्येक वह है जो संपूर्ण जन्म तक चलने वाली वस्तु का नियाणा करे। उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति तो होजाती है, परन्तु संयम नहीं आता। जैसे गत जन्म में कृष्ण जी ने वासुदेव की पदवी प्राप्त होने का निदान किया था, अतः वासुदेव होने पर उनको सम्यक्त्व की तो प्राप्ति हुई, परन्तु चारित्र नहीं ले सके। और वस्तु प्रत्येक वह है कि मुझे अमुक वस्तु मिले। उसे जब तक उस वस्तु का संयोग नहीं मिले तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होवे। जैसे द्रोपदी जी को पांच पति वर-लेने के पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

दिव्यभोगोभिलाषेण, कालांतर परिक्षयात्।
स्वादिष्टफल संपूर्ते, गरलानुष्ठानमुच्यते ॥

अर्थात्—जो परभव में देवेंद्रादि दिव्य भोगों की प्राप्ति की इच्छा से तपश्चर्या आदि क्रिया की जाती है, उसे गरल अनुष्ठान कहते हैं। भाव यह है कि जैसे सर्प नामक ज़हरी जानवर की गरल का भक्षण करने से बहुत दिनों तक कष्ट भोग कर मरना पड़ता है, तैसे ही उपरोक्त अनुष्ठान दुःख दाता होता है।

सारांश यह है कि—निदान रूप से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भी भाव अच्छा नहीं होता। तीर्थंकर पद की प्राप्ति का तथा चरम शरीरी होने का भी नियाणा नहीं करना चाहिये, जैन शास्त्र तो मोक्ष की भी अभिलाषा करने का निषेध करते हैं, परन्तु भावना बल की दुर्बलता वाले से यह होना मुशकिल है।

और मोक्ष की इच्छा है सो निरामय एवं अपौद्गलिक है, इस लिये निर्दोष गिनी जाती है। ऐसा नियाणा रहित निरभिलाष तपही, निर्जरा रूप महा फल का दाता होता है।

(२९) भव्यों ! कुछ आहार का त्याग कर भूखे मरने को ही भगवंतने तप नहीं फरमाया है। शास्त्र में तो दो प्रकार के तप फरमाये हैं, बाह्य तप और अभ्यंतर तप। (१) बाह्य तप वह है जो नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में इच्छा के निरोध से साधन किया जाता है और बाहिर में प्रत्यक्षतः प्रतिभासित होता है। इसके छः भेद हैं–(१) अन्न पाणी स्वादिम खादिम–इन चारों ही आहार का स्वल्प काल या विशेष काल जाव जीव तक त्याग करना सो अनशन तप है। इससे रागादि शत्रु जीते जाते हैं, कर्मों का क्षय होता है, और ध्यान की प्राप्ति होती है (२) भूख हो उस से कम आहार करना और भंडोपकरण उपधि कम करना, उणोदरी तप है। इससे निद्रा आदि दोषों का नाश होता है, संतोष और स्वाध्याय आदि गुणों की वृद्धि होती है, (३) चाहती वस्तु, निर्दोष वृत्ति से दातार की दी हुई ग्रहण करना, भिक्षाचरी तप है। इससे व्याधि से बचाव होता है, और निरारंभादि व्रत का पालन होता है (४) दूध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, क्षार इत्यादि रसों के त्याग को रस परित्याग तप कहते है। इससे इन्द्रियों का दमन, आलस्य आदि दोषों का शमन, और स्वाध्याय आदि क्रियाएँ सुख से होती हैं (५) शीत ताप आदि दुःखों को अतीव समभाव के साथ सहना कायक्लेश तप है। इस से अभिलाषा क्षीण होती है, राग भाव का अभाव होता है, और कष्ट से अडिग रह कर सहन शीलता का अभ्यास होता है। और (६) इन्द्रियो कषायों और योगों की वृत्तियों का संक्षेप करना प्रतिसंलीनता तप है। इससे आशाका विनाश होता है–तपस्वी परमानन्दी बनता है। ये छः बाह्य तप हुये। अब दूसरे अभ्यंतर तपका वर्णन करते हैं। अंतरङ्ग मन के निग्रह से साधा जावे और दूसरों की दृष्टि मे नहीं आवे सो अभ्यंतर तप है। इसके भी छः भेद है—(१) दो प्रकार से विनय करे—एक तो "मुख्य" जो सम्यक् ज्ञान आदि त्रिरत्न को बहुत आदर पूर्वक धारण

करे और दूसरा "उपचरित"—जो त्रिरत्न के धारक आचार्य उपाध्याय साधु आदिकों का बहुमान पूर्वक गुणानुवाद एवं नमस्कार करे, वह विनय तप है। इससे मान कषाय नष्ट होता है तथा ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है। (२) दो प्रकार से वैयाव्रत्य करे—एक तो "कायिक भक्ति" हाथ पैर पीठ आदि दाबे और दूसरी "परवस्तु भक्ति" आहार वस्त्र औषध आदि निर्दोष लाकर दे, सो वैयावृत तप है। इससे धर्मादि सद्‌गुणों के सद्‌राग की वृद्धि होती है, और मान कषाय का नाश होता है (३) दूषित हुये आत्मा को प्रतिक्रमण आदि क्रिया के द्वारा पवित्र करना सो प्रायश्चित तप। इस से व्रतों की शुद्धि होती है, आत्मा निशल्य होती है, और कषायों की क्षीणता होती है (४) सर्व उपाधिका त्याग करके निश्चल वृत्ति धारण करे सो ध्यान तप। इस से मन वशीभूत होकर प्रणामों की अनुकूलता होती है एवं अक्षय आत्मानन्द की प्राप्ति होती है, (५) प्रमाद का त्याग करके श्रद्धा युक्त जैन सिद्धान्तों का पठन करना सो स्वाध्याय तप। इस से बुद्धि की स्फूर्ति होती है एवं प्रणामों की उज्वलता होती है, (६) बाह्य द्रव्य पदार्थों से और आभ्यन्तर कषाय वृत्ति से निवृत्त होना सो व्युत्सर्ग तप है। इस से निर्भय पदकी प्राप्ति होने से मोहका क्षय होता है, जिससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। ये छः प्रकार से बाह्य और छः प्रकार से अभ्यन्तर दोनों मिलकर बारह प्रकार का तप, तपस्वीजी करते हैं।

(३०) उपरोक्त प्रकार से दो या बारह प्रकार का तप करने वाले तपस्वीराज महाराजाधिराज, कर्मवृन्द को जड़ा मूलसे क्षय करके परमात्म मार्ग पर गमन करते हैं, और स्वल्प काल में ही परमात्म पद प्राप्त करते हैं।

—जिनाज्ञा पुरस्कृत्य, प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः।
संवेगगर्भमत्यन्तममृत तद्विदो विदुः॥

अर्थात्—श्री जिनेश्वर की आज्ञा के अनुसार त्रिशल्य रहित होकर एवं निर्मल मनसे संवेग वैराग्य में अत्यन्त लीन होकर जो क्रिया की जाती है उसे अमृत अनुष्ठान कहते हैं। सारांश यह है कि अनुष्ठान ही मोह आदि कर्म रूप जहर का नाशकर शिव सुखरूप अमृत का दाता होता है।

(३१) ऐसे तपस्वी महात्माओं के गुणानुवाद करने वालों को

भी सद्गुणों के अनुरागी होने से महान् पुण्य फल की प्राप्ति होती है, जिससे ये परमात्म पद प्राप्त करते हैं। ऐसे तपस्वी जी के गुणानुवाद मोक्ष फल दायक हैं।

ऐसे तपस्वी भगवंत चतुर्विध संघ के पूजनीय होते हैं, अस्तु चतुर्विध संघ का गुणानुवाद करने से पहिले तपस्वी जी भगवंत को त्रि-करण त्रियोग की विशुद्धि से नमस्कार करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "तपस्वी
गुणानुवाद" नामक सप्तम प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–आठवाँ

"संघवत्सलता"



घ नाम समूह का है। अर्थात् बहुत से जन एकत्र होवें उसे संघ कहते हैं। अस्तु यहां साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका इनको संघ नाम से संबोधित किया है। और वत्स नाम गौ के पुत्र का है–अर्थात् जैसे गाय अपने बछड़े पर पूर्ण प्रीति रखके उसकी पोषणा करती है, तैसे ही जो महान् प्राणी उपरोक्त चतुर्विध सघ की भक्ति करते हैं, उसे संघ वत्सलता कहते हैं।

संघका दूसरा नाम तीर्थ भी है। "तीर" का अर्थ तट है और "थ" का अर्थ है स्थित होना अर्थात् जो संसार रूप समुद्र के किनारे पर खड़े हैं ऐसे साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविका तीर्थ भी कहे जाते हैं।

ऐसे जो उत्तम प्राणी हैं, जो संसार समुद्र का पार पाकर किनारे पर आये हुये हैं–थोड़े ही काल में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं–ऐसों की वत्सलता अर्थात् सेवा भक्ति करना, सो संसार का किनारा प्राप्त करने

वाला जो परमात्म पद है, उसकी प्राप्ति का मुख्य हेतु है। इस लिये संसार पारार्थी जीवों को इन चारों ही संघ के गुणों का जानकार होना और उन गुणज्ञों की भक्ति करना चाहिये। "अपने तो गुणवंत की पूजा निर्गुणों को पूजे वह पंथही दूजा"—इसलिये प्रथम चारही तीर्थ के गुण दर्शा कर, फिर उनकी भक्ति करने की विधि दर्शाना चाहता हूँ।

(१) साधु। साधु शब्द के पर्याय वाची शब्द जैन शास्त्र में अनेक हैं। जैसे—समण, माहण, भिक्खू, निर्ग्रन्थ, मुनि, परिव्राजक, संयति, ऋषि, अनगार, अतिथि आदि आदि। तैसेही अन्य मतावलम्बी भी साधू को अनेक नामों से संबोधित करते हैं। जैसे—संन्यासी, वैरागी, अतिथि, गोसाई, दुर्वेश, फकीर आदि आदि। परन्तु कोरे नाम धारण करने से ही कुछ गरज नहीं सरती है—पूरी होती है, नाम जैसे गुण भी तो होने चाहिये। (१) जो क्रोध मान माया लोभ आदि दुर्गुणों का शमन करते हैं, वे समण कहे जाते हैं। (२) पृथिवी आदि छः काय के जीवों को जो स्वतः नहीं मारते हैं और दूसरों को माहणो मत मारो—मतमारो, का उपदेश करते हैं वे माहण कहे जाते हैं। (३) जो कर्मों को डराते हैं या निर्वद्य (किसी को किंचित मात्र भी दुःख न होवे ऐसी विधि से) भिक्षा वृत्ति से आहार वस्त्र, आदि ग्रहण करके अपना निर्वाह करते हैं वे भिक्षु कहे जाते हैं, (४) जो द्रव्य से धातु रूप परिग्रह की और भावमे ममत्व रूप परिग्रह की ग्रन्थि बांधने से निवृत्त हुये हैं वे निग्रन्थ कहेजाते हैं, (५) जो पापकार्योत्पादक भाषा नहीं बोलते हैं—और मतलब से ज्यादा नहीं बोलते हुये अधिक तर मौन रखते हैं वे मुनि कहे जाते हैं। (६) संसार के सर्व कार्यों से निवृत्त होकर अपने शरीर को धर्मार्थ अर्पण कर देते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं। (७) जो यम अहिंसादि व्रतों को स्वेच्छा से पालन करते हैं और इन्द्रियों के विकारों को जीतते हैं वे संयती हैं (८) जो स्वात्मा और परात्मा का रक्षण करते हैं वे ऋषि हैं (९) जो घर रहित अनियत वासी है वे अनगार हैं। (१०) जो अचानक यानी विना किसी तिथि वार की मर्यादा के भिक्षा को आते हैं वे अतिथि हैं। (११) सबमे श्रेष्ठ व्रत धारी तथा आत्माका मोक्षार्थ साधन

करने वाले साधु है। तैसे ही जो काम क्रोध मद मोह लोभ और मत्सर-इन छः वैरियों को मारता है, वह सन्यासी। राग द्वेष विषय कषाय से विरक्त हो, वह वैरागी। दुनियां के कामों से दूर रहे, वह दुर्वेश। और फिकर के फाके करे अर्थात् दुनियां के जाल में नहीं फँसे, वह फकीर। इत्यादि नामों के अनुसार जिन में गुण हों वेही सच्चे साधू जानने।

साधूजी महाराज सत्ताईस गुणों के धारक होते हैं:—पांच महाव्रत पालें, पांच इन्द्रिय जीतें, चार कषाय टालें, इन चौदह गुणों का वर्णन तो गुरूगुणानुवाद नामक चौथे प्रकरण में किया जाचुका है। और (१५) मनका स्वभाव अतिचंचल है—कुमार्ग में अधिक प्रवृत्ति करता है, उसे रोककर सुमार्ग में लगावे—धर्म ध्यान में रमावे सो "मन समाधारणिया" (१६) पाप मार्ग में प्रवर्तते हुये वचन को रोक कर धर्मोपदेश आदि शुभ-कार्य में प्रवर्तावे सो "वय समाधारणिया" (१७) धर्म कार्यो के साधन की मुख्य साहायक काया है, इसे तप संयम परोपकार आदि शुभ कार्यों में लगावे सो "काय समाधारणिया" (यह तीन समाधि युक्त) (१८) अंतः करण के परिणाम सदा सरल एवं धर्म वृद्धि के कार्या में वीरता-युक्त रक्खे सो "भाव सच्चे" (१९) शरीर आदि सम्बन्ध के कारण क्रिया अवश्य करनी पड़ती है, परन्तु शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार कालोंकाल धर्म क्रिया समाचरे सो "करण सच्चे" (२०) मन वचन काया के योगों को निग्रह करके सत्य मार्ग मे रमावे सो "योग सच्चे" (२१) मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान—ये दोनों ज्ञान जिनके निर्मल होवें, और बने वहां तक स्वमत के तथा परमत के शास्त्रोंके प्रखर अभ्यासी होवें सो "नाण संपन्न" (२२) ज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थों का यथार्थ रूप से श्रद्धान करे एवं शंका आदि दोष रहित प्रवर्ते सो "दर्शन संपन्न" (२३) जो यथार्थ श्रद्धान किया है उस में त्यागने योग्य को त्यागे और आदरने योग्य को आदरे एवं चार गति या चार कषाय से तिरने का उपाय करे सो "चारित्र संपन्न" (२४) प्राप्त हुये उपसर्गों को समभाव के साथ सहन करे—संतप्त नहीं होवे, यदि किसी समय क्रोधका उदय होजाय तो तुरंत उसे शांत करे सो "क्षमावंत" (२५) शुद्ध न्याय मार्ग में

प्रवर्ते एवं सदा वैराग्य भाव रक्खे सो "वैराग्यवंत" (२६) पूर्व कर्मोदय से वेदनीय (दुःख या रोग) की प्राप्ति होवे तो उसे कर्म निर्जरा का अपूर्व अवसर समझकर समभाव से सहन करे सो "वेदनीय समअहियासनिया" (२७) और "मरणांतिसमअहियासणिया" जगत की कहावत है कि "जो मरने से नहीं डरे सो दिल चाहा करे"। अस्तु साधु जी जानते हैं कि जो मृत्यु का नियत समय है, वह कदापि टलने का नहीं। फिर डरने से फायदा ही क्या! और दूसरे डरतो पापी प्राणियों को होता है; क्यों कि उनको पापका बदला देना पड़ेगा। धर्मी जीवों को तो हर्ष * होता है, क्यों कि इस शरीर से जो कुछ अपना प्रयोजन था वह सिद्ध कर लिया, अब यह निःसार शरीर किस काम का। ऐसा जानकर मरणांत समय में समाधि भाव से मरण कर आयुष्य पूर्ण करे।

(२) यह संक्षेप में साधुजी के गुणों का वर्णन कहा है। इसी मुजब साध्वी जी के गुण भी जान लेने। फक्त स्त्रीलिंग की परवशता के कारण से कितने ही आचार व्यवहार के नियमों मे अंतर पड़ता है। जैसे कि—साधु तो विना कारण एक ग्राम में शीत उष्ण काल में एक महीने से ज़्यादा नहीं रहे, और साध्वी जी को दो महीने रहना कल्पता है। ऐसे ही साधु जी को तो ७२ हाथ से ज़्यादा वस्त्र रखना नहीं कल्पे, और साध्वी जी को ९६ हाथ वस्त्र कल्पता है। ऐसे ही साधु तो अप्रतिबन्ध विहारी होते हैं और साध्वी जी को विहार आदि प्रसङ्गों में गृहस्थ की सहायता की जरूरत पड़ती है। इत्यादि अन्तर है, परन्तु जो साधुता के मूल गुण हैं उन मे कुछ भी अंतर नहीं समझना।

(३) "श्रावक"। श्रावक शब्द की मूल धातु श्रृ है, जिसका अर्थ श्रवण करना यानी सुनना, ऐसा होता है। अर्थात् जो धर्म शास्त्र का श्रवण करे सो श्रावक। दूसरे प्रकार से भी श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों का भिन्न भिन्न अर्थ होता है। "श्र" का अर्थ श्रद्धावंत है। अर्थात् निग्रन्थ प्रवचनों पर पूर्ण आस्ता रक्खे—तहमेव सत्य श्रद्धे एवं दानव मानव

---

* —मरने से जग डरत है, मुझ मन अधिक आनन्द।
कब मरेंगे कब भेटेंगे, पूरण परमानन्द॥

किसी का भी चलाया हुआ धर्म मार्ग से चले नहीं—अधर्म मार्ग अंगीकार करे नहीं। जैन धर्म के प्रति अपना तन मन धन, अर्पण करदे। "वें" का अर्थ विवेकवंत होता है। अर्थात् जैसे व्यापारी लोग ग्राहकों की भीड़ में भी नफा उपार्जन करने का औसान नहीं भूलते है, तैसे ही श्रावक भी संसार के हरएक कार्य करते हुये पापसे अपनी आत्मा बचाने रूप नफे के काम को भूलते नहीं हैं। थोड़े पाप से काम निकलता होतो अधिक पाप नहीं करते है। "कँ" का अर्थ क्रियावंत है। अर्थात् जो क्रियाएँ नित्य नियमित रूपसे करने की है, उन्हें यथा समय सदा करते है। जैसे निद्रा आदि प्रमाद दूर करके एक मुहूर्त रात्रि बाकी रहेही जाग्रत हो जाते है तथा दूसरा कोई पापी जीव जाग्रत नहीं होवे इस तरह चुप चाप सामायिक व्रत धारण करलेते है। तथा जब तक प्रतिक्रमण का काल न हो तब तक मनमें विचार करे कि मै कौन हूं ? मेरी कुल जाति क्या है ? मेरे देव गुरू कौन हैं ? मेरा धर्म क्या है ? मेरे कृत्या कृत्य (करने योग्य नहीं करने योग्य) क्या है ? आज के दिन मै कौन कौन से धर्म कृत्य कर सकता हूं ? जो जो धर्म कृत्य उस दिन में होने योग्य मालूम होवें उनका अभिग्रह निश्चय करते हैं। फिर समय होने पर यथा विधि प्रतिक्रमण करते हैं तथा पूर्व निश्चित नियम धारण करते हैं। * विशेष नहीं बने तो धर्म पुस्तक का एक पृष्ठ नित्य नया ज़रूर ही पढ़ते हैं, व्याख्यान बचता हो तो अवश्य श्रवण करते हैं। सामायिक पूर्ण होने पर माता, पिता, बड़े भाई भोजाई (भाभी) आदि जो वयोवृद्ध एवं गुणवृद्ध होवें उनको यथोचित नमस्कार करते हैं, पांव लगते हैं, सुख शांति पूछते हैं। फिर अन्य कुटुम्बादि को मधुर वचनों से संतोप उपजाते है। लघुनीति (पेशाब)

---

* १ सजीव वस्तु, २ निर्जीव वस्तु, ३ विगय ४ जूता ५ तबोल ६ सूघने की वस्तु ७ वस्त्र ८ वाहन ९ सेजा—बिछौना १० विलेपन ११ कुशील १२ दिशामे गमन १३ स्नान १४ आहार १५ मिट्टी १६ पाणी १७ अग्नि १८ हवा १९ लीलोतरी २० हथियार २१ व्यापार २२ कृषि कर्म इन २३ बोलो मे से आज अमुक काम नहीं करूगा। या करूँगा तो इतने उपरात नहीं करूगा। ऐसा नियम सदा करते है।

बडी नीत (दिशा-झाड़े) के खटके से निवृत्त होना हो तो जहांतक प्रासुक निर्जीव जगह मिले वहांतक पाखाने में या मोरी पर नहीं जाते है। हरी लकड़ी से एवं सचित्त वस्तु से दॉतन नहीं करते है। स्नान भी पोली फटी जमीन पर एवं नाली में—मोरी में पानी जावे ऐसे स्थान पर नहीं करते है,ज़्यादा पाणी नहीं ढोलते है। तेल चंदन आदि विशेष नहीं लगाते है। चाय, काफी, चिलम, बीडी, भंग आदि किसी भी प्रकार का व्यसन नहीं लगाते हैं, क्यों कि ये पदार्थ शरीर और बुद्धि की हानि करने वाले होते हैं। प्रहर दिन आये पहिले भोजन नहीं करे। ३२ अनंत काय २२ अभक्ष तथा निन्दनीय वस्तुओं का भोजन नहीं करते हैं। भोजन पकाते समय त्रस जीव की घात न होवे, इसलिये कोई भी वस्तु विना देखी उपयोग में नहीं लेते हैं। भोजन तैयार होने पर साधु साध्वी का योग होवे तो अत्यन्त उत्साह भाव से यथा विधि प्रतिलाभते हैं, और शक्तिवंत होवें तो स्वधर्मी श्रावकों को भक्ति भाव पूर्वक अपने बराबर भोजन कराते हैं। और भी अनाथ अंगहीन गरीबों को यथा शक्ति साता उपजाते हैं। तांबूल सुपारी आदि का विशेष सेवन नहीं करते हैं। और व्यापार में भी बहुत यत्ना रखते है। अयोग्य, बहुत हिंसक, निन्दनीय, जातिविरुद्ध, राजविरुद्ध व्यापार नहीं करते है। व्यापार में लाभ की मर्यादा बॉधते है कि एक रुपये पर आने से अधिक नफा नहीं लेवूंगा। इससे पैठ—परतीत जमती है। नियमित लाभ होने पर तृष्णा नहीं बढ़ाते है। व्यापार के लाभ में धर्म का भी हिस्सा रखते हैं। धर्म-भाग, पंच-भाग, एवं राज-भाग छुपाते नहीं हैं। दग़ाबाज़ी ठगाई नहीं करते है। और क़साई आदिक हिंसक लोगों के साथ लेन देन नहीं करते हैं। पर्व आदि तिथि को व्यापार एवं अन्य आरंभ का काम छोडकर पोषा तथा दया करते हैं पिछला पहर दिन रहे व्यापार बंद कर के भोजन पान से निवृत्त होजाते हैं। रात्रि को बनेतो चारोंही आहार त्यागते हैं, नहीं तो पाणी उपरान्त कुछ भोगते नहीं हैं, क्योंकि रात्रि भोजन महापाप का कारण है। सन्ध्या समय सामायिक प्रतिक्रमण करते हैं, फिर दिवस में किये कामों का चिन्तन करके (हिशाब आदि कर) निवृत्त होते है। शयन स्थान को

विकार उत्पन्न करने वाले चित्र आदि से नहीं श्रृंगारते है, परन्तु हित शिक्षण देनेवाले संक्षिप्त-लेखों के तखते लगाये रखते हैं कि जो विशेष कुमार्ग में जाते हुये मनको रोके रक्खें। स्वस्त्री के साथ भी विशेष अमर्यादित यानि विशेष विषयासक्त होना बड़ा हानि कारक समझते है, वीर्य का जितना रक्षण हो उतनाही सुखदाई समझते हैं। ज़्यादा इच्छा नहीं रुके तो छः परवी वग़ैरह धर्म पर्वों में अवश्य ब्रह्मचर्य पालते हैं, और अन्य रात्रियों को भी एक वक़्त से ज़्यादा विषय सेवन नहीं करते हैं। स्त्री की शय्या में निद्रस्थ नहीं होते हैं, निद्रा के पहिले जिनस्तवन मंगलीक आदि स्मरण करके सोते है कि जिससे शांत निद्रा आती है। इत्यादि जो नित्य नियमित क्रियाएँ करते हैं वे श्रावक कहे जाते है।

ऐसे श्रावकजी इक्कीस गुणों के धारी होते हैं सो कहते है:—

(१) "अखुद्दो" क्षुद्र भाव से रहित होवें। सर्व प्रथम गुण तो जिनेश्वर भगवंत ने प्रकृतियों को सरल बनाने का ही फरमाया है। अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृति का क्षय एवं क्षयोपशम होने से जिनके स्वभाव में से क्षुद्रपणा—तुच्छपणा—नीचपणा—स्वाभाविक ही निकल गया हो, वे सच्चे श्रावक है। अपराधी का भी बुरा नहीं चिन्तवें तो दूसरों का कहना ही क्या ? सब के हित कर्ता होवें, और हरेक कार्य दीर्घ विचार से करने वाले होवें।

(२) "रूपवत" रूपवंत होवें। यह बात कुछ अपने अधीनता की नहीं है, परन्तु जो जीव पूर्व जन्म में पुण्य का संचय करके आते है, वेही श्रावक के घर अवतार लेते हैं, वे स्वाभाविक रूपवंत होते हैं। कहा है कि—"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" अर्थात् जिनका रूप सुन्दर होता है उनके गुण भी बहुत करके अच्छे ही होते है। परन्तु यहां ऐसा नहीं समझना कि रूप हीन को धर्म ग्रहण नहीं करना, धर्म को तो सबही ग्रहण कर सकते है। और धर्म भी सब को ही सुख का कर्ता होता है। यहां तो मात्र व्यावहारिक शोभा के लिये कहा है।

(३) "पगइसोमो" प्रकृति का शीतल होवे। अर्थात् "रूपे रूड़ा गुण बाइडा रोहिड़ा का फूल" इस मारवाड़ी कहावत के अनुसार गुणों के

विना रूपवंत शोभता नहीं है। इस लिये जैसा रूप सौम्य होवे वैसा अंतः करण भी स्वभाव से ही शीतल होना चाहिये। क्योंकि क्षमा गुण ही अन्य सब सद्गुणों को धारण कर सकता है, शीतल स्वभावसे सब जीव निडर रहते है, विश्वसनीय होता है, और उनके सम्बन्ध से अनेक प्राणी सद्बोध आदि प्रसंग को प्राप्त होकर धर्मात्मा बन सकते हैं।

(४) "लोगपियाओ" जो शीतल स्वभावी होते हैं, वे सबको प्रिय लगते हैं, यह स्वाभाविक ही है। और श्रावक जन इस लोक परलोक और उभय लोक के विरुद्ध कोई भी कर्तव्य नहीं करते हैं। (१) गुणवंत की या किसी की भी निंदा करना, सरल—भोले—दुर्गुणी इत्यादि का हांसी ठट्ठा करना, जनेश्वरी—धनेश्वरी—गुणवंत—प्रख्यातिवंत इत्यादि महाजनों के प्रति ईर्षा—मत्सरभाव करना, समर्थ होते हुये स्वधर्मियों—जाति भाइयों अनाथों आश्रितों की सहायता नहीं करना, इत्यादि कर्तव्य इस लोक विरुद्ध गिने जाते हैं; सो श्रावक नहीं करते हैं (२) खेती—वाड़ी—सड़क—पुल—गिरनी—वनकटाई आदि महा आरंभ के कर्म करना, तथा इनका ठेका इजारा लेना, कोटवाल आदि की लोगोंको त्रास दायक पदवियाँ लेना, इत्यादि महा हिंसा के कर्मों से इस लोक में तो द्रव्यकी एव मान महत्व की प्राप्ति होती है, परन्तु आगे के जन्म मे नर्कादि दुर्गति में रौरव दुःख भुगत ने पड़ते हैं। इस लिये यह परलोक विरुद्ध कर्म गिने जाते हैं सो भी श्रावक नहीं करते हैं। (३) और दोनों लोक विरुद्ध कर्मों में—सात दुर्व्यसन आदि का सेवन है। जैसे [१] "जूवा" सट्टे का अंक लगाना, नकी दुवा, तास गंजीफे, शतरंज आदि जितने भी हार जीतके काम हैं वे सब के सब जूवा की गिनती में है। इस व्यसन में पड़ा हुआ प्राणी घरके धनका सत्यानाश करके दिवाला निकाल देता है, चौरी आदिक कुकर्मों से इज्जत गवॉकर राजा और पंचों का गुनहगार होता है एवं नर्क आदि दुर्गति में चला जाता है, [२] जूवा जैसे कुकर्म से उपार्जन किया हुआ हराम का धन सुकृत्य में लगना तो मुशकिल है, इस लिये जुवारी प्रायः अधिकतर मांसाहारी होते है—सो जलचर मच्छादि, थलचर गौ आदि पशु, खेचर पक्षी, इनका मांसका भक्षण करने वाले अंत में ऐसे

निर्दय बन जाते है कि कभी कभी मनुष्यों को मारते हुये भी नहीं अच-कचाते हैं। धर्म-विरुद्ध एवं जाति-विरुद्ध कर्म करके इस लोक में इज़्ज़त और विश्वास गवॉकर कुष्ठ, भगंदर आदि भयंकर रोगों के ग्रास होकर, मर कर, नर्कादि दुर्गती में जाते हैं [३] मदिरा के विना मांस का हज़म होना मुशकिल होता है, इसलिये मांसाहारी दारूभी पीता है, और नशेमें बेशुध हो अशुचि में लोटता है, माता भगनी पुत्री से भी संगम कर लेता है, और मिष्ट भोजन में लुब्ध हुआ धन का नाश कर कंगाल बन जाता है, घर में सदा क्लेश मचा रहता है। ऐसे कर्मों से इस भव में इज़्ज़त गवॉकर महादुःख से मरकर नर्कादि कुगति में चला जाता है। [४] मद-मस्त हुआ स्वस्त्री मे तृप्ति न होकर भंगी आदि नीचों की झूठ जो वेश्या नामक दमड़े की जोरू है उसका गुलाम बनता है। वह जाति-धर्म-धैर्य तथा बुद्धि और प्रिय शरीर का भी गरमी आदि रोगों से अपना सत्यानाश कर देता है और नरक में जा फौलाद (लोह) की गरम पूतली से आलिंगन करता है [५] ऐसे दुष्ट वेश्या के घर रूप पायखाने के आनंद से ही संतुष्ट नहीं होते, प्रत्युत अपने नीच मन को रमाने के लिये निर्दय कामों में भी शूरत्व बताते है। निर्जन बनों और पहाड़ों में निर्माल्य घास फूँस खाकर अपनी उम्मर टेर करने वाले तथा अपने कुटुम्ब में अमन चैन से रहने वाले हिरण शशक आदि अनाथ जीवों को बाण गोली आदि शस्त्रों से मारने वाले, उन्हें आक्रन्द करते देख कर आनन्द मानने वाले इस लोक में कुष्ट आदि भयंकर बिमारियों से ग्रस्त होकर नरक में जाते हैं और वहां यम देव इसी तरह उनकी शिकार खेलते हैं [६] चौरी और जारी (परस्त्रीगमन) इन दोनों कामों की तो प्रायः सभी लोग निन्दा करते हैं, परन्तु दुर्व्यसनी तो इनही कामों में आनन्द मानते हैं। जिन्होंने पहलेतो अपने धनका नाश कर एवं प्राणान्त संकट सहकर द्रव्य का संग्रह किया और अब उसे प्राण से भी अधिक प्यारा कर रखा है, उनके घर में अचानक ही चले जाते हैं और गृह स्वामी की ग़फलत में या धोके बाजी से धन हरण कर लाते हैं, जिससे वे धनेश्वरी बेचारे आक्रन्द से विलापात करते हैं, कितनेक तो भय के मारे प्राण भी छोड़ देते हैं।

और वे चोर भी उस धन से सुख नहीं भोग सकते हैं। कहा है कि—"चोर की मां का कोठी में मूँढा" अर्थात् चोर का सब कुटुम्ब सदा चिंता में ही रहता है कि कहीं कर्म प्रगट होजावेंगे तो मारे जावेंगे। और पाप प्रगट होनेपर कारागृह (कैद खाने) के अनेक दुःख भोग कर एवं अकाल में ही मृत्यु पाकर नर्क में जाते हैं और वहां यमों की अनेक त्रास भोगते हैं [७] चोर लोग जार कर्म करने वाले भी होते हैं। जार का सदा दुर्ध्यान रहता है, कार्य साधने के लिये अपने उपकारियों की भी हिंसा करता हुआ अचकचाता नहीं है। उस कामान्ध को इतना भी विचार नहीं होता है कि जो स्त्री अपने पति की ही नहीं हुई वह मेरी कब होगी। और प्यारियोंके हाथों से प्यारों के कतल होने के कई दाखले मौजूद होते हुये भी वह कर्म नहीं त्यागता है और सुजाकादिक बिमारियों से सडकर अंतमें मरकर नर्कमें वेश्या विरागी की तरह विपत्ति भोगता है। इन सातों दुर्व्यसनों को दोनों लोक विरुद्ध कर्म जानकर, जो श्रावक कदापि नहीं करते हैं वे सर्व लोक के प्रिय होते हैं। और भी दान मान आदि से लोगों के चित्त को अपने तावे में कर जगत् की प्रीति संपादन करते हैं।

(५) "अक्रूरो" लोगोंकी प्रीति वही संपादन करेगा, जिसका चित्त अक्रूर यानी निर्मल होगा। क्योंकि जिनका मन निर्मल होता है, वे सबको निर्मल समझते हैं, जिससे वे छिद्री नहीं होते हैं। छिद्री का सदा दुर्ध्यान रहता है, वह अनेक सद्गुणों पर पाणी फेर कर दुर्गुणों की तरफ ही लक्ष्य रखता है, जिससे वह बड़े बड़े संत महात्मा त्यागी वैरागियों का भी द्रोही हो जाता है, दोनों लोकों में अनेक आपदा भोगता है, ऐसा जानकर श्रावक जी सब के सद्गुणों के ही ग्राही होते हैं। गुण और अवगुण प्रायः सभी वस्तुओं में होते हैं, जो एकेक वस्तु के अवगुण धारण करें तो वह अवगुण का भंडार हो जावे, और गुण धारण करें तो गुणका भंडार होजावे। जिससे दोनो लोकों में अनेक सुखों का भोक्ता बने, श्रावक जी ऐसे गुणानुरागी होते हैं—गुण ही गुण ग्रहण करते हैं।

(६) "भीरू" जो गुण ग्राही होंगे, वे गुण के भंडार बनेंगे। और जिनके पास गुण रूप खज़ाना भरा होगा, वे उन रत्नों को हरण

करने वाले तथा मलिन करने वाले चोरोंसे अवश्य ही डरेंगे। मेरे गुणोंका नाश न होवे या किसी प्रकार से कलंकित नहीं होवे–इस डरसे डरते हुये वे (१) द्रव्य चोर–अधर्मी, पापी, दुर्व्यसनी, अनाचारी' पाखंडी, म्लेच्छ, कृतघ्नी, विश्वास घातक, चोर, जार इत्यादि अयोग्य लोगों का संग नहीं करते है और (२) भाव चोर–मद, मत्सर दगा, निन्दा, चुगली, व्यभिचार, हिंसा आदि दुर्गुणों को अपने गुण रत्नों के खज़ाने में प्रवेश नहीं करने देते हैं–सदा सावधान रहते हैं। इन दोनों चोरोंका प्रसंग बड़ा ही भयङ्कर होता है। इन चोरों ने बड़े बडे पराक्रमी–जपी–तपी–ज्ञानी–ध्यानी–महात्माओं को धूल में मिला दिया है, इस वास्ते इन से डरनाही उचित है। जो डरेगा सो ही बचेगा! अस्तु, भीरुत्व–डरना भी सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस गुण से अनेक गुण आकर्षित होकर अपने आप चले आते हैं। अर्थात् जो लौकिक अपवाद निन्दा से और पारलौकिक अपवाद नर्कादि गति से डरेगा, वह अकार्य पाप कर्मों से अवश्य बचेगा। कुकार्यों से बचने के लिये इस गुण की बहुत ही जरूरत है। परन्तु धर्मोन्नति के स्थान में इस गुण का आश्रय लेना उचित नहीं है, जो औषधी जिस मरज़ पर वापरने की होती है वह वहीं गुण करती है, उसके प्रति पक्षी रोग को मिटाने के लिये तो प्रति पक्षी औषधी ही गुण कर्ता होगी, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है।

(७) "अशठ" जो यथोचित स्थानों में यथोचित वस्तुओं का व गुणोंका व्यय करते है, उनको अशठ यानी सुज्ञ कहते है। और भी शठ नाम मूर्ख का है। जो मूर्ख अज्ञानी अनसमझ होता है, उसे कार्याकार्य का विचार नहीं होता है, ऐसे श्रावक नहीं होते है। श्रावक तो कार्याकार्य का विचार करके, जो कार्य करने लायक होते हैं वे ही कार्य करते हैं। किसी का भी मन दुःखित न हो–ऐसी चतुरता के साथ जो प्रवर्तते है, उन्हें ही चतुर कहते हैं। अथवा जो चारोंही गतियों से तिरने का उपाय धर्म और चारों कषायों को पतली करने का उपाय उपशम करते हैं वे ही श्रावक चतुर यानी अशठ होते हैं।

(८) "सुदक्खिन" सुदक्षिण अर्थात् अच्छे विचक्षण हौशियार होते हैं।

दक्षिणता दो तरह की होती है, अतएव यहां दक्षिणता की आदि में "सु" प्रत्यय लगाया है। कुदक्षिणता उसे कहते हैं कि कितने ही दक्ष अपनी दक्षता का उपयोग पापकारी ठगाईके कार्यों में करते है। जैसे कसाइयों ने पशु वध के यंत्रों की योजना की है, जिससे एकही वार में अनेक पशुओं का संहार होजाता है। ऐसे ही त्रस एवं स्थावर प्राणी की हिंसा में भी बुद्धि का व्यय करते हैं, उसे कुदक्षिणता कहते हैं। ऐसी दक्षिणता यानी चतुरता को श्रावक मन कर के भी अच्छी नहीं जानते हैं तो फिर करना तो दूर रहा। और कितनेक व्यापारी लोग व्यापार के कामों में दग़ाबाज़ी करके चतुरता समझते हैं, तत्प्रतिरूप वस्तु बना कर-मिलाकर-झोल चढ़ाकर -सच्ची वस्तु के भाव बेच देते हैं। वैसेही व्याज में मास तिथि का फरक डालकर अधिक लेलेते है, तोल माप में कम देते है, ज़्यादा लेते हैं। वक़ील बैरिष्टर बनके झूठे को सचा और सचे को झूठा बना देते है। इत्यादि कुकर्तव्य में चतुरता समझते है, परन्तु श्रावक जन ऐसा करने में ज़बर्दस्त पाप समझते हैं। वे अपने लाभ के लिये ही नहीं करते है, तो फिर कराना और भला जानना तो दूर रहा। ऐसी कुदक्षिणता का त्याग कर सुदक्षिणी होते है-अर्थात् धर्मकी वृद्धि, दया की वृद्धि, ज्ञान की वृद्धि, तथा देव गुरू धर्म की प्रभावना आदि सुकार्यों में दक्षिणता वापरते है- नयी नयी युक्तियां निकालते है-ज्ञान की चमत्कारिक बातें रचते हैं, ऐसी चतुरता से लोगों को चकित करके धर्म की वृद्धि करते हैं, धर्म कार्यों में चतुराई का प्रसार करने से इस लोक में यशस्वी होते है, प्रख्याति पाते हैं। न्याय से उपार्जन की हुई लक्ष्मी बहुत काल टिकती है एवं सुख दाता होती है। और सबको सुख दाता होने से आगे के भव में भी सुखी होते हैं।

(९) "लज्जालु" विचक्षण पुरुषों के नेत्रों में लज्जा स्वाभाविकही होती है। कहा है "लज्जा गुणौघ जननी" लज्जा अनेक सद्गुणों को जन्म देने वाली माता है। अर्थात् लज्जा गुण होने से शील, संतोष, दया, क्षमा, आदि अनेक गुण आकृष्ट होकर चले आते हैं। उत्तम पुरुषों के नेत्र स्वाभाविक ही लज्जा से झुके हुये होते हैं, वे सदा अकार्य से शंकित रहते हैं,

लज्जावंत से झगड़े टंटे नहीं होते हैं, व्यभिचारी नहीं होते हैं, दग़ा कपट से बचे रहते हैं, अतएव वे सब को प्यारे लगते हैं-सत्कार पाते हैं। लोग आग्रह पूर्वक उन को आसन वस्त्र आहार आदि देते है। इत्यादि अनेक गुण समूह की धारक लज्जा को श्रावकजी अपने अंग में धारण करते हैं।

(१०) "दयालु" दया यह तो सर्व सद्गुणों का और धर्म का मूल ही है। जिनके घट में दया होती है वेही धर्मात्मा साधु एवं श्रावक कहे जाते हैं। दया दयाकी पुकार मचाते रहने से दयालु नहीं कहलाते है, परन्तु निस्वार्थ बुद्धि से दया के कार्य कर दिखाने वाले ही दयालु होते हैं। दयालु अपनी आत्मा के समान सबकी आत्मा को जानते हैं। अपने दुःख से जितना अंतः करण दुखता है, उतनाही दुःख दूसरों के दुःख से उन्हें होता है। धर्म का और उपकार का कारण जानकर अपने से ज़्यादा दूसरों की हिफाज़त करते हैं। परोपकार के लिये अपने प्राण तक झोंक देते हैं, धनका तो कहना ही क्या ? जितना समय परोपकार के काम में लगे, उतनाही आयुष्य और जितना द्रव्य परोपकार में लगे, उतना ही धन अपना समझते है। हरेक कार्य में किसी जीवका नुकसान नहीं होवे-ऐसे प्रवर्तते है, जैसे-उठते, बैठने, लेते, देते यत्ना रखते है। पाणी घी तेल आदिक पतली वस्तु तथा दीवा चुल्हा आदि वस्तु, जिनमें जीव पड़कर मर जाते है, उघाड़ी नहीं रखते है। झाडना, लीपना, छापना, भोजन बनाना, वस्त्रादि धोना, स्नान करना, रास्ते चलना इत्यादि अपनी आत्मा तथा परात्मा के घातक कार्य, रात्रि में नहीं करते हैं। पाखाने में जंगल जाने से, मोरी पर पेशाब करने से या स्नान करने से, असंख्य संमूर्छिम जीव मरते हैं; अतः ये भी टले वहां तक टालते है। त्रस जीव युक्त अन्न, फल, भाजी, आटा, दाल, सूखे शाक तथा मकान आदि नहीं वापरते हैं—धूप में या गरम पाणी धूम्र आदि के प्रयोगों से उनको दुःख नहीं उपजाते हैं। चातुर्मास आदिक जीवोत्पत्ति के काल में बहुत ही यत्ना सहित प्रवर्तते है, किराणे आदि का हिंसक व्यापार भी नहीं करते है। लोहे की कील लगे हुये नाल वाले

जूते नहीं पहनते है। मिथ्यात्वियों की देखा देखी मुरदों की राख पाणी में नहीं डालते हैं। सूर्यादि के ग्रहण में पाणी नहीं ढोलते हैं। विवाह लग्न आदि शुभ प्रसंगों में धन में आग नहीं लगाते हैं अर्थात् दारू के ख़्याल आतिशबाज़ी आदि नहीं छोड़ते हैं। धूप दीप आदि हिंसा कार्य में धर्म नहीं मानते है। पशुओं एवं मनुष्यों को कारण पड़ने पर मज़बूत बन्धन से बान्धें नहीं, मारें नहीं, अधिक भार भरें नहीं, अंगोपांग छेदें नहीं, वृद्ध नोकर को तथा पशु को छोड़ें यानी हटावें नहीं। दुष्काल आदि विकट प्रसंगों में अनाथों की यथाशक्ति सहायता करें। तन मन धन से दया की जितनी वृद्धि होवे उतनी करें।

(११) "मझत्थ" मध्यस्थ प्रणामी होवे, अर्थात् राग द्वेष की परिणति पतली होने से न किसी पर ज़्यादा प्रेम करते हैं और न किसी पर द्वेष! छद्मस्थता के योग से कदापि मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ वस्तु देखकर राग द्वेष मय भाव होजावें तो उससे अपने मनको तुरंत हटा लेते हैं। वे जानते हैं कि पुद्गलों का स्वभाव सदा पलटताही रहता है, अच्छे के बुरे और बुरे के अच्छे होते रहते हैं। जिसके स्वभाव में फरक पड़े उसपर राग द्वेष करना निरर्थक है। यह शरीर भी पोपते पोपते रोगी, वृद्ध और अंत में मृत्यु रूप बन जाता है। कुटुंबीभी पोपते पोपते बदल जाते है। लक्ष्मी भी क्षण भंगुर है। अस्तु जिस प्रकार धाय माता अन्य के बच्चे का लाड़ प्यार करती हुई भी जानती है कि यह मेरा नहीं है, तैसे ही श्रावक जी भी आंतरिक दृष्टि से कुटुम्ब आदि के मोह से अलग रहते हैं। मध्यस्थ वृत्ति से निबड़ कर्मों का बन्धन नहीं करते हैं तथा मध्यस्थ गुण धारी श्रावक किसी भी मत मतान्तर की खेंचा तानी में नहीं पड़ते हैं, न्याय को स्वीकार लेते हैं, दोषों को त्याग देते हैं।

(१२) "सुदिट्ठी" शुद्ध दृष्टि वाले होवें। दृष्टि नाम आंतर चक्षु से अवलोकन करने का है, सो अवलोकन दो तरह का होता है। जैसे पीलिये रोग वाला बाह्य चक्षुओं से श्वेत वस्तु को भी पीत (पीली) अवलोकन करता है, तैसे आंतरिक कुदृष्टि वाला मिथ्यात्वी भी सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु,

असाधु को साधु आदि उलटा ही देखता है, और कुकर्म करके सुख की अभिलाषा करता है, परन्तु उन कुकर्मों के फल भोगते समय वही दुःख पाता है। परंतु सुदृष्टि के आंतर चक्षु, निर्मल होने से यथार्थ ही देखते है।

हिंस्सा रहिए धम्मे, अट्ठारह दोस विवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे, सद्दहेण हवइ सम्मत ॥ ९० ॥

—मोक्ष पाहुड

अर्थात् जो अट्ठारह दोषों से रहित को देव मानते है, अट्ठारह पापों के त्यागी को गुरू मानते है, और जिनेश्वर की आज्ञायुक्त दया में धर्म मानते है, वे विकार दृष्टि रहित सौम्य–शान्त–शीतल–सम्यक दृष्टि वाले श्रावक जी होते है।

(१३) "गुणानुरागी" गुणवंत होने के लिये गुणानुरागी होना सर्व श्रेष्ठ उपाय है। "गुणानुराग" सम्यक् दृष्टि का मुख्य लक्षण है। गुणानुराग ही अनेक गुणों के समूह को एवं गुणी जनों को खेंच कर गुणानुरागी के पास लाता है। इस विश्वालय में अनेक पदार्थ हैं उन की पहचान गुणानुरागी को ही होती है। कहा है, "भाग्यहीना न पश्यति बहुरत्ना वसुधरा" अर्थात् यह पृथवी गुणीजन रूप रत्नों करके भरी है, उसे भाग्य हीन नहीं देख सकते है, भाग्यवान गुणानुरागी ही देख सकते है। गुणानुरागी ज्ञानवंत, क्रियावंत, क्षमावंत, धैर्यवंत, त्यागी, बैरागी, ब्रह्मचारी, संतोषी, धर्म दीपक आदि गुणवंतों को देखकर बिलकुल ही ईर्षा नहीं करते है, प्रत्युत अधिक खुशी होते है। वे समझते है कि इनहीं नररत्नों से जगत् में क्षेम कल्याण वर्तता है। ऐसा जानकर गुणवंतों की तन मन धन से यथा शक्ति सेवा भक्ति बजाते है, इच्छित वस्तु–वस्त्र आहार, औषध, पुस्तक, स्थानक, वग़ैरह से साता उपजा कर धर्मानुराग बढ़ाते है। नम्रता से सत्कार सन्मान करके उनका उत्साह बढ़ाते है और मनसे भले जानकर, वचन से कीर्ति कर, काया से भक्ति कर, पुण्यानुबन्धी पुण्य उपार्जन करते है। ऐसे सत्य वक्ताओं के मुख से गुणवंतों की कीर्ति श्रवण कर, अनेक गुणवंत बनते है—अनेक गुणानुरागी बनते है। गुणग्राही होने के कारण गुणानुरागियों का कोई भी दुशमन नहीं होता है। और

वे दूसरों के गुणगान करते हैं, जिससे जगत भी उनका गुणगान करता है, जिससे उनकी सत्कीर्ति विश्वव्यापी बन जाती है। (१) श्रीमद्भागवत में लिखा है कि गुरू दत्तात्रेयने सुतार, वेश्या, मक्खी, आदि २४ गुरू किये थे, सो फक्त गुणानुरागी बनके गुण ग्रहण करने का ही कारण था! जिससे वे अभी वैष्णव सम्प्रदाय में गुरू दत्त के नाम से पहचाने जाते है, और बहुत जन उनका भजन करते है। (२) श्रीकृष्ण वासुदेव के गुणानुराग के बारे में शक्रेन्द्र जी ने प्रशंमा कीथी। उसे एक देवता ने क़बूल नहीं करी। अन्ततः सड़ी हुई कुत्ती का रूप बनाकर रास्ते मे पड़ा। उसकी दुर्गन्ध से सब लोगों ने मुँह फिरा लिय, परन्तु कृष्णजी ने उसकी दांतों की बत्तीसी की प्रशंमा करी। ये गुणानुरागियों के लक्षण ध्यान में लेकर, एवं गुणानुरागी को गुण सागर जानकर, श्रावक जी गुणानुरागी बनते है।

(१४) "सुपक्ख जुता" गुणानुरागी तो होवें, परन्तु गुण अवगुण की गड़बड करें नहीं। गुण अवगुण की पिछान करके एवं अवगुण को छोड़करके जो गुणही का पक्ष ग्रहण करते हैं सो सुपक्षी कहे जाते हैं। पक्ष भी दो तरह के होते हैं कुपक्ष और सुपक्ष। अतएव उपरोक्त पक्ष शब्द में "सु" प्रत्यय लगा है। प्रथम कु-पक्ष है सो भी दो तरह का होता है–(१) कितनेक सत्संग से सत्शास्त्रों के पठन से एवं लोगों की प्रवृत्ति आदि के देखने से जान जाते हैं कि जिनका हमने पक्ष ग्रहण किया है वे देवगुरु धर्म खोटे हैं, शुद्ध आचार विचार रहित हैं, तो भी पक्ष मे बंधे हुये उन्हे नहीं छोड़ते है। वे विचारते है कि मुझे इस धर्म वालों ने अगवानी बना रक्खा है। सब मेरा सन्मान करते है। मेरी आज्ञा मे चलते है, जो मै इसे छोड़ दूंगा तो मेरी निंदा होगी, आजीविका बंद होजायगी, ऐसा सन्मान दूसरी जगह नहीं मिलेगा इत्यादि विचार से खोटे पक्ष को गधे की पूंछ की तरह लात खाते हुये भी पकड़े रहते है, उसे आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहते है (२) कितनेक जीव स्वभाव से ही भोले भाले होते हैं, अतः वे आचार विचार तो कुछ समझते नहीं है। जैसे बाप दादा करते आये हैं वैसाही हमको भी करना चाहिये, अपनी कुल

परंपरा से जो गुरू चले आते हैं अपने तो वेही गुरू है। जैसे दूध वाले को तो गाय के दूध से गर्ज़ है, चाहे वह कुछही खाती फिरे, तैसेही अपने को तो ज्ञानादि गुण ग्रहण करने की गर्ज़ है, आचार को देखकर हमें क्या करना है-इत्यादि विचार से दृष्टि राग में फँस कर कुमत का पक्ष धारण करते है एवं सुमत से द्वेष करते हैं, वे अभिग्रह मिथ्यात्वी कहे जाते हैं। परंतु श्रावक जन ऐसे भोले नहीं होते हैं। वे तो पूर्व पुण्योदय से जो सद्बुद्धि की प्राप्ति हुई है, लौकिक लोकोत्तर प्रसंग द्वारा एवं सच्छास्त्र श्रवण पठन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके द्वारा सुपक्ष कुपक्ष की छान बीन करते हैं। जो कुपक्ष मालूम होता है उसे छोड़ देते हैं। और सुपक्ष को ही स्वीकार करते हैं। यहां कोई कहे कि पहिले तो तुमने राग द्वेष करने का निषेध किया था, और अब फिर अच्छे का पक्ष ग्रहण करने के लिये कहते हो? तो उनसे कहा जाता है कि वस्तु को यथार्थ जानने और यथार्थ कहने में कुछ दोष नहीं है। यह जहर है, इसके खाने से मृत्यु होती है। यह अग्नि है, इस के छूने से शरीर जलता है। ऐसे ही यह पाप कर्म है, सो दुःखका दाता है। इन अनाचीर्णों के सेवन करने वाले को साधू नहीं कहना। इत्यादि यथार्थ कह कर सुखार्थी आत्माको दुःख के मार्ग में जाने से बचाने में निन्दा नहीं समझना चाहिये। यह तो सद्बोध और सद्धर्म में प्रवृत्ति कराने की सद्भावना है। और जिसे सत्यासत्य का भान नहीं है, उसे अज्ञानी कहा जाता है। और जो असत्य का पक्ष धारण करता है उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है। इस लिये जो श्रावक जन इन दोषों से निवृत्त होते हैं वे सुपक्षी कहे जाते हैं। (२) दूसरे रूप में सांसारिक संबंधी परिवार को भी पक्ष कहते हैं। सो श्रावक जी बहुत करके तो धर्मात्मा के कुल में ही उत्पन्न होते है, इस लिये मात पिता आदि स्वजनों के सुपक्ष के संयोग से सुपक्ष की वृद्धि करते हैं। कदापि पापोदय से मिथ्यात्वी कुल में जन्म होवे और पीछे पुण्योदय से सद्गुरू आदिका सुसंयोग मिलने पर धर्म की प्राप्ति होने से श्रावक धर्म अंगीकार करे तो उन श्रावक को उचित है कि बने वहां तक किसी भी उपाय से अपने परिवारको धर्मात्मा बनावे। क्योंकि अधर्मी मिथ्यात्वियों के प्रसंग में हमेशा रहने से क्लेश चिंता आदि-

उत्पन्न होवें तथा व्रतों का शुद्ध पालन होना मुशकिल होवे। इस लिये जैसे चेलणाजी भूल से मिथ्यात्वी कुल में आगई परन्तु पर्यत्न करके अपने पति श्रेणिक राजा को और सब परिवार को, यही नहीं सारे देश तक को जैनी बना दिया, तैसे ही यथा शक्ति पर्यत्न सबको करना चाहिये। ऐसे सत्पुरुष ही जगत में उत्पन्न हुये प्रमाण गिने जाते हैं।

(१५) "सुदीह दिट्ठी" अच्छी दीर्घ दृष्टि वाले होवें। सु-अच्छी और दीह-लम्बी, ये दो प्रत्यय दृष्टि नामक शब्द के लगे हैं, इस से दृष्टि के चार भेद होते हैं-१ सुदर्शी, २ कुदर्शी, ३ दीर्घदर्शी, और ४ हस्व दर्शी। इन में दो तो हेय हैं अर्थात् त्यागने योग्य है और दो उपादेय हैं अर्थात् आदरने योग्य हैं। आदरने योग्य का स्वरूप बताने से त्याग ने योग्य की सहज ही समझ हो जायगी। दर्शी नाम अंतःकरण में दर्शने का यानी विचारने का है। अनादि से कु-कर्म के कार्योंका प्रसंग होने से कुविचार की रमणता स्वाभाविक होती है, और सुविचार का आना मुश-किल है, परन्तु धर्मात्मा जीव अनादिकाल के कुस्वभाव को मिटाने के लिये सदा सुसंयोग के स्थानों में रहते है और वार्तालाप में तथा कायिक भोग आदि सम्बन्ध में भी कुविचार की वृद्धि का प्रसंग कम ही आने देते हैं। अपशब्द बोलना, अंग कुचेष्टा करना, या विशेष काल इन्द्रियों के भोग विलाश में ही विताना, यह श्रावकों का कर्तव्य नहीं है। पाप मय विचार, उच्चार एवं आचार से अधिकाधिक बचने के उपायों में मशगूल रहने वाले ही श्रावक होते है। अब दीर्घ दृष्टि पर विचार करिये। एक कार्य ऐसा होता है कि जो स्वल्प काल तो सुखदेता है और बहुत काल दुःख देता है तथा एक कार्य ऐसा होता है कि स्वल्प काल तो दुःख प्रद होता हैं और बहुत काल सुख प्रद होता है। इन दोनों कार्यो का दीर्घ दृष्टि से विचार कर, स्वल्प काल सुख रूप और बहुत काल दुःख रूप पंचेन्द्रियों के भोगों का एवं अन्याय से द्रव्योपार्जन करने आदि का त्याग कर, स्वल्प काल दुःख और बहुत काल सुख देने वाले तप संयम त्याग वैराग्य आदि कर्तव्यों को स्वीकार कर, दीर्घ दृष्टिवाले श्रावक, वर्द्धमान परिणाम से प्रवृत्ति करते हैं।

मतलब यह है कि–हरेक कार्य के अंतिम परिणाम यानी फल को विचार करके जो कार्य करते हैं, उन्हें पश्चात्ताप का प्रसंग बहुत कम आता है। इस गुण वाले व्यक्ति कार्य करने की रीति और उसके गुण के जानकार होते हैं, लोक अपवाद से बचते हैं, राज दरबार पंचपंचायती के कामों में माननीय होते है अर्थात् बहुत लोग उनकी सलाह मशविरा से काम करते हैं। और श्रावक भी ऐसे विचक्षण होते हैं कि पाप कार्यों में सलाह देते हुये भी धर्म ही पैदा कर लेते हैं। जैसे किसी ने सक्कर गालने की परवानगी मांगी, तब आप विचक्षणता से जबाब देते है कि इतने उपरांत सक्कर गालने की कुछ ज़रूरत नहीं दिखती है। इस कार्य में अमुक वस्तु (जो विशेप पापकारी हो सो) निपजानी नहीं चाहिये। अहो भव्य ! धर्म विवेक में ही है। विवेकी श्रावक व्यवहार को साधते हुये भी अपनी आत्मा पाप से बचालेते है।

(१६) "विसेसन्न" विशेपज्ञ होवे। "ज्ञ" शब्द का अर्थ ज्ञाता होता है और "विशेप" शब्द के लगने से अधिक ज्ञाता होना, ऐसा मतलब होजाता है। जाणपने की कोई सीमा तो है ही नहीं, इसलिये सामान्य पुरुषों से जितना विशेप ज्ञान होवे उतनेही विशेपज्ञ कहलाते हैं। विशेपज्ञ भली बुरी सबही बात के जानकार होते हैं, क्यों कि बुरी को बुरी जानेगा तब ही बुरी से अपनी आत्मा को बचा सकेगा। शास्त्र में भी कहा है "जाणियव्वा न समायरियव्वा" अतिचार पाप आदि के जानकार तो होना परन्तु आदरना नहीं। ऐसे ही गुणों के भी जानकार होना चाहिये ! जो व्रतादि गुणों के फलका जानकार होता है वह व्रतादि गुणों को स्वीकार करता है, उस के अंतःकरण में वे गुण चिरस्थायी होकर रहते है, और उन गुणों का वह यथातथ्य फल भी प्राप्त कर सकता है। जैसे सुवर्ण और पीतल, गायका दूध और आक का दूध, आदि कितनेक पदार्थ रूप में तो एक समान दीखते है फिर भी उनमें पृथिवी और आकाश जितना अंतर होता है। तैसे ही इस सृष्टि में कितनेक ऐसे मनुष्य हैं कि ऊपर के भेपमात्र से ऊपर मे तो एक सरीखे दीखते हैं कि ये सच्चे साहूकार–सच्चे भक्त राज–धर्मात्मा–महात्मा–साधू–बड़े गुणीजन

तथा उत्तम पुरुष हैं, और जब उनकी पोल खुलती है तब वे जितने ऊंचे दीखते थे उससे भी अधिक नीचे दीखने लगजाते हैं। और जितने ऊंचे चढ़े थे उससे भी अधिक लौकिक लोकोत्तर से यानी इस भव परभव से नीचे गिर जाते हैं। आप लांछित हुये पवित्र धर्म को भी लांछित करते हैं। ऐसे दुरात्माओं के अवगुणों को जानने के लिये श्रावक वड़े कुशल होते हैं। वे उनकी बोली में, चाली में, आहार व्यवहार में, दृष्टि में परीक्षा कर लेते हैं तथा धर्म की हीनता न होवे ऐसे उन्हें बना देते हैं। और जो सच्चे बाह्य अभ्यन्तर शुद्ध प्रवृत्ति वाले महात्मा होवें, उनके गुण कीर्तन कर अच्छी तरह धर्म की वृद्धि करते हैं।

(१७) " वृद्धानुराग " इस विश्व में एक से एक बढ़कर महान् पुरुष हैं, ऐसा जानकर श्रावक अपनी आत्मा मे सदा लघुवृत्ति धारण करते हैं। और जो व्यवहार पक्ष में या निश्चय पक्ष में बड़े होवें उनकी भक्ति करते हैं। व्यवहार पक्ष में जेष्ठ दो तरह के होते है, १—माता, पिता, बडे भाई, सेठ, बहुतों के माननीय, वय में—पदवी में बड़े, इत्यादि की यथोचित भक्ति करके संतोष उपजाते है। और २—साधू, साध्वी, श्रावक, श्राविका, इत्यादि जो धर्म पक्षी वयोवृद्ध एवं गुण वृद्ध शुद्ध व्यावहारिक प्रवृत्ति में प्रवर्तने वाले है, उनकी भी यथोचित तह मन से भक्ति करें। इस भक्ति से जगत में यशोवृद्धि होती है, और वृद्ध पुरुप संतुष्ट होकर अनेक पुराने खजानों की द्रव्य वस्तु सो रत्नादि और भाव वस्तु सो शास्त्रों की कूंजियाँ बताते हैं, तथा वृद्ध पुरुषों का शांति पूर्वक अंतःकरण का दिया हुआ आशीर्वाद ही बहुत गुणोंका कर्ता होता है। और भाविक गुप्त वृद्ध उनको कहते हैं, जो दीखने में तो वय एवं शरीर आदि में लघु दीखते हैं तथा दीक्षा भी थोड़े कालकी ही होती है, परन्तु कर्मों की क्षयोपशमता के योग से कितनेक को स्वाभाविक अंतःकरण की विशुद्धता होने से—ऐसा अनुभव ज्ञान प्रगट होजाता है, कि उनके हृदय उद्गार से अनेक ज्ञानादि गुणों की भरी हुई तात्विक बातें प्रगट होती है। सम्यक्त्वादि गुण जिनके मजबूत होते है, ऐसे पुरुष मान प्रतिष्ठाके लोभ से कदापि अपने गुण प्रगट नहीं करते हैं,

परन्तु विचक्षण श्रावक उनकी आकृति एवं प्रवृत्ति पर से उनकी पहचान करलेते हैं, जैसे जौहरी का पुत्र रत्न वाले पत्थर को पहचान लेता है। और उनकी व्यावहारिक प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य नहीं देते हुये यथोचित भक्ति तह मन से करते हैं। ऐसे पुरुष जो कदापि प्रसन्न होजावें तो दोनों लोकों में निहाल कर देवें। सारांश यही है कि वृद्धों की भक्ति बहुत गुण कारक होती है।

(१८) "विनीत" विनय यानी नम्रता, यह सब सद्गुणों का मूल है। गुणवंतों को अपने गुणों में वृद्धि करने के लिये इस गुण की बहुत ही आवश्यकता है। पहिले यह गुण जिनकी आत्मा में होता है तो वह दूसरे अनेक गुणों को खेंच लाता है। विनय से ज्ञान, ज्ञान से जीवाजीव की पहचान, पहचान से उनका रक्षण, रक्षण से वैर विरोध की निवृत्ति, और वैर विरोध की निवृत्ति से मोक्ष, यों विनय से यथाक्रम गुणोंकी प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर श्रावक सदा सबके साथ नम्रता से वर्तते हैं, किसी भी तरह का अभिमान नहीं रखते हैं। जो नम्र होता है वही ज़्यादा कीमत पाता है, अनेकान्त दृष्टि के द्वारा संसार में सर्वत्र देख लीजिये।

(१९) "कयन्नु" कृतज्ञ होवे यानी अपने ऊपर किसी ने उपकार किया हो तो उसे भूले नहीं। सत्पुरुषों का स्वभाव होता है कि वे राई जितने उपकार को भी पहाड़ जितना समझते हैं, और सदा प्रत्युपकार करने की अभिलाषा रखते हैं। ग्रन्थ में कहा है कि—

नहि मे पर्वता. भारा, नमे भाराश्च सागराः।
कृतघ्नास्तु महा भारा, भारा विश्वासघातका॥

अर्थात्—पृथिवी कहती है कि बड़े बड़े पहाड़ों का और बड़े बड़े समुद्रों का मेरे को बिलकुल ही भार नहीं लगता है, परन्तु कृतघ्न और विश्वासघातक, इन दोनों के महा भार को मैं सहन नहीं कर सकती हूँ!!

कृतघ्नता, ऐसे असीम पाप का कारण है। कृतघ्न का जगत् में विश्वास नहीं रहता है। कृतघ्न को दिया हुआ ज्ञान, तप, संयम, सब उलटा प्रगमता है, अर्थात् नुकसान का कर्ता होता है, जैसे सर्पको

पिलाया हुआ दूध विष रूप हो जाता है। ऐसे ऐसे कृतघ्नता में अनेक-संख्यक दुर्गुण हैं, ऐसा जानकर श्रावक इनका स्पर्श भी नहीं करते हैं। उपकारियों के उपकार का बदला चुकाने के लिये सदा तत्पर रहते हैं, अवसर आनेपर सवाया प्रत्युपकार करते हैं, और आनन्द मानते हैं कि आज मैं कृतार्थ हुआ।

(२०) "परिहियत्थ कारीये" व्यवहार भाषा में इस शब्द का मूलार्थ यह होता है कि-श्रावक वही होता है, जो सर्वदा दूसरों के हित के लिये कर्म करता है। वस्तुतः मनुष्य ही वही है जो परोपकार करता है, अन्यथा पशु में और मनुष्य में अंतर ही क्या रह जाता है। निश्चय में तो जो परोपकार करता है वह अपनी आत्मा परही उपकार करता है, क्योंकि परोपकार का फल अंततः उसही की आत्मा को सुख दाता होता है। इसलिये जो पर हित के कार्य को निजहित का कार्य समझ कर करते हैं, उनको उस कार्य का-परोपकार का गर्व नहीं होता है, जिससे वह कार्य बहुत फल का दाता होता है। क्योंकि अहङ्कार सदा सुकृत के फलका नाश करता है। और जो मूल शब्द में पर हित करने को कहा है सो भी बराबर ठीक है। क्योंकि जगत् में स्वार्थ साधने रूप दावानल बडा भयंकर लग रहा है। स्वार्थ साधने के खास अर्थ को नहीं समझते हुये जो मनुष्य स्वार्थ साधने का कार्य करते हैं, वह कार्य उलटा स्वार्थ का नाश करने वाला भी होजाता है। ऐसे अज्ञ जीवों को समझाने के लिये यह उपकार करने का उपदेश ही बहुत फायदे मंद होता है। श्रावक आंतरिक दृष्टि तो स्वार्थ साधने की तरफ रखते हैं, और व्यवहार में अज्ञ जीवों को रास्ते लगाने के लिये अपने व्यावहारिक धन कुटंब या शरीर का नुकसान भी यदि कभी होता हो तो उसकी दरकार नहीं रखते हुये परोपकार करते हैं, अन्य जीवों को यथाशक्ति सुख शान्ति उपजाते हैं। व्यास ऋषिने कहा है कि:—

—अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयं।
परोपकार पुण्याय पापाय पर पीडनं॥

अर्थात्-अष्टादश पुराणों का सार इन दोही वचनों में है कि—

परोपकार के बराबर पुण्य नहीं, और परको पीड़ा (दुःख) देने के बराबर पाप नहीं। ऐसा जानकर, श्रावक जी यथा शक्ति परोपकार सदा करते ही रहते हैं।

(२१) "लद्ध लक्खो" लद्ध—प्राप्त किया है लक्ष—ज्ञान। मोक्ष प्राप्त करने के चार कर्तव्यों में प्रथम कर्तव्य ज्ञान ही है, इस लिये मुमुक्षु जीवों को मोक्ष प्राप्ति करके ज्ञानाभ्यास करने की बहुत ही आतुरता रहती है। जैसे भूखे को आहार की, प्यासे को पानी की, रोगी को औषध की, लोभी को दाम की, कामी को काम की, आतुरता होती है तैसी ही आतुरता श्रावक को ज्ञान ग्रहण करने की होती है। जैसे उपरोक्त इच्छुक इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर प्रेमातुर हो ग्रहण करते हैं—अतृप्ति से भोगते हैं, तैसे ही श्रावक भी अति आदर पूर्वक ज्ञान ग्रहण करते हुये कभी तृप्त नहीं होते हैं। मूल सूत्र, सूत्र का अर्थ, और सूत्र का दोहन करके बनाये हुये थोकड़े आदि का अभ्यास करते हैं। शास्त्र में कहा है कि श्रावक "सुपरिगहा तवोवहाण" अर्थात् सूत्र का अभ्यास उपधान तप से युक्त करते हैं। और भी "निगंथे पव्वयणे, सावय सेवि कोविए" अर्थात् पालित श्रावक, निर्ग्रन्थ प्रवचन के जानकार थे। "सीलवया बहुसुया"-राजमतीजी दीक्षा धारण करी उसवक्त शीलवती बहुत सूत्रों की जानकार थी। इन दाखलों से जाना जाता है कि—श्रावक श्राविका दोनों ही को सूत्रका जानकार अवश्य होना चाहिये। जो सूत्र ज्ञानके ज्ञाता होवेंगे, उनकी श्रद्धा पक्की होगी, व्रत शील तप नियम निर्मल पाल सकेंगे, आराधक होवेंगे।

जो अपने अपने समय के अनुसार, उक्त इक्कीस गुणों से युक्त हों, उन्हें श्रावक कहना चाहिये।

(४) "श्राविका" जैसे २१ गुण श्रावक के कहे, वैसेही २१ गुण श्राविका के जानना, फक्त स्त्री पर्याय के कारण से व्यापार आदि कितनेक कार्यों का प्रसंग बहुत कम आता है। परन्तु श्राविका को गृह सम्बन्धी कार्यों का प्रसंग विशेष रहता है, उसमें बहुत ही यत्ना से वर्तने की एवं होशियारी रखने की जरूरत है। विचारना चाहिये कि

पूर्वोपार्जित पापोदय से तो स्त्री पर्याय पाई हूं, जिससे पराधीनता है और प्रायः सदा ही छः काया के आरंभ का प्रसंग होता है। अब विशेष डर कर चलूंगी, विना देखे विना पूंजे किसी वस्तु को नहीं वापरूंगी, लज्जा-दया-शील-संतोप-नम्रता-धर्म-दान-पुण्य-इत्यादि शुभ वृत्ति से वर्तूंगी, तो यह जन्म भी सुख से पूरा कर सकूंगी और आवते भव में पुनः स्त्री जन्म नहीं पावूंगी और सर्व सुख प्राप्त कर सकूंगी। इत्यादि शुभ विचार से जो सर्व को सुख देनेवाली हो एवं धर्म की वृद्धि करने वाली हो, वही सच्ची श्राविका होती है।

यह चारही तीर्थ के संक्षिप्त गुणों का वर्णन किया। इन के जानकार जो होवेंगे वे इन गुणों के धारक चतुर्विध संघकी भक्ति करके परमातम पद प्राप्त करने के मार्ग में प्रवेश करेंगे।

संघ भक्ति के १७ प्रकार।

(१) "साधू साधू की वत्सलता करे" लौकिक व्यवहार आश्रित तो कनिष्ठ तथा जेष्ठ का व्यवहार है, परन्तु निश्चय में तो ज्ञानादि गुणों के धारक समस्त साधु एक से ही हैं। इस लिये लौकिक व्यवहार साधने के अर्थ जेष्ठों को वंदना आदि व्यवहार गुरू पद में कहे अनुसार करे। और कनिष्ठों को सत्कार, सम्मान, आहारदान, वस्त्र दान, ज्ञानदान, आदि देकर संतोपे। सब साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहार करे, हिल मिल रहे, आपम में सूत्र थोकडे स्तवन आदि का श्रवण पठन करे करावे, शारीरिक व्याधि होने पर औषधी एवं पथ्य आदिक यथोचित वस्तु का संयोग मिला देवे, वैयावच्च सेवा करे, मानसिक व्याधि चिन्ता को निवारने के लिये उनको मनोज्ञ लगे-ऐसा सद्बोध करे। अवसरोचित वार्तालाप करके चित्त शांत करे। उपसर्ग उत्पन्न होने पर यथा शक्ति माहाय्य देवे। जो हित शिक्षा देने की हो सो सन्मुख ही देवे, परन्तु पीठ पीछे कदापि निंदा अपवाद रूप शब्द निकाले नहीं। निंदा करने से असमाधि दोष लगता है, निंदा पृष्ठ मांस भक्षण जैसी ख़राब कही है-इस लिये किसी भी साधू की कदापि निंदा नहीं करे। आपस में एकेक की यथोचित प्रसंशा करे, धर्म स्नेह पूर्ण रक्खे, और किसी का

अंतिम अवसर निकट आया जाने तो उनको आलोचना निंदना करा कर, अंतिम श्वासोच्छ्वास तक ज्ञान सुनाता हुआ समाधि मरण करावे।

(२) "साधू साध्वी की वत्सलता करे"—साध्वी दीक्षा में जेष्ठ हो तो भी उनको वंदना करने का व्यवहार साधू का नहीं है। क्यों कि स्त्री की पुण्याई पुरुष से अनंत गुणी हीन होती है, तथा स्त्री में गर्व आदि दोष स्वाभाविक पाते हैं। इत्यादि कारणों से साधू को साध्वी के प्रति नमस्कार करने का निषेध है। और विशेष परिचय का विचार रखना चाहिये, क्योंकि स्त्री पुरुष की पर्याय में मिलाप स्वाभाविक है, इस लिये जितना कम सम्बन्ध होवे उतना ही अच्छा है। बाकी कारण सिर आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, पथ्य, पुस्तक, सूत्र आदि जिस वस्तु की साध्वी जी को इच्छा होवे सो आपके पास होवे तो देवे, नहीं तो याचना करके लादेवे। क्योंकि पुरुष के पाससे मिलती हुई वस्तु की याचना करते समय कदाच साध्वी को शरम आवे तो साधु उस वस्तु का संयोग मिलाकर साता उपजावे। साध्वी का ज्ञान अभ्यास करने का इरादा होवे और कोई अभ्यास कराने वाली साध्वी का योग नहीं होवे तो साधू दो से अधिक साध्वियों को ज्ञान दान भी देवे, क्योंकि ज्ञान के बिना संयम का निर्वाह होना मुशकिल है। और अवसरोचित शिक्षा भी मधुर और मर्यादित वचनों से देवे, परन्तु पीछे निंदा कदापि नहीं करे। यथा योग्य गुणों की यथोचित कीर्ति करे, कि जिससे उनके ज्ञानादि गुणों में वृद्धि होकर संयम की निश्चलता होवे। साध्वी के संयम शील के विनाश होने का कोई अनार्यों का प्रसंग एवं उन्मादादि रोग का योग होतो आप मर्यादित रीति से गृहस्थ की साक्षी युक्त वार्तालाप करके, उनके चित्त को शील संयम में स्थिर करे, यह भी स्पष्टतः शास्त्र में आज्ञा है। अंतिम अवसर में समाधि मरण कराने को समर्थ होवे तो वहभी करावे।

(३) "साधू श्रावक की वत्सलता करे" साधू की सहायता के विना गृहस्थ को धर्म की प्राप्ति होनी ही मुशकिल है, इसलिये साधू ग्रामानुग्राम विहार करके जहां श्रावक ज्ञानादि गुण ग्रहण करने योग्य होवे, वहां कुछ काल रहकर स्याद्वाद शैली युक्त सूत्रादि ज्ञान सुनावे,

समझावे, रुचावे, पढ़ावे। चारतीर्थ के गुण एवं भक्ति करने की रीति बतावे। जो अधिक ज्ञानी, दृढ़ सम्यक्त्वी, निर्मल व्रत पालक, जैन धर्म को तन मन धन से दीपाने समर्थ या विकट प्रसंग प्राप्त होने पर जिन्होंने सम्यक्त्व व्रत का निर्वाह किया हो, इत्यादि गुणवंतों की सभा में प्रसंशा करे-जैसे भगवंत श्री महावीर स्वामी ने कामदेव श्रावक की प्रसंशा की थी। प्रसंशा सुनने से उनका तो धर्म करणी में उत्साह बढ़े, और अन्य श्रद्धालु एवं व्रती धर्म में दृढ़ बनें, गुण ग्रहण करें। और भी धर्मोन्नति वग़ैरह कई फायदे होवें। निराश्रित श्रावकों को आश्रय देने की संपन्न श्रावकों को सूचना करे तथा शिथिल प्रणामी शिथिलाचारी श्रावकों को उपदेश द्वारा एवं सहायता द्वारा स्थिर करे। अंत अवसर समाधि मरण करावे। साधूजी के उत्पन्न होने का क्षेत्र श्रावक ही है, और श्रावक के सहाय विना संयम का निर्वाह होना मुशकिल है, इसलिये साधू जी को उचित है कि अपने आचार को निर्मल रखकर, श्रावक की यथोचित वत्सलता करे।

(४) "साधू श्राविका की वत्सलता करे" श्रावक की तरह ही श्राविका की वत्सलता भी जाननी। परन्तु स्त्री पर्याय होने से विशेष परिचय न करे। बाकी व्याख्यानादि द्वारा हित शिक्षण एवं पठन वग़ैरह यथोचित रीति से करावे। श्रावक से अधिक आवश्यकता श्राविका को बोध करने की है, क्योंकि गृह सम्बन्धी अनेक आरंभ के कार्य विशेपतया स्त्री के हाथ से ही होते हैं। अपनी संतान को बचपन से जैसा हित शिक्षण माता दे सकती है, वैसी ही प्रवृत्ति बहुत करके उस संतान की भविष्य में होती है और साधुओं को भी आहार पाणी आदि के लिये श्राविका ही विशेप उपयोग में आती हैं, इत्यादि कारणों से यथोचित रीति से साधु श्राविका की वत्सलता करे।

(५) "साध्वी साधू की वत्सलता करे"-साध्वी से साधू का पद सदा बड़ा है, इस लिये सौ वर्षादि दीक्षा वाली आर्या को भी तुरंत के दीक्षित साधू को वंदना करना उचित है, तैसे ही कारण सिर आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, पथ्य आदि जो मुनिराज को खपे और आप ला देने के समर्थ हो सो ला देवे। वस्त्र शुद्ध करना, सींवना, रजो हरण आदि बनाकर देना,

इत्यादि यथोचित भक्ति करे, परन्तु विशेष परिचय नहीं करे। और जो कोई साधू उन्माद आदि रोगों से एवं शंका आदि दोषों से चलित होगया हो, उसे आप ठिकाने पर लाने को समर्थ होवे तो पिता पुत्री की बुद्धि से, गृहस्थों की साक्षी से, बार्तालाप करके स्थिर करे, यावत् अंतिम अवसर में समाधि मरण करावे।

(६) "साध्वी साध्वी की वत्सलता करे" जेष्ठ साध्वियों को वंदना नमस्कार करना, और समान तथा कनिष्ठों का सत्कार संमान करना, ऊंच मधुर बचनों से बुलाना। वृद्ध स्थविर रोगी वग़ैरह कारणिक शरीर धारियों को आहार, औषध, पथ्य, वस्त्र सुख स्थान आदि से वैयावृत्य करके सुख साता उपजावे। बड़ी को एवं छोटी को किसी को भी कदापि अपशब्दों से नहीं बोले, क्लेश करे नहीं। सब के साथ हिल मिल कर रहे। आपस में ज्ञान ध्यान देवें-लेवें, सूत्र थोकड़ों का पठन-पाठन करें करावें। कदापि किसी की चुगली निंदा विकथा करके संयम का अमूल्य समय व्यर्थ नहीं गमावें। आपस में एकेक की प्रशंसा करे। अधिक ज्ञान वंत हों उन्हें व्याख्यान पठन आदि ज्ञान वृद्धि के काम सौंपे और दूसरे कामों का विशेष प्रसंग नहीं आनेदे। दूसरा भी उनका जो कोई काम होवे सो आप करके उनको संतोष उपजावे, यावत् समाधि मरण करावे।

(७) "साध्वी श्रावक की वत्सलता करे"-जिस तरह साधूजी श्रावक की वत्सलता करे, तैसे ही साध्वी जी भी श्रावक की वत्सलता करे। विशेष इतनाही है कि पुरुष पर्याय होने के कारण विशेष परिचय नहीं करे। और यथोचित रीति से ज्ञान दान का सद्बोध देकर धर्म मार्ग में दृढ़ बनावे। गुणवंत की प्रशंसा करे, यावत् समाधि मरण करावे।

(८) "साध्वी श्राविका की वत्सलता करे"-जैसे साधू और श्रावक का जोड़ा है, तैसे ही साध्वी और श्राविका का भी जोड़ा है। जैसे श्रावक को सुधारने का साधू का अधिकार है, तैसे श्राविका को सुधारने का भी साध्वी का अधिकार है। स्त्री जाति में सुधार की बहुत जरूरत है, स्त्री जाति को धर्म ज्ञान की विशेष आवश्यकता है। और स्त्री जाति का

सुधार जितना स्त्री जाति से हो सकता है उतना पुरुष जाति से होना मुशकिल है। इस लिये विशेषज्ञ आर्याओं को श्राविकाओं के सुधार की ओर भी विशेष लक्ष्य देना चाहिये। साध्वियों की जननी श्राविका ही हैं, अतः श्राविकाओं का सुधार होने पर शिष्यणियों का सुधार करने में विशेष तकलीफ नहीं उठानी पड़ती है। इत्यादि विचार से श्राविकाओं को उपदेशद्वारा गृह कार्य आदि में यत्नायुक्त वर्तन करने, कुटुम्बके साथ सविनय व्यवहार करने, धर्म गुरुओं के साथ धर्माचार युक्त सविनय वर्तन करने, आदि की रीति भांति बतावे एवं धर्म ज्ञान पढावे। भाव यह है कि इस प्रकार से उसे चतुर करदेना चाहिये, जिससे चार ही तीर्थ की जननी का सुधार होने से, चारही तीर्थ का सहज सुधार होवे, यावत् समाधि मरण भी करावे।

(९) "श्रावक साधू की वत्सलता करे" श्रावक का नामही शास्त्र में "श्रमणो पासक" लिखा है। उसका अर्थ ही यह होता है कि जो साधू की उपासना यानी भक्ति करने वाला होवे सोही श्रावक है। उत्तमनामधारी को नाम के अनुसार उत्तम गुणों की प्राप्ति करनी चाहिये, यही उत्तमता का लक्षण है। इस लिये श्रावकों को अपने धर्म गुरुओं की यथाशक्ति यथोचित भक्ति अवश्यही करनी चाहिये। साधुओं को आहार, वस्त्र, स्थानक आदि ग्रहण करने की जो कठिन वृत्ति है उस से (९६ दोषों से) अवश्यही वाकिफ होना चाहिये। और किसी प्रकार से दोष नहीं लगे, ऐसी विधि से साधुओं को खपने योग्य पदार्थ, जिनका अपने घर में सहज संयोग बनगया हो, वे सूजते रखने चाहिएँ। प्राचीन कथा ग्रंथों में इस विषय के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। देखिये, दान देते समय ऋषभ देव भगवान के पूर्व भव में धन्नासार्थवाह ने घृतके दान से और नेमिनाथजी राजमती जी के पूर्व भव में शंखराजा यशोमती राणी ने दाख के धोवण के दान आदि से जो अलभ्य लाभ उपार्जन किया, वह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। × और दान देने योग्य सुपात्रों का संयोग मिलने पर पीछे नहीं हटना

× जीय सुहच सुह मोखो, मोखो तय रयण रयण मुणि साहो।
मुणीण तण तण हारो। भोयण मावय गनेकर होइ ॥ ९२ ॥ —

चाहिये। यह तो अवश्य ही ध्यान में रखिये कि मुनिराज जितना खपेगा उतनाही ग्रहण करेंगे ! क्योंकि ज़्यादा लेकर रातको रखना नहीं, किसी को देना नहीं, और बढ़ जाय तो परठन का प्रायश्चित लेना पड़े—इसलिये ज़्यादा लेही नहीं सकते। जितना मुनिराज के पात्र में पड़ेगा वह सब संजतियों के ही काम में आवेगा। और जितना साधू को दिया, उतनाही संसार की अग्नि से बचा समझे। और भी साधु के आगमन के समय आसन छोड़कर खड़े होना, वंदना नमस्कार करना, अपने हाथ से उनको खपती वस्तु देना, * अपने पास न हो तो दलाली कर जहां से मिलती हो वहां से दिलाना। व्याख्यान वाणी आप सुनना दूसरों को सुनाने लेजाना। मुनिराज के उतारे के लिये सुखदाई स्थानक देना एवं दिलाना। किसी साधु को कर्मोदय के कारण आचार भ्रष्ट एवं श्रद्धा भ्रष्ट हुआ जाने तो हरेक योग्य उपाय करके उनके चित्तको शांत यानी स्थिर करना दृढ़ बनाना। जो मुनिराज ज्ञानी, ध्यानी, जपी, तपी, धर्म दिपाने वाले होवें उनपर विशेष धर्मानुराग रखकर सुख उपजाना। स्वमतियों तथा अन्यमतियों में अपने गुरुओं की प्रसंशा करना, क्यों कि जैन मुनियों जैसा आचार विचार अन्य साधुओं का नहीं है, और जैन साधुओं के आचार विचार से अन्य मतावलम्बी वाकिफ भी थोड़े हैं, अतः वे कठिन क्रिया श्रवण करके चकित होंगे, पुण्यात्मा मिथ्यात्व का त्याग कर धर्मात्मा बनेंगे। इत्यादि गुण जानकर श्रावकों को सद्‌गुरू की महिमा बारम्बार करनी चाहिये। तैसे ही कोई दीक्षा लेने का अभिलाषी होवे तो उसे हर तरह की सहायता देके वैराग्य में वृद्धि करे। और उसके स्वजनों को तन, धन, आदि यथोचित सहायता देकर आज्ञा दिलानी चाहिये।

अर्थात्—जीव सुख चहाता है, सो सुख मोक्ष मे है, मोक्ष रत्नत्राय के आराधन से होवे, रत्न त्राय का आराधन मुनि के शरीर से होवे, शरीर का टिकाव आहार से होवे, सो आहार के देने वाले श्रावक है। इसलिये श्रावक ही अतत: मोक्ष सुख के देने वाले है। देखिये ! सुपात्र दान की महिमा !

* जिसके हाथ से दान दिया जाता है, दान का लाभ उसी को होता है, मालधणी को तो दलाली मिलती है।

देखिये, कृष्ण महाराज तथा श्रेणिक महाराज ने दीक्षा की दलाली के लिये अपनी प्राण प्यारी प्रेमला पटराणियों को, और राज धुरंधर पुत्रों को, तथा अन्य भी जिन्होंने दीक्षा की अभिलाषा करी उनको, उनके कुटुम्ब को, सब तरह की सहायता देकर स्वतः महोत्सव करके दीक्षा दिलाई: जिससे तीर्थंकर गौत्र उपार्जन किया। ऐसे महा लाभ का कारण जानकर धर्म दलाली ही करके साधुओं की वृद्धि करनी चाहिये। ज्ञानार्थी साधुओं को ज्ञान के साहित्य का संयोग मिला देना, जिससे ज्ञान में वृद्धि होकर आगे अनेक उपकार होवें। आहार विहार में मुनिराजों को अनार्यों की तरफ से किसी प्रकार का उपसर्ग न उपजे, ऐसा बंदोबस्त करना चाहिये। इस प्रकार अनेक तरह से संयमियों को सहायता देकर उनके तप संयम में वृद्धि करना, यह महा लाभ का कारण है। छद्मस्थता के कारण से, या काल प्रभाव से इस समय मुनिवरों की विचित्र तरह की प्रकृति एवं आ-चार विचार में अंतर होगया है। परन्तु श्रावकों को इस झगड़े में पड़ने की कुछ भी जरूरत नहीं है। जिनका व्यवहार शुद्ध हो उन सब को गुरू तुल्य जानना। और किसी मुनिवर की तप आदि के प्रभाव से प्रकृति में उष्णता होवे तो उन के कठिन शब्दों को सुनकर बुरा नहीं मानना, क्योंकि उनका अंतःकरण स्वाभाविक ही कोमल होता है। और हित शिक्षा के बचन कटु भी होवें तो उनको कटुक नहीं जानना चाहिये, छः काय के पीहर मुनिवर कदापि किसी का बुरा नहीं चाहते हैं। इत्यादि अनेक तरह से जो साधुओं की भक्ति करते हैं, वे समणो-पासक यानी श्रावक कहे जाते हैं। मुनिराज तो गृहस्थ की सहायता बिलकुल ही नहीं चाहते हैं-सदा अप्रतिबन्ध विहारी रहते हैं, परन्तु इस पंचम काल में सराग संयम है, तथा संहनन आदि की हीनता और मतान्तरों के झगड़े से राग द्वेष बहुत बढ़गया है। इत्यादि कारणों से श्रावक के सहाय बिना मुनिराज का संयम पालना मुशकिल है। ऐसा जानकर मुनिराज के मार्ग को किंचित मात्र भी धक्का न लगे और अपनी भक्ति सधजाय, ऐसी तरह साधू की वत्सलता श्रावक को जरूरही करनी चाहिये।

(१०) " श्रावक साध्वी की वत्सलना करे "—जिस तरह साधू जी की वत्सलता करने को कहा, उसी ही तरह साध्वी जी की भी वत्सलता श्रावक को करनी चाहिये। विशेष इतना ही है कि महा सतियॉ स्त्री पर्याय की धारक होती हैं, इस लिये गोचरी और विहार आदि प्रसंग में उनके लिये बंदोवस्त करने की बहुत ही आवश्यकता है। और भी साध्वी की विशेष वत्सलता करने की ज़रूरत है। विचारना चाहिये कि हम पुरुष होकर भी संयम को ग्रहण नहींकर सकते है, धन्य है इन सतियों को जो स्त्री जैसी सुकुमाल स्थिति में भी संयम जैसी महा कठिन वृत्ति का निर्वाह करती हैं। शीत, ताप, क्षुधा, तृषा, विहार आदि अनेक परिषह सहन कर तथा दुक्कर तपस्या कर अपना, और सद्बोध के द्वारा जगत, का उद्धार करती है। धन्य है ! धन्य है !! इत्यादि विचार से साधू से भी अधिक मर्यादा युक्त साध्वी की वत्सलता करने का श्रावकों का कर्तव्य है।

(११) "श्रावक श्रावक की वत्सलता करे"—दुनियां, में माता पिता आदि अनेक नाते—सम्बन्ध है, परन्तु सबसे अत्युत्तम नाता स्वधर्मी बन्धुओं का होता हैं। और नाते मतलब से भरे हुये हैं, और कु-मार्ग में खेंच कर लेजाने वाले है, तथा नरक आदि दुर्गति से बचा नहीं सकते है। सच्चा प्रेम तो स्वधर्मी बन्धुओं का ही होता है, कि जो आपस में समय समय पर प्रेरणा करके धर्म करणी निपजाते हैं, ज्ञानादि गुणों की वृद्धि कराते हैं, कु-मार्ग से कुकृत्य से फिजूल खर्च आदि से बचाकर दोनों लोक में सुखी बनाते हैं, हरेक धर्म कार्य में परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं। इस तरह की हुई स्वधर्मियों की वत्सलता भी बड़ा लाभ का कारण है। देखिये जब चेडा महाराज पर संकट पड़ा, तब १८ देश के राजा मात्र अपना स्वधर्मी बन्धु जानकर अपनी सब सेना लेकर आये, और उनकी सहायता करी। शंख और पोखल जी श्रावक ने भी आपस में एकत्र हो धर्म क्रिया और भोजन भक्ति करी है। अम्बड जी संन्यासी श्रावक बेले बेले पारणा किया करते थे, तब पारने के दिन १०० घर के श्रावक आमंत्रण करते थे कि हमारे यहां

पारणा करने पधारो ! अम्बड जी को वैक्रय रूप बनाने की लब्धि थी, अतः १०० घर पारना करने जाते थे। देखिये श्रावकों का भक्ति भाव कैसा उत्साह वाला था। शास्त्र में कहे हुये उक्त दृष्टांतों को भी अवश्य ध्यान में रखलेना चाहिये। और ज्ञानी, ध्यानी, व्रती, तपस्वी, धर्म के दलाल, तैसे ही अनाथ, गरीब, अपंग, रोगी इत्यादि श्रावकों की सार संभाल विचक्षण एवं सामर्थ्यवाले श्रावक करते हैं। यथाशक्ति यथा योग्य तन धन से सहायता करके संकट निवारते हैं। और भी जितने श्रावक ग्राममें होवें सब मिलकर एक निर्वद्य धर्म स्थान की योजना करते हैं और उसमें नित्यप्रति अष्टाह्निक–पाक्षिक या मासिक पर्व के दिन एकत्र होते हैं। तथा संवर सामायिकादि धर्म क्रिया करते हैं। दो चार विद्वान श्रावक आपस में विरुद्धमतों का पक्ष लेकर चरचा यानी संवाद करते हैं, कि जिसे श्रवण कर दूसरे होशियार होवें, चरचा का काम पड़े तो उत्तर देसकें। अपने ग्राम में या अन्य किसी स्थान में किसी प्रकार के सुधार की जरूरत हो और वह अपने से बन सकता हो तो उसकी तुरन्त ही योजना यानी बन्दोबस्त करते हैं। धर्मोन्नति होने योग्य प्रभावना आदि कार्यों की बारम्बार योजना करते हैं। ज्ञान शाला (अभ्यास करने के स्थान) पुस्तक शाला, निर्वद्य औषध शाला आदि जिस किसी तरह स्वधर्मियों की सहायता हो उसी प्रकार की योजना करते हैं। और मार्ग में या किसी भी स्थान में स्वधर्मियों से मिलते हैं वहां अत्यंत नम्रता के साथ जयजिनेंद्र आदि शब्दों से सत्कार करते हैं। जो श्रावक वयोवृद्ध गुण-वृद्ध होवें उनकी सेवा भक्ति गुरू की बुद्धि से साधते हैं। इत्यादि कार्य करे सो श्रावक श्रावक की वत्सलता कही जाती है। साधुओं की भक्ति का योग तो कभी समय पाकर ही बनता है तथा आचार का अंतर होने से बहुत ही विचार के साथ प्रवर्तना पड़ता है, परन्तु स्वधर्मियों की भक्ति तो घर बैठे गंगा है, ऐसा जानकर सहज स्वाभाविक लाभ के अवसर को सुज्ञ श्रावक व्यर्थ नहीं गमाते हैं।

(१२) " श्रावक श्राविका की वत्सलता करे "– चारोंही संघके सुधार करने का मुख्य उपाय श्राविका का सुधार है। आनन्दजी आदि

श्रावक भगवंत श्री महावीर स्वामी के पास व्रत धारण कर घर आये और तुरन्त अपनी स्त्री को आज्ञा दी कि जावो तुमभी व्रत धारण कर आवो। धर्म की वृद्धि के लिये किसी शक्ति का उपयोग करना पड़े तो वह भी लाभ काही कारण गिना जाता है। धर्मात्मा दंपत्ती का जोड़ा मिलने से आंतरिक और बाह्यक अनेक सुधार होते हैं। और भी श्राविकाएँ बनाने के लिये कन्याशाला की बहुत जरूरत गिनी जाती है। श्रावक को उचित है कि अपने पुत्र पुत्रियों को साधु साध्वी के दर्शन करने की बारम्बार प्रेरणा करे और वचन पुण्य से सुसंगति मे दृढ़ धर्मी बनावे। और भी जो विधवा, निराधार, अपंग, श्राविका हो—तथा जो उच्च कुल आदि की लज्जा के कारण घर बाहिर निकल नहीं सकती हो—और अपना तथा अपने बच्चों का निर्वाह करने में असमर्थ हो—तथा तपसण, विदुषी, धर्म दलाली करने वाली इत्यादि श्राविकाओं की यथोचित सहायता करके श्रावक साता उपजाते रहते हैं, उनके सत्य शील धर्मकी रक्षा होने योग्य योजना करते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की सहायता की बहुत आवश्यकता है।

(१३) " श्राविका साधुकी वत्सलता करे "—साधु भक्ति के कितनेक कार्यों मे श्रावक की अपेक्षा श्राविका अधिक भाग्य शालिनी होती हैं। क्योंकि आहार पाणी औषध आदि बहुत से पदार्थ साधु के काम में आने योग्य गृहस्थों के घरों में गृहणी के ही स्वाधीन होते हैं। इसलिये साधु वत्सलता की मुख्य अधिकरिणी एक नय से श्राविका ही गिनी जाती हैं। जैसे शास्त्र में श्रावक को श्रमणो पासक कहा है, तैसे श्राविका को भी श्रमणोपासिका कहा है। इस लिये श्राविका को उचित है कि साधु को खपने योग्य वस्तुओं की जान कारी कर लेवें। जैसे लवण आदि जो सचित सजीव होते है, सो अग्निके या लिम्बू आदिक रसके संयोग से अचित होजाते है। वे साधु के औषधी आदि के काममें आजाते है। ऐसी जानने वाली जो श्राविका होगी वह कभी घरके कार्यों के निमित्त अचित्त हुई लवण आदि वस्तुओं को बचाकर सूजती रख लेगी, जो कभी अंतराय टूटे तो औषध दान देकर महा लाभ की भागी बनेगी। तैसे ही अग्नि एवं राख आदि के संयोग से पाणी भी अचित्त होता है, और ऐसा प्रसंग

गृहस्थ के घर में बहुधा बनता है, ऐसे पानी को व्यर्थ जानकर फेंक देते हैं। परन्तु जो श्राविका जानकार होती है वह उसे भी संग्रह कर यत्ना से रखती है, अन्तराय टूटने से पानी जैसे उत्तम दान की भी दातार बन जाती है। क्योंकि आहार से भी अधिक पानी की आवश्यकता होती है। तैसे ही कितनीक वनस्पति भी कितनेही प्रयोगों से अचित्त होती है। जैसे अंबरस, खरबूज़ा (छिलका और बीज निकाले बाद) केले (पके हुये) चटनी (बनाये पीछे एक मुहूर्तबाद) आदि की जो जानकार होवेगी कि यह वस्तु साधुओं के उपयोग में आती है, तो समय पर दान का लाभ ले सकेगी। कितनी ही विदुषी श्राविकाएँ संयम से चलित मुनि को भी पुनः स्थिर कर सकती हैं, जैसे नागला बाई ने अपने पति मुनि भवदेव को स्थिर कर दिया था। ऐसा जो आहार पानी वस्त्र पात्र औषध पथ्य आदि प्रतिलाभ कर और व्याख्यान आदि श्रवण कर एवं व्रत प्रत्याख्यान कर, अनेक तरह से श्राविका साधू की वत्सलता करती है।

(१४) "श्राविका साध्वियों की वत्सलता करे" —श्राविकाओं का और साध्वियों का तो जोडा ही है, जैसा साधू और श्रावक का। जैसी वत्सलता साधूकी करनी बताई है, वैसी ही वत्सलता साध्वियों की भी करनी चाहिये। बल्कि स्त्री पर्याय के कारण साधू से भी अधिक वत्सलता साध्वियों की कर सकती है। कितनेक ऐसे कारण हैं कि जो स्त्रियोंके स्त्रियाँ ही जानती हैं, उन कारणों का समाधान यथोचित रीति से श्राविका ही कर सकती है। और आहार विहार विचार आदि कार्यों में यथोचित सहायता कर शांति उपजानी चाहिये। छद्मस्थता के कारण किसी की प्रकृति तेज या विपरीत हो, तथा कुछ आचार विचार में फरक हो तो उनकी निंदा एवं अपचेष्टा कदापि नहीं करना। सब तरह शांति उपजाकर उनके मनको विश्वस्त करदेना कि यह श्राविका एकान्त हमारे हित की ही चाहने वाली है। फिर यथावसर उनको नम्रता युक्त हित शिक्षण देने से बहुत अच्छा सुधार होना संभव है। ऐसी अनेक युक्तियों से श्राविका साध्वियों की वत्सलता करती है।

(१५) "श्राविका श्रावक की वत्सलता करे'—अपने पति यदि श्रावक होवें तो फिर सोना और सुगन्ध दोनों का संमिलन है। एकतो पतिव्रता की दृष्टि से पति भक्ति करने की आवश्यकता थी ही और दूसरे श्रावक होने पर संवर सामायिक आदि व्रत, उपवास आदि तप, सचित्त शील व्रत आदि नियम, इत्यादि धर्म करणी में उनको मुँहपति गुच्छकादि उपकरणों से तथा तपस्या मे उष्ण पाणी और वैयावच्च आदि यथोचित सेवा से साता उपजावे। और अन्य भी जो कोई सम्यक दृष्टि एवं व्रत धारी श्रावक होतो उसको पिता और भ्राता की बुद्धि से वत्सलता करे, अपने घर आवें तो जैसे शंख श्रावक की स्त्रीने पोखल जी श्रावक को तिखुत्ता के पाठ से सविधि वंदना करी, आसन आदि का आमंत्रण दिया, तैसे ही विचक्षण श्राविका वत्सलता करती है। अपने घरमें श्रावक के योग्य आहार, पानी, औषध, पथ्य, वस्त्र जो होवे उसका आमंत्रण करे। और भी व्रत तप नियम आदि में यथा शक्ति यथोचित सहायता करे। इस प्रकार धर्म तप की वृद्धि करने वाली श्राविका, श्रावक की वत्सलता करती है।

(१६) "श्राविका श्राविका की वत्सलता करे"—अन्य संसारी वहिनें तो मतलब की होती हैं। सच्ची हित कारिणी वहिन तो श्राविका ही मानी गई है। स्वधर्मियों की भक्ति, विना पुण्य के नहीं मिलती है—इसलिये उत्तम श्राविकाएँ आपस में हिल मिल कर रहती है, परस्पर निंदात्मक एवं दुःखोत्पादक वचनोच्चारण एवं वर्तन कदापि नहीं करती है। श्रावकों की तरह श्राविकाओं का भी एक धर्म स्थान अलग होना चाहिये। उसमें नित्यप्रति तथा अष्टमी पाक्षिक को सब श्राविकाएँ एकत्र होवें और विदुषी श्राविकाओं को सद्बोध के द्वारा सबको संसार व्यवहार में एवं धर्म मार्ग में सविनय शांतभाव से प्रवर्तने की रीति बतानी चाहिये—पँचरंगी कर्मचूर आदि तपश्चर्या करने की रीति भी बतानी चाहिये—पतिव्रता के कार्यों का शिक्षण देना चाहिये—गर्भाशय से लेकर अपनी संतति के पालन पोषण एवं धर्म शिक्षण आदि के कार्य समझाने चाहिये। तथा अनाथ, विधवा, अपंग, निराधार, ग़रीब, तपसण आदि जो कोई श्राविका होवें तो उनकी सहायता आदि का प्रबन्ध भी समर्थ श्राविकाओं को करना उचित है।

इत्यादि रीति से श्राविका, श्राविका की वत्सलता करती है।

(१७) चारोंही संघ आपस में मिलकर पूरी पूरी वत्सलता करते हैं। कहा है " जिसके घरमें एका, उसका घर देखा "। ये चारोंही तीर्थ श्री तीर्थंकर भगवंत के स्थापन किये हुये हैं। सब जैन एकही धर्म रूप घर में रहते हैं, अतएव यदि चारोंही संघ यथोचित रीति से संगठित होकर परस्पर एक दूसरे की सहायता एवं धर्मोन्नति करें तो फिर देखो वर्तमान समय में परम पवित्र जैन धर्म की कैसी उन्नति होती है ? शासनाधिपति चौवीस वें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी जब छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विचरते थे, उस समय साढ़े बारह वर्ष में फक्त एकही बार गोदुहासन से ध्यानस्थ बैठे हुओं को मात्र दोघड़ी के लिये निद्रा का झोंका आगया था, जिसमें दश स्वप्न देखे। उसमें एक स्वप्न दो स्फटिक रत्नों की माला का देखा, उसका अर्थ स्वयं भगवंत ने फरमाया कि मेरे शासन में साधू और श्रावक दोनों ही रत्नों की माला जैसे निर्मल होंगे। इस उल्लेख पर से अपने को बहुत कुछ उपयोगी भाव ग्रहण करने का है। साधु और श्रावक दोनों का जोडा है—अर्थात् आपस की सहायता से दोनों बहुत अधिक धर्म वृद्धि का कार्य कर सकते हैं। कौन कर सकते हैं ? वे कर सकते हैं, जिनका हृदय स्फटिक रत्न का जैसा निर्मल शुद्ध हो और जो माला के दानों के समान एकत्र रहते हों। ऐसे साम्य से रहने वाले ही वस्तुतः धर्म को दिपा सकते हैं। यह अपने अधिपति की आज्ञा ध्यान में रखकर, चारोंही संघ को एकत्र होकर, निर्मल मन से यथाशक्ति धर्म की अभिवृद्धि करनी चाहिये।

संघ वत्सलता के लिये सद्बोध।

गोयमा ! इमे जीवा आयरीयपडिणीया, उवज्झाय पडिणीया, कुल पडिणीया, गण पडिणीया, संघ पडिणीया, आयरियउवज्झायाण—अयसकरा—अवन्नकरा-अकित्तिकरा-बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिय अप्पाणवा, परवा, तदुभयवा, वुग्गाहेमाणा, वुप्पाए माणा, बहुहिं वासाइं सामण परियाग पाउणति २ त्ता, तस्स ठाणस्स अणालोइय पडिकंता काल मासे काल किच्चा अण्णयरेसु देव किब्बिसियेसु उववत्तारो भवति।

भगवति सूत्र—शतक ९ उद्देश ३३

अर्थ—भगवंत श्री महावीर स्वामी फरमाते हैं कि अहो गोतम ! जो आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, या संघ का प्रत्यनीक-वैरी होता है तथा इनका अपयश करने वाला-अवर्णवाद बोलने वाला-अपकीर्ति करने वाला-असद्भाव यानी मनसे खोटा चिंतने वाला होता है वह अभिनिवेशक मिथ्यात्व का उपार्जन करता है और अपनी आत्मा एवं दूसरों की आत्मा को संसार समुद्र में डुबाता है-विडम्बना में डालता है। वह जीव संयम व्रत रूप उत्कृष्ट करणी भी करे, किन्तु पूर्वोक्त पापोंकी आलोयणा नहीं करे एवं प्रतिक्रमण (प्रायश्चित) नहीं करे तो आयुष्य पूर्ति के अनन्तर किलविषी देवों (देवताओं में चंडाल जैसे देव) में जाकर उत्पन्न होता है। और कितनेक तो वहां से आगे भी अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

समवायांगजी सूत्र में तीस महामोहनीय कर्म के बोल हैं, उन में कहा है कि—तीर्थंकर के अवर्णवाद बोले, तीर्थंकर प्ररूपित धर्म के अवर्ण वाद बोले, आचार्य उपाध्याय की सेवा-भक्ति नहीं करे, चारों ही तीर्थ में भेद (फूट) डाले, इत्यादि कार्य करने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है-अर्थात् ७० क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। महाशयो ! जरा इस बात को विचारिये कि इस समय सम्प्रदायों और गच्छों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महामोह-नीय कर्म का बन्ध कितना होता होगा ? एकमत के अनेक मतान्तर करके एकही पक्ष को सच्चे मानने वाले क्या पक्षाग्रही नहीं हैं ? और कितनेक तो बढ़ते बढ़ते दूसरे पक्ष धारियों को भगवान के चौर तक कहने में तथा दान मान की अन्तराय देने में भी संकोच नहीं करते हैं। अब सोचिये कि क्या दूसरे पक्ष में कोई सम्यक् दृष्टि नहीं होगा ? कोई ज्ञानी ध्यानी तपस्वी संयमी नहीं होगा ? तीर्थंकर की आज्ञाका किंचित् भी आराधक न होगा ? इन बातों का पूर्ण निश्चय करने वाला कौन सर्वज्ञ है ? जो लोग प्रति पक्ष के धर्मावलम्बियों की काट करते हैं, * वे

---

* शमदम का पता भी नहीं वैराग्य कहा है,
संसार के भोगों में अधिक प्रीति वहा है।—

क्या तीर्थंकर के मार्ग की काट नहीं करते हैं, आचार्य उपाध्याय की निंदा नहीं करते हैं? और जो करते हैं तो फिर क्या उनके महा मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता है? किलविप में नहीं जावेंगे? अजी! भगवंत ने तो हिंसक के प्रति भी दानका निपेध करने वाले को अन्तराय कर्म का बाँधने वाला कहा है, तो फिर संयमी तपस्वी धर्मात्माओं को दान देने का निपेध करने वाले को क्या अन्तराय कर्म का बंध नहीं होता होगा? अफसोस अफसोस!! * यह बात याद आते ही हृदय काँप उठता है, रोमांच हो जाता है। प्रभु! यह है मोक्ष प्राप्त करने के साधक तीर्थंकरों के भक्त हमारे चारोंही संघकी दुर्दशा! आश्चर्य है कि धन कुटुम्ब त्याग कर, शिर और पैरों से नंगे रहकर, घर घर से मांगे हुये टुकड़ों पर निर्वाह करने वाले, ऐसी दशा तक पहुंच कर भी अभिमान का पराजय नहीं कर सके? अनशन आदि दुकर तप, शीत तापादि दुकर परिसह, लोच विहारादि अनेक कष्ट उठाकर, और सिंहके समान गर्जना करके राग द्वेषादि जिन जिन बातों का निपेध करते हैं, उनही शत्रुओं के हाथों आप कट मरते हैं! अर्थात् चारोंही तीर्थों में फूट पैदा कर अपने अपने पक्ष को मजबूत करने में ही धर्मोन्नति एवं मोक्ष की प्राप्ति समझते हैं। और अपने इनही कर्तव्यों से दिन ब दिन हीन स्थिति को प्राप्त होते हुये पवित्र धर्म को देख करे भी नहीं संभलते हैं। दयानिधे! कृपया इन्हें सुमति प्रदान

दरपरदा कपट रखते हैं इखलास अया है,
सत् प्रेम परस्पर नहीं कैसा यह समा है।
अतर हीका साधन तो पुरुषों से छुडाया,
धर्मके धब्बे ने तिलक कोही चढ़ाया।
* *शास्त्र का है प्रमाण पड़ता नहीं कोई,*
क्या अर्थ है तपका यह समझता नहीं कोई।
जो नेम है मन्तव्य बरतता नहीं कोई,
इस नफ्स को हा कैद में करता नहीं कोई।
जो सन्त के व्रतों की लिख आये हैं बड़ाई,
अधेर है उनको बताते हैं कसाई।

कीजिये, ताकि धर्मोन्नति के लिये अग्रसर हों।

अहो आत्म सुखार्थी मुनिवरो तथा श्रावको! अब आपको गडरिया प्रवाह रूप चलती हुई जगत् रूढ़ि की तरफ दृष्टि देनी ही नहीं चाहिये। अपने को तो श्री तीर्थंकर भगवान की आज्ञा, जिसके आराधने से अपनी आत्मा को सुखकी प्राप्ति होती है, उसकी ओर ही लक्ष देने की आवश्यकता है। जो शास्त्र न्याय के बिना कपोल कल्पित बातें बनाकर कुपक्षी एवं कदाग्रही बनाते हैं, वे लोगों को महा मोहनीय कर्म के बन्धन में डालते हैं, ऐसे उपदेश कों के उपदेश की तरफ लक्ष देना ही नहीं चाहिये—किसी प्रकार के झगड़ों में पड़ना ही नहीं चाहिये। निष्पक्ष बुद्धि से शास्त्र के द्वारा निर्णय करके तथा उसेही धारण करके यथाशक्ति प्रवृत्ति करो, परन्तु किसी पर निंदा तथा आक्षेप वगैरह करने की कुछ भी ज़रूरत नहीं। अपने को जो सत्य मालूम हो उसी पर अवलम्बित रहो और महा पाप में डूबती हुई अपनी आत्मा को बचावो।

जैसे राजाओं के यहाँ बहुत सी सेनाएँ होती हैं। उनका एकत्र समावेश न होता देख तथा बल बुद्धि आदि में अंतर देख, अलग अलग रिसाले करते हैं और वे सब रिसाले अलग रहते हैं। अपने कपतान (मालिक) के हुक्म के अनुसार कवायद वगैरह करते हैं। राजाकी नोकरी बजाते हैं। वे विभिन्न वर्दियों में और रीति नीतियों में रहे हुये रिसाले एकही राजा के अंग रूप गिने जाते हैं, अर्थात् सब एकही राजा का हुकम बजाते हैं। और परचक्री आदि का प्रसंग प्राप्त होने पर सर्व रिसाले उसपर चढ़ाई कर जाते हैं। सभी रिसाले वाले अपने पक्ष के सभी रिसालों का रक्षण करना तथा प्रति पक्षियों का क्षय करना चहाते है। और परस्पर एक दूसरे की पूर्णतया सहायता करके अपने मालिक की फतह करते है।

इसी दृष्टान्त के अनुसार महाराजा तो श्री महावीर स्वामी हैं और उनकी सेना साधु साध्वी श्रावक श्राविका है। इन चारों संघ का लाखों का समूह होने के कारण, काल के प्रभाव से एकत्र रहना न देखकर, रिसाले रूप अलग अलग सम्प्रदायों तथा गच्छों की स्थापना कीगई है। उनके

कितनेही आचार विचारों में और लिंग में किंचित मात्र अंतर है, परन्तु हैं सबके सब एकही महाराज श्री महावीर स्वामी के सैनिक। इसलिये सब सम्प्रदायों का कर्तव्य है कि परचक्र रूप पाखंड को हटाने के लिये सब एकत्र रहकर पर्यत्न करें। आपस में एक दूसरे सम्प्रदाय की कुशल चाहवें और समय पर परस्पर की सहायता करके महावीर के शांसन की फतह करें।

जैसे सेना के सुभट सब एक से नहीं होते हैं, विचित्र स्वभाव और विचित्र गुण के धारक होते हैं, तैसे ही श्री वीर प्रभू के चारों ही संघ में भी विचित्रता प्रतिभासित होती है। कोई ज्ञानी हैं, वे ज्ञान प्रसार आदि से धर्म दिपाते हैं। कोई तपस्वी हैं, वे विचित्र प्रकार के दुक्कर तप करके धर्म दिपाते हैं। कोई वैयावच्ची हैं, वे वैयावृत्त द्वारा सब को साता उपजाकर धर्म की वृद्धि करते है। ऐसे ही किसी में कौनसा तो किसी में कौनसा, यों एक दो चार आदि गुण सब में ही है। पूर्णतः निर्गुणी कोई भी नहीं है। केवल अपने को तो समयानुसार शुद्ध व्यवहार देखने की ज़रूरत है। बाकी जितने गुण जिस में ज़्यादा होंगे वे उसकी आत्मा को सुख कर्ता होंगे। और अल्प ज्ञानी अल्प क्रियावंत जितना करेंगे उतना पावेंगे, दूसरों को बीच में पड़ने का क्या अधिकार है? क्या तीर्थंकर भगवंत के हजारों साधु सतियों का एकसा ही आचार विचार था? क्या एक समय वह नहीं हुआ था कि श्रेणिक राजा और चेलना राणीका रूप देख कर प्रायः सभी साधु सतियों ने नियाणा कर दिया था? आश्चर्य है कि–ऐसे ऐसे लेख शास्त्रों में मौजूद होते हुये भी जो धर्म को नष्ट भ्रष्ट करदेने वाले निंदा और आक्षेप आदि कारणों से नहीं बचते हैं, उनकी क्या गति होगी, सो विचारिये!!

सुयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के सप्तम अध्याय में देखिये—

भगवचण उदाहु–आउस तो उदगा! जे खलु समणं वा, महाणवा, परि भासेइ मित्ती मन्नति, आगमिता णाण, आगमिता दसण, आगमिता चरित, पावाण कम्माण अकरणयाए, सेखलु परलोग पलिमथाए चिटइ। जे खलु समण वा, महाणवा, णोपरिभासइ मिति मन्नति आगमिता–

णाणं, आगमिता दंसणं, आगमिता चरित्तं, पावाणं कम्माणं अकरणयाए, से खलु परलोग विसुद्धीए चिट्ठइ ॥ ३६ ॥

अर्थात्—भगवंत श्री गौतम स्वामी फरमाते हैं कि—अहो आयुष्मान् उदक ! जो शास्त्रोक्त क्रिया अनुष्ठान के करने वाले समण (साधू) अथवा माहण (श्रावक) की निंदा करता है, वह मुक्ति के दाता सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन एवं सम्यक चारित्र का भी निंदक होता है। यदि वह निंदक सब पाप कर्म का त्यागी होवे तो भी परलोक का विराधक होता है—अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानादि गुणों की विराधना करके परभव में अनेक जन्म मरण करता है। [यह तो निंदा का फल कहा। अब गुणग्राहक आश्रित कहते हैं।] जो महा सत्यवंत पुरुष, रत्नाकर समुद्र जैसे गंभीर साधू और श्रावक की विलकुल ही निंदा नहीं करता है एव सर्व जनों के साथ मैत्री भाव का पोषण करता है, वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन सम्यक् चारित्र को यथोक्त शुद्ध पालता हुवा एवं सर्व पाप कर्म का त्याग करता हुआ परलोक में विशुद्ध पदधारी होता है—अर्थात् पूर्वोक्त गुणों की आराधना करके परलोक में निर्मल कुल आदि में जन्म लेता है—निर्मल धर्म की आराधना करता है—निर्मल देव लोक और मोक्ष के सुखका भोक्ता होता है।

भव्यो ! अपने परम गुरू श्री गौतम स्वामी जी महाराज के इन बचनों पर जरा लक्ष्य दीजिये ! संयम तप व्रत नियम आदि करणी करके व्यर्थ नहीं गमाइये। गुणानुरागी बन कर गुणों को ग्रहण कीजिये। आप जो गुण दूसरों की आत्मा में प्रविष्ट किये चाहते हो, उन गुणों को पहिले अपनी ही आत्मा में प्रविष्ट कीजिये और बराबर पालिये, जिससे आपको इच्छित सुख मिले।

अहो जिनेश्वर के अनुयायी महाशयो ! चारोंही तीर्थ परस्पर एक दूसरे के गुण ग्रहण करो, गुणानुवाद करो, हरेक की उन्नति के उपायों की योजना करो, अमल में लेने का उपाय करो, सबको सुख उपजावो, तन—धन—विद्या—ज्ञान जो कुछ शक्ति अपने पास हो वह सब कुछ संघ को अर्पण कर संघ के दासानुदास बनो; क्योंकि यही सच्ची स्वामी वत्सलता

है ! ! बाकी और जो छः काय का संहार कर, धामधूम कर, तंगम तंगा पेट भर, अनाचार की वृद्धि करते हैं, वे स्वामी वत्सल तो पेटार्थियों-अज्ञानियों के ही मानने योग्य हैं। धर्मात्मा लोग ढोंग में धर्म कदापि नहीं मानते हैं।

जो उपरोक्त रीति के अनुसार स्वामी वत्सलता यानी संघ भक्ति करने के लिये अगर चारों ही तीर्थ अब भी तह मन से प्रवृत्त हो जायँ तो, मै निश्चय के साथ कहता हूं कि-यह परम पवित्र धर्म, पुनः पूर्ण प्रकाशी बन जाय और हम परमात्म पद का मार्ग प्राप्त करें।

—"तीर्यते संसारसागरो येन स तीर्थ."

अर्थात्—संसार से निस्तार करें-जन्म मर्णादि दुःख से मुक्त करें—और जो आत्मा को परमात्मा बनावें, वे ही तीर्थ कहे जाते हैं। इसलिये परमात्म मार्गानुसारी को तीर्थ (साधू साध्वी श्रावक श्राविका) की भक्ति जरूर ही करना चाहिये।

यह संघ भक्ति, ज्ञान के अभ्यासी ही कर सकते हैं-इसलिये ज्ञान का स्वरूप दर्शाने की इच्छा रखता हुआ यह प्रकरण पूर्ण करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋपिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋपिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"संघवत्सलता" नामक अष्टम प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–नौवाँ

" ज्ञान–उपयोग "

" उपयोगो लक्षणम्– "

" तत्वार्थ सूत्र "



जीवका लक्षण ही उपयोग है, अर्थात् जो उपयोग युक्त होता है उसे ही जीव कहा जाता है। उपयोग विना की वस्तु जड़ यानी अचैतन्य गिनी जाती है, इसलिये आत्मा निश्चय नय से पूर्ण रूपेण विमल और अखंड जो सकल प्रत्यक्ष रूप केवल ज्ञान है, तत् स्वरूप ही है। परन्तु वही आत्मा व्यवहार नय से अनादि कालीन कर्म बंध से आच्छादित होने के कारण निरुपयोग जड़ जैसा हो रहा है। तदपि इसकी जो ज्ञान सत्ता है वह, कर्मो की हीनता एवं अधिकता के कारण हीन एवं अधिक हुआ करती है, अतएव " सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः " इस सूत्र से ऐसा बोध किया है कि आत्मा में जो उपयोग लक्षण है, उस के दो भेद अथवा आठ और चार यों बारह भेद होते हैं। इन बारह उपयोगों का अत्र संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

उपयोग के दो प्रकार हैं, साकार और अनाकार। ज्ञान, साकार उपयोग गिना जाता है, क्योंकि ज्ञान पदार्थाकार होकर ही पदार्थों को प्रति भासित करता है। तथा अकारादि अक्षरों को भी श्रुत ज्ञान कहा जाता है, और इस लिये ही ज्ञान उपयोग को सविकल्प कहा है। क्यों–कि वस्तु को जानने से उसके स्वभाव दर्शन की मन में अभिलाषा होती है। उस अभिलाषा का निराकरण करने वाला–निश्चय करने वाला दर्शन उपयोग है, जिसके द्वारा जानी हुई वस्तु के गुण स्वरूप स्वभाव का अंतःकरण में प्रति भास होता है–विकल्प मिट जाता है। इस लिये दर्शन उपयोग को निर्विकल्प उपयोग कहा है, वह निराकार है।

प्रथम साकार ज्ञानोपयोग के भेद कहते हैं–

णाण अट्ठ वियप्पं मई , सुई ओही अणाण णाणाणि ।
मण पज्जव केवलमवि , पच्चक्ख परोक्ख भेयच ॥

–द्रव्यसंग्रह

अर्थ—ज्ञान के आठ भेद हैं–१ कुमति २ कुश्रुति ३ और कुअवधि (विभंगावधि)। ये तीन अनादि मिथ्यात्व के उदय के वश विपरीत अभिनिवेशिक रूप ज्ञान होने से अज्ञान कहे जाते हैं। इन में के प्रथम दो (मति और श्रुति) अज्ञान तो संसारी जीवों के अनादि सम्ब-न्धी हैं, अर्थात् जब जीव निगोद स्थल में अव्यवहार राशि में था, तब भी इन दोनों अज्ञानों से सहित था। और वहां से निकल कर एकेन्द्रिय, विकेन्द्रिय असन्नी तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय में मिथ्यात्व पर्याय से रहे, वहां तक भी येही दोनों ज्ञान सहचारी होते हैं। कभी विशेष क्षयोपशमता से, सन्नी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य एवं तिर्यंच में और देव एवं नर्क में जन्म से भी विभंगावधि होता है।

मति ज्ञान

विपरीताभिनिवेश का अभाव होने से, मति ज्ञानावरण वाली प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से, तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से, और वहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से, मूर्त और अमूर्त वस्तु को एक देशेन विकल्पाकार रूप परोक्ष भाव से अथवा

सांव्यवहारिक (प्रवृत्ति और निर्वृत्ति रूप व्यवहार से) रूप प्रत्यक्ष भाव से जो जानता है उसे मति ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित। इस में श्रुत निश्रित के दो भेद हैं, चक्षु इन्द्रिय और मन। ये दोनों सामने जाकर पदार्थों को ग्रहण करते हैं, इस लिये उसे अर्थावग्रह कहते है। और शेष चार इन्द्रियों के पास पुद्गल स्वयं आकर उपस्थित होते है तथा गृहीत होते है, इस लिये इसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। २ अश्रुत निश्रित के चार भेद है–(१) विना देखी विना सुनी बात तत्काल बुद्धि से उत्पन्न होवे सो "उत्पातिकी बुद्धि" (२) गुरू आदिक विद्वानों की भक्ति करने से जो बुद्धि उत्पन्न होवे सो "वैनियिकी बुद्धि" (३) कार्य करते करते जो कार्य सम्बन्धी चतुरता होती है सो "कम्मिया बुद्धि" और (४) ज्यों ज्यों वय वृद्धिंगत होती है त्यों त्यों बुद्धि की वृद्धि होती जाती है सो "प्रणामिया बुद्धि"। ये सब मति ज्ञान के भेद हैं।

(२) श्रुत ज्ञान।

श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, नो इन्द्रिय के अवलम्बन से, प्रकाश और अध्यापक आदि सहकारी कारणों के संयोग से, लोक तथा अलोक की व्याप्ति रूप ज्ञान से, जो मूर्त तथा अमूर्त वस्तुओं को अस्पष्टतः जानता है, उसे परोक्ष श्रुत ज्ञान कहते हैं। और विशेष यह है कि–शब्दात्मक (शब्दरूप) जो श्रुत ज्ञान है, वह तो परोक्ष है ही तथा स्वर्ग मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध करने वाला विकल्प रूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है। और जो अभ्यन्तर में सुख दुःख से उत्पन्न होने वाला विकल्प है, अथवा मै अनंत ज्ञानादि रूप हूँ इत्यादि जो ज्ञान है, वह किंचित् परोक्ष है। और जो भाव श्रुत ज्ञान है, वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख होने से सुख संवित् (ज्ञान) स्वरूप है, और वह निजात्म ज्ञान के आकार से सविकल्पक है, तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो विकल्प समूह है, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्पक है, और अभेद नय से वही आत्मा 'ज्ञान' इस शब्द से कहा जाताहै। यह निरागी चारित्री के विना अन्य को नहीं होता है। यद्यपि यह केवल ज्ञानी की अपेक्षा तो परोक्ष

है, तथापि संसारियों को ज्ञायक ज्ञान की प्राप्ति न होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है। इस श्रुत ज्ञान के दो भेद हैं– (१) "अग प्रविष्ट" जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी अर्हंत भगवान् ने परम शुभ तीर्थंकर नाम कर्म के प्रभाव से, तादृश स्वभाव होने के कारण से कहा है उसी को अतिशय अर्थात् साधारण जनों से विशेपता युक्त और उत्तम ज्ञानसंपन्न गणधरोंने जो कुछ कहा है, वही अंग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान है। इस के बारह प्रकार हैं। अर्थात् गणधर भगवान् ने इस अंग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान को बारह प्रकरणों में विभक्त किया है, जो आचारांगादि बारह अंग कहलाते हैं। (२) अनग प्रविष्ट। गणधरों के अनन्तर होने वाले अत्यन्त विशुद्ध आगमों के ज्ञाता, परमोत्तम ज्ञानशक्तिसंपन्न आचार्यों ने अल्पायु क्षुद्रसंहनन धारी अल्प शक्ति वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ जो ग्रन्थ निर्म्माण किये हैं, वे सब उववाई आदि उपांग, छेद और मूल, अंग-बाह्य हैं। सर्वज्ञ रचित होने के कारण तथा ज्ञेय वस्तु की अनन्तता के कारण मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुत ज्ञान महान विषयों से संयुक्त है, और श्रुत ज्ञान महान् विषयों वाला होने के कारण, जीवादि पदार्थों का अधिकार करके प्रकरणों की समाप्ति की अपेक्षा अंग और उपांग आदि नाना भेदों वाला है। और भी सुख पूर्वक ग्रहण, धारणा तथा विज्ञान के निश्चय प्रयोगार्थ श्रुत ज्ञान के नाना भेद हैं। यदि कभी ऐसा न होतो समुद्र तैरने के सदृश उन पदार्थों का ज्ञान होना ही दुःसाध्य हो जाय। इसलिये ही अंग तथा उपांग, कालिक तथा अकालिक, अध्ययन तथा उद्देशों द्वारा नाना रूप से श्रुत ज्ञान का वर्णन किया गया है।

—पज्जय अक्खर सघणा, पडिवति तहय अणुओगो।
पाहुड पाहुड पाहुड, वत्थु पुव्वाय ससमासा॥

अर्थात्–१ ज्ञान के एक अंश को "पर्याय श्रुत" कहते हैं * २ दो तीन आदि विशेष अंशों को "पर्याय समास श्रुत" कहते हैं ३ अकारादि एक अक्षर को जानना सो "अक्षर श्रुत" है, ४ अनेक

* "अक्खरस्स अणत भागो उघाडिओ भवइ" अर्थात् निगोदिये जीव के अक्षर का अनतवाँ भाग उघाड़ा होता है।

अक्षरों को जानना सो "अक्षर समास" श्रुत है ५ एक पदका ज्ञान सो "पद श्रुत" ६ अनेक पदोंका ज्ञान सो "पद समास श्रुत" ७ एक गाथा का जानना सो "संघात श्रुत" ८ अनेक गाथाओं का जानना सो "संघात समास श्रुत" ९ गाथा का अर्थ जानना सो "प्रतिपत्ति श्रुत" १० गति जाति आदि विस्तार से जानना सो "प्रतिपत्ति समास श्रुत" ११ द्रव्यानुयोगादि में के एक योग को जाने सो "अनुयोग श्रुत" १२ दो तीन चार अनुयोगों को जाने सो "अनुयोग समास श्रुत" १३ अंतर्वर्ती एक अधिकार को जाने सो "प्राभृत-प्राभृत श्रुत" १४ अंतर्वर्ती अनेक अधिकारों को जाने सो "प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत" १५ एक अधिकार को एक ही रूप से जाने सो "प्राभृत श्रुत" १६ एक अधिकार को अनेक रूप से जाने सो "प्राभृत समास श्रुत" १७ पूर्व की एक वत्थू जानना सो "वस्तु श्रुत" १८ पूर्व की अनेक वस्तु जानना सो "वस्तु समास श्रुत" १९ एक पूर्व जानना सो "पूर्व श्रुत" २० दो आदि चौदह पूर्व जानना सो "पूर्व समास श्रुत" २१ दृष्टिवाद की एक वत्थू जानना सो "दृष्टि वाद श्रुत" २२ और संपूर्ण दृष्टिवाद जानना सो "दृष्टिवाद समास श्रुत"। ये श्रुत ज्ञान के २२ भेद हैं। ऐसे श्रुत ज्ञान के अनेक भेद जानना।

मति और श्रुत में भेद।

मति और श्रुत ज्ञान में भेद इतना ही है कि-(१) मति ज्ञान तो इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय (मन) को निमित्त मान कर आत्मा के ज्ञेय (जानने के) स्वभाव से उत्पन्न होता है। इस लिये यह पारणामिक भाव है। और श्रुत ज्ञान मति पूर्वक एवं आप्त के उपदेश से उत्पन्न होता है। (२) उत्पन्न होकर जो नष्ट नहीं हुआ है ऐसे पदार्थ का केवल वर्तमान काल में ग्राहक तो मति ज्ञान है। और श्रुत ज्ञान तो त्रिकाल विषयक है। जो पदार्थ उत्पन्न हुआ है, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट होगया है, अथवा उत्पन्न ही नहीं हुआ-भविष्य में होने वाला है, अथवा नित्य है, उन सबका ग्राहक श्रुत ज्ञान है। बस इतना ही भेद इन दोनों में है।

वैसे तो "द्रव्यस्य सर्व पर्य्यायेषु" इस सूत्रानुसार, मति और श्रुत ज्ञान के धारक, द्रव्य की सब पर्यायों को जानते हैं—श्रुत केवली कहे जाते हैं। ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान है।

(३) अवधि ज्ञान।

अवधि ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु को जो एक देश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है, वह अवधि ज्ञान है। यह अवधि ज्ञान नर्क में उत्पन्न होने वाले नारकों को तथा देव लोक में उत्पन्न होने वाले देवों को भव प्रत्यय होता है, अर्थात् उस भव में जन्म के साथ ही होता है, जैसे पक्षियों का जन्म ही आकाश गमन का हेतु होता है। मनुष्य योनि में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर भगवान तो पूर्व भव से ही अवधि ज्ञान साथ ही लेकर आते है और दूसरे मनुष्यों को तपश्चर्यादि द्वारा कर्मोंका क्षयोपशम होने से अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञानी—१ द्रव्य से जघन्य तो अनंत सूक्ष्म रूपी द्रव्यों को जानते है, और उत्कृष्ट सर्व रूपी द्रव्यों को जानते देखते है (२) क्षेत्र से जघन्य तो अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्र को जानते हैं और उत्कृष्ट संपूर्ण लोक और लोक जैसे अलोक में असंख्यात खंड जानते देखते * हैं (३) काल से जघन्य तो आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानते हैं और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जानते देखते हैं (४) भाव से जघन्य तो अनंत भाव जाने उत्कृष्ट अनंतानंत भाव जाने।

अवधि ज्ञान छः तरह से होता है:—(१) "अनुगामी" किसी क्षेत्र में किसी पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हुआ, वहां से अन्य क्षेत्र में जाने पर भी उस पुरुष के साथ रहे। जैसे सूर्य का प्रकाश (२) "अनानुगामी" जिस क्षेत्र में पुरुष को उत्पन्न होता है उस क्षेत्र में से जब वह पुरुष कहीं अन्यत्र चला जाता है, तब उसका अवधि ज्ञान भी वहीं रह जाता है यानी आगे नहीं जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश (३) "हीयमान"

* अलोक मे अवधि ज्ञान से देखने जैसा कुछ भी पदार्थ नहीं है। यह तो मात्र शक्ति बताई गई है।

जो अवधि ज्ञान असंख्यात द्वीप समुद्र में, पृथिवी के प्रदेश में, विमानों में तथा तिर्यक ऊर्ध्व अधो भाग में उत्पन्न हुआ है वह क्रमशः संक्षिप्त होकर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाता है। अथवा सर्वथा ही नष्ट होजाता है। जैसे ईंधन रहित अग्नि की शिखा (४) " वर्द्धमान " जो अंगुल के असंख्यातवें भाग आदि से उत्पन्न होकर, संपूर्ण लोक पर्यंत वढ़ता है। जैसे शुष्क ईंधन पर फैका हुआ प्रज्वलित अग्नि (५) "अवस्थित" जो उत्पन्न होने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अथवा मृत्यु पर्यंत नष्ट नहीं होता है—वेप के समान स्थिर रहता है (६) " अनवस्थित " जो तरंग के समान जहां तक उसको वढना् चाहिये वहां तक पुनः पुनः वढ़ता ही चला जाय और छोटा भी वहां तक होता जाय कि जहां तक उसे होना चाहिये। इसी तरह वह बार बार वढ़ता तथा न्यून होता रहे, गिरता और उत्पन्न होता रहे, एक रूप में अवस्थित नहीं रहे—इस लिये अनवस्थित कहा जाता है।

(४) मनः पर्यय ज्ञान।

मनः पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और ज्ञानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दूसरों के मनोगत मूर्ति मान् पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है, वह मतिज्ञान पूर्वक मनः पर्यव ज्ञान कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। जो अढ़ाई द्वीप में कुछ (२॥ अंगुल) कम क्षेत्र में रहे हुये सन्नीपंचेंद्रिय के मनोगत भावों को सामान्य रूप से खुलासा विना जानता है, और जो उत्पन्न होने के पश्चात् क्षीण भी होता चला जाता है, वह ऋजुमति। और जो संपूर्ण अढ़ाई द्वीप के सन्नीपंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को स्पष्टतः खुलासा के साथ जानता है और उत्पन्न होने के पश्चात् क्षीण नहीं होता है, वह विपुलमति। अर्थात् विपुलमति मनःपर्यव ज्ञानीको केवल ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है।

अवधि और मनः पर्यव में भेद।

अवधि ज्ञान और मनः पर्यव ज्ञान की विशेपता दर्शाते हैं—

अवधि ज्ञान की अपेक्षा से मनःपर्यव ज्ञान विशेष विशुद्ध निर्मल है। जितने रूपी द्रव्यों को अवधि ज्ञानी जानता है, उनको मनःपर्यव ज्ञानी मनोगत होने पर भी अधिक शुद्धता के साथ भिन्न भिन्न भेदों से जान सकता है। जो सूक्ष्म रूपी द्रव्य अवधि ज्ञानी नहीं देख सकता है, उसे भी मनःपर्यव ज्ञानी देख सकता है (२) अवधि ज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यात में भाग जितना क्षेत्र देखे उतना उपजता है, और उत्कृष्ट संपूर्ण लोक से भी अधिक उपजता है, परन्तु मनःपर्यव ज्ञान तो एक दम अढ़ाई द्वीप देखे उतनाही उपजता है, ज़्यादा कम नहीं (३) अवधि ज्ञान सर्व सन्नी पंचेंद्रिय को होता है, और मनःपर्यव ज्ञान केवल विशुद्धाचारी संयमी को ही होता है, अन्य को नहीं।

(५) केवल ज्ञान।

अपने शुद्ध आत्म द्रव्य का भले प्रकार श्रद्धान करने और आचरण करने रूप एकाग्र ध्यान के द्वारा केवल ज्ञान को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीय आदि चार घन घातिक कर्मोंका नाश होने पर जो उत्पन्न होता है, एक समय में ही सर्व द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला है, और जो सर्व प्रकार से उपादेय भूत–ग्रहण करने योग्य है, वह केवल ज्ञान है। जीवादि संपूर्ण द्रव्य तथा उनके पर्याय हैं, वे सब केवल ज्ञान के विषय है। केवल ज्ञान लोक तथा अलोक सर्व विषयक है, और सर्व भावों का ग्रहण करने वाला है। केवल ज्ञान से बढ़ कर कोई भी ज्ञान नहीं है, और संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो केवल ज्ञानसे प्रकाशित न हो। तात्पर्य यह है कि–संपूर्ण विषयों को और संपूर्ण विषयों के संपूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म पर्यायों को केवल ज्ञान प्रकाशित करता है। केवल ज्ञान परिपूर्ण है, समग्र है, असाधारण है, अन्य ज्ञानों से निरपेक्ष है–अर्थात् निज विषयोंको अन्य की अपेक्षा के विना स्वयं सबको प्रकाशित करता है, विशुद्ध है, सर्व दोषों से रहित है, सर्व भावों का जानने वाला है, लोकालोक विषयक है, और अनंत पर्याय वाला है। अर्थात् सर्व द्रव्यों के अनंत पर्यायों का यह प्रकाशक है।

यह पांच ज्ञान का संक्षिप्त कथन हुआ। इन पांच ज्ञानों में से एक काल में अगर एक ज्ञान पावे तो केवल ज्ञान, और दो ज्ञान पावेंतो मति श्रुति, और तीन ज्ञान पावें तो मति श्रुति अवधि. और चार ज्ञान पावें तो मति श्रुति अवधि और मनःपर्यव। इस से अधिक ज्ञान एक जीव को एक समय में नहीं पावें। यह ज्ञान आश्रित हुवा।

चार दर्शन का स्वरूप।

अब दर्शन आश्रित कहते हैं। ज्ञान का स्वरूप तो सविकल्पात्मक है और ज्ञानसे जाने हुये विषयों में निर्विकल्पता-निश्चयता करने वाला दर्शन कहलाता है। यह आत्मा निश्चय से निज सत्तारूप में तो अधो मध्य और ऊर्ध्व तीनों लोक में तथा भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल में द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवल दर्शन स्वभाव है. उसका धारक है। परन्तु अनादि कर्म-वन्ध की विविधता के कारण चार प्रकार का है। (१) चक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अर्थात् नेत्र द्वारा जो दर्शन होता है उस को रोकने वाले कर्म के क्षयोपशम से और वहिरंग द्रव्य के आलम्बन से, मूर्त सत्ता सामान्य को-जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है, तथापि निश्चय से परोक्ष रूप है-एक देश से विकल्प रहित-यथार्थ रूप से देखने वाला चक्षु दर्शन है। (२) वैसे ही स्पर्शन, रसन, घ्राण, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपने-अपने वहिरंग द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन से, मूर्त सत्ता सामान्य को परोक्ष रूपेण एक देशसे जो विकल्प रहित देखता है वह अचक्षु दर्शन है। इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से, तथा सहकारी कारण भूत जो आठ पांखडियों वाले कमल के आकार का द्रव्य मन है उस के अवलम्बन से, मूर्त तथा अमूर्त ऐसे समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्ष रूपसे विकल्प रहित जो देखता है वह मन से अचक्षु दर्शन है, (३) और जो अवधि दर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु में प्राप्त सत्ता सामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकल्प रहित

देखता है वह अवधि दर्शन है (४) और सहज शुद्ध चिदानन्द रूप एक स्वरूप का धारक परमात्मा है, उसके तत्व के बल से केवल दर्शना वरण कर्म के क्षय होने पर मूर्त अमूर्त समस्त वस्तुओं में प्राप्त सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित जो देखता है उसको केवल दर्शन कहते हैं।

यह आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन है सो सामान्य रूपसे जीव का लक्षण है। इसमें संसारी जीवकी और मुक्तजीव की विवक्षा नहीं है। तथैव शुद्ध अशुद्ध ज्ञान की भी विवक्षा नहीं है, मात्र यहां तो व्यवहार नयकी अपेक्षा से जीवके सामान्य लक्षण का कथन किया गया है। यहां केवल ज्ञान केवल दर्शन के प्रति तो शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार हैं। और कुमति कुश्रुत विभंग अवधि–इन तीनों में उपचरित सद्भूत व्यवहार है। और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखण्ड केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन ये दोनों ही जीव के लक्षण हैं।

और भी यहां ज्ञान दर्शन रूप योग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित जो पदार्थ है, उस पदार्थ के ज्ञान रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है। और शुभ अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में तो उपयोग शब्द से शुभ अशुभ तथा शुभ भावना एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिये। यहां पर सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप एक लक्षण का धारक साक्षात् उपादेय भूत जो अक्षय सुख है उसके उपादान कारण होने से केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार गुण और गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनों के एकता रूप से भेद का निराकरण करने के लिये उपयोग का व्याख्यान द्वारा वर्णन किया गया है।

शुद्ध उपयोग का फल।

यह तो मात्र ज्ञानों के भेदोपभेदों पर ही उपयोग लगाने के प्रति दर्शाया है परन्तु ऐसेही या अपनी बुद्धि की हीनाधिकता के अनुसार

श्रवण पठन मनन करना चाहिये तथा हर वक्त ज्ञान वैराग्यादि गुणों से प्रति पूर्ण वातों एवं वर्तावों का अंतः करण में ज्ञानोपयोग युक्त बारम्बार विचार करना चाहिये। वशिष्ठ ऋषिने रामचन्द्रजी से कहा है "विचारः-परमं ज्ञानं" अर्थात् विचार है, सोही परम ज्ञान है। विचार से ही विचार शक्ति वढ़ती है। और जो जो पूर्वधारी द्वादशांग के पाठी श्रुत केवली एवं केवल ज्ञान तक ज्ञान ऋद्धि को प्राप्त करने वाले महात्मा हुये हैं, वे सब ज्ञानोपयोग विचार शक्ति की प्रवलता से ही हुये हैं। श्री वीर प्रभु ने फरमाया हैः—

सूत्र—अणुप्पेहाणं आउयवज्जाओ सत्त कम्म पयडिओ थणिय वन्धण वंधाओ सिढिल वंधण वंधाओ पकरेइ, दीह काल ठियाओ रहस्स काल ठियाओ पकरेइ, बहू परसगाओ अप्पपयसगाओ पकरेइ, आउयचण कम्मं सिय वंधइ सिय नो बधइ, असाय वेयणिज्जं च णं कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ अणाइय चे णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरत संसार कतार खिप्पामेव वीईवयइ ॥ ३२ ॥

—उतराध्ययन, अ २९.

अर्थात्—वारम्वार ज्ञान पर उपयोग लगाने से-ज्ञानाभ्यास करते समय उपयोग शक्ति की सर्व सत्ता अन्य तरफ से हटाकर ज्ञान के अर्थ परमार्थ में ही एकाग्र तया लगाने से-उसके अर्थ रहस्य का रस पूर्णतया आत्मा में परगमाने से और दीर्घ दृष्टया उसका तात्पर्य अर्थ ढूंढ कर निकालने इत्यादि रीति से, ज्ञान में रमणता करने वाला जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर बाकी के सात कर्मों की प्रकृति, जो पहिले निवड़ यानी मजबूत बान्धी हो उसे स्थिल (ढीली जलदी से छूट जाय ऐसी) करे, वहुत काल तक भोगणा पड़े ऐसा वन्ध बांधा हो उसे थोड़ेही काल में छुटकारा होजाय ऐसी करे, तीव्र भाव (विकट रस से उदय में आवें ऐसी) बांधा हो उसे मंद भाव (सहज में भोगवाय ऐसी) करे, आयुष्य कर्म कदाचित कोई बांधे कोई नहीं भी बांधे, क्योंकि आयुष्य कर्म का वन्ध एक भव में दो बार नहीं पड़ता है। असाता वेदनीय (रोग-दुःख देने वाला) कर्म बारम्बार नहीं बांधे। और चार गति रूप संसार कान्तार का मार्ग, जो आदि रहित और मुशकिल से पार पाने जैसा है, उसे शीघ्र

अतिक्रमे–उल्लंघे अर्थात् बहुत ही जलदी मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त करे।

मुमुक्षुओ! देखिये परम पूज्य श्री महावीर परमात्मा ने परमात्म पद प्राप्त होने के उपाय स्वरूप ज्ञान में उपयोग लगाने का कितने विस्तार से वर्णन किया है। इसे ध्यान में लीजिये!

और भी विचारिये। किसी भी शुभ एवं शुद्ध क्रिया के विषय में प्रवृत्ति की जाती है तो वह स्वल्प काल तक ही होकर छूट जाती है, और उसे करते समय मध्य में अनेक संकल्प विकल्प उत्पन्न होते ही रहते हैं, जिससे उस क्रिया के फल में न्यूनाधिकता होती रहती है। इसी कारण भगवंत ने क्रियावंत को देश आराधक कहा है। और ज्ञानी का चित्त ज्ञान में अहर्निश लगा रहने से अन्य तरफ जाने वाली वृत्ति स्वाभाविक ही रुक जाती है–उस ज्ञान के अर्थ परमार्थ के भंग तरंग में उछरंग करती हुई रहती है–जिससे अन्य तरफ प्रवृत्त मन आदि योगों का स्वाभाविक ही आकर्षण हो जाता है–अंतर्हृदय में एकाग्रता आजाती है। उस समय अनन्तानन्त कर्म वर्गणा के पुद्गलों का समूह आत्म प्रदेश से अलग होता है। आत्मा अत्यन्त शुद्ध बनता है। इसी कारण भगवंतने फरमाया है, कि ज्ञानी सर्व आराधक है। और भी चौथ छठ अष्टम आदि तप के कर्ता बहुत काल में कर्म बन्ध का नाश करते हैं, और वही कर्म ज्ञानी जन ज्ञान में उपयोग लगाने से किंचित काल में दूर कर देते हैं, क्योंकि ज्ञानी किसी अन्य प्रकार की क्रिया भी जो कर रहे हैं तो भी उनका उपयोग एवं सर्व वृत्तियां ज्ञान में ही रमण करती हैं, जिससे किसी अन्य कार्य में पुद्गलों के परिणाम में लुब्धता नहीं होती है। इस कारण वे पुद्गल बन्धन रूप नहीं होते हैं। इसलिये ही कहा है कि ज्ञान बिना की सब क्रिया निरर्थक है, अर्थात् पुण्य प्रकृति का उपार्जन भलेही हो जावो, परन्तु मोक्ष नहीं देसके। ऐसे परमोपकारी ज्ञान में जो बारम्बार उपयोग लगाता है–रमण करता है वही जीव परमात्म मार्ग में प्रवृत्त हुआ परमात्म पद प्राप्त करता है।

–ध्यानारूढं समरसयुतं, मोक्ष मार्ग प्रविष्टं।
शान्त दान्त सुमति सहितं, योगवन्हौ हुताक्षम्॥

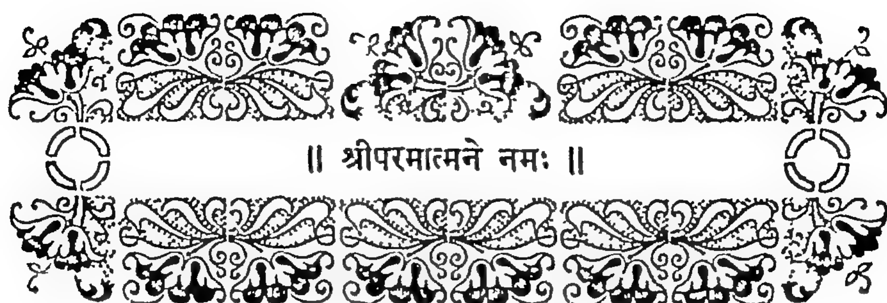
धर्मापन्नं क्षतमदमदं जीवतत्वे निमग्नं ।
तत्सर्वज्ञास्त्रिभुवननुताह्यन्तरात्मानमाहुः ॥

अर्थात्—जो महात्मा शुद्ध ध्यानारूढ़ हैं, समता रूप रस से जिन की आत्मा आर्द्र है, शांत स्वभावी हैं, मनको दमन करके स्ववश किया है, सदा सुमति-सुबुद्धि युक्त है, योग रूप अग्नि में काम रूप शत्रु का दहन किया है, धर्मका प्रसार करने में तत्पर हैं, अभिमान का नाश कर दिया, अपनी प्रबल प्रज्ञा से जीवादि सर्व तत्वों के यथार्थ कोविद हैं, और तत्वों के ज्ञान में ही सदा निमग्न तल्लीन रहते हैं, सर्वज्ञों ने इन्हीं को अंतर आत्मा के धारक कहा है। ऐसे महात्मा त्रिभुवन में थोड़ेही होते हैं और ये ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

परमात्म पद प्राप्त कराने वाला शुद्ध ज्ञानमय उपयोग, सम्यक्त्वी जीवों का ही प्रवर्तता है। इस लिये आगे सम्यक्त्व का स्वरूप बताने की अभिलाषा रख, इस प्रकरण को पूरा करता हूँ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"ज्ञान उपयोग" नामक नवम प्रकरण समाप्त।





प्रकरण—दशवाँ

—:०:—

" दंसणं—सम्यक्त्व "

सकल सुख निधान धर्म वृक्षस्य वीजं,
जनन जलधिपोतं भव्यसत्वैक पात्रं ।
दुरित तरु कुठार ज्ञानं चारित्र मूल,
त्यज सकल कुधर्मं दर्शनं त्व भजस्व ।

तात्पर्य—अहो भव्य जनों ! सर्व सुख का निधान, धर्म रूप वृक्ष का वीज, भव रूप समुद्र के पार पहुंचाने वाला जहाज, पापरूप कंटक वृक्ष का उच्छेद करने वाला कुठार, और ज्ञान चारित्र का मूल जो सम्यक्त्व है, जिसका आराधन भव्य जीव ही कर सकते हैं, इसलिये तुम भी सर्व कुधर्म का त्याग कर सम्यक्त्व को अंगीकार करो !

श्री भगवंत ने मोक्ष प्राप्त करने के चार अंग फरमाये है, जिसमें के प्रथम अंग ज्ञान का तो यत्किंचित स्वरूप नववें प्रकरण में किया जाचुका है, अब द्वितीय अंग जो दंशण—सम्यक्त्व नामक है, उसका स्वरूप दरशाया जाता है ।

मूल शब्द—"दंसण" है। इसका अर्थ दर्शना यानी अंतःकरण में देखना, ऐसा होता है। यह देखना दो तरह से होता है–अयथार्थ और यथार्थ। जैसे पीलिये रोग वाला श्वेतरंग के वस्त्र को भी पीत (पीले) वर्ण का देखता है, तैसे ही जीव अनादि मिथ्यात्व रूप रोग के कारण जीवादि नव ही पदार्थ को अयथार्थ–विपरीत श्रद्धता है। अर्थात् जड़ में चैतन्यता, चैतन्य में जड़ता, पाप के कृत्य को पुण्य कृत्य, पुण्य के कृत्य को पाप कृत्य, आश्रव के कामों को संवर के काम, संवर के कामों को आश्रव के काम, निर्जरा को बंध और बंध को निर्जरा, संसारस्थ को मोक्षस्थ और मोक्षस्थ को संसारस्थ बताता है। यों नव तत्व पदार्थ आदि के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। इस दर्शन के साथ जीवों का अनादि सम्बन्ध है। और इस संसार में ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें से कितनेही जीव अकाम निर्जरा करके मोहनीय कर्म की सत्तर क्रोड़ा क्रोड़ी सागर की स्थिति, ज्ञानावरणीय दर्शना वरणीय और अन्तराय इनकी तीस क्रोड़ा क्रोड़ सागर की स्थिति, वेदनीय नाम और गोत्र की वीस क्रोड़ा क्रोड़ सागर की स्थिति, और आयुष्य कर्म की तेतीस सागर की स्थिति, यों सब १६० क्रोड़ा क्रोड़ सागर और ३३ सागर परिमाण आठ कर्मों की स्थिति का क्षय कर लेनेपर जब मात्र एक क्रोड़ा क्रोड़ सागर में भी एक पल्य के असंख्यातवें भाग कम स्थिति रहजाय, तब यथा प्रवृत्ति करण को प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करने के रास्ते लगते हैं। यहां तक तो अभव्य जीव भी (जो कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं करे) आसकता है। और द्रव्य ज्ञान, द्रव्य दर्शन, द्रव्य चारित्र और द्रव्य तपकी स्पर्शना कर सकता है। परन्तु गंठी भेद हुये विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है।

इस स्थान से आगे बढ़ते हुये जीव, अन्तर मुहूर्तानन्तर अपूर्व करण करते हैं, कि जो पहिले कभी जीवको नहीं हुआ है। यहां ग्रन्थि भेद होता है, और यहां अंतर मुहूर्त काल रहने के बाद आगे अनिवृत्ती करण होता है, जो जरूर ही अर्ध पुद्गल परावर्तन पीछे मोक्ष देता है।

इन तीनों ही करणों का स्वरूप दर्शाने के लिये यहां एक दृष्टांत

कहते हैं—जैसे तीन साहूकार धन की गठड़ी लेकर विदेश में जाते थे, रास्ते में दो चोर मिले। चोरों को देखकर एक तो पीछा भाग गया, एक को चोरों ने मार कर धन लूट लिया, एक अपने बल से चोरों को मार कर अपने माल सहित इच्छित स्थान पहुँच गया। भावार्थ—सम्यक्त्व प्राप्त करने के प्रति प्रवृत्त तीन प्रकार के जीवों को संसार रूप जंगल में राग द्वेष रूप चोरों ने घेरा। यथा प्रवृत्ति करण वाला पुनः संसार परिभ्रमण में पड़ गया, अपूर्व करण वाला राग द्वेष रूप चोरों के वश में पड़ा छूटने का अभिलाषी है, और अनिवृति करण वाले ने राग द्वेष रूप चोरों को मारकर सम्यक्त्व रूप नगर प्राप्त किया।

अपूर्व करण में प्रवृत्त जीव, मिथ्यात्व की राशि के तीन पुंज करता है। एकान्त अशुद्ध सो मिथ्यात्व मोहनीय, शुद्धा-शुद्ध सो मिश्र मोहनीय और शुद्ध (अपेक्षा से) सो सम्यक्त्व मोहनीय। और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया तथा लोभ। इन सात ही प्रकृतियों में से जो उदय में आई हैं, उनका क्षय करे और जो उदय में नहीं आई है, उनको उपशमावे, उस समय क्षयोपशम सम्यक्त्वी गिना जाता है! यह सम्यक्त्व असंख्याती बार आती है और चली जाती है। यदि सातों ही प्रकृतियों को उपशमावे तो उपशम सम्यक्त्वी गिना जाता है। यह एक भव आश्रित दो बार और बहुत भव आश्रित पांच बार आती है। इस उपशम सम्यक्त्व से पतित होता हुआ जीव, जबतक मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त होता है, तबतक मध्य में जो ६ आवलिका ७ समय जितना काल रहता है, उसे सास्वादान सम्यक्त्व कहते हैं। और क्षयोपशम सम्यक्त्व से आगे बढ़ता हुआ जीव, जब सातोंही प्रकृतियों को क्षय करने के लिये प्रवृत्त होता है, तब समय मात्र वेदक सम्यक्त्व गिनी जाती है। फिर सातों प्रकृतियों को क्षय करते ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होती है। यह सम्यक्त्व एक ही बार आती है, आये पीछे जाती नहीं है।

नरत्वेऽपि पशूयते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतस.।
पशुत्वे ऽपि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्त चेतना.॥

अर्थ—जिस मनुष्य के हृदय में मिथ्यात्व ने निवास किया है,

वह पशु जैसा है। और जिस पशुके हृदय में सम्यक्त्वने निवास किया है, वह मनुष्य जैसा है। देखिये, सम्यक्त्वका महत्व।

यह तो सम्यक्त्व के भेदों का यत्किंचित् वर्णन किया।

अब सम्यक्त्वी को किन किन दोषों का त्याग करना चाहिये, सो बताते हैं:—

द्रव्यादिकमथासाद्य, तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित्।
पंचविंशतिमुत्सृज्य, दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व रूप रत्न की प्राप्ति होने के वास्ते प्रथम तो द्रव्य शुद्धि चाहिये, अर्थात् आत्मा में भव्यत्व एवं संज्ञित्व चाहिये, क्योंकि भव्य जीव और सन्नी पंचेन्द्रिय के विना अन्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते है। दूसरा आर्य क्षेत्र में उत्पन्न होने का संयोग होना चाहिये; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त करने के सद्गुरू सद्बोधादि प्रसंगों का संयोग आर्य क्षेत्र में ही होता है। तीसरा मोक्ष प्राप्ति के लिये अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन जितना ही काल संसार परिभ्रमण का बाकी रहना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वी जीव संसार में अधिक परिभ्रमण करता ही नहीं है। और चतुर्थ कारण उपरोक्त कथनानुसार प्रकृतियों की उपशमता एवं क्षयता होना चाहिये। ऐसे चार संयोग मिलने के अनंतर जीव के २५ दोषों का घात होता है। इसके लिये देखिये—

" सम्यक्त्व के २५ दोष "

मूढ त्रय मदश्चाष्टौ, तथाऽनायतनानि षष्ठ।
अष्टौ शकादयश्चेति, दृग्दोषा पच विशति॥

अर्थात्—तीन मूढता, आठ मद, छः अनायतन, और शंकादि आठ दोष, इस प्रकार २५ दोष सम्यक्त्व के होते हैं।

३ मूढता।

(१) देव मूढता—अनंत ज्ञानादि गुण—सहित और मिथ्यात्व अज्ञानादि अठारह दोष रहित, ऐसे श्री वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को नहीं जानता हुआ जीव, यशः लाभ स्त्री पुत्र राज्य सुख आदि संपदा की प्राप्ति के लिये जो राग द्वेष युक्त, आर्त रौद्र ध्यान मय परिणाम के

धारक, क्षेत्रपाल, चंडिका, पीर, पेगंवर, भैरूं भवानी आदि मिथ्या दृष्टि देवों का आराधन करते हैं, सो देव मूढता जानना। क्योंकि कहा है "जे देवता आपणी आस राखे, ते मोक्ष ना सुख केम दाखे" अर्थात्—जो देव होकर मनुष्यों से अपनी पूजा करा कर, या नारियल आदि कुछ बदला ले कर, इच्छा पूर्ण करने वाले हैं, वे अपनी ही इच्छा पूरी नहीं कर सकते हैं, तो दूसरों की क्या करेंगे? और एक नारियल * जैसी तुच्छ वस्तु भी जो प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो वे सुख संपत्ति कहां से देवेंगे। तथा उन देवों को ऐसे भोले समझलिये हैं, क्या नारियल आदि जैसी कम कीमत की वस्तु के बदले में पुत्र आदि जैसे उत्तम पदार्थ तुम को दे देवेंगे। जो ऐसा विचार नहीं करते हैं तथा देवोंकी आराधना करते हैं सो देव मूढता।

(२) लोकमूढ़ता—गंगा आदि नदियों को तीर्थ जान कर स्नान करना, ग्राम पहाड़ घर आदि स्थानों को तीर्थ मानकर उनके दर्शनार्थ भटकते फिरना, प्रातः समय आदि में स्नान आदि पाप कार्य किये बिना धर्म होवे नहीं ऐसी बुद्धि धारण करना, गौ आदि पशुओं में और बड़ पीपल आदि वृक्षों में देव का निवास मानकर उन्हें पूजना, इत्यादि कार्यों में धर्म बुद्धि या पुण्य बुद्धि रखना सो लोक मूढ़ता है। क्योंकि अज्ञानी जनही परमार्थ से अन जान होकर उपरोक्त कर्तव्य करते हैं, परन्तु सम्यक दृष्टियों को विचारना चाहिये कि जो स्नानादि करने से पापकी शुद्धि होती हो तो फिर दुनियां में जाति भेद रहेही नहीं; क्योंकि चांडाल आदि नीच जाति के मनुष्यों को भी स्नान कराके पवित्र—उत्तम जाति वाले बना लेवें और अपवित्र वस्तु को पवित्र बना कर भोग लेवें। अजी कड़वी तूम्बी को सब तीर्थों के पाणी में पखाली तो क्या वह मीठी होती है? कदापि नहीं, तो जो तूम्बी भी मीठी नहीं होती है तो यह रुधिर

---

* पद—देवके आगे बेटा मागे। तब तो नारेल फूटे॥
गोटे-गोटे आपही खावे, उनको चडावे न रोटे।
जगचले उपराठे, झूठे को साहिब कैसे भेटे॥
—कबीरजी

शुक्र से उत्पन्न हुआ, हाड मांस रक्त विष्ठा मूत्र से भरा हुआ शरीर कैसे पवित्र होगा ? और जब शरीर ही पवित्र नहीं होता है तो फिर पाप रूप मलका नाश करके मनको पवित्र बनाने की सत्ता तो तीर्थ के पाणी में कहाँ से हो सकती है ? देखिये, मनुजी क्या कहते हैं—

यामो वैवस्वतोराजा , यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेनचेद् विवादन्ते, मा गंगा मा कुरु गमः ॥ १ ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च, मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च तीर्थश्च, स तीर्थमलमश्नुते ॥ २ ॥
अशनं व्यसनं चैव, गंगातीर कुमागतः ।
कीकटेन समा भूमि, गंगा चागार वाहिनी ॥ ३ ॥

अर्थात्–अरे मनुष्य ! यह जो अन्तर्यामी तेरे हृदय में हैं, यदि तुझे इस बात का विवाद नहीं है तो तू गंगा कुरू क्षेत्र आदि तीर्थों को मत जा ॥ १ ॥ जो हाथ पैर इन्द्रिय और वाणी को नियम में रखकर विद्या और तप रूप तीर्थ करता है, उसे दूसरे तीर्थों से कुछ भी जरूरत नहीं है ॥ २ ॥ जो गंगा आदि तीर्थों में जाकर पाप कार्य करता है वह नदी के किनारे के कीकट (कीड़े) तुल्य हैं और जले हुये अंगारे के तुल्य हैं । लीजिये भाई और इससे भी ज़्यादा क्या कहें । *

और श्री जिनेश्वर भगवान ने फरमाया है कि " न हू जिणो अज्ज दीसइ " अर्थात्–पंचम काल में तीर्थंकर दृष्टि गोचर नहीं होंगे तथा मोक्ष गये जीवों की पुनरावृति नहीं होती है । परन्तु फिर भी जो

---

* आत्मा शुद्ध तो तपश्चर्या से होती है, देखिये ऋषिकुल ग्रन्थ–

—कैवर्ती गर्भ संभूतो , व्यासो नाम महा मुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः , तस्माज्जातिरकारण ॥ १ ॥
चांडालीगर्भ सभूतो , विश्वामित्रो महासुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः , तस्माज्जातिरकारण ॥२॥

अर्थात् तपश्चर्या से आत्मा पवित्र करके धीवरणी और चाण्डालनी की कुक्षि से उत्पन्न हुवे व्यासजी और विश्वामित्रजी, ब्राह्मण के तथा महा ऋषि के पद को प्राप्त हुये है ।

पहाड़ों और ग्रामों में देव धोकते फिरते हैं, और ग्रहण आदि प्रसंगों में पाणी ढोलते हैं, सो लोक मूढ़ता।

इस मूढता को छोड़कर, अष्ट पाहुड सूत्र के चौथे बोध पाहुड के कथनानुसार तीर्थ करना चाहिये:—

—ज णिम्मलं सुधम्मं , सम्मत्त सजम तव णाण ॥
त तित्थजिणमग्गो , हवेइ ज दीसति भावेण ॥ २ ॥

श्री जिनेश्वर के मार्ग में तो क्षमादि दश प्रकार का निर्मल शुद्ध यतिधर्म तथा तप संयम ज्ञान ध्यान, इन्हीं को तीर्थ (संसार से पार पहुंचा ने वाले) कहा है। यही सच्चा तीर्थ है।

(३) " समय मूढता " शास्त्र सम्बन्धी अथवा धर्म सम्बन्धी जो बुद्धि की विपरीतता होती है, उसे समय मूढ़ता कहते हैं। जैसे अज्ञानी लोकों के चित को चमत्कार करने वाले ज्योतिष, मंत्र वाद तथा कुकथा के शास्त्रों को सुनकर देखकर, श्री वीतराग सर्वज्ञ द्वारा सत् शास्त्रों को छोड़कर मिथ्यात्वी देव को माने, मिथ्या आगम को पढ़े सुने, खोटा तप करे, तथा खोटा तप करने वाले कुलिंगी—साधुओं को धर्म जान के नमस्कार विनय पूजा सत्कार आदि करे, उन सबको समय मूढ़ता कहा है। क्योंकि सुख दुःख तो कर्माधीन हैं। मंत्र आदिक का जो ढोंग करते हैं, उसमें विशेष तो हाथ चालाकी ही होती है, अगर किसी देव योग से कदापि कोई कार्य हुआ तो उससे क्या सिद्धि होने की है? और जो कुलिङ्गी आश्रव रूप नाले को रोके विना अज्ञान तप करते हैं तथा अग्नि इंधन वनस्पती के आश्रित असंख्यात अनंत जीवों का वध करते हैं, उन्होंने कितना भी शरीर को कष्ट दिया हो तो भी वे गुरुपद के लायक नहीं हैं। और जिन शास्त्रों में मिथ्या कथा का संग्रह किया हो और अन मिलते गपोड़े भरे हों, वे सत्य शास्त्र कदापि नहीं होते हैं। क्योंकि सभी मतावलंबी धर्म का मूल दया कहते हैं और फिर हिसाकरके धर्म श्रधते हैं, सो प्रत्यक्ष ही मूढता मालूम होती है।

—अहो व्यसन विध्वस्तं. लोक पाखण्डिभिर्बलात् ।
नीयते नरक घोर हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ २६ ॥

—ज्ञानार्णव सर्ग ८

अर्थात्—खेद तथा आश्चर्य है कि धर्म तो जगत् में दयामय प्रसिद्ध है, परन्तु विषय कषाय से पीड़ित पाखंडी जन, हिंसा का उपदेश देने वाले शास्त्रों की रचना करके जगत् के जीवों को बलात्कार रूपसे नर्क में लेजाते है। यह बड़ाही अनर्थ है!

यह तीनों ही मूढता का स्वरूप बताया। सम्यक् दृष्टि जीव, सम्यक् प्रकार से जान कर इससे सर्वथा निवर्तते हैं, और मन वचन काया की गुप्ति रूप जो वीतराग सम्यकत्व है, उसके निरूपण में अपना निरंजन तथा निर्दोष जो परमात्मा है, वही देव हैं—ऐसी जिनकी निश्चल बुद्धि हुई है, उनको देव मूढता से रहित समझना चाहिये। तथा मिथ्या राग आदि रूप जो मूढभाव है, उसका त्याग करने से निज शुद्ध आत्मा में जो स्थिति भाव है, वही लोक मूढता से रहित पना समझना चाहिये। इसी प्रकार संपूर्ण शुद्ध तथा अशुद्ध जो संकल्प विकल्पता रूप पर भाव हैं, उनके त्याग रूप जो विकार रहित वास्तविक परमानन्दमय परम समता भाव है, उससे निज शुद्ध आत्मा में ही जो सम्यक प्रकार से गमन अथवा परिरमण करना है, उसको समय मूढता से रहित समझना चाहिये।

आठ मद।

जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप, श्रुति—इन आठोंही मदोंका सम्यक दृष्टियों को त्याग करना चाहिये।

(१) "जातिमद" निश्चय में जीव की कोई भी जाति नहीं है, सदा एकही रूप का धारक आत्मा है। परन्तु व्यवहार रूपेण कर्मों के प्रसंग से चौरासी लक्ष योनियों में अलग अलग जाति को प्राप्त होता है। वहां पुण्य की प्रबलता के कारण मनुष्य जन्म और क्षत्री वैश्य विप्र पटेल आदि जाति प्राप्त होने से मिथ्या दृष्टि अहंता करता है, कि मै ऐसा उत्तम जातिवंत हूं। पर सम्यक् दृष्टि, इसे कर्म की विचित्रता का कारण जानकर, ऊंच नीच जाति को प्राप्त होकर भी सदा निरभिमानी नम्रभाव-युक्त रहते हैं।

(२) "कुल मद" कुल पिता के पक्ष को कहते हैं। ये जगत् में एक क्रोड़ साडे सताणवें लाख कोटी (१९७५००००००००००००) कुल हैं। उक्त कुलों में इस जीव को जन्म मरण करते करते कभी किसी पुण्योदय से ऊँच कुल की प्राप्ति होगई तो क्या हुआ, क्योंकि जो कुल का गर्व है सो पीछे उस कुलाभिमानी को गिरा कर नीच कुलों में डाल देता है। ऐसा जानकर सम्यक्त्वी प्राणी ऊँच कुल में जन्म लेकर भी मद नहीं करते हैं।

(३) "लाभ मद" लाभालाभ तो लाभान्तराय कर्म के उदय अनुदय से होता है। लाभान्तराय कर्म दूसरे के लाभ में अन्तराय देने से वन्धता है, सो भोगनाही पड़ता है। अर्थात् लाभान्तराय के उदय होने से इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। और जिन्होंने अपनी प्राप्त वस्तु का बहुतों को लाभ दिया है वे जीव लाभान्तराय तोड़ते हैं, उनको सर्व इच्छित पदार्थ मिलते हैं। ऐसा जानकर सम्यक्त्वी जन, प्राप्त वस्तु का गर्व नहीं करते हैं और दान देते हैं।

((४) "ऐश्वर्यमद" ऐश्वर्य प्रभुत्व को कहते हैं। ज्ञान दृष्टि से देखते हैं तो कोई किसी का नाथ यानी प्रभु नहीं है, क्योंकि सब जीव अपने अपने कर्म से ही सुखी दुःखी हो रहे हैं, कोई भी किसी को सुखी करने और दुःख से बचाने को समर्थ नहीं है, तो फिर प्रभुत्व किस बात का? अस्तु प्रभुत्व को मेले तमासे जैसा सम्बन्ध जानकर सम्यक् दृष्टि ऐश्वर्यवंत होकर भी गर्व नहीं करते हैं।

(५) "बल मद" वीर्यान्तराय का नाश होने से तीर्थंकर भगवंत अनंत बली होते हैं। उनकी कनिष्ठा अंगुली को अनंत इन्द्र मिलकर भी नमा नहीं सकते हैं। ऐसे पराक्रमी होने परभी घोर उपसर्ग के करने वाले एवं मरणान्त जैसे संकट के करने वाले पर भी कभी क्रूर विचार नहीं करते हैं, तो अन्यका तो कहना ही क्या? ऐसे पराक्रमी और ऐसे शील स्वभावी के आगे अन्य का बल कौनसी गिनती में है, ऐसा जानकर सम्यक दृष्टि समर्थ होकर भी गर्व नहीं करते हैं और न किसी को दुःख देते हैं।

(६) "रूप मद" इस गंदे शरीर का कदाचित् गौर आदि रंग होगया और चमकती हुई चमड़ी दीखने लगी, तो भी अन्दर तो अशुचि का भंडार ही भरा है। * चमड़े का टुकड़ा या चमड़े के अन्दर की कोई भी वस्तु निकाल कर देखने से कितनी मनोहर लगती है, इसका जरा विचार कीजिये। इस प्राण प्यारे शरीर के अन्दर रहे हुये रोगों में से यदि कभी पापोदय से एक भी रोग प्रगट होजाय तो इस शरीर को कुत्ते भी न सूंघें! इस शरीर को ऐसा गंदा जानकर सम्यक् दृष्टि रूपवंत होकर भी गर्व नहीं करते हैं।

(७) "तप मद" तपका उद्देश्य कर्म काटना ही है। उस का दूसरा फल यशः कीर्ति चाहना तो धर्म को ठगने जैसा है। इस अधम पने से न तो कर्म ही कटते हैं और न किसी सुख की प्राप्ति ही होती है। हां, लोगों में महिमा अवश्य हो जाती है। यह ऐसा मूर्ख पना हो जाता है कि जैसे कोड़ी के वदले में कोटि द्रव्य का रत्न दे देना। ऐसे ही अनन्त दुःख से मुक्त करने वाले तप को मात्र दो दिन की वाह वाह के लिये गवॉने जैसी मूर्खता सम्यक् दृष्टि कदापि नहीं करते है—निरभिमानतया गुप्त तप करके पूर्ण फल प्राप्त करते है।

(८) "श्रुति मद" श्रुति—ज्ञान का और मद—अभिमान का अनादि काल से वैर है। एक हो वहां दूसरा टिक ही नहीं सकता है। और कदाचित रह भी गया तो जो वलिष्ठ होता है, वही प्रति पक्षी का सत्यानाश कर धूल में मिला देता है! फिर ज्ञान जैसे अत्युतम पदार्थ का नाश करने और अभिमान जैसे नीच शत्रु को अपने हृदय सदन में प्रवेश करने देना कदापि उचित नहीं है।

ये आठों ही मद अनेक दोषों से प्रति पूर्ण भरे हुये है, ऐसा जानकर उपरोक्त जाति आदि आठ ही उत्तम पदार्थों की जो पूर्वोपार्जित

* थूकरू लाल भरयो मुख दीसत, आख में गोडरू नाकमें सेढो।
और ही द्वार मलीन रहे अति हाड के मास के भीतर वेढो॥
ऐसे शरीर मे वास कियो तव एकसा दीसत ब्राह्मण ढेडो।
सुन्दर गर्व कहॉ इतने पर, काहे को तू नर चालत टेढो॥

पुण्योदय से प्राप्ति हुई है, उसे मद जैसे नीच मार्ग में व्यय नहीं करते हैं, धर्मोन्नति वैयाव्रत्य वगैरह शुभ मार्ग में लगाकर आत्मोद्धार करते हैं।

(६) अनायतन।

सम्यक्त्व आदि सद्गुणों के रहने के स्थान को आयतन कहते हैं। और जिस कार्य से सम्यक्त्वादि सद्गुणों का नाश हो उसे अनायतन कहते हैं। इस लिये सम्यक्त्वादि गुणों की रक्षा के लिये सम्यक् दृष्टि को अनायतनों से बचना चाहिये।

(१) "मिथ्यात्वी देवों की उपासना" जिनमें देव के गुण नहीं हों— और जो स्त्री, शस्त्र, भूषण, पुष्प, फल, राग-रंग, नाटक, सुगन्ध, भोगोपभोग, मदिरा मांस आदि के भोगने वाले हों—राग द्वेष, विषय, कषाय इत्यादि दुर्गुणों के धारक हों, ऐसे देवों की उपासना-भक्ति-पूजा कदापि नहीं करे। किसी समय लौकिक व्यवहार साधने के लिये गाढा गाढी प्रसंगों में फॅसकर करना पड़े तो धर्म बुद्धि नहीं रक्खे, और सर्व के समक्ष स्पष्ट कहदे कि इस प्रसंग से यह काम मुझे करना पड़ता है। ताकि अन्य सम्यक् दृष्टि फंद में नहीं फॅसें—अपनी सम्यक्त्व निर्मल रख सकें।

(२) "मिथ्यात्वी देवों के उपासको का परिचय" संगति की असर प्रायः अवश्य होकर रहती है, इसलिये भगवंत ने सम्यकत्व के पंचम अति चार में फरमाया है कि "पर पाखंडी का सदैव परिचय किया होतो तस्स मिच्छामी दुक्कडं।" अतएव सम्यकत्वी अन्य देवके पुजारियों—अन्यमतावलम्बी मिथ्यात्वी पाखंडियों का परिचय नहीं करते हैं, क्योंकि इस जीव का मिथ्यात्व के साथ अनादि सम्बन्ध है, इसलिये खोटी श्रद्धा सहज में ही जम जाती है, और भोले जीव गिर जाते हैं। तथा धर्म में अग्रगण्य पुरुष मिथ्यात्वी का परिचय करेंगे, तो उनको देखकर अन्य सम्यक् दृष्टि भी उनका परिचय करने लगेंगे, जिससे क्रमानुसार विशेष धर्म की हानि हो जाती है। कदाचित् व्यापार आदि प्रसंगों में मिथ्यात्वी का विशेष परिचय करने का आजाये और

आप उनसे विवाद करने को समर्थ न होवे तो, धर्म सम्बंधी चर्चा का विशेष प्रसंग न आनेदे–प्रयोजनातिरिक्त विशेष वार्तालाप एवं परिचय न करे। धर्म कार्यों में मुलाहजा न रक्खे, अपने भाग्य का भरोसा रक्खे कि लाभालाभ पुण्यानुसार होता है। कहा भी है—

(१)

जा दिन पाणी से पिंड भरयो, विधि लेख लिख्यो तिनही शिरमें।
उपत विपत खपत जिती न वधे न घटे तिल तितर में॥
स्वदेश तजो परदेश भजो किन वेष रहो अपने घर में।
उदय राज कृपाल दयाल कहे पण एक अधीर वडी नर में॥

(२)

चिन्ता चित्त दे न यार, लेख लिख्यो सो तैयार,
यहा नकद व्यवहार, न उधार न करार है।
क्रोड़ जतन आकार, वधे घटे न लगार,
चपा सोही होनहार, दीन दयार जो विचार है॥
मागे काय कु गवार, विन मागे करनार,
देत लेले जो निहार, सर्व जीव संसार है।
मनमें सतोष धार, फिकर जिकर टार,
तेरे कर्म अनुसार, सब देत देन हार है॥

(३) "मिथ्या तप" कार्तिक पौषादिक शीत काल में प्रातः स्नान करने में कितनेही तप समझते हैं। तैसे ही तीर्थ स्नान में, पर्व ग्रहण के स्नान में, कंद मूल दूध फल मेवा मिष्टान्न आदि भक्षण में ही तप समझते हैं। अग्नि तापने में, पाणी मे पड़े रहने में, कांटों व कीलों पर सोने बैठने में, तीर्थाटन में, हस्त पाद आदि अंगों को काष्ठवत् सूखा देने में, नख केश जटा बढाने में, इत्यादि अकार्य करने में, अन्य मतावलंबी तप समझते हैं। परन्तु सम्यक् दृष्टि ऐसे मिथ्या तप को देखकर लालायित नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसे तप में असंख्य स्थावर और त्रस जीवों का वध होता है। और माल मशाले खाने से विषय की भी वृद्धि होती है। बहुत से आदमी कुहेतु देकर कहते हैं कि—आत्मा सो परमात्मा है,

अतः इसे तप आदि करके भूखों नहीं मारना चाहिये। ऐसे लोग स्वयं जानते भी है कि बड़े बडे महर्षियों ने अत्यंत दुष्कर तप किये हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिये तप परमावश्यक चीज है, तथापि पुद्गलानन्दी बनकर मिथ्योपदेश द्वारा भोले लोगों को भरमाते हैं। इस भाव में सम्यक् दृष्टि कदापि नहीं पडते हैं, उनका अनुकरण नहीं करते हैं।

(४) "मिथ्यात्वी तपस्वियों का परिचय" मिथ्यात्व मत के तपस्वियों में गुणों का होना तो मुशकिल है, परन्तु ढोंग अधिक होता है। और मिथ्यात्वियों का तप प्रायः अभिलाषा यानी फल की वांछा सहित होता है–अर्थात् भोजन, वस्त्र, धन, यशः, सुख, राज पद, बैकुंठ, वगैरह इस तप के प्रभाव से हमें मिलेगा, इस आशा से वे तपश्चर्या करते हैं।

मनहर

लीना कहे कूड जोग, रहा भुगत जो भोग,
पावों पडे मूढ लोग, खूब खाय दुध मट के।
केते होय के सन्यासी, नहीं आत्मा तपासी,
जो पे पाय पग फांसी, तरु वर तले लट के॥
केते छार में हो क्वार, काट डाले कान फार,
शुभ हार गुन सार, फिरे तीर्थ को भट के।
चपा विन मोडे मन, निज विपे निज धन,
ताही के गवेपे विन, थोथे कन फट के॥

इस लिये मिथ्यात्वियों का तप भगवंत की आज्ञा विरुद्ध गिना जाता है। अगर सम्यक् दृष्टि मिथ्यात्वियों का परिचय करेगा तो भगवंत की आज्ञा का उलंघन करने वाला गिना जायगा, और विशेप परिचय से उन के ढ़ोंग देखकर सत्य तप की श्रद्धा नष्ट करदेगा, तथा इस लोक के सुख में लुब्ध होकर मिथ्यातपों द्वारा सम्यक्त्व गवॉ देगा। इत्यादि कारणों से मिथ्या तपस्वियों का सत्कारसन्मान भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि मिथ्या तप की वृद्धि होने से मिथ्यात्व तथा हिंसा की वृद्धि होगी। और दूसरे ऐसे तपों में धराभी क्या है ? देखिये—

—जटा धरे वट वृक्ष, पतंग वाले निज काया।
जलचर जल मे न्हाय, ध्यान धरवा वग वाया।
गाडर मुडावे शीश, अजा मुख दाढी राखे।
गर्दभ लोटे छार, शुक मुख रामजी भाखे।
वली मोह तजे छे माननी, श्वान सकल नुं खाय छे।
शामल कहे साचा विना, कोण स्वर्ग मे जाय छे॥ १॥
उंचो भाले ऊट, वगलो नीचो निहाले।
तरुवर सहे छे ताप, पहाड आसन दृढ वाले।
घर करी न रहे साँप, उदरो रहे छिपीने।
नोली कर्म गज राज, भक्ष फल पत्र कपीने।
ईश्वर अनुभव विन नव मले, सहज भावना भंग छे।
शामल मनमां सिद्ध जेहने, तो कथोटीमां गग छे॥ ३॥

(५) "मिथ्या शास्त्र पठन" जिन शास्त्रों में दया, क्षमा, शील, सत्य, त्याग, वैराग्य आदि सद्‌गुणों की प्राप्ति का कथन न हो—हिंसा, झूंट, चौरी, कुशील, परिग्रह, क्लेश, झगड़े, क्रीड़ा, भोगोप भोग मदिरा, मांस, शिकार, संग्राम आदि की प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा हो—जिनके श्रवण करने से विषयानुराग जगे—या क्रोधादि कषायों की वृद्धि हो—ऐसे शास्त्र मिथ्या शास्त्र कहे जाते हैं। जैसे शास्त्र पठन एवं श्रवण करने में आते हैं मस्तक में वैसे ही विचार जागृत होजाते हैं, और विचार दृढ आकृति धारण करके वैसे ही कार्य कराने की प्रेरणा भी कराते हैं—आखिर वैसे ही काम करा डालते हैं। अर्थात्—सद्‌गुणी कुमार्ग में रमण कर, अनाचार—विषय—कषाय आदि का सेवन कर, उत्तम नर जन्म की खुवारी कर डालते हैं। इत्यादि दूषण जान कर सम्यक् दृष्टि कुशास्त्र का पठन सर्वथा वर्जते हैं।

(६) "मिथ्या शास्त्र के धारक का परिचय" इस संसार में अनादि काल से सुमति और कुमति दोनों ही चली आती हैं, और दोनों ही का स्वरूप दर्शाने के लिये तत्पक्षपाती विद्वानों ने अपनी अपनी मति कल्प-

ना के अनुसार अनेक शास्त्रों की रचना रची है। * और तदनुसार सब को चलाने के लिये अपने से बनता प्रयत्न कर रहे हैं, अपने अपने मत की तह चित्त से स्थापना करने के प्रति परिश्रम कर रहे है। इन की परिक्षा सम्यक् दृष्टि को सम्यक् दृष्टि द्वारा ही करनी चाहिये कि इन में सच्चा कौन है और झूठा कौन ? ऊपर लिखे हुये पांच बोलों में कुशास्त्र के लक्षण बताये गये है, अतः कुशास्त्रों का परिचय सम्यक् दृष्टि को नहीं करना चाहिये।

मनहर

झूठी ऐसी पडिताई, पिंड पापकी भराई,
पिंड पातक लगाई, कहाँ पाई शुद्धताई को।
ज्ञान ध्यान को भुलाई, गुझ बुझ सूझ ताई,
सीख पाई कपटाई, निज स्वार्थ सजाई को॥
अच्छी गीलट बनाई, निज आंगुन छिपाई,
मूढ लोग भरमाई, खान पान की जुगाई को।
यहाँ राज पोपा बाई, चपा चाह सो चलाई,
आगे राज जमराई, वहाँ सजा हे अन्याई को॥

सम्यक्त्व के आठ दोष।

(१) "निः शंकित" राग आदि दोष और अज्ञान, ये दोनों ही असत्य बोलने में कारण भूत है। परंतु श्री जिनेन्द्र देवने अज्ञान का सर्वथा नाश कर दिया है, इस कारण श्री जिनेश्वर देवसे प्ररूपित हेय (त्याज्य) उपादेय (ग्राह्य) तत्वों मे, मोक्ष और मोक्ष के मार्ग मे, सम्यक्त्वियों को संदेह नहीं करना चाहिये। तत्व यही है, ऐसे ही है, अन्य नहीं है,

---

* *धम्मा फल हेतव, जाचिक उदराय अधम लोभादी।*
पर जणाय भडाय, ण लजय हासिं जोडव कताए॥ ६४॥

अर्थात्—धर्मी जन धर्म फलके अर्थ, याचक जन पेटके अर्थ, अधर्मी द्रव्य के अर्थ, भाड दूसरों को रिझाने के अर्थ, निर्लज्ज दूसरों को हँसाने के अर्थ, कविता बनाते हैं। ऐसा सुदृष्टि तरंगणी मे लिखा है।

परमात्मा को ढकने वाले जो रागादि दोष है, उन्हीं दोषों का उसी परमात्मा में सम्यक् ज्ञान श्रद्धान तथा आचरण रूप ध्यान के द्वारा जो ढकना यानी नाश करना है सो ही उप गूहन गुण है।

(६) "स्थिति करण" भेद तथा अभेद रूप रत्न त्रय को धारण करने वाले जो साधू, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है, उसमें से जो कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन को अथवा चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे, तो उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोंपदेश से, धनादि सामर्थ्यसे और किसी भी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है, वह व्यवहार से स्थिति करण गुण है। और निश्चय से उसी व्यवहार स्थिरीकरण गुण से जब धर्म में दृढ़ता होजावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न परम आनन्द रूप सुखामृत रस के आस्वाद रूप जो परमात्मा में लीन होता है-समता भाव में स्थिर होता है, वही स्थिति करण गुण है।

(७) "वात्सल्य" बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के रत्न त्रय को धारण करने वाले चारों प्रकार के संघ में, जैसे गाय की बछड़े में जो प्रीति रहती है, अथवा पांच इन्द्रियों के विषय के निमित्त पुत्र स्त्री सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है, उसी के समान अतुल्य स्नेह का जो करना है, वह व्यवहार नय की अपेक्षा से वात्सल्य गुण कहा जाता है। और जब व्यवहार वात्सल्य गुण के सहकारी भाव से धर्म में दृढता हो जाती है, तब मिथ्यात्व राग आदि संपूर्ण बाह्य पदार्थों की प्रीति को छोड़कर सर्वोपाधिरहित आत्मिक आनंद में प्रीति करना ही निश्चय वात्सल्य है।

(८) "प्रभावना" जो तप और ज्ञान से जैन धर्मकी प्रभावना करते है और जो श्रावक व सम्यक्त्वी जन-ज्ञानप्रचार-दान-पुण्य-शील व्रतादि से जैन धर्म दिपाते है, अज्ञान अन्धकारको जैसे तैसे दूर करते है, सो व्यवहार प्रभावना है। और निश्चय से इसी व्यावहारिक प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व विषय कषाय आदि संपूर्ण विभाव परिणाम

से रहित जो अनंतानंत प्रभाव के धारक निज शुद्ध आत्मा का प्रकाश अर्थात् अनुभव करना है सो ही प्रभाव है।

ये ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद, ८ दोष सब मिलकर सम्यक्त्व के २५ मूल दोष हैं। इनसे रहित, जो जीवादि तत्व श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व है, वही ज्ञेय है। और इस सम्यक्त्व द्वारा परंपरा से साधने योग्य, शुद्ध उपयोग रूप, निश्चय रत्न त्रय की भावना से उत्पन्न, जो परमाह्लाद रूप रसास्वादन है, वही उपादेय है। और इन्द्रिय जन्य सुखादि हेय (त्यागने योग्य) है। इस भांति वीतराग चारित्र के विना उत्पन्न नहीं होने वाले वीतराग सम्यक्त्व नाम धारी निश्चय सम्यक्त्व की साधना (सिद्धता) होती है। यह साध्य साधक भाव है—अर्थात् व्यवहार सम्यक्त्व साधक और निश्चय सम्यक्त्व साध्य है।

जीवों को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने के पहिले, अगर आयुका बंध नहीं हुआ होतो—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक तिर्यग नपुसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायु र्दारिद्रता न व्रजन्ति व्रतिकाः॥

अर्थात्—जिनको शुद्ध सम्यक्त्व दर्शन हुआ है ऐसे जीव, नर्क गति और तिर्यंच गति में नहीं उत्पन्न होते हैं। तथा नपुंसक, स्त्रीपना, नीच कुल, अंगहीन शरीर, अल्पायु, और दरिद्री पने को नहीं प्राप्त होते हैं। विशुद्ध मनुष्य गति पाते हैं। वहाँ—

ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशोवृद्धि विजय विभव सनाथाः।
उत्तमकुला महार्था मानव तिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥

अर्थात्—जो सम्यक् दर्शन से शुद्ध हैं, वे दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशः वृद्धि, विजय, और विभव से सहित होते हैं, और उत्तम कुल वाले तथा विपुल धन के स्वामी होकर सर्व मनुष्यों में श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं।

अगर देव गति में उत्पन्न होते हैं तो प्रकीर्ण देव, वाहन देव, किलविष देव, व्यन्तर देव, भवन वासी देव, और जोतिषी देव के पर्याय को छोड़कर, अन्य जो महाऋद्धि धारक विमानिक देव हैं, उनमें उत्पन्न होते हैं।

अथवा अन्य प्रकार से नहीं है, ऐसी निष्कम्प खड्ग धारके समान सन्मार्ग में संशय रहित रुचि स्थापित करने को निशंकित अंग कहते है। यह व्यवहार नय से सम्यक्त्व का व्याख्यान किया। निश्चय नय से तो उक्त व्यावहारिक निशंकित गुण की सहायता से लोकादि सात ही भयों से रहित होकर, घोर उपसर्ग तथा परिग्रह उत्पन्न होने पर भी जो शुद्ध उपयोग रूप रत्न त्रय है, उनकी भावना से चलित नहीं होना है, वह निशंकित गुण है।

(२) "निःकाक्षित" इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशा रूप जो भोग कांक्षा निदान है, उसका त्याग करके जो केवल ज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रकटता रूप मोक्ष है, तदर्थ ही ज्ञान ध्यान तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों को करना निकांक्षित गुण है। कर्माधीन, अंत सहित, उदय में दुःख मिश्रित, और पाप बीज रूप-इत्यादि विचार से पौद्गलिक सुखों मे अनित्यताका श्रद्धान करना निःकांक्षित अंग हैं। यह व्यवहार निःकांक्षित गुण का स्वरूप कहा। अब निश्चय से उक्त व्यावहारिक निष्कांक्षित गुण की सहायता से, देखे सुने तथा अनुभव किये हुये पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगों के त्याग से, रत्न त्रय की भावना से एवं परमार्थतः निज आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस में जो चित्तका संतोप होना है, वही निःकांक्षित गुण हैं।

(३) "निर्विचिकित्सा" भेदाभेद रूप रत्न त्रयके आराधने वाले जो भव्य जीव हैं, उनकी दुर्गन्धित तथा भयंकर आकृति आदि को देखकर धर्म बुद्धि से अथवा करुणाभावसे यथा योग्य विचिकित्सा ग्लानि को जो दूर करना है, उसे द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण कहते है। और जैन मत में सब अच्छी अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्र की मलिनता और जल स्नान आदिक नहीं करना ये ही दूपण हैं-इत्यादि कुत्सित भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना, यह निर्विचिकित्सा गुण है। भाव यह है कि रत्न त्रय से पवित्र, किन्तु स्वभावतः अपवित्र शरीर में ग्लानि न करके गुणों में प्रीति करना, यह व्यवहार तया निर्विचिकित्सा गुण है। और निश्चय से तो इसी व्यावहारिक निर्विचिकित्सा की सहा-

यता से जो समस्त राग द्वेष आदि विकल्प तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभवरूप लक्षण निज शुद्ध आत्मा में स्थित होना है, वह निर्विचिकित्सा गुण है।

(४) " अमूढ दृष्टि " श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित शास्त्र के आश्रय से बहिर्भूत जो कुदृष्टियों के बनाये हुवे, अज्ञानी जनों के चित्त में विषय उत्पन्न करने वाले, धातुवाद—क्षुद्र विद्या—व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्र है, उनको पढ सुनकर जो कोई मूढ भाव से धर्म की बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है, और दुःखदायक कुत्सित मार्ग स्थित पुरुषों में मन से प्रमाणता, वचन से स्तुति, और काया से भक्ति नहीं करता है, वह व्यवहार से अमूढ दृष्टि गुण वाला है। और निश्चय में इसी व्यावहारिक अमूढ दृष्टि गुणके प्रसार से जब अन्तरंग तत्व (आत्मा) और बाह्य तत्व (शरीरादि) का निश्चय हो जाता है, तब संपूर्ण मिथ्यात्व रागादि शुभा शुभ संकल्प विकल्पों * पर से आत्म बुद्धि, उपादेय (ग्राह्य) बुद्धि, हित बुद्धि, और ममत्व भाव को छोड़ देता है तथा मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति रूप से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के धारक निज आत्मा में जो निवास करना है, वही अमूढ दृष्टि नामक गुण है।

(५) " उप ग्रहन ,, यद्यपि भेदाभेद रत्न त्रयकी भावना रूप जो मोक्ष मार्ग है, वह स्वभाव से ही शुद्ध है। तथापि उसकी जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्म पालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त निंदा आदि अप्रभावना होवे, तब शास्त्रानुकूल शक्ति के अनुसार धन से अथवा धर्मोपदेश से उन व्यक्तियो के दोषों को ढकना तथा लोक निंदा का दूर करना है सो व्यवहार उपगूहन गुण है। इसी प्रकार निश्चय में तो व्यवहार उपगूहन गुणकी सहायता से अपने निरंजन निर्दोष

* पुत्र तथा स्त्री आदि बाह्य पदार्थों में ममत्व भावकी जो कल्पना है, वह संकल्प है। और अन्तरंग में मै सुखी हूँ, मै दुखी हूँ—इस तरह हर्ष एवं खेद करना, वह विकल्प है। अथवा यथार्थ रूप से तो जो संकल्प है, वही विकल्प है। अर्थात् संकल्प के विवरण रूप से विकल्प संकल्प का पर्याय है।

परमात्मा को ढकने वाले जो रागादि दोष है, उन्हीं दोषों का उसी परमात्मा में सम्यक् ज्ञान श्रद्धान तथा आचरण रूप ध्यान के द्वारा जो ढकना यानी नाश करना है सो ही उप गूहन गुण है।

(६) " स्थिति करण " भेद तथा अभेद रूप रत्न त्रय को धारण करने वाले जो साधू, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है, उसमें से जो कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन को अथवा चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे, तो उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश से, धनादि सामर्थ्यसे और किसी भी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है, वह व्यवहार से स्थिति करण गुण है। और निश्चय से उसी व्यवहार स्थिरीकरण गुण से जब धर्म में दृढ़ता होजावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न परम [illegible] रूप सुखामृत रस के आस्वाद रूप जो परमात्मा में लीन होता [illegible] भाव में स्थिर होता है, वही स्थिति करण गुण है।

(७) "वात्सल्य" बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के रत्न त्रय को धारण करने वाले चारों प्रकार के संघ में, जैसे गाय की बछड़े में जो प्रीति रहती है, अथवा पांच इन्द्रियों के विषय के निमित्त पुत्र स्त्री सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है, उसी के समान अतुल्य स्नेह का जो करना है, वह व्यवहार नय की अपेक्षा से वात्सल्य गुण कहा जाता है। और जब व्यवहार वात्सल्य गुण के सहकारी भाव से धर्म में दृढता हो जाती है, तब मिथ्यात्व राग आदि संपूर्ण बाह्य पदार्थों की प्रीति को छोड़कर सर्वोपाधिरहित आत्मिक आनंद में प्रीति करना ही निश्चय वात्सल्य है।

(८) " प्रभावना " जो तप और ज्ञान से जैन धर्मकी प्रभावना करते है और जो श्रावक व सम्यक्त्वी जन–ज्ञानप्रचार–दान–पुण्य–शील व्रतादि से जैन धर्म दिपाते है, अज्ञान अन्धकारको जैसे तैसे दूर करते है, सो व्यवहार प्रभावना है। और निश्चय से इसी व्यावहारिक प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व विषय कषाय आदि संपूर्ण विभाव परिणाम

से रहित जो अनंतानंत प्रभाव के धारक निज शुद्ध आतमा का प्रकाश अर्थात् अनुभव करना है सो ही प्रभाव है।

ये ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद, ८ दोष सब मिलकर सम्यक्त्व के २५ मूल दोष हैं। इनसे रहित, जो जीवादि तत्व श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व है, वही हेय है। और इस सम्यक्त्व द्वारा परंपरा से साधने योग्य, शुद्ध उपयोग रूप, निश्चय रत्न त्रय की भावना से उत्पन्न, जो परमाह्लाद रूप रसास्वादन है, वही उपादेय है। और इन्द्रिय जन्य सुखादि हेय (त्यागने योग्य) है। इस भांति वीतराग चारित्र के विना उत्पन्न नहीं होने वाले वीतराग सम्यक्त्व नाम धारी निश्चय सम्यक्त्व की साधना (सिद्धता) होती है। यह साध्य साधक भाव है—अर्थात् व्यवहार सम्यक्त्व साधक और निश्चय सम्यक्त्व साध्य है।

जीवों को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होने के पहिले, अगर आयुका बंध नहीं हुआ होतो—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक तिर्यग नपुसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायु दरिद्रिता न व्रजान्ति व्रतिकाः॥

अर्थात्—जिनको शुद्ध सम्यक्त्व दर्शन हुआ है ऐसे जीव, नर्क गति और तिर्यंच गति में नहीं उत्पन्न होते हैं। तथा नपुंसक, स्त्रीपना, नीच कुल, अंगहीन शरीर, अल्पायु, और दरिद्री पने को नहीं प्राप्त होते हैं। विशुद्ध मनुष्य गति पाते हैं। वहाँ—

ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशोवृद्धि विजय विभव सनाथाः।
उत्तमकुला महार्था मानव तिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥

अर्थात्—जो सम्यक् दर्शन मे शुद्ध हैं, वे दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशः वृद्धि, विजय, और विभव से सहित होते हैं, और उत्तम कुल वाले तथा विपुल धन के स्वामी होकर सर्व मनुष्यों में श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं।

अगर देव गति मे उत्पन्न होते हैं तो प्रकीर्ण देव, वाहन देव, किलविष देव, व्यन्तर देव, भवन वासी देव, और जोतिषी देव के पर्याय को छोड़कर, अन्य जो महाऋद्धि धारक विमानिक देव हैं, उनमें उत्पन्न होते हैं।

अब तत्वार्थ सूत्र के अनुसार सम्यक्त्व के प्रश्नोत्तर लिखते हैं-

सूत्र-" निर्देश स्वामित्व साधना धिकरण स्थिति विधानतः " ।

प्रश्न-" निर्देश " अर्थात् सम्यक दर्शन क्या पदार्थ है ? उत्तर-" तत्वार्थ श्रद्धांन सम्यग्दर्शनम् " अर्थात्-जो पदार्थ जैसे अवस्थित है तैसे ही उसका होना सो " तत्व " है, और जो निश्चय किया जावे वह " अर्थ " है, तत्वरूप जो निश्चय सो तत्वार्थ है । तात्पर्य यह है कि-जो जीवाजीवादि पदार्थ जिस प्रकार अवस्थित हैं, उनका उसी प्रकार से श्रद्धान करने को सम्यक् दर्शन कहते हैं ।

प्रश्न—" स्वामित्व " अर्थात् सम्यक् दर्शन का स्वामी कौन है ? सम्यक् दर्शन किनको होता है ? उत्तर-सम्यक् दर्शन का स्वामी जीव है, अर्थात् जीव को ही सम्यक् दर्शन होता है । यही बात जरा विस्तार से कही जाती है:-(१) "गति" पहिली नर्क के अपर्याप्त पर्याप्त दोनों प्रकार के जीवों में क्षायिक और क्षयोपशम सम्यक्त्व होती है । दूसरी नर्क से सप्तमी नर्क तक अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होती है, पर्याप्त में हो तो उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व होती है । जुगलिये तिर्यंच पंचेंद्रिय के अपर्याप्त में क्षायिक, क्षयोपशम और उपशम सम्यक्त होती है। कर्म भूमि तिर्यंच के अपर्याप्त में सम्यक्त्व नहीं होती और पर्याप्त में उपशम क्षयोपशम दो सम्यक्त्व होती है । मनुष्य के अपर्याप्त में क्षायिक क्षयोपशम दो सम्यक्त्व हैं. पर्याप्त में तीनों ही । भवन पति, वाणव्यंतर, जोतिषी के अपर्याप्त में सम्यक्त्व नहीं होती, पर्याप्त में दो उपशम क्षयो-पशम । और विमानिक देव के अपर्याप्त पर्याप्त दोनोंही में सम्यक्त्व पाती हैं (२) "जाति" एकेंद्रिय में सम्यक्त्व नहीं । विकलेन्द्रिय के और असन्नी तिर्यंच पचेंद्रिय के अपर्याप्त में सास्वादन सम्यक्त्व, पर्याप्त में नहीं । सन्नीपंचेन्द्रिय के अपर्याप्त पर्याप्त दोनों ही में तीनों सम्यक्त्व (३) "काया" पांच स्थावर में सम्यक्त्व नहीं । त्रस में सम्यकत्व तीनों ही (४) "योग " योगी में तीनों ही सम्यक्त्व। अयोगी में एक क्षायिक सम्यक्त्व (५) "वेद" तीनों ही वेदों में तीनों ही सम्यक्त्व । अवेदी में दो क्षायिक और उपशम (६) "कषाय" चार कषाय में तीनों ही

सम्यक्त्व । अकषायी में दो पूर्वोक्त (७) "ज्ञान" मति श्रुति अवधि और मनः पर्यव ज्ञानी में तीनों ही सम्यक्त्व, केवल ज्ञानी में एक क्षायिक सम्यत्व, अज्ञानी में सम्यक्त्व नहीं (८) "संयम" सामायिक छेदोपस्थापनीय में तीनों ही सम्यक्त्व, परिहारविशुद्धि में दो क्षयोपशम और क्षायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात में दो उपशम और क्षायिक। असंयति और संयतासंयती में तीनोंही सम्यक्त्व (९) "दर्शन" चक्षु अचक्षु और अवधि दर्शन में तीनों ही सम्यक्त्व। केवल दर्शन में क्षायिक सम्यक्त्व (१०) "लेशा" छः ही लेशा में तीनों ही सम्यक्त्व। अलेशा में एक क्षायिक सम्यक्त्व (११) "भव्य" भव्य जीव में तीनों ही सम्यक्त्व। अभव्य में नहीं (१२) "समत्त" जहां जैसे सम्यक्त्व के परिणाम प्रवर्तें वहां वैसीही सम्यक्त्व जानना (१३) "सन्नी" सन्नी में तीनों ही सम्यक्त्व, असन्नी में नहीं (१४) "आहारक" आहारक अनाहारक दोनों में तीनों ही सम्यक्त्व। इन चौदह मार्गणाओं से सम्यक्त्व के स्वामी का स्वरूप जानना।

(३) प्रश्न—"साधन" अर्थात् सम्यक्त्व दर्शन कौनसे साधन (कारण) से होता है ? उत्तर—"तन्निसर्गादधिगमाद्वा" अर्थात् निसर्ग और अधिगम इन दोनों कारणों से होता है (१) निसर्ग, परिणाम, स्वभाव, और दूसरे के उपदेश का अभाव, ये सब नाम एकही अर्थ के सूचक हैं। ज्ञान और दर्शन ये दोनों जीव के निज लक्षण हैं, परन्तु अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करता है। निजकृत कर्म फलों का नर्क तिर्यंच मनुष्य और देव स्थान में अनेक प्रकार से अनुभव करते हुये जीव के ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग स्वभाव से तत्तत् परिणाम अध्यवसाय तथा अन्यान्य स्थानादि को प्राप्त होते है। अनादि काल से मिथ्यादृष्टि होने पर भी परिणाम विशेष (कर्मों के परिपकता से भाव विशेष) से अपूर्व करण ऐसा होता है कि जिसके द्वारा विना किसी के उपदेशादि के स्वयं ही किसी समय में जो सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है, वही निसर्ग सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने का साधन है। (२) और अधिगम, अभिगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा, और

उपदेश, ये सब एकार्थी दर्शक शब्द हैं। दूसरे के किये हुये उपदेश के द्वारा जो तत्वार्थी का श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यक दर्शन के उत्पन्न करने का साधन है। सम्यक् दर्शन उत्पन्न करने के और भी दो साधन हैं–अभ्यन्तर, और बाह्य। अभ्यन्तर कारण सो दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय इन तीनों से तीन प्रकार का सम्यकत्व होता है। और बाह्य कारण सो पहिली दूसरी तीसरी नर्क में कितनेक को जातिस्मरण ज्ञान से और कितनेक को धर्म श्रवण (परमाधामियों के सद्बोध के शब्द) से और कितनेक को महा वेदना का अनुभव करने से सम्यकत्व उत्पन्न होता है। और चौथी से सप्तमी नर्क तक जाति स्मरण से तथा महा वेदना अनुभव करने से सम्यकत्व होता है, वहां उपदेश का अभाव है। तिर्यंच में जातिस्मरण से, साधू के दर्शन से, तथा धर्म श्रवण से सम्यकत्व होता है। मनुष्य में भी येही तीनों कारण जानने। और देवता में बारहवें स्वर्ग तक कितनेक को जातिस्मरण से, कितनेक को धर्म श्रवण से, कितनेक को जिनेन्द्र के पंच कल्याणक की महिमा देखने से और कितनेक को अन्य महा ऋद्धि धारक देवों के देखने से सम्यकत्व होता है। नव ग्रैवेक के देवता को जातिस्मरण और धर्म श्रवण से सम्यक्त्व होवे। अनुत्तर विमान वासी देव तो पूर्व जन्म से सम्यक्त्व साथ ही लेकर आते हैं, इसलिये वहां किसी प्रकार की कल्पनाही नहीं है।-यह सम्यक्त्व प्राप्ति के साधन कहे।

(४) प्रश्न–"अधिकरण" अर्थात् सम्यक्त्व किसके आधार से है? उत्तर–आधार तीन प्रकार के होते हैं:–१ " आत्म सांनिध्य " सो आत्मा के अभ्यन्तर सामीप्य से ही सम्यक्त्व है। अर्थात् अनादि से आत्मा का और सम्यकत्व का सन्निधान है, कदापि दूर नहीं हुई है, मात्र दर्शन के आवरण करने वाले कर्मका आच्छादन ही का अंतर है, इसलिये आत्मा ही सम्यकत्व का आधार भूत है। (२) " अनात्म सांनिध्य " अन्य को पहचानने के वास्ते बाह्य लक्षण ही सम्यक्त्व के आधार हैं। वे लक्षण पांच है –(१) रागादिकों की उत्कृष्टताका अभाव सो 'शम' लक्षण (२) सांसारिक देह संबन्ध भोगादि उत्पन्न होते कर्म फल

भोगने का भय सो 'संवेग' लक्षण (३) संसार के पदार्थों में घृणा पूर्वक वैराग्य सो "निर्वेद" लक्षण (४) सर्व भूतों की दया सो " अनुकंपा " लक्षण (५) और शास्त्र बोधित पदार्थ आदि में अस्तिकत्व तथा अभिव्यक्ति रूप जो तत्वार्थ श्रद्धान सो 'आस्तिकत्व' लक्षण। ये हैं तो आत्मिक गुण ही, परन्तु परात्म यानी दूसरे को इन गुणों के आधार से ही सम्यक्त्व दर्शन का ज्ञान होता है, कि यहां सम्यक्त्व है । इसलिये इन गुणों को अनात्म आधार से लिया है। (३) " उभय सन्निधान " आत्मा में जैसे गुण होते हैं वैसे ही ऊपर झलकते हैं, सो उभय। तथा यह लोक आत्मानात्म से भरा हुआ है। इसके मध्य में एक राजू की लंबी चौड़ी और चौदह राजू की ऊंची जो त्रस नाल है, उसके अन्दर ही सम्यक्त्व के आधार का स्थान है।

(५) प्रश्न "स्थिति" सम्यक्त्व कितने काल तक रहती है ? उत्तर-जीव को सम्यक्त्व दो प्रकार की होती है, सादि सान्त और सादिअनन्त (१) " सादि सान्त " अर्थात् आदि सहित और अंत सहित। इस सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट ६६ सागरोपम काल पर्यंत रहती है। और २ " सादि अनंत " अर्थात् आदि सहित और अंत रहित। क्षायिक सम्यक्त्वी से लेकर केवली एवं सिद्ध भगवंत पर्यंत। और भी उपशम सम्यक्त्वी की स्थिति जघन्य अंतर मुहूर्त, उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्तन, क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट ६६ सागर। तथा क्षायिक सम्यक्त्व अनन्त है।

(६) प्रश्न "प्रकार" सम्यक्त्व कितने प्रकार के होते हैं ? उत्तर—वस्तुतः तो सम्यक्त्व के भेद हैं ही नहीं। क्योंकि सम्यक्त्व आत्मा का निज गुण है, इसलिये एक ही भेद रूप है। उत्पन्न होने की अपेक्षा निसर्ग और अभिगम ऐसे दो भेद होते हैं। प्रकृति के उपशम से उपशम, क्षयोशम से क्षयोपशम, और क्षय से क्षायिक, यों तीन भेद भी होते हैं। ऐसे श्रद्धा आश्रित संख्याते, जगत श्रद्धान वाले जीवों आश्रित असंख्याते, और सिद्ध के जीवों आश्रित अनन्त भेद सम्यक्त्व के होते हैं।

सूत्र—"सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्पबहुत्वैश्च"।

(७) प्रश्न—"सत्" अर्थात् सम्यक् दर्शन है किंवा नहीं है ? उत्तर—अजीव में तो सम्यक्त्व नहीं है। और जीव आश्रित अभव्य में सम्यक्त्व कदापि नहीं होता है: शेष जीव काल लब्धि के परिपाक से सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्ष को पाते जाते हैं। इस अपेक्षा सम्यक्त्व है।

(८) प्रश्न—"संख्या" अर्थात् सम्यक् दर्शन कितना है ? उत्तर—सम्यक् दर्शन तो असंख्य है, और सम्यक् दृष्टि अनन्त है।

(९) प्रश्न—'स्पर्शन" अर्थात् सम्यक् दर्शन ने क्या स्पर्शन किया है ? उत्तर—छद्मस्थ आश्रित लोकका असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन किया है, और केवली आश्रित संपूर्ण लोक स्पर्शन किया है।

(१०) प्रश्न—"काल" अर्थात् सम्यक् दर्शन कितने काल तक रहता है ? उत्तर—एक जीव आश्रित जघन्य अन्तर मुहूर्त, उत्कृष्ट ६६ सागर और बहुत जीव आश्रित सदा ही बना रहता है।

(११) प्रश्न—"अन्तर" अर्थात् सम्यक दर्शन का विरह कितना होता है ? उत्तर—एक जीव आश्रित जघन्य अन्तर मुहूर्त, उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्तन। और अनेक जीव आश्रित विरह कदापि नहीं पड़ता है।

(१२) प्रश्न—"भाव" अर्थात् सम्यक्त्व कौन से भाव में पाता है ? उत्तर—औदयिक और प्रणामिक भाव को छोड़कर बाकी के औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक भाव में सम्यक्त्व होता है।

(१३)—प्रश्न "अल्प बहुत्व" अर्थात् तीनों सम्यक्त्व में कम ज़्यादह कौन से है ? उत्तर—सबसे कम औपशमिक, उससे क्षयोपशमी असंख्यात गुणे, और उनसे क्षायिक वाले अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

यह भेदोपभेदों द्वारा सम्यक्त्व का यत्किंचित् स्वरूप बताया।

—एव जिण पणत्त, दसणं रयण धरेह भावाण।
सार गुण रयण तये, सोवाण पढम मोक्खस्स ॥

अर्थात्—अहो भव्यो ! श्री जिनेश्वर भगवन्त का फरमाया हुआ जो सम्यक्त्व रत्न है, सो सर्व गुणों में प्रथम श्रेष्ठ गुण है और मोक्ष मार्ग का सर्व श्रेष्ठ सोपान है। अतः इसे अंतःकरण के पवित्र भाव से धारण करो !

ऐसे सम्यक्त्व के धारक सम्यक्त्वी जीव विचार करते हैं, कि रे जीव ! तुझे इस अपार संसार में परिभ्रमण करते हुये अनन्त पुद्गल परावर्तन होगये हैं, जिनमें अज्ञान के कारण अन्ध बनकर एवं मोहफंद में फंद कर ज्ञान दर्शन चारित्र तप आदि धर्म कार्य की तथा इनको आराधने वाले चारोंही तीर्थों की अनेक वार विराधना की। तथैव निंदा एवं इर्षा की। गृहीत व्रतादि का यथोक्त पालन नहीं किया एवं जान बूझकर भंग किया। ढोंगी धूर्तपना एवं धर्म ठगाई करी। पेटार्थी बनकर महा कर्म उपार्जन किया। पंचेन्द्रिय एवं चार कषायों की पुष्टि के लिये, तथा स्वजन परजन की तुष्टि के लिये, इसी भांति धर्म एवं मोक्ष के लिये भी छः काय के जीवों की विराधना करके वज्र कर्मोपार्जन किये। जिन कर्मों को भोगते हुये नर्कादि दुर्गति मे महा विडंबना सहन करी, परन्तु अभी तक उन कर्मों का अंत आया नहीं। अकाम सकाम निर्जरा के योग से अनंत शुभ कर्मों की वृद्धि होने से पंचेन्द्रियत्व, मनुष्यत्व, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, सद्गुरू की जोगवाई इत्यादि आत्मा तारने की सामग्री मिली और श्री गुरु देवने मेरे पर परमोपकार अनुग्रह करके तत्वार्थ प्रकाश करने वाली देशना सुनाई–समझाई, जिससे मेरे हृदय नेत्र खुले और बोध बीज सम्यक्त्व रत्न मेरे हाथ लगा। अब मिथ्यात्व, मोह, काम, कषाय आदि ठगों और कु-देव, कुगुरू, कुधर्म रूप महाठगों से मेरे सम्यक्त्व रूप सद्द्रव्य को किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुंचे, ऐसी तरह हुंसियारी से प्रवृत्ति करनी उचित है, यही मेरा परम कर्तव्य है।

–सम्मत्तादो णाण। णाणा दो सव्व भावओ लध्दी॥
उवलध्दीय पयत्थे। पुणु सेयासेय वियाणेहि॥ १५॥
सेयासेय विद एहु। उदुद दुसील वतोवी॥
सील फलेण ब्भुदय। तत्तो पुण लहेइ णिव्वाण॥ १६॥

—दशण पाहुड

अर्थ–सम्यक्त्व से ज्ञानकी प्राप्ति होती है, ज्ञानसे जीवाजीव को जानने की उपलब्धि (शक्ति) होती है एवं पुण्य पाप के कर्तव्यों की समझ आती है, समझ से आत्म सुखार्थी पाप कर्तव्य रूप दुःशील को

त्याग कर धर्मकर्तव्य सुशील को स्वीकार करते हैं। उस सुशील रूप उत्तम करणी के प्रभाव से वे तीर्थंकर होते हैं, तथा निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

यदि गफलत में रहकर उपरोक्त ठगों के वश में पड़ जावूंगा तो फिर " आणि चूका वीसा सो " हो जायगा। अर्थात् पुनः यह रत्न हाथ लगना मुशकिल हो जायगा। ऐसा अंतःकरण में खटका रखकर, जैसे जौंहरी रत्नों के डब्बे की हिफाजत करते हैं, तैसे बल्कि उससे भी अधिक प्राणांत संकट में भी सम्यक्त्व में किसी प्रकार का किंचित् मात्र भी दोष न लगावे। और सम्यक्त्वी तन, धन, जन को अनित्य जानकर उन पर से ममत्व कम करे—धनको दान में, चार तीर्थ की भक्ति में, धर्मोन्नति के कार्य में, हमेशा लगाता ही रहे—जाने कि जितना यह सुकार्य में लगेगा उतना ही मेरी आत्मा को अधिक सुख होगा। और शरीर को तप जप क्रिया में तथा वृद्धोंकी, संघ की, गुणीजनों की सेवा में लगावे, जाने कि यह काया कारमी रोग शोग व्याधि उपाधि से भरी है, जब तक वे नहीं प्रगटें तब तक इसमें से निकले सो माल निकाल लेवूं। जैसे धनेश्वरी की हवेली में आग लगने से वे बड़े कीमती माल को पहिले निकालते हैं, तैसे इस देह रूप हवेली में आयुष्य रूप आग लगी है, इस लिये पहिले उत्तमोत्तम धर्म करणी कर लेवूं। और अपने स्वजनों को भी धर्म मार्ग में लगावे अर्थात् सम्यक्त्वी श्रावक साधू बनावे, उनसे भी धर्मोन्नति का कार्य करावे। यों सदा धन तन जन से जितना लाभ लिया जासके उतना लेने में बिलकुल ही कसर नहीं रक्खे।

आरंभ परिग्रह की वृद्धि वांछे नहीं। इन्द्रियों के भोगोपभोग में लुब्ध होवे नहीं। अनुचित तथा अपकीर्ति होवे, ऐसे कार्य कदापि करे नहीं। यथावसर अवकाश के समय एकांत स्थान में शांत चित्त से ध्यानस्थ होकर अर्हंत, सिद्ध, साधू की और अपनी आत्मशक्ति की तुलना सदैव करता रहे।

—प्रातःपच नमस्कातिर्यतिपते जैनार्चनस्य व्रती।
धर्मा चार मति. प्रमाद विरतिः सिद्धान्त तत्व श्रुति ॥

सर्वज्ञोदित कार्य भाव करण साधोश्च वैयावृतिः ।
श्रेयो मार्ग सदा विशुद्धि करण श्लाघानराणा स्थितिः ॥

अर्थ–प्रातः काल ही पंचपरमेष्ठी को सस्मरण विधि पूर्वक नमस्कार करना, फिर निर्ग्रन्थ गुरूको नमस्कार करना–स्तवन (गुणानुवाद) करना, धर्माचारका सदा पालन करना, प्रमाद (आलस्य) का त्याग कर नित्य शास्त्र का श्रवण करना, उसके तत्व का यथातथ्य श्रद्धान करना, और उसमें से जो कार्य अपने करने लायक होवे सो भक्ति पूर्वक करना, साधू की वैयावृत्य करना, जो सन्मार्ग दृष्टि में आवे उसमें प्रवृति करना, ये सत्पुरुषों के श्लाघनीय कर्तव्य हैं ।

–दंसण भट्टा भट्टा दंसण भट्टस्स नत्थि निव्वाण ।
सिझति चरिय भट्टा दंसण भट्टा न सिझति ॥

—दसन पाहुड

अर्थ– सम्यक्त्व से भ्रष्ट ही वस्तुतः भ्रष्ट हैं; क्योंकि चारित्र का भ्रष्ट तो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, परन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट को मोक्ष नहीं होती है ।

इत्यादि अनेक युक्तियों से जो जीव, सम्यक्त्व रत्न की सम्यक प्रकार से आराधना-पालना-स्पर्शना करते हैं, वे परमात्मा पंथ में गमन करते हैं, तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं ।

ऐसे परमोत्तम सम्यक्त्व रत्न की आराधना, विनयवंत ही कर सकता है, इसलिये विनय का वर्णन आगे करने की इच्छा रखकर यहां इस प्रकरण की समाप्ति करता हूं ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋपिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाळ ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋपिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "दसण-
सम्यक्त्व" नामक दशवा प्रकरण समाप्त ।

—:०:—



प्रकरण—ग्यारहवाँ

—:०:—

" विनय—नम्रता "



स विश्व में जितने गुण हैं, उन सब गुणों में अव्वल दरजे का गुण विनय यानी नम्रता ही है। जहां विनय गुण होता है वहां सर्व गुण आकृष्ट होकर अपने आप ही चले आते हैं। इस लिये ही कहा है कि—

विणयाओ णाण, णाणाओ दंसण, दसणाओ चरण ।
चरणहुति सुख्खो, मोक्खे सुहं अवावाह ॥

अर्थात्—विनय से ही ज्ञान होता है। इसी लिये ज्ञान के १४ अतिचारों में कहा है कि "सुट्ठुदिन्नं" अर्थात् विनीत को ही ज्ञान देना ! क्योंकि जिसे जो वस्तु गुण करती होवे उसे वही वस्तु देनी चाहिये। इस लिये विनीतों को ही ज्ञान होता है। और ज्ञान से दर्शन—सम्यक्त्व होता है। कहा है कि "णाणेणं दंसणं होइ" अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वरूप होवे वैसा ही शुद्ध जानने को ज्ञान कहते हैं। जो शुद्ध वस्तु का स्वरूप जानेगा वही यथार्थ श्रद्धेगा। विना जानपने के श्रद्धा स्थिर होनी मुशकिल है। इस लिये ज्ञान ही सम्यक्त्व का कारण है। और जो श्रद्धेगा

कि यह संसार असार है, दुःख का सागर है, वही सुखार्थी संसार को त्यागकर शिव सुखदायक चारित्र धर्म को स्वीकारेगा। इसी लिये शुद्ध श्रद्धान से ही चारित्र धर्म की प्राप्ति होती है। और जो शिव सुख प्राप्त करने के लिये चारित्र धर्म पालेगा, वही जब तक शिव सुख की प्राप्ति न होगी तब तक उस में तह चित्त से वर्द्धमान प्रणाम से प्रवृत्ति करेगा—कषाय नो कषाय का निग्रह करेगा—सर्व दोष से दूर रहेगा। जो चारित्र नवीन कर्म का आगमन तो बंद करेगा और चारित्र धर्म में शुद्ध प्रणामों की वृद्धि होने से ध्यानाग्नि द्वारा पूर्वोपार्जित सर्व कर्मों का नाश करेगा, वही जीव मोक्ष स्थान को प्राप्त करेगा। इस लिये चारित्र ही मोक्ष प्राप्ति का कारण है। इस प्रकार विनय नामक गुण के होने से एकेक करके अन्य गुण भी स्वभाव से ही आकृष्ट होते हुये चले आते हैं।

और भी कहा है—

विनय फल शुश्रूषा गुरु शुश्रूषाफलं श्रुत ज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरति, विरतिःफलं चाश्रव निरोधः॥ १॥
सवर फलं तपोबलमपि, तपसो निर्जरा फलं दृष्ट।
तस्मात् क्रियानिवृत्ति. क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २॥
योग निरोधाद् भव संसृति क्षय· ससृति क्षयान्मोक्षः।
तस्मात् कल्याणाना सर्वेषा भाजनं विनयः॥ ३॥

अर्थात्—जो विनीत शिष्य होता है वह गुरू महाराज की शुश्रूषा भक्ति करता है। उस विनय भक्ति से संतुष्ट हुये गुरु देव परम निधान रूप श्रुत ज्ञान का गूढ रहस्य बताते हैं। उस शास्त्र के ज्ञान में तल्लीन होने से इच्छा का निरोध होता है; जिससे व्रत संयम आदि धारण करते हैं। व्रत धारण करने से अव्रत—आश्रव रूप जो प्रवाह है वह बंद हो जाता है। आश्रवका निरोध सोही संवर धर्म है। संवर है सो ही मुख्य तप है। और तप का स्वभाव कर्मों की निर्जरा—क्षय करने का है। कर्म की निर्जरा होने से क्रिया की निवृत्ति होती है। क्रिया की निवृत्ति होने से योगों की प्रवृत्तिका निरोधन होता है। योगों का निरोधन होने से संसार परिभ्रमण का नाश होता है उसे ही मोक्ष कहते हैं।

इसलिये आत्मा के परम कल्याण का भाजन विनय ही है। और भी कहा है—

—विणओ जिण सासण मूलं, विणयो निव्वाण साहगो।
विणयाओ विप्प मुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥

अर्थात्—जिनकी आत्मा में विनय गुण नहीं है, उनका किया हुआ धर्म और तप सर्व निरर्थक है, कुछ भी काम का नहीं है। क्यों कि मोक्ष मार्ग में जाते हुवे जीवों को सहाय भूत और धर्म का मूल (जड़) विनयही है। इसी अर्थ की विशेष पुष्टि करने के लिये श्री दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्याय के दूसरे उदेशे में फरमाया है—

विनय रूप कल्प वृक्ष।

—मूलाओ खन्धप्पभवो दुमस्स, खन्धाओ पच्छा समुवेन्ति साहा।
सहाप्पसाहा विरूहन्ति पत्ता, तओ से पुप्फ च फलं रसो य॥

अर्थात्—यह रीति अनादि से चली आती है कि—प्रथम मूल (जड़) होता है फिर अनुक्रम से स्कंध–शाखा–प्रतिशाखा–पत्र–पुष्प–फल और रसकी प्राप्ति होती है। और " नास्ति मूलं कुतः शाखा " अर्थात्–जो मूल ही नहीं होगा तो शाखा आदि वृक्ष के अवयव कहां से होंगे। इम लिये अव्वल मूल की जरूरत है, सोही कहते हैं–

—एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जणे किंचि सुय सग्घ, निस्सेस चाभिगच्छइ॥

अर्थात्—इसी प्रकार धर्म के विषय मे भी समझना चाहिये, कि धर्म रूप कल्प वृक्ष का विनय रूप मूल है। विनयवंत को धैर्यता अवश्य ही रखनी पड़ती है, इस लिये धैर्य रूप कंद (गोड़) है। धैर्य से ज्ञान की और यश की वृद्धि होती है, इस लिये ज्ञान रूप स्कन्ध (पेड़) है। ज्ञानवन्त सदा निर्मल भाव रखते हैं, इस लिये १२ भावना, तथा पांच महाव्रत की २५ भावना रूप उस वृक्ष की त्वचा (छाल) है। शुभ भाव वाले संयमी होते हैं, संयमी महाव्रत धारी कहे जाते हैं, इस लिये पंच महाव्रत रूप उस झाड़ की पांच शाखा (डालियां) हैं, महाव्रतों

कर रक्षण समिति और गुप्ति के द्वारा होता है, इस लिये पांच समिति और तीन गुप्ति रूप प्रति शाखा (छोटी डालियां) हैं। समितिगुप्तिवंत शुद्ध ध्यानी होते हैं, इस लिये धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान रूप अंकुर (पल्लव) फूटते हैं। शुद्ध ध्यानी विषय से निवृत्त होते हैं, इस लिये पांच इन्द्रियों की २३ विषय और २४० विकार से निवृत्ति भाव रूप पर्ण (पत्र) हैं। निर्विषयी को अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है, इस लिये क्षमा, निर्लोभता, सरलता, निरभिमानता, लघुत्व, सत्य, संयम, तप, ज्ञानाभ्यास, ब्रह्मचर्य रूप एवं उत्तर गुण अनेक व्रत प्रत्याख्यान रूप सुगन्धित पुष्प (फूल) हैं। अनेक गुण गणों के धारक मोक्ष प्राप्त करते हैं, इस लिये उस वृक्ष के मोक्ष रूप फल हैं। और उत्तम वृक्ष का फल मधुर–मिष्ट रस से भरा होता है, इस लिये विनय रूप वृक्ष का मोक्ष रूप फल भी अनंत अक्षय अव्याबाध अतुल अनुपम अखंड निरामय सुख रूप रस से भरा है। अर्थात् विनीत प्राणी इस रसका भोक्ता होता है। और दूसरी तरह इस गाथा का अर्थ ऐसा भी होता है कि—ज्यों ज्यों वृक्ष के मूल की दृढ़ता होती है, त्यों त्यों उस वृक्ष में अधिकाधिक शाखा प्रतिशाखा पत्र पुष्प फल की वृद्धि होती है, इसी प्रकार ज्यों ज्यों विनय गुण में ज्यादा ज्यादा दृढ़ता होगी, त्यों त्यों उस जीव को अधिकाधिक सुख की प्राप्ति होगी। जैसे कहा है—

—" तम्हा धम्मस्स दुम्मस विणओ मूल खंधं असुरत्तं सहा होइ सुरत्त, पसाहा सुकुमालो पत्ताय पत्त समजस कित्तीयं पुप्फस्स परम रसो, सिद्धत्त परम सुखं परम पयंच पावंति तम्हा चरित्त सार विणओ। "

अर्थात्—धर्म रूप वृक्षका विनय रूप मूल हैं। असुर देव भवन पति आदि के सुख स्कंध है और महा ऋद्धि (द्रव्य धन आदिक, और भाव ज्ञान आदिक) के धारक मनुष्यों के सुख शाखा हैं। पत्र तुल्य यशः कीर्ति है। पुष्प के समान ज्ञान आदि परम गुणों में लीनता है। फल के समान तीर्थंकर गणधर आदिक का पद है और रस के समान परम पद मोक्ष की प्राप्ति है।

इस भांति अनेक तरह अनेक शास्त्र ग्रन्थों में विनय गुण की

प्रशंसा करी है। इसलिये सर्व गुणों में सर्व धर्म का सार प्रथम विनय गुण को ही लिया है।

विनय के ७६ भेद।

विनय के मूल पांच भेद हैं (१) "ज्ञान विनय" आप सदा नित्यनूतन ज्ञान का अभ्याम करे, अभ्यास किये ज्ञान को बार बार याद करे, द्रव्यादिक सूक्ष्म ज्ञान का यथार्थ जानकार होकर निश्चल आमता रखे, और सर्व कार्य ज्ञान पूर्वक करे, सो ज्ञान विनय। (२) "दर्शन विनय" ज्ञान द्वारा जिन जिन पदार्थों का ज्ञान हुआ है, उनमें जो जो सूक्ष्म भाव जानने में आये हैं, उनमें बुद्धि को स्थिर करके यथार्थ श्रद्धान करे, गहन बातो में मति को विमोहित न करे, दृढ़ विश्वाम रक्खे, सो दर्शन विनय (३) "चारित्र विनय" पाप आने के आश्रव रूप नालों को संवर के द्वारा रोके, संयम व्रत यथोक्त विधि के अनुसार पाले सो चारित्र विनय (४) "तप विनय" पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने के अर्थ द्वादश प्रकार का तप करे, या इच्छा का निरोधन करे, सो तप विनय (५) "औप चारिक विनय" इसके दो भेद हैं–प्रति रूप योग प्रज्यूंजण और अनाशातना। प्रथम के प्रतिरूप प्रज्युंजण विनय के तीन भेद हैं (१) मन विनय के दो भेद हैं–एकतो कु-मार्ग और कु-कार्य में प्रवर्तते मनको रोके, और दूसरा धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान में लगावे (२) वचन विनय के चार भेद हैं–प्रथम सर्व जीवों का या जिससे बोले उसका हित होवे, ऐसा वचन बोले। द्वितीय जाति की और संयम व्रत की मर्यादा युक्त वचन बोले। तृतीय कठोर-अमनोज्ञ-असत्य –अयोग्य वचन नहीं बोले। चतुर्थ कार्य के प्रयोग का प्रथम दीर्घ दृष्टि से विचार कर फिर बोले (३) काया विनय के आठ भेद हैं–एक-वयोवृद्ध, गुण वृद्ध, पदवृद्ध–आदि श्रेष्ठ जनों का आगमन देखकर खड़ा (उभा) होवे। दो–हाथ जोड़कर वार्तालाप करे। तीन– बैठे वहां योग्य आसन बिछा देवे। चार–खड़े रहें वहां तक आप भी खड़ा रहे। पांच–द्वादशावर्त से वंदना करे। छः-शुश्रूषा सेवा भक्ति करे। सात–जाते को पहुँचाने जावे। आठ–पास रहे तो यथा योग्य वैयावृत्य

करे, साता उपजावे। और दूसरे अनाशातना विनय के बावन भेद हैं-(१) अर्हंत (२) सिद्ध (३) कुल (एक गुरू के अनेक शिष्य) (४) गण (एक सम्प्रदाय के साधू) (५) संघ (साधू साध्वी-श्रावक श्राविका) (६) शुद्ध क्रियावंत (७) धर्मवंत (दान शील तप के आराधक) (८) ज्ञान (९) ज्ञानी (१०) स्थविर (११) आचार्य गुरु (१२) उपाध्याय (१३ गणी (सबके निर्वाह करने वाले) इन तेरह जनों की प्रथम तो अशातना नहीं करे, दूसरे प्रेमोत्सुक होकर भक्ति करे, तीसरे सत्कार संमान करे, चौथे गुणानुवाद स्तुति करे। यों उपरोक्त तेरह को चौगुना करने से १३×४=५२ अनाशातना विनय के बावन भेद होते हैं।

विनीत के १५ गुण।

श्री उत्तराध्ययन जी सूत्र के एकादशवें अध्ययन में फरमाया है कि जो पंदरह गुणों का धारक हो, उसे विनीत कहना।

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणिएत्ति वुच्चइ।
नीयावित्ती अचवले, अमाइ अकुऊहले ॥ १० ॥
अप्प चाहिक्खिवइ, पवन्ध च न कुव्वइ।
मेतिज्जमाणो मयइ, सुय लद्धु न मज्जइ ॥ ११ ॥
न य पाव परिक्खेवी, नय मित्तेसु कुप्पइ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥ १२ ॥
कलह डमर वज्जिए, बुद्धे अभिजाइये।
हरिम पडिसलीणे, सुविणीएत्ति वुच्चइ ॥ १३ ॥

अर्थात्—(१) गुरु आदि जेष्ठ पुरुषों से द्रव्यतः आसन आदि नीचा रखे, और भावतः सदा नम्री भूत हो रहे (२) चपलता रहित रहे। चपलता चार प्रकार की है-एक स्थान पर बैठा न रहे, वारम्बार स्थान बदले सो स्थान चपल। बहुत जल्दी जल्दी चले सो गति चपल। असंबद्ध तथा अविचार पूर्ण भाषा बोले, तथा बहुत बोले सो भाषा चपल। अपने चित्त को स्थिर नहीं रखे, एक सूत्र व थोकड़ा पुरा हुये बिना ही दूसरा तीसरा पढ़ना शुरू करे और पहिले का अधूरा छोड़े। बारम्बार

प्रत्याख्यान ले, किन्तु पूरे पाले नहीं। मन को सदा चंचल रक्खे, सो भाव चपल। विनीत शिष्य इन चारों चपलताओं से रहित होते हैं (३) माया कपट दगाबाजी नहीं करे। बाह्य आभ्यन्तर एकसी वृत्ति रक्खे (४) ठट्ठा मस्करी कुतूहल हाथ चालाकी एवं इन्द्रजाल आदि के ख्याल नहीं करे (५) किसी का भी अपमान तिरस्कार होवे, ऐसे खराब दुःख दाई वचन नहीं बोले (६) क्रोध नहीं करे। कदाचित् छद्मस्थता [ज्ञानादि गुणों पर कर्म पड़दे के आच्छादन] के कारण से आजावे तो उसका विस्तार नहीं करे, तुरंत नम्र भाव से क्षमा धारण करे। (७) शास्त्र के ज्ञान में प्रवीण पण्डित होकर भी अभिमान नहीं करे (८) कृतघ्नी न होवे। किसी ने अपने पर थोड़ा भी उपकार किया हो तो उसे बहुत समझे, उपकारी के वारम्बार गुणानुवाद करे, वक्त पर यथा शक्ति सहायता देवे, मैत्री प्रमोद भाव रक्खे (९) छद्मस्थ भूलका पात्र है। प्रमाद आदि के कारण से कोई अयोग्य कार्य बन गया हो तो अपनी भूल को तुरंत स्वीकार करे, दूसरे के शिर कदापि नहीं डाले (१०) मित्र से कदापि अपराध भी बनजाय तो आप क्षमा करे, परन्तु कोप नहीं करे (११) सर्व जीवों के साथ मैत्री भाव रखे (१२) जिन जिन बातों से या कामों से क्लेश-झगड़े की वृद्धि होती दीखे, संघ सम्प्रदाय में फूट पड़ती दीखे, वे काम यदि अपने स्वार्थ साधक हों तो भी नहीं करे। व्यर्थ आडम्बर यानी ढ़ोंग कदापि नहीं करे, सदा गरीबी से रहे (१३) बुद्धि आदि गुणों की वृद्धि करने का मूल मंत्र विनय ही है, इस लिये विना कहे ही विचक्षणता से मनोगत भावों को जानकर यथोचित सबको सुख दाई प्रवृत्ति एवं निवृत्ति करे। (१४) अपवाद रूप अकार्यों के प्रति लज्जा रक्खे। लज्जावंत होकर सदा नीचे झुके हुये नेत्रों से रहे (१५) पांच इन्द्रिय, चार कषाय, तीन योग इनकी प्रतिसंलीनता करे। अर्थात् कुमार्ग पर जाते हुओं को रोक रक्खे, धर्म कार्य में संलग्न करे। इन पंदरह गुणों से जो संयुक्त होवें, उनको विनय धर्म के आराधक कहना।

विनयवानों की भावनाएँ।

पूर्ण रूपेण विनय मार्ग के आराधने वाले बाह्य संयोग माता-

पिता—स्त्री—पुत्र—मित्र—धन—धान्य—पशु—घर—खेत इत्यादि परिग्रह का त्याग कर अणगार (साधु) बनते हैं, और अभ्यन्तर संयोग क्रोध—मान—माया लोभ—राग—द्वेष—विषय—मोह—कदाग्रह—ममत्व इत्यादि को घटाने का तथा सर्वथा नाश करने का उद्यम करते हैं। और जो पूर्ण रूपेण विनय धर्म आराधन करने के प्रति समर्थ न होवें वे देश रूपेण यथा शक्ति आराधन के लिये गृहस्थावस्था में रहे हुएही उपरोक्त दोनों प्रकार के परिग्रहको घटाने का उद्यम करते हैं। ऐसे दोनों प्रकार की वृत्ति वाले ही विनय धर्म का आराधन कर सकते हैं।

(२)विनयवन्त तीर्थंकर की और गुरू की आज्ञा आराधन करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं।

(३) विनीत सदा गुरूजी के समीप ही रहते हैं, गुरू के इंगित आकार अंगचेष्टा के जानकार होते हैं। वे विना कहे ही यथा समय आवश्यक कार्य करके गुरुजी को प्रसन्न रखते हैं।

(४) कषाय को उपशान्त कर बाह्याभ्यन्तर शान्त व्रती रहते हैं। स्त्रियों का परिचय नहीं करते हैं। ज्योतिष वैद्यक आदिक निरर्थक शास्त्रों का पठन मनन नहीं करते हैं। हेय (छोड़ने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) और उपादेय (आदरने योग्य) ऐसे तीनों पदार्थों का अभ्यास सदा गुरू महाराज के पास करते रहते हैं।

(५) किसी समय पिता तुल्य गुरूजी हित शिक्षार्थ * कठोर वचन भी बोलें तो उसे आप बहुत ही नम्रता पूर्वक ग्रहण करे, बड़ा खुशी होवे। जैसे रोगी औषधी की कटुता की तरफ लक्ष्य नहीं रखता, गुण को ही देखता है, तैसे अपने हितका ही अवलोकन करे।

---

* मिसरी घोलें झूठकी ऐसे मित्र हजार।
जहर पिलावे साचका, ते विरला संसार ॥
ते विरला ससार, पटतर जिनका ऐसा।
मिसरी जहर समान, जहर है, मिसरी जैसा।
कहे गिरधर कविराय सुनो रे सज्जन भोले।
जिन सिर सात पेजार झूठ जो मिसरी घोले ॥

(६) यदि किसी समय छद्मस्थता के योग से क्रोध आदि के आवेश में आकर मिथ्या विचार उचार आचार बन जावे और गुरूजी पूछ लेवें तो छिपाने की चेष्टा न करे, जैसा हो वैसा कह दे।

(७) जिस प्रकार जातिवंत अश्व एक बार शिक्षा ग्रहण कर समस्त आयुभर उसी शिक्षा के अनुसार प्रवर्तता है, उसी प्रकार विनीत शिष्य को गुरूजी एक बार जिस कार्य की सूचना कर देवें उसी मुजिब सदा प्रवर्तें, परंतु गलियार घोड़े की माफिक बारम्बार बचन रूप चाबुक की मार वांछे नहीं।

(८) अनाचारी क्रोधी शिष्य क्षमाशील गुरूजी को भी क्रोधी बना देता है; जैसे बहुत घिसने घीमाने से शीतल चंदन में से भी अग्नि झड़ने लगजाती है। और आचारवन्त क्षमा शील शिष्य क्रोधी गुरूजी को भी शीतल बना देता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि भी पाणी से शीतल हो जाती है।

(९) विनीतों के लक्षण हैं कि—विना बुलाये बोले नहीं, बोलते हुये असत्य एवं अप्रतीतकारी बचन बोले नहीं, किसी के भी अनिष्ट वचन सुनकर क्रोध करे नहीं।

(१०) आत्मा का दमनकर विनय करना बहुत ही मुश्किल है, परन्तु विनीत विचारते हैं कि स्वाधीन रूप से आत्मा का दमन नहीं करने वाले भी रोग आदि के एवं बलिष्ठों के वश में पड़कर अनेक बार आत्मा का दमन कराते हैं, परवश पड़कर अनेक दुःख सहन करते हैं, और उस से आत्मिक गुणों का कुछ भी लाभ नहीं होता है। इससे तो यही श्रेष्ठ है कि स्वाधीन रूप से विनय मार्ग में गुरू के आज्ञावर्ती होकर आत्मा का दमन करें, ताकि फिर कदापि पराधीन नहीं होवें।

(११) विनीत, गुरूजी का मनसे तो भला चाहवे, वचन से गुणानुवाद करे, और काया से यथा योग्य साता उपजावे।

(१२) विनीत शिष्य, गुरु महाराज के पास सदा मर्यादा शील रहते हैं अर्थात् गुरूजी के बराबर, आगे, पीछे, अड़कर नहीं बैठते हैं। अपने अंपग से गुरूजी के अंग एवं वस्त्र आदि उपकरणों का संघट्टा नहीं

करते हैं। वस्त्र से तथा हाथ से अपने दोनों पग बान्ध कर (पालठी मारके) नहीं बैठते हैं और भी सर्व प्रकार मर्यादा से रहते हैं।

(१३) गुरू महाराज बुलावें उसी वक्त आसन छोड़कर हाथ जोड़कर उत्तर देवे, परन्तु सुना अनसुना नहीं करे, चुप चाप बैठा नहीं रहे।

(१४) विनीत शिष्य के मन में किसी भी प्रकार का संदेह उत्पन्न होवे या ज्ञानादि गुण ग्रहण करने की अभिलाषा होवे तो गुरू महाराज के संमुख आकर विधि युक्त वंदना करे, दोनों हाथ जोड़ कर प्रश्नादि पूछे, जी! तहत! आदि बहुत मान के बचनों से उत्तर सुने, ग्रहण करे। ऐसे विनय से जो ज्ञान ग्रहण करते हैं, उनको गुरु जी जैसे पिता सुपुत्र को प्राण से भी अधिक प्यारे द्रव्य का निधान बताते हैं; तैसे गुरूजी भी अपने गुरू परंपरागत शास्त्र रहस्यरूपी निधान, विनीत शिष्य को बताते हैं।

(१५) विनीत आप भी कभी कोपाय मान न होवे, गुरूजी को भी कभी कोपायमान नहीं करे, और किसी वक्त विना अपराध ही गुरू जी कोपायमान हो जावें तो भी आप हाथ जोड़ कर अपराध क्षमावे कि माफ कीजिये, अब मैं ऐसा नहीं करूँगा।

(१६) गुरूजी के मनोगत कार्य को विचक्षणता से जान कर शीघ्र ही चतुराई से निपजावे, और वृद्ध रोगी आदि की घात कदापि नहीं चिंतवे।

(१७) अहंकार, क्रोध और प्रमाद इनको विनय के शत्रु समझे।

(१८) वय और बुद्धि में कम हो, परन्तु एक अक्षर का भी दातार होतो उसे गुरू ही समझे।

(१९) गुरूकी अविनय और निंदा को अग्नि के स्पर्श समान समझे।

(२०) गुरूकी अशातना और अप्रसन्नता को बोध बीज सम्य क्त्व को नाश करने वाली जान कर अशातना से बचे।

(२१) केवल ज्ञान के धारक भी गुरूजी की विनय भक्ति करते हैं तो फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है? उसे तो सर्वदा ही

गुरू जी की विनय भक्ति करनी चाहिये। यह विचार सर्वदा रक्खे।

(२२) हाथी अश्व आदि पशुओं में जो अविनयी होते हैं, वे हित शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते हैं। विना शिक्षा बध बन्धन क्षुधा तृषा आदि अनेक कष्ट उठाते हैं एवं दुःख पूर्ण आयु विताते हैं। और जो विनीत पशु होते हैं, वे हित शिक्षा ग्रहण कर हुंसियार होते हैं। पशु जाति के होकर भी कितनेक मनुष्य से भी अधिक सुख भोगते हैं, माल मशाले खाते हैं, गदीलों पर सुख पूर्वक आयु पूरी करते हैं। तैसे ही मनुष्य भी जो अविनीत होते हैं, वे अज्ञानी पशु की तरह रहजाते हैं, और दास दासी बनकर अनेक दुःख भोग कर जिन्दगी पूरी करते हैं। और जो विनीत मनुष्य होते हैं वे विद्वान् हो ऋद्धि सिद्धि प्राप्त कर यशश्वी बनते हैं एवं सुख से आयु पूर्ण करते हैं। तैसे ही देवताओं में जो अविनीत होते हैं वे अभोगिक देव पशु जैसे रूप धारण कर सवारी देते हैं तथा नाच गान आदि गुलामी करके दुःख में आयु विताते हैं। और सुविनीत हैं वे अहमेन्द्र इन्द्र सामानिक देव आदि पदवी के धारक होते हैं एवं अनेक सुख भोगते हैं। इसी प्रकार अविनीत को दुःख और सुविनीत को सुख प्रायः सर्व स्थान में दृष्टि गोचर होता है। फिर भी जो जान बूझकर अविनयी होता है वह महा मूर्ख है।

(२४) संसार में मात्र व्यवहार मार्ग की सिद्धि के लिये जो ६४ कला स्त्रीकी और ७२ कला पुरुष की पढाते हैं उन कलाचार्यों के भी राज पुत्र जैसे महर्द्धिक पुरुष दासानुदास बन जाते हैं तो जो आत्मा के सुधार के लिये संसार से पार होने-का विद्याभ्यास कराते हैं और दोनों भव का सुधार करते हैं—ऐसे धर्माचार्यों की भक्ति तो जितनी करे उतनी ही थोड़ी है।

(२५) विनीत पुरुषों के और भी कर्तव्य हैं। (१) किसी के अवर्णवाद (निंदा) नहीं बोले (२) गुरु बचन के घातक बचन नहीं बोले (३) निश्चय कारी भाषा नहीं बोले (४) अप्रतीतकारी भाषा नहीं बोले (५) आहार आदिक वस्तु का लोलुप नहीं होवे (६) कुटिलता नहीं करे। (७) चुगली नहीं करे (८) परिसह उपसर्ग

पड़ने पर दीन नहीं होवे (९) स्वश्लाघा—अपने मुख से अपने गुण नहीं कहे (१०) दूसरों से अपनी स्तुति नहीं करावे (११) इन्द्र जाल आदि कौतुक नहीं करे। (१२) क्षमा आदि गुणों का संग करे। (१३) अविनीत और दुराचारी का संग नहीं करे (१४) ज्ञान आत्मा से द्रव्यादि आत्मा को जाने (१५) राग द्वेष की परिणति नित्य घटावे (१६) किसी का अपमान नहीं करे (१७) रत्न परीक्षकों की तरह गुणोंका पारखी होवे (१८) और गुणही को ग्रहण करे (१९) सदा अप्रमादी सावधान रहे (२०) व्यवहार साधे और निश्चय की तरफ दृष्टि रखे (२१) सर्व कार्य आत्म हित बुद्धि रख कर करे। ये विनीतों के गुण गण हैं।

इस भांति जो पंचविंशति भावना युक्त विनय की साधना करते हैं, उनके लिये वह विनय त्रि–जगत् को वशीभूत करने को मोहनीय मंत्र तुल्य, सर्व सद्गुणों को खेंचकर लानेको आकर्षण मंत्र तुल्य, वैरियों को उद्वेग उपजाने को उच्चाटन मंत्र तुल्य, इस भवका व भवान्तरों का वैर विष उपशमाने को विषापहर मंत्र तुल्य, क्रोधादि वेताल-व्यन्तरों का नाश करने को उपसर्ग हर मंत्र तुल्य, होजाता है। बल्कि इन मंत्रों से भी अधिकतर असर कारक होता है। कियहुना सर्व मनोरथों का सिद्ध करने वाला यह विनय धर्म ही है।

ऐसे विनय धर्म के आराधक, इस लोक में विना किसी संशय के ज्ञान से पूर्ण हो, सुरेन्द्र नरेन्द्र के पूज्य हो, ज्ञानानन्द में लीन हो, परमात्म मार्ग में गमन करते हैं तथा अवश्यही तीर्थंकर पद परमात्म पद को प्राप्त होते हैं।

विनीत, आवश्यक करणी सदा करते हैं, इस लिये आवश्यक का स्वरूप आगे बताने की इच्छा रख, इस प्रकरण की यहाँ ही समाप्ति की जाती है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "विनय-
नम्रता" नामक ग्यारहवा प्रकरण समाप्त।



प्रकरण–बारहवाँ

—:०:—

"आवश्यक प्रतिक्रमण"



जो कार्य अवश्य करने का हो, जिसके किये बिना आत्मा का कल्याण कदापि नहीं हो सकता हो, उसे 'आवश्यक' कहते हैं। इस विश्व में प्राणियों को दुःख देने वाला पाप है, और सुख देने वाला धर्म है; यह बात सर्व मान्य है। परन्तु भव्य जीवों को धर्म और पाप के स्वरूप का ज्ञाता होना चाहिये और उस ज्ञान को बारम्बार याद करते रहना चाहिये कि जिसका प्रकाश सदा हृदय में बना रहे; और पाप कर्म से हटकर धर्म मार्ग में सदा जीव की परिणति रहे। जिससे जीव सर्व दुःखका नाश कर, अनंत अक्षय आत्मिक शिव सुख की प्राप्ति करने में समर्थ बने !

इस आवश्यक क्रिया के उत्तराध्ययन सूत्र में छः भेद किये हैं–

-पोरिसीए चउ भाए , वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पड़िक्कमित्ता कालस्स , सेज्जंतु पड़ि लेहए ॥ ३८ ॥

अर्थ—दिनकी अन्तिम पोरसी का चौथा भाग (दोघड़ी ४८ मिनट) दिन रहे तब सज्झाय से निवृत्त होवे एवं गुरू महाराज को नमस्कार करे, तदनंतर स्थानक की पड़ि लेहणा करे ।

पाठ १ ला " गुरु वंदना "

तिक्खुत्तो, आयाहिणं, पयाहिणं, वंदामि, नमंसामि, सकारेमि, समाणेमि, कल्लाण, मंगलं,
देवयं, चेइय, पज्जुवासामि, मत्थयेण वदामि ॥ १ ॥

भावार्थ—तीन बाग पांच अंग (दोनों घुटने, दोनों हाथ, और मस्तक) जमीन के लगाकर, बहुत दूर नहीं बहुत नजीक नहीं ऐसा मध्यस्थ रह कर, दोनों हाथ जोड़ कर, प्रदक्षिणावर्त (जैसे अन्य मतावलम्बी आरती घुमाते हैं तैसे) घुमाकर, हे गुरुदेव ! आपको गुणानुवाद करता हूं, नमस्कार करता हूँ, सत्कार सन्मान देता हूँ, आप कल्याण कारी हो, मंगल कारी हो, आप धर्म देव हो, आप ज्ञानवंत हो, मै आप की पर्युपासना (भक्ति) करता हूं, मस्तक झुकाकर वंदना करता हूँ । इसके अनंतर—

-पासवणुच्चार भूमिच, पड़िलेहिज्ज जय जइ ।
काउस्सग तओ कुज्जा, सव्व दुक्खा विमोक्खण ॥ ३१ ॥

अर्थ—लघुनीत (मूत्र) बड़ीनीत (पुरीप) आदि जो रात्रि में परिठाने का काम पड़े, उसके लिये भूमिका को देखे । फिर इम क्षेत्र विशुद्धि में जो कुछ पाप लगा हो, उसकी शुद्धि के निमित्त ईर्या वही पडिकम्मे सो कहते हैं:-

पाठ २ रा " ईरिया वही "

इच्छा कारेण संदिसह भगवन् ! ईरिया वहियं पड़िक्कमामि, इच्छं, इच्छामि पड़िक्कमिओ, इरिया वहियाए, विराहणाए, गमणागमणे, पाण क्कमणे, बीय क्कमणे, हरिय क्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग, दग, मट्टी, मक्कड़ा, संताणा,

संकमणे, जे मे जीवा विराहिया, एगिंदिया, वेइंदिया, ते इदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघटिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ २ ॥ *

भावार्थ—अहो गुरु महाराज ! आपकी आज्ञा से मै अलोचना करता हूं कि–मार्ग में चलते समय प्राणी, बीज, (धान्य) हरी, औसका पाणी, कीड़ी नगरे, फूलण, पाणी, मट्टी, मकड़ी, एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय त्रिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय–संमुख आते हुये इन जीवों को पग से दावा हो, संताप दिया हो, स्थान से चलाया हो, वत्ती करी हो, मशले हों, परिताप दिया हो, किलामना दी हो, उदूवेग उपजाया हो, यावत् जीव काया अलग की हो सो पाप दूर होवे ।

पाठ ३ रा "तसुत्तरी"

तस्स उत्तरी करणेण, पायच्छित करणेग, विमोहीकरणेण, विसल्ली करणेण, पावाण, कम्माण, निग्घाएणठाए, ठामी काउसग्ग, अन्नत्थ उससिएणं, णिससिएण, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएण, वाय निसग्गेणं, भमलिये पितमुच्छाए सुहुमेहिं अगसचालेहिं, सुहुमेहिं खेल संचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठि सचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं, अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउसग्गो, जाव अरिहताण, भगवंताणं, नमुक्कारेण, न पारेमि, तावकायं–ठाणेण, मोणेणं, झाणेण, अप्पाण वोसिरामि ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रथम ईर्यावही के पाठ में कहे हुये पाप से निवृत्त होने के लिये, आत्मा को विशुद्ध निशल्य पाप रहित करने के लिये, काया को एक स्थान में (स्थिर) करता हूँ । उस में श्वासोश्वास, खांसी, छींक, बगासी, अंगस्फुरण, पवनोत्सर्ग, चक्कर, पित्त, मूर्छा, सूक्ष्म–अंग–खेंकार

* "मिच्छामि दुकडं" का शब्दार्थ यह है कि –मि–मैंने विना उपयोग से छा–इच्छा विना पाप किया हो सो मि–मै मेरी आत्मा को दु–दुगंछता हूंकि क– किया हुआ पाप 'ड' नप्ट हो। अर्थात्–पश्चात्ताप युक्त कहता हूं कि यह पाप मेरी इच्छा विना हुआ है सो भी मिथ्या हो। अर्थात् मन विना किया हुआ पाप 'पश्चात्तापेन शुध्यति' यानी पश्चात्ताप से आत्मा शुद्ध होती है।

दृष्टि चले, और अग्नि आदिका उपसर्ग तथा जीव दया निमित्त हलन चलन करना पड़े तो आगार–छुट्टी है। नहीं तो जहां तक अरिहंत भगवंत के नामका उच्चारण नहीं करूं, वहां तक काया को एकस्थान रख के मौन और ध्यान युक्त निर्ममत्व भाव से रहूँगा।

इतना कहने के बाद काउसग्ग करना और मनमें दूसरा "इर्यावही का पाठ" कहना। फिर निर्विघ्नतया कायोत्सर्ग की समाप्ति हुई, जिसकी खुशाली में जिनस्तव करे।

पाठ ४ था–"लोगस्स"

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म तित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥ १ ॥ उसभमजियंच वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइंच। पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥ सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जंच, विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिंच वंदामि ॥ ३ ॥ कुंथुं अरंच मल्लिं, वंदे मुणि सुव्वयं, नमिजिणं च। वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥ एवं मए अभिथुआ, विहूय रयमला, पहिण जर मरणा। चउविसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥ कित्तिय वंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिध्दा। आरुग्ग वोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥ चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा। सागर वर गंभीरा, सिध्दा सिध्दिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

भावार्थ—जन्म के समय स्वाभाविक और फिर ज्ञान मय तीन ही लोक में प्रकाश के करनेवाले, कर्म शत्रु का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले, * तीर्थंकर पद में चार तीर्थ की स्थापना करने वाले, ऐसे श्री ऋषभ देवजी आदि महावीर स्वामी पर्यंत चौवीस तीर्थंकर तथा अपि शब्द से वीस विहरमान जिनेश्वर की कीर्ति करता हूँ कि आप कर्म मल से एवं जन्म मरण से रहित, मनसे (भाव) पूजा योग्य, वचन से गुणानुवाद योग्य, काया से वंदने योग्य, चंद्रमा समान निर्मल, सूर्य समान

* लोगस्स की प्रथम गाथा में "केवली" शब्द से ज्ञानातिशय, "तित्थयर" शब्द से पूजाति शय, तथा वचनातिशय और "जिण" शब्द से अपायापगमातिशय यों चारों अतिशय संक्षेप में दर्शाये हैं।

प्रकाश के कर्ता, सागर समान गंभीर हो। अहो प्रभू ! आप ने सिद्ध पद प्राप्त किया, सो मुझे भी आरोग्यता, सम्यक्त्व का लाभ, उत्तम समाधि और सिद्ध पद की बक्षीस दीजिये।

इस भाँति जिनस्तव करके फिर क्षेत्र विशुद्धि के दोष से निवृते।

पाठ ५ वाँ–"क्षेत्र विशुद्धि"

अप्पडि लेहिय, दुप्पडि लेहिय, सिज्झा संथारए, अप्पमज्जिय दुप्प मज्जिय सिज्झा संथारए, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय, उच्चार पासवण भुमिए, अप्पमज्झिय दुप्पमज्झिए उच्चार पास वण भूमिए, पुढवि आउ, तेऊ, वाऊ, वणस्सइ, तस छण्हं कायाणं जीवाणं जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥५॥

भावार्थ—स्थानक और बिछोने को अच्छी तरह नहीं देखा हो, पूंजा–झाड़ा नहीं हो, देखते झाड़ते छः काया की विराधना हुई हो, तो पाप दूर होवो।

फिर क्षेत्र विशुद्धि के पाप से आत्मा शुद्ध हुई, उसकी खुशाली में नमोत्थुण पढ़े।

पाठ ६ ठा "नमुत्थुणं"

नमुत्थुणं, अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयसंबुद्धाणं, पुरिसूत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवर पुडंरियाणं, पुरिसवर गध हत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोग नाहाणं, लोग हियाण, लोग पइवाणं, लोग पज्जोयगराणं, अभय दयाणं, चक्खुदयाणं, मग्ग दयाणं, सरण दयाण, जोवदयाण, बोहि दयाण, धम्म दयाणं धम्मदेसियाणं, धम्मनायगाणं, धम्म सारहीणं, धम्मवर चाउरंत चकवट्टीणं, दिवोताणं, सरणगइ पइठाणं, अप्पडिहय वरणाण दंसण धराणं, विअट्ट छउमाणं, जिणाणं जावयाण, तिन्नाण, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहियाणं, मुत्ताण, मोयगाणं, सव्वन्नुण, सव्वदरिसिणं, सिव, मयल, मरूय मणंत मक्खय, मव्वाबाह, मपूणरावित्ति, सिध्दि गइ नाम धेयं ठाणं संपत्ताण नमो जिणाणं जिय भयाणं ॥ ६ ॥

यह 'नमुत्थुणं' का पाठ वायाँ गोडा खड़ा रखकर उसपर दोनो हाथ कुहनी तक स्थापन करके दो बार कहना। पहिली बार तो उपर लिखे अनुसार ही कहना; और दूसरी बार में 'ठाणं संपत्ताणं' के स्थान में ठाणं संपाविओ कामस्स, कहना।

भावार्थ—नम्रता युक्त स्तुति करता हूँ कि अहो अरिहंत भगवंत आप स्वयं प्रतिबोध पाकर धर्म की आदि के और चार तीर्थ के कर्ता, हो। जैसा स्वापदों में सिंह, सेन्ना में गन्धहस्ती, पुष्प में अरविंद कमल उत्तम होता है, वैसे आप पुरुषों में उत्तम हो। लोक के नाथ, हित के कर्ता आधार भूत और प्रकाश के कर्ता हो। अभय, ज्ञान चक्षु, मोक्ष मार्ग, शरण, जीवत्व बोद्ध बीज, और धर्म के दाता हो। धर्मोपदेशक, धर्म, नायक, धर्म सार्थवाही धर्मचक्री हो। और संसार समुद्र में द्वीप समान आधार भूत हो। छद्मस्थ अवस्था से निवृत्त होकर अप्रतिहत ज्ञान दर्शन वत हुये हो, जिससे सब कुछ देख रहे हो। जीते हो जीताते हो। तरेहो तारते हो, बुद्ध हो बोध करता हो, मुक्त हो मुक्त करता हो। उपद्रव रोग तथा पुनरावृत रहित अचल अक्षय अनंत अव्याबाध मोक्ष स्थान प्राप्त किया है। अहो अर्हंत ! आप प्राप्त करने वाले हो, सर्व भय रहित हो, ऐसे जिनेश्वर को नमस्कार है।

इति क्षेत्र विशुद्धि की विधि समाप्त।

फिर प्रथम पाठ से देव गुरू को वंदना नमस्कार कर कहेः——

पाठ ७ वॉ " इच्छा मिणं भंते "

इच्छा मिण भंते तु ब्भेहिं अभणु नाय समाणे देवसि पड़िकमणु ठायमी देवसि णाण दसण चरित [श्रावक–' चरिता चरित '] तप अतिचार चितव-णार्थ करेमि काउसग्गं ॥ १ ॥

भावार्थ—अहो भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं चाहता हूं कि ज्ञान दर्शन चारित्र (श्रावक का कुछ चारित्र कुछ अचारित्र है) और तप में जो कोई अतिचार लगा हो उसको विचार ने अर्थ काउसग्ग करता हूं !

प्रथम आवश्यक "सामायिक"

प्रथम मंगलाचरण निमित्त नवकार मंत्र कहे।

पाठ ८ वॉ—"नवकार महामंत्र"

णमो अरिहंताणं, णमो सिध्दाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,

णमो लोए सव्व साहूणं ।

भावार्थ—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और लोक में रहे हुए सर्व साधुओं को नमस्कार हो ।

अनंतर गृहीन व्रतो मे स्थिर रहने के वास्ते सामायिक सूत्र कहे—

पाठ ९ वाँ—"सामायिक"

करेमि भंते सामाइयं सव्व सावज्जं जोगं पच्चखामि, जाव जीवाय तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्ने न समणु जाणामि, तस्स भते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

भावार्थ—अहो भगवंत! आपकी साक्षी से मै सामायिक-समाधि भाव रूप व्रत धारण करता हूं, जावजीव तक सर्वथा प्रकार से सावद्य कार्य मन वचन काया के योग से करूंगा नहीं, करावूंगा नहीं, और करते को अच्छा भी नहीं जानूंगा । आत्मा की साक्षी से निवृत्त होता हूं, गुरू की साक्षी से गर्हणा निंदा करता हूं, अब से छोडता हूँ ।

उपरोक्त सामायिक के पाठको श्रावक इस तरह कहते हैः—

करेमि भते सामाइयं सावज्ज जोगं पचक्खामि, जाव नियम पजुवासामि, दुविहं, तिविहेण, न करेमि, न कारवेमि, मणेणं, वायाए, कायेण तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

भावार्थ—साधूजी ने सर्वथा जावजीव की हिंसा का त्याग किया, अतः वे त्रियोग से एवं अनुमोदन से भी निवर्तते हैं और श्रावक जाव-नियम देशतः दोघड़ी से लेकर अधिक जहाँ तक इच्छा हो वहां तक व्रत धारण करते हैं। इन में अनुमोदना खुली रहती है। बाकी का सर्व अर्थ ऊपर अनुसार ही जानना *

---

* "सामायिक" इस शब्द में सम–आय–इक ऐसे तीन शब्द है । "सम" पुद्गलों का धर्म पूर्ण गलन है, और चैतन्य की चेतना सदा अवस्थित (सदा एकसी रहने वाली) है । इस लिये चैतन्य भाव में रमण कर पुद्गल की इष्टता अनिष्टता की कल्पना नहीं करना सो समभाव । "आय" जिससे ज्ञानादि त्रिरत्नका लाभ आवे सो आय । और "इक" प्रणाम समय समय पलटते ही—

फिर कायोत्सर्ग में विचारणीय दोषों को विचारने के लिये इच्छामि ठामि कहे ।

पाठ १० वाँ "इच्छामि ठामि"

इच्छामि ठामि काउसग्ग जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ, वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो, उमग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुविंचितिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमण पावग्गो नाणंतह दंसणे चरित्ते, सुए सामाइए, तिण्ह गुत्तीणं, चउण्ह कसायाणं, पञ्चण्हं महव्वयाण, छन्हं जीवनिकायाण, सतण्हं पिण्डेसणाणं, अठण्ह पव्वयण मायाण, नवण्ह बंभचेर गुत्तिणं, दशविह समण धमस्स जंखडियं ज विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कड ।

–रहते हैं, इस लिये एक समय मात्र भी उपरोक्त रीति से प्रणाम रमण करे सो 'इक'। यह शब्दार्थ हुआ ।

सामायिक तीन प्रकार की होती है–१ "सम्यक्त्व सामायिक" सो क्षयोपशम, उपशम और क्षायिक भाव में प्रणाम प्रवर्ते वह । २ "श्रुत सामायिक" सो द्वादशाग जिनेश्वर की वाणी के ज्ञान में प्रणाम प्रणमे वह । और ३ चारित्र सामायिक के दो भेद हैं–भाव और द्रव्य ।

रागद्वेष त्यागनिखिल द्रव्येपुस्याममवलम्बय ।
तत्वोपलब्धिमूल वहुशः, सामायिकं कार्यम् ॥

अर्थ–राग द्वेष का त्याग कर, सर्व इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समभाव रक्खे, और आत्म तत्व की तरफ एकाग्रता युक्त लक्ष्य लगावे सो भाव सामायिक ।

सामायिकाश्रिताना, समस्त सावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषा, मुदयेपि चरित्र–मोहस्य ॥

अर्थ—सावद्य योगकी प्रवृत्ति का त्याग करना, सो द्रव्य सामायिक । इसके दो भेद हैं–१ सर्वव्रती सामायिक सो महाव्रत धारी साधुजी की, और देशव्रती सामायिक सो अनुव्रत धारी श्रावक की; क्योंकि वे मोहोदय से सपूर्ण आराधन नहीं कर सकते हैं ।

यह सामायिक पाच चारित्रों में का पहिला चारित्र है और बारह व्रतों में का नवमा व्रत है । और छ. आवश्यक मे का पहिला आवश्यक है ।

भावार्थ—मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूं। जो कोई मैंने मनसे बचन से काया से अतिचार किये हों उनकी आलोचना करता हूँ। १ 'उसुत्तो' उत्सूत्र. श्री जिन बचन से विरुद्ध भाषण २ 'उमग्गो' क्षयोपशम भाव के मार्ग से हटकर औदयिक भाव रूप मार्ग (मिथ्याकर्म) में प्रवृत्ति ३ 'अकप्पो' कल्प आचार से विरुद्ध प्रवृत्ति ४ 'अकरणिज्जो' नहीं करने लायक कार्य करे (यों एकेक से पाप की वृद्धि होती है) जैसे उत्सूत्र से उन्मार्ग और उन्मार्ग से अकल्पनीक अकार्य होवे। ये चार कर्म तो बचन और काया के योग में समाये। अब मन सम्बन्धी कहते हैं) 'दुज्झाओ' आर्त रौद्र ध्यान की एकाग्रता ६ 'दुविचिंतिओ' उत्सुकता यानी चंचल चित्त से अनर्थ दंडका चिंतवन करना ७ 'अणायारो' अनाचार ८ 'अणिच्छियवो' इच्छने लायक भी नहीं है, तो फिर आचरण करना तो दूरही रहा! आगे साधु का आचार सो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख समाधि, तीन गुप्ति, चार कषाय से निवृत्ति, पंचमहाव्रत, छः जीव काय की रक्षा, सात भय एवं आठ मद से निवृत्ति, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, दश यति धर्म, इनकी खण्डना विराधना हुई हो तो वह पाप दूर होवो।

उपरोक्त इच्छामि ठामि का पाठ श्रावक इस तरह कहते हैं:—

इच्छामि ठामि काउसग्गं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ दुविचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियवो, असावग पावगो, नाणे तह दसण, चरिता चरित, सुए सामाइए, तिण्ह गुत्तिणं चउण्ह कसायाण, पंचण्हं अणुव्वयाणं, तिण्ह गुणवयाण चउण्ह सिक्खावयाण, बारस विहस्स सावग धम्मस्स, जं खंडियं, ज विराहियं, तस्समिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—इस का अर्थ ऊपर लिखे अनुसार है। विशेष इतनाही है कि श्रावक कुछ व्रती और कुछ अव्रती होते हैं, इसलिये 'चरित्ताचरित' कहा है। तथा पांच अणु (छोटे) व्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत की खण्डना विराधना हुई हो तो वह पाप दूर होवो।

फिर स्थिर चित्त से अलग अलग अतिचारो का चिंतन करने के लिये

कायोत्सर्ग करे। इसलिये तीसरा 'तसुत्तरी' का पाठ पूरा पढ़कर कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग में साधूजी ज्ञान के १४ और सम्यक्त्व के ५ अतिचार, पांच महाव्रत की २५ भावना, ५ सुमिति, ३ गुप्ति, ये १३ चारित्र के मूल गुण, १८ पाप, और १० वॉ इच्छामि ठामि का पाठ जंविराहि-हिये तक कहकर और १ नवकार कहकर, फिर कायोत्सर्ग समाप्त करे।

और श्रावक १४ ज्ञान के, ५ सम्यक्त्व के, ७५ व्रतके, ५ संलेपणाके, १८ पाप, इच्छामि ठामि जंविराहिये तक, और १ नवकार कह कर काउसग्ग पारे। (इन सबका वर्णन चौथे आवश्यक में किया जायगा) यह पहिला आवश्यक हुआ।

निर्विघ्न ध्यान की समाप्ति हुई, इस लिये चउवीस जिनकी स्तुति करे सो—

द्वितीय आवश्यक–"चउविसत्थो"

इस दुसरे आवश्यक में चौथा "लोगस्स" का पाठ भक्ति पूर्वक बोलना। पाठ और अर्थ पहिले चौथे पाठ में कहे मुजब जानना।

आगे सर्व व्रतो का अलग अलग चिन्तन करना हैं, इस लिये गुरुकी आज्ञा लेने को वदना करे सो,—

तृतीय आवश्यक–"वंदना"

पाठ ११ वाँ–"खमासमणो" *

इच्छामि खमासमणो वंदिओ जावणिज्जाए निसीहियाए, अणु जाणह, मे मि उग्गह, निसीही, अहो, कार्य, काय–संफास, खमणिज्जो भे किलामो, अप्प-किलताण, बहु–सुभेण भे, देवसी वइक्कतो, जत्ता भे, जावणिज्ज च, भे, खामेमि खमासमणो, देवसियं वइक्कम्म आवसियाए पडिक्कमामि खमा समणाण, देवसियाए, आसायणाए, तितीसन्नयराए, जंकिंचि मिच्छाए, मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए,

* विधि—आवश्यक करते समय पुरुष (साधु श्रावक) चोलपट्टा मुंह पत्ति रजोहरण इन के सिवा और कुछ अपने पास नहीं रक्खे। गुरू के आसन से साढ़े तीन हाथ दूर रहे। अनतर धनुषाकार अपने शरीर को नवां कर तथा हाथ की अंजलि में रजोहरण रखकर "खमा समण" का पाठ पढ़े।

काय दुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए, सव्व कालियाए, सव्व मिच्छो-वयाराए, सव्व धम्माइ क्कमणाए, आसायणाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स खमासमणो, पडि क्कमामि, निंदामि गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि।

भावार्थ—'खमा समणो' अहो क्षमा श्रमण 'जवणिज्जाए' जिससे काल क्षेप होवे ऐसी शक्ति सहित 'निसिही आए' पाप से निवृत्ति रूप इच्छा है जिस की ऐसे शरीर से आपको 'वंदिउं' वदना करने की 'इच्छामि' मैं इच्छा करता हूँ, इस लिये 'मिउग्गहं' मर्यादित (३॥ हाथके) क्षेत्र में प्रवेश करने की 'मे' मेरे को 'अणुजाणह' अनुज्ञा दीजिये (फिर जगह पूंजकर कहे) "निसिही" गुरु वंदन के विना अन्य कामका निषेध है, यों कहता हुवा गुरु के सन्मुख प्रवेश करे, गुरू के पास आवे और रजो-हरण गुरु चरणों के पास रख कर उत्कट आसन अर्थात् गाय दुहने के आसन से बैठकर, दोनों हाथ जोड़ साथलों के वीच अधर रख कर, गुरु जी के चरणों को दशही अंगुली लगा कर 'अ' अक्षर कहे, फिर दश ही अंगुली अपने शिरको लगाकर 'हो' अक्षर कहे, इन दोनों अक्षरों से दूसरा और 'का—य' इन दोनों अक्षरों से तीसरा आवर्तन करे। फिर 'सफास' कहता हुआ अपने मस्तक से गुरू चरणों का स्पर्श करे। फिर कहे 'किलामो' आपके चरणों का स्पर्श करते समय मेरी आत्मा से आप की आत्मा को किसी प्रकार की किलामना (पीड़ा) हुई होवे तो 'भे' अहो भगवंत 'खमणिज्जो' माफ कीजिये 'वहुसुभेण' बहुत शुभ क्षेम कुशल से 'भे' आपका 'देवसी' दिन 'वइकंता' व्यतिक्रांत होवे अहो पूज्य ! आप का शरीर 'अपकिलताण' अल्प किलामणावाला सुकुमाल है (इस तरह शरीर की सुख साता पूछकर; फिर नियम आदि की पूछे) अहो पूज्य 'जत्ता' तप संयम रूप यात्रा * 'भे' आपको अव्याबाध है, 'जवणिज्ज' इन्द्रियों

* धर्मात्माओं के लिये तप संयम रूप यात्रा और इन्द्रिय दमन रूप यज्ञ भगवंत ने फरमाया है। ऐसे सद्बोधकों के उपदेश को उल्लंघन कर ढोंग में नहीं फँसना चाहिये।

को विजय करने का यज्ञ × निराबाध है, " च " और " भे " आपके। इन 'जत्ता मे, जवणि जचभे' शब्द से तीन आवर्तन करे-हाथ जोड़-दशों अंगुली गुरूजी के चरणों को लगाता हुआ " ज " अक्षर मंद स्वर से कहे, हाथ पीछा उठाता हुआ " त्ता " अक्षर मध्य स्वर से कहे हाथ मस्तक को लगाता हुआ " भे " अक्षर उच्च स्वर से कहे। इसी प्रकार " ज–व–णी " इन तीनों अक्षरों से दूसरा, और " ज-च-भे " इन तीनों अक्षरों से तीसरा आवर्तन करे। फिर दोनों हाथ और मस्तक गुरू के चरण की तरफ नमाकर कहे, " खमासमणो " अहो क्षमा समण 'देवसियं' दिनमें " वइक्कम " व्यतिक्रम–आवश्यक करणी में विराधना रूप मेरा अपराध " खामेमि " क्षमाता हूं + माफी चाहता हूं। इतना कहे बाद रजोहरण से जगह पूजता हुआ हद (जो ३॥ हाथ की करीथी उस) से बाहिर वापिस लोटता हुआ कहे " आवसियाय " आवश्यक करणी करते समय जो अतिचार लगा हो; इतना कह दोनों हाथ योग मुद्रा से और दोनों पग जिन मुद्रा से स्थापन कर कहे " पडिक्कमामि ' मैं निवर्तता हूं। "खमासमणो" क्षमावत श्रमण की "देवसियाए" दिन में हुई "आसायणाए" आशातना " तितीसन्नयराए " तेंतीस प्रकार में की कोई भी की हो " ज किंचि मिच्छामिए " जो कोई खोटा अवलम्बन लेकर मिथ्या भाव किये होवे, " मण दुक्कड़ाय " मनके दुष्कृत्य " वय दुकडाय " बचन के दुष्कृत्य " काय दुकडाय " काय के दुष्कृत्य " कोहाए जाव लोहाए " क्रोध मान माया लोभ के वश हो "सव कालिया" अतीत अनागत वर्तमान काल मे " सवमिच्छोवराए " सर्व कूड कपट आदि मिथ्या क्रिया करके किसी भी तरह से " सव्व धम्माइ कमणाए " सर्व धर्म सम्बन्धी करणी

× निरर्थक वातों मे जो साधु श्रावक अमूल्य समय गमाते हैं उनको विचारना चाहिये कि वंदना करते समय भी गुरू के ज्ञान में व्याघात होती है, उसकी भी क्षमा याचना की जाती है तो निरर्थक वातो में ज्ञानादि की अन्तराय देने वाले का क्या हाल !

+ दोनों हाथ जोड़ रखे सो योग मुद्रा और दोनों पग की एडी में छ: अंगुल और अंगुष्ठ में चार अंगुल का अंतर रखकर खड़ा रहे सो जिन मुद्रा

का उल्लंघन करने से कोई; " आसायणाए " अशातना की हो, " जो मे " जो मेरे जीव से कुछ " देवसिओ " दिनमें " अइयारो " अतिचार- दोष " कओ " जो किया हो " तस्स " उस पाप को " खमा समणो " अहो क्षमा श्रमण ? आपके पास प्रतिक्रमता-पीछा हटता हूँ, निंदा करता हूँ, ग्रहण करता हूं, और भी मेरी आत्मा से आशातना रूप पाप वोसिराता-दूर करता हूं।

यह खमासमना के पाठकी विधि कही। इसी ही तरह दूसरी बार भी करना। विशेष इतना ही है कि 'आवसियाए पडिकमामि' यह पाठ नहीं कहना, क्योंकि इसमें पीछा नहीं फिरना है, सर्व खमासमणा का पाठ वहीं पूरा करना चाहिये। * और फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा ग्रहण करके स्वस्थान पर आना चाहिये।

ये तीनोंही आवश्यक प्रतिक्रमण की विधि रूप जानने।

चौथा आवश्यक-"प्रति क्रमण"

प्रति-पीछा, क्रमण-हटना-अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और अशुभ योग, इन से पीछा हटे-इने छोड़े-ज्ञान, दर्शन चारित्र, तप, और वीर्य, (शुभ कर्तव्य में पराक्रम) इन में मन वचन काया के योग को जोड़े, उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है।

पाठ १२ वाँ-"आगमे तिविहे"

आगमे तिविहे पण्णते, तंजहा-सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे, ऐसे श्री ज्ञान के विषय जो कोई अतिचार लगा होते आलोऊँ; जंवाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुठुदिन्नं, दुट्ठु

---

* इस तीसरे आवश्यक को उत्कृष्ट वंदना कहते है, इसमें २५ आवश्यक उत्कृष्ट होते हैं। दोनों खमा समणा के प्रथम दो वक्त नमन किया सो दो आवश्यक। आहो, कायं, काय ये तीन और जत्ता भे, जवणी, जं-च भे, ये तीन, यो ६ दोनों खमा समणा के १२ और ४ बार गुरु चरण का स्पर्श, दो बार अवग्रह में प्रवेश, एक बार अवग्रहसे बाहिर निकलना, तीन गुप्ति का एक और यथा जात का; यो २५ आवश्यक होते हैं।

पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाये सज्झायं, सज्झाये न सज्झायं, भणते, गुणते, चिन्तवते, विचारते, ज्ञान और ज्ञानवन्त की आशातना करी होवे तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

भावार्थ—तीर्थंकर कथित और गणधरों से लेकर दशपूर्व धारी तक के रचित शास्त्रों को आगम कहते हैं। ऐसे आगम के मूल पाठ और अर्थ दोनों के १४ अतिचार टालनाः—१ पहिले का पीछे और पीछे का पहिले पढा हो, २ बीच में छोड़ दिया हो, अथवा बढादिया हो ३ कम अक्षर कहे, ५ ज्यादा अक्षर कहे, ५ कम पद कहे, ६ विनय रहित कहे ७ योग की चपलता रखी, ८ पूरा शब्द नहीं बोला, ९ अविनीत को ज्ञानदिया १० विनीत को ज्ञान नहीं दिया ११ अकाल में सूत्र पढा, १२ विहित काल में नहीं पढा १३ असज्झाय में सूत्र पढा, और १४ सझाय के समय सूत्र नहीं पढा। ये ज्ञानाचार के १४ अतिचार लगे हों सो पाप दूर हो।

पाठ १३ वॉ—"दंसण-सम्यक्त्व"

दंसण समकित, परमत्य सथवो वा; सुदिट्ठ परमत्य सेवणा वावि, वावण कुदसण वज्जणाय, एए सम्मत्तस्स सद्दहणाए ॥ * ॥ एह सम्मतस्स पंच अइयारा पयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोउं.—संका, कंखा, वित्ती-गिच्छा, पर पासंडी संथवो। एवा पंच अतिचार मे का कोई भी अतिचार लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

भावार्थ—जड़ चैतन्य पदार्थ को यथावस्थित देखना सो दर्शन और उन पदार्थों पर सम भाव (राग द्वेष की स्पर्शना रहित) रखना सो सम्यक्त्व। ऐसे दर्शनाचारी जीव, जीवादि नौ पदार्थ के जान कारों की संगति सेवा करके उन पदार्थों के जान कार होवें, मिथ्यात्वियों की और सम्यक्त्व का वमन किया हो उनकी संगति नहीं करें और सम्यक्त्व के पांच अतिचार टालें—१ जिन वचन (शास्त्र) में संदेह लाया २ पर मत की वांच्छा करी, ३ धर्म करणी के फल में संशय लाया, ४-५ पाखण्डियों की महिमा और संगति करी हो सो पाप दूर होवे।

यहां तक ज्ञानाचार और दर्शनाचार तो साधू और श्रावक ऊपर कहे मुजब बोलते हैं। आगे चारित्र आचार में साधु चारित्री हैं, और श्रावक चरिता चरिती हैं, इस लिये अलग अलग कहते हैं।

" साधू के पंच महाव्रत और २५ भावना "

पाठ १४ वाँ " अहिंसा महाव्रत "

पढम भंते महव्वय सव्व पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमंवा, वायरंवा, तसंवा, थावरंवा जाव जीवाय तिविहं तिविहेणं, नेव सय पाणाइ वाय करेज्जा, नेवन्नेहिं पाणाइ वायं कारावेज्जा, पाणाइ वायतेवि अन्नं न समणु जाणिज्जा, मणेण, वायाए, कायेणं, तस्स भते पड़िक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि।

तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवत्ति.—इरिया समिए, मणंपरि जाणाइ वयण-परिजाणाइ, आयाण भंड णिक्खवणा गमिए, आलोइए पाण भोइ। पहिले महाव्रत में जो कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कड।

भावार्थ—पहिले महाव्रत में सर्वथा प्रकार से सूक्ष्म वादर त्रस स्थावर जीवों का वध करने का जाव जीव तक त्रिविध-त्रिविध त्याग है। (घात करे नहीं करावे नहीं अच्छा जाने नहीं; मन वचन काया से) पहिले महाव्रत की भावना (विचार) १ ईर्यासमिति (सदा नीची दृष्टि युक्त गमना गमन करे) २ पापमें मन नहीं प्रवर्तावे ३ पापकारी वचन नहीं बोले ४ भंड उपकरण यत्ना से रखे और ५ आहार आदि देख भाल कर वापरे। इसमें दोष लगा हो तो पाप दूर होवो।

पाठ १५ वाँ ' अमृषा महाव्रत '

दोच्चं भते महव्वयं सव्वं मुसावाय पच्चक्खामि से कोहावा, लोहावा, भयावा, हासावा, जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं, णेव सयंमुसं भासेज्जा, नेवन्नेहिं, मुसं भासवेज्जा, मुसं भासंतेवि अन्नं न समणु जाणेज्जा मणेणं वायाए, काएणं, तस्स भते पड़िक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि। तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवति:—अणुविइ भासी, कोहं परिजाणाइ, लोहं परि जाणाइ, भयं

परिजाणाइ हास परिजाणाइ। दूसरे महाव्रत में जो कोई पाप दोष लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—दूसरे महाव्रत धारी सर्वथा प्रकार से क्रोध लोभ भय और हॅासी आदि के वश हो झूठ बोले नहीं, जावजीव तीन करण तीन योग से। इसकी पांच भावना १ विचार कर बोले २–५ क्रोध लोभ हॅासी और भयके वश होकर बोले नहीं। दूसरे महाव्रत में पाप लगा हो तो दूर होवो।

पाठ १६ वाँ " दत्त दान महाव्रत "

तच्चं भंते महव्वय सव्वं अदिण्णा दाणं पच्चक्खामि, से गामेवा, नगरेवा अरण्णे वा, अप्पवा, वहुवा, अणुवा, थूलंवा, चित्तमंतवा अचित्तमंतवा, जावजीवाय तिविह तिविहेणं णेव सयं अदिण्णं गिण्हेज्जा, णेवणेहिं अदिण्णं गिण्हावेज्जा, अदिण्णं गिण्हतेवि अन्न न समणु जाणेज्जा मणेणं, वायाय,कायेणं, तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तस्सिमाओ पंच भावना-अणुविह मिउग्गहंजाती, अणुण्ण वियपाण भोयण भोती, णिग्गंथेण उग्गहंति उग्गहितंसि, णिग्गंथेण उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ अणूवीइमिनाग्गहजाती। तीसरे महाव्रन में जो कोई पाप दोष लगा होतो वह दूर होवो।

भावार्थ—तृतीय महाव्रत धारी सर्वथा प्रकार से ग्राम में, नगर में, और जंगल में, थोड़ी, वहुत, छोटी, बड़ी, सजीव, निर्जीव वस्तु की चोरी तीन करण तीन योग से जावजीव तक करे नहीं। इसकी पांच भावना—१ निर्दोष स्थानक मालिक की आज्ञा से भोगने २ गुरु आदि बड़े साधु की आज्ञा विना आहार आदि नहीं भोगने ३ नित्य काल क्षेत्र की मर्यादा बांधकर द्रव्य भोगने की आज्ञा ले ४ शिष्य प्रति वस्त्र आदि आज्ञा से ग्रहण करे और ५ एक स्थान पर रहने वाले साधू आपस में आज्ञा लेकर वस्तु वापरें। तीसरे महाव्रत मे पाप लगा होतो दूर होवो।

पाठ १७ वाँ "ब्रह्मचर्य महाव्रत" का

चउत्थं भंते महव्वयं सव्वं मेहुण पच्चक्खामि, से दिववा, माणुसंवा, तिरिक्ख जोणियंवा, जावजीवाय तिविहं तिविहेण णेव सयं मेहुण सेविज्जा, णेव-

न्नेहिं मेहुण सेवाविज्जा, मेहुण सेवतेवि अन्नं न समणु जाणेज्जा मणेण, वायाए, काएण, तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ * ॥ तस्सिमाओ पंच भावणा—णो णिग्गंथे अभिक्खण इत्थिण कहं कहित्ताए, णो णिग्गंथे इत्थिणं मणोहराइ इंदियाइं आलोयमाणे णिज्झाएमाणे, णो णिग्गंथे इत्थिण पुव्वरयायं पुव्व कीलियाइं सुमरितए, णातिमत्त पाण भोयण भोइ, णो णिग्गंथे इत्थि पसु पंडग संसत्ताइं सयणा सणाइं सेवित्ताए। चौथे महाव्रत मे जो कोई पाप दोष लगा हो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—चौथे महाव्रत धारी, सर्वथा प्रकार से देवांगना मनुष्यणी और तिर्यंचणी से मैथुन सेवे नहीं, जावजीव तक त्रिविध रूप से। इस की ५ भावनाः—१ स्त्री की वारम्वार कथा करे नहीं २ स्त्री के अंगोपांग निरखे नहीं ३ स्त्री सम्बन्धी पूर्व कृत क्रीड़ा को याद करे नहीं ४ कामोत्तेजक आहार करे नहीं, और ५ स्त्री पशु नपुंसक जिस मकान में रहते होवें वहां रहे नहीं। चौथे महाव्रत में दोष लगा हो सो दूर होवो।

इस व्रत में स्त्री के स्थान में साध्वी को पुरुष का नाम लेना चाहिये।

पाठ १८ वाँ—"निष्परिग्रह महाव्रत"

पंचम भंते महव्वयं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पंवा, बहुंवा, अणुवा, थूलंवा, चितमंतंवा, अचितमंतंवा, जाव जीवाय तिविहं तिविहेण, नेव सयं परिग्गहं गिण्हेज्जा, णेवन्नेहिं परिग्गहं गिण्हावेज्जा, परिग्गहं गिण्हतेवि अन्नं न समणु जाणेज्जा, मणेणं, वायाए, काएण, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि ॥ * ॥ तस्सिमाओ पंच भावणाओः—मणुण्णा मणुण्णेसु सद्देसु राग दोसं परिवज्जए, मणुण्णा मणुण्णेसु रूवेसु राग दोष परिवज्जए, मणुण्णा मणुण्णेसु गंधेसु रागदोस परिवज्जए, मणुण्णा मणुण्णेसु रसेसु राग दोसं परिवज्जए, मणुण्णा मणुण्णेसु फासेसु राग दोसं परिवज्जए। पाँचवे महाव्रत में जो कोई पाप दोष लगा हो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—पंचम महाव्रत धारी सर्वथा प्रकार से थोड़ा, बहुत, छोटा, बड़ा, सजीव, निर्जीव, परिग्रह जावजीव तक त्रिविध २ वर्जे। इस महाव्रत की पांच भावना १–५ अच्छे शब्द–रूप गंध–रस और स्पर्श पर राग करे नहीं, तैसे ही खराब पर द्वेष करे नहीं। पाँचवें महाव्रत में

दोष लगा हो सो दूर हो।

पाठ १९ वाँ—"रात्रि आहार निवृत्ति व्रत"

छट्टे भंते वए सव्व राइ भोयणाओ पच्चक्खामि, से असणवा, पाणवा, खाइमंवा, साइमवा, जावजीवाए तिविह तिविहेणं णेव सयं राइ भुंजिज्जा, णेवन्नेहिं राइ भुजाविज्जा, राइ भुंजतेवि अन्नं न समणु जाणेज्जा मणेण, वायाए, कायेण तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि। जलदी जलदी आहार ग्रहण किया हो, दिन अस्त होते होते आहार भोगा हो, मर्यादा उल्लघी हो, छट्टा रात्री भोजन निवृति व्रत में दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कड।

"पांच समिति, तीन गुप्ति"

इन पाच समिती तीन गुप्ति का, इस काल मे अर्थ ही कहने की प्रथा है, इस लिये यहा अर्थ ही लिखा जाता है।

पाठ २० वॉ—"इर्या समिति"

पहिली इर्या समितिका आलम्बन ज्ञान चारित्र, काल दिनका, मार्ग रस्ता छोड़ नहीं चलना। और जतना से—द्रव्य से नीचे देख कर चले, क्षेत्र से धूंसरा (३॥ हाथ) प्रमाणे आगे देख कर चले, काल से दिन को दृष्टि से देख कर चले, और अप्रकाशित जगह में तथा रात्रि को पूंज कर चले, भाव से शब्द रूप गंध रस स्पर्श, वाचना, पूछना. परियटना, अणुप्पेहा, और धर्मकथा-ये १० काम रास्ते चलते नहीं करना, पहिली इर्या समति में दोप लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २१ वॉ-"भापा समिति"

दूसरी भापा समिति-द्रव्य से कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, पीडा कर, हिंसाकर, सावद्य, मिश्र, क्रोधकी, मानकी, मायाकी, लोभकी रागकर, द्वेपकर, मुंह कथा, और विकथा-ये सोलह प्रकार की भापा बोले नहीं, क्षेत्र से रास्ते चलता बोले नहीं, कालसे पहर रात्री गये बाद जोरसे बोले नहीं, भावसे उपयोग रखे, दूसरी भापा समिति में दोप लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २२ वाँ–"एषणा समिति"

तीसरी एषणा समिति–द्रव्यसे वेतालीस दोष टालकर आहार लेवे, क्षेत्र से दोकोस उपरांव आहार आदि भोगवे नहीं, कालसे पहिले पहर का लाया चोथे पहर में भोगवे नहीं, भावसे पांच मांडले के दोष वर्जे, तीसरी एषणा समिति में पाप दोष लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २३ वाँ–"आदान निक्षेपना समिति"

चौथी आदान भंड मत निक्षेपना समिति–द्रव्यसे भंड उपकरण यत्ना से लेवे, यत्ना से रखे; क्षेत्र से अपनी नेश्राय की वस्तु गृहस्थ के घर रखे नहीं, कालसे दोनों वक्त (सुवह शाम) पड़िलेहणा करे, भाव से उपयोग सहित। चौथी आदान निक्षेपना समिति में दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

पाठ २४ वाँ "परिठावणिया समिति"

पांचमी उच्चार पास वण जल खेल संघाण परिठावणिया समिति– द्रव्य से लघुनीत, वड़ीनीत, वमन, जल (पसीना) मेल, नाक का मेल खेंकार, मृतक शरीर, अनुपयोगी आहार और उपधि वगैरह यत्ना से परिठे, क्षेत्रसे मालिक निषेध करे वहां परिठे नहीं, कालसे दिन को देख कर, रातको दिनमें देखी हुई जगह में परिठे, भावसे उपयोग सहित, जाते आवस्सही तीन कहे, परिठाये पीछे वोसिरे तीन कहे, पीछे आते नीसही तीन कहे, इर्यावही पडिकमे। पांचमी परिठावणिया समिति में दोष लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २५ वाँ "मनगुप्ति"

पहिली मन गुप्ति–सारंभ समारंभ आरंभ के कार्य में प्रवर्तते मन को गोप रखे, क्षेत्रसे लोक प्रमाणे, कालसे जावजीव, भावसे उपयोग युक्त, पहिली मन गुप्ति में जो दोप लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २६ वाँ "वचनगुप्ति"

दूसरी वचन गुप्ति–द्रव्यसे सारभ समारंभ, आरंभ से वचन गोप

रखे, चारों कथा नहीं करे, क्षेत्र से लोक प्रमाणे, कालसे जाव जीव तक, भावसे उपयोग सहित, दूसरी वचन गुप्ति में जो दोप लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २७ वाँ " काया गुप्ति "

तीसरी काया गुप्ति–उठते, बैठते, सोते, चलते, फिरते, पांच इन्द्रियों के व्यापार में यत्ना वंत रहे, सारंभ समारंभ आरंभ में काया प्रवर्तावे नहीं, क्षेत्र से लोक प्रमाणे; कालसे जाव जीव तक, भावसे उपयोग सहित, तीसरी काय गुप्ति में जो दोप लगा होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

काया की आलोचना।

पाठ २८ वाँ " पृथिवी काय "

पहिली पृथिवी काय–खदान की मट्टी, नदी के तटकी मट्टी, पाषाण–क्षार–सचित रज से भरा हुआ शरीर, तथा वस्त्र, इनका संघटा करे नहीं, टुकड़े करे नहीं, सली अंगुली आदिसे रेखा कढाड़े नहीं, इत्यादि प्रकारे जाव जीव तक पृथिवी काय की हिंसा करे नहीं, करावे नहीं, करते को अच्छा जाने नहीं, मन वचन काया से पृथिवी काय जीव की विराधना की होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ २९ वाँ " अप्काय "

दूसरी अपकाय–निवाण का, ठारका, हेमका, धूंमरका, गडेका, वर्षादका, इत्यादि प्रकारे पाणी से शरीर वस्त्र और उपकरण भींजे होवें उसे छींटे नहीं, पूंछे नहीं, मसले नहीं, झटके नहीं, इत्यादि प्रकारे जाव जीव तक अपकाय की हिंसा करे नहीं, करावे नहीं, करते को भला जाने नहीं, मन, वचन काया से, पाणी के जीवों की विराधना की होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ ३० वाँ " तेउकाय "

तीसरी तेउ काय–काष्ठकी, कोयले की, सिगणी की, ऊंवाड़ेकी,

दीवाकी, लोहेकी, अरणी की, बिजली की, चूले की, भट्टी की, अग्निको सिलगावे नहीं, बुझावे नहीं, छेदे भेदे नहीं, संघट्टा भी करे नहीं, इत्यादि प्रकारे जाव जीव तक तेउ कायकी हिंसा आप करे नहीं, दूसरे के पास करावे नहीं, करते को अच्छा जाने नहीं, मन वचन काया से तेउकाय जीवोंकी विराधना की होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

पाठ ३१ वाँ " वाउकाय "

चौथी वायु काय–पखे से, चमर से, पत्रसे, पीछी से, हाथसे, मुखसे, वस्त्र से, अपने शरीर पर, तथा अन्य पदार्थ पर, जावजीव तक हवा करे नहीं, करावे नहीं, करते को भला जाने नहीं, मनसे वचन, काया कर वायु काय जीवकी विराधना की होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

पाठ ३२ वाँ " वनस्पति काय "

पांचमी वनस्पति काय–वृक्ष, बेल, खंध, शाख, प्रतिशाख, पत्र, फल, फूल, अँकुर, बीज द्रोब इत्यादि वनस्पति का जावजीव तक छेदन भेदन संघटा करे नहीं, करावे नहीं, करता को भला जाने नहीं, मन वचन काया करके वनस्पति की विराधना की होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

पाठ ३३ वाँ " त्रस काय "

छट्ठी त्रस काय–वेन्द्रि, तेन्द्रि, चौरिन्द्री, पंचेन्द्री, इन जीवोंकी हाथ पांव आदि अंग उपांग से, वस्त्रसे, पात्रसे, रजोहरण से, गोछेसे, दंडे से, पाट पाटलासे स्थानकसे लेते, देते, वापरते, किसी भी त्रस जीव की जाव जीव तक घात करे नहीं, करावे नहीं, करते को भला जाने नहीं, मन से, वचन से, कायासे, त्रस जीवकी विराधना हुई हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

यह १४ वें पाठ से लगाकर ३३ वें पाठ तक चौथे आवश्यक में साधू जी कहते हैं ।

और अब आगे श्रावक के कहने के १२ व्रत कहेजाते है ।

श्रावक के बारह व्रत और अतिचार।

पाठ ३४ वाँ " अहिंसा व्रत "

पहिला अणुव्रत थूलाओ पाणाइ वायाओ वेरमणं, त्रस जीव बेंद्रिय तेंद्रिय चौरिंद्रिय पचिन्द्रिय, जानी प्रिच्छी, विन अपराधी, आकूटी, सकल्पी, सलेसी, हणवा, निमित हणवा का पच्चक्खाण, जाव जीवाय दुविह तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वायसा, कायसा। ऐसे पहिले थूल प्रणातिपात विरमणव्रत का पंच अइयारा पयाला, जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोउं:-वधे, वहे, छविछेए, अइभारे, भत्त पाण वोच्छेए, तस्स मिच्छामि दुक्कड।

भावार्थ—पहिले अणु व्रत में स्थूल-बड़े जीव बेंद्री, तेंद्री, चौरिंद्री और पंचेंद्री इनको जान कर, पहचान कर, निर अपराधी को, क्रूर भाव से, मारने के विचार से मारने का त्याग है, जावजीव तक, घात करूं नहीं, करावूं नहीं (ये दो करण) और मन वचन काया (ये तीन योग से) इस व्रत के पांच अतिचार—१ कापा पड़ जाय ऐसे बांधे, घाव लग जाय ऐसे मारे, अंगोपांग छेदे भेदे, शक्ति उपरांत वजन देवे, और आहार पाणी की अतराय देवे, ये पांच पाप लगे होवें तो दूर होवो ॥१॥

पाठ ३५ वाँ " अमृपा अणुव्रत "

दूसरा अणुव्रत थूलाओ मोसावायाओ वेरमणं, कन्नालिय, गोवालिए, भोमालिए, थापण मोसो, मोटकी कूडी साख, इत्यादि मोटे झूठ बोलने का पच्चक्खाण, जावजीवाय दुविह तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वायसा कायसा। ऐसे दूसरे थूल मृषावाद व्रत का पंच अइयारा जाणियव्वा, न समारियव्वा, तंजहा ते आलोऊं—सहसा भक्खाणे, रहस्सा भक्खाणे, सदारा मंत भेए, मोसोवएसे, कुडलेह करणे, मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—दूसरे छोटे व्रत में बड़ा झूठ कन्या आदि मनुष्य के वास्ते, गाय आदि पशु के वास्ते, खेत घर आदि वस्तु के वास्ते, और थापन छिपाना, ये चार कर्म श्रावक जावजीव तक दो करण तीन जोग से नहीं करे ॥*॥ दूसरे व्रत के पांच अतिचार ये हैं-झूठा आल (वज्जा)

देवे, रहस्य (गुप्त) बात प्रगट करे, स्त्री आदि के मर्म प्रकाश करे, खोटे उपदेश देवे, और खोटे लेख लिखे। ये पांच पाप लगे होवें तो दूर होवो ॥ २ ॥

पाठ ३६ वाँ—"दत्त अणुव्रत"

तीसरा अणुव्रत थूलाओ अदिन्ना दाणाओ वेरमणं, खातरखणी गाठड़ी छोड़ी, तालापर कुचीए करी, पडी वस्तु धणीयाती जाण लेनी, इत्यादि मोटा अदत्ता दान लेने का पच्चक्खाण जाव जीवाय दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा, वायसा, कायसा। ऐसे तीसरे थूल अदत्ता दानका पच अइयारा जाणियव्वा न समारियव्वा तजहा ते आलोउं:—तेनाहड़े, तक्करप्पओगे, विरुद्ध रजाइ कम्मे, कुड तोले कुडमाणे, तप्पड़ि रूवग ववहारे तस्स० ॥ ३ ॥

भावार्थ—तीसरे छोटे व्रत में श्रावक खात देकर, गठड़ी छोड़, दूसरी कुंजीसे ताला खोल, मालिक होते वस्तु उठाना वगैरह बड़ी चोरी नहीं करते हैं, दो करन तीन जोगसे। फक्त स्नेही के घरमें से और व्यापार में भ्रम न पड़े-चोरी न गिनी जाय, ऐसी वस्तु का आगार है। और उक्त व्रत के पांच अतिचार—चोरीका माललें, चोर को सहायता दे, राजा ने मना किया ऐसा काम या व्यापार करे, तोले नापे खोटे रखे, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाकर देवे, ये पांच पाप लगे होवें तो दूर होवो ॥४॥

पाठ ३७ वाँ—"ब्रह्मचर्यव्रत"

चौथे अणुव्रत थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, सदारा सतोषीए (और स्त्री-को 'सभरतार संतोषीए) अवसेसं मेहुण विहं पच्चक्खामि (और जिसने सर्वथा ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया हो उसे 'देवता मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन सेवने के पच्चखाण') जाव जीवाय देवता सम्बन्धी दुविहं तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वायसा, कायसा, मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी एगविह एगविहेण न करेमि, कायसा। ऐसे चौथे थूल मेहुण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समारियव्वा तंजहा ते आलोउः—इत्तरिय परिगहिया गमणे, अपरिग्गहिया गमणे, अनंग कीड़ा, पर विवाह करणे, काम भोग तिव्वाभिलासे तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ—चौथे छोटे व्रत में श्रावक को अपनी स्त्री को संतोष

देकर, और श्राविका को अपने पतिको संतोष देकर, उपरांत मैथुन सेवन करने का पच्चखाण अर्थात् पराई स्त्री और पराये पुरुष के पच्चखाण। और जिसने ब्रह्मचर्य (शील) व्रत का खंध धारण किया हो, उसको देव मनुष्य तिर्यंच से सर्वथा मैथुन सेवन के पच्चखाण। देवता सम्बन्धी दो करण तीन जोग से, और मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी एक करण एक जोग से, अर्थात् स्वतः की काया कर सेवे नहीं। इसके पांच अतिचार–अपनी थोड़ी उम्मर की स्त्री से गमन करे, अपनी बिना विवाहिता (सगाई हुई) स्त्री से गमन करे, योनि को छोड़ दूसरे अंग से क्रीड़ा करे, दूसरे के ब्याह करावे, और स्वस्त्री से भोग करते अत्यंत लुब्ध होवे, ये पांच दोष लगे हों तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ ३८ वाँ—"परिग्रह प्रमाण व्रत"

पाचवा अणुव्रत थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं, खेत्त वत्थु का यथा परिमाण, हिरण सोवण का यथा परिमाण, धन धान्य का यथा परिमाण, दोपद चौपद का यथा परिमाण, कुवीयातका यथा परिमाण, यह यथा परिमाण किया है। इस उपरात पोता का कर परिग्रह रखने का पच्चखाण, जाव जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मनसा वाएसा कायसा। ऐसा पाचवा थूल परिग्रह व्रतके पं० अ० जा० तं० ते आलोऊ –खितवत्थु प्पमाणाइ क्कमे, हिरण सोवण प्पमाणाइ क्कमे, धन धान्य प्पमाणाइ क्कमे, दुपद चउप्पद प्पमाणाइ क्कमे, कुवियातुप्पमाणाइ क्कमे, तस्स०॥५॥

भावार्थ—पंचम परिग्रह प्रमाण व्रत मे श्रावक खेत, घर, चांदी, सोना, धन (नगद) अनाज, मनुष्य, पक्षी, पशु और घर बाखर बर्तन आदि सबका परिमाण करते हैं, जाव जीव तक एक करण और तीन जोगसे अपना कर रखते नहीं है, मन वचन काया से। इस व्रत के पांच अतिचार-ऊपर कही सर्व वस्तु का प्रमाण किया उसे उलंघे, ज्यादा रखे तो दोष लगे, ऐसे दोष लगेहो तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

इन पांचो व्रतों को अणुव्रत कहने का मतलब यह है कि साधु के महाव्रतों की अपेक्षा से ये छोटे हैं। और स्थूल कहने का मतलब यह है कि इनमें बड़े बड़े पापो का त्याग है।

पाठ ३९ वाँ " दिग्व्रत "

छट्ठा दिसीव्रत ऊर्ध्व दिशिका यथा परिमाण, अघोदिशिका यथा परिमाण, तिरिय दिशिका यथा परिमाण किया, उससे आगे स्वइच्छा काया से जाकर पंच आश्रव सेवने के पच्चक्खान, जाव जीवाय दुविहं तिविहेणं, न क० न का० म० वा० का० ॥*॥ ऐसे छट्ठे दिशीव्रत पच० जा० त० ते आ० उढ दिसिप्पमाणाइ क्कमे, अहो दिसिप्पमाणाइ क्कमे, तिरिय दिसिप्पमाणाइ क्कमे, खित बुढिसयत-रद्धाए, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

भावार्थ—छट्ठे व्रत में ऊंची, नीची, और तिरछी–पूर्वादि दिशा में जाने का प्रमाण करे, और पांच अतिचार–तीनों दिशाओं का प्रमाण उलंघे, वक्तपर एक दिशा का घटा दूसरी दिशा में मिलावे, और कितना प्रमाण किया, उसकी याद आये विना आगे जावे तो दोष । यह दोष लगा हो सो पाप दूर होवो ॥ ७ ॥

पाठ ४० वाँ " भोगोप भोग परिमाणव्रत "

सातमा व्रत उपभोग परिभोग विहं, पच्चखायमाणे, उल्लणिया विहं, दंतण विहं, फलविहं, अभ्यंगणविहं, उवट्टणविहं, मंज्जण विहं, वत्थ विहं, विलेपण विह, पुप्फ विहं, आभरण विहं, धूपविहं, पेज विहं, भक्खणविहं, उदनविहं, सूपविहं, विगय विह, साग विहं, महुर विहं, जिमणविहं, पाणीविहं, मुखवास विह, वाहनिविह, वाहनविहं, सयणविहं, सचित्तविह, दव्वविह, इत्यादि का यथा परिमाण किया है उस उपरात उपभोग परिभोग भोग निमित्ते भोगने के पच्चक्खाण जाव जीवाए एगविहं तिविहेणं, नकरेमि, मनसा, वायसा, कायसा ॥* सातमा उपभोग परिभोग दुविहे पन्नते तजहा–भोयणाउयं, कम्मउयं । भोयणाउय समणोवासयाणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोवू सचिताहारे, सचित पडिबद्धाहारे, अप्पोलिओसहि भक्खणिया, दुप्पोलिओसहि भक्खणिया, तुच्छोसहिं भक्खणया। कम्म उय समणो वासयाण पनरस कम्मादाणाइं जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं—इंगाल कम्मे, वण कम्मे, साडी कम्मे, भाडी कम्मे, फोडी कम्मे, दंतवणिज्जे, लक्खवणिज्जे, केसवाणिज्जे, रसवणिज्जे, विसवणिज्जे, जंत पिल्लण कम्मे, निलच्छण कम्मे, दवग्गिदावण

कम्मे, सरदह तलाव परिसोसणया कम्मे, असइजण पोसण या कम्मे, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

भावार्थ—सातमें व्रतमें जो एक बार भोगने में आवे सो उपभोग आहार पाणीआदि और बारम्बार भोगने में आवे सो परिभोग वस्त्र, भूषण आदि, इनके मुख्य २६ भेद किये हैं:–शरीर को पूंछने का वस्त्र, दाँतन, वृक्षके फल, तेल आदि शरीर को लगाने का, पीठी मर्दन, स्नान, वस्त्र, विलेपन–या तिलक, फूल, गहने–भूषण, धूप, चाय प्रमुख पीनेका, पक्कान्न, दाल, चांवल, दूध, दही–घी–तेल–मिठाई आदि विगय शाक–भाजी, मेवा, आहार, पानी–रस, तंबोल, पगरखी, वाहन, अश्वादि शय्या, सजीव वस्तु, और २६ स्वाद पलटे सो द्रव्य– इन २६ वस्तुओं का जाव जीव तक भोगने का प्रमाण एक करन तीन जोग से करे। इस व्रत के २० अतिचारों में से ५ भोजन सम्बन्धी सो–१ पचखाण उपरांत सचित्त का आहार करे, २ सचित्त के लगी हुई अचित्त वस्तु को अलग कर उसका आहार करे ३ पूरी पकी नहीं ऐसी वस्तु भोगवे, ४ बहुत पकने के अनंतर विगड़ गई ऐसी वस्तु भोगवे, और ५ थोड़ा खाना गेरना बहुत, ऐसी वस्तु भोगवे। ये ५ भोजन के। और कर्म (व्यापार) के १५ अतिचार:–१ कोयले का, बन कटाने का, वाहन बनाने का, भाडे देनेका, पृथिवी आदि फोड़ने का, दाँतका, लाख चपड़ी का, केश—बाल का, जहर का-शस्त्र का, घाणी-यंत्र पिलाने का, बैल आदि के अंग भंग (छेद) करने का, जंगल में दव (आग) लगाने का, और अव्रती मनुष्य पशु को पालकर बेचने का, ये १५ व्यापार। यों सातवें व्रत के २० अतिचार में का कोई अतिचार लगा हो सो पाप दूर होवो।

पाठ ४१ वाँ " अनर्थ दंड व्रत "

आठमा अनर्थ दंड विरमण व्रत, ते चउविहे अनत्था दंडे पण्णते तजहा अवज्झाण यरिय, पमायायरिए, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे, ऐसा अनर्थ दंड सेववा का पचखाण, जाव जीवाय दुविह तिविहेणं नक० नका० म० वा० का० ॥ * ॥ ऐसे आठ में अनर्थ दंड विरमण व्रत के पं० जा० त आलोउं:– कदप्पे, कुकुइए, मोहोरए, सजुत्ताहिगरणे, उवभोग परिभोग अइरत्ते, तस्स मिच्छामि

दुक्कडं ।

भावार्थ—आठवें व्रत में आर्तध्यान करना, प्रमाद करना, हिंसा कारी वचन बोलना, और पाप का उपदेश देना, इन चार अनर्था दंड से निवृते, दो करन और तीन जोग से । इसके ५ अतिचार—काम जगे ऐसी कथा करे, कुचेष्टा करे, असम्बद्ध वचन बोले, पाप का उपदेश देवे, भोगोप भोग भोगते अत्यन्त आसक्त लुब्ध होवे, ये पांच पाप लगे होवें तो दूर होवो ॥ ९ ॥

पहिले कहे हुये पाच अणुव्रत में, ये पीछे कहे तीन व्रत, गुणके कर्ता होते हैं, इसलिये इन तीनो को गुणव्रत कहा जाता है ।

पाठ ४२ वाँ " सामायिक व्रत "

नवमा सामायिक व्रत सावज्ज जोग का वेरमण, जाव नियम पजुवासामि दुविह तिविहेणं नक० नका० म० वा० काय० ॥*॥ ऐसे नवमे सामायिक व्रत के पच० जा० त० आलोऊ.—मणदुप्पणिहाणे, वय दुप्पणिहाणे काय दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ विहुणो अकरणीयाए, सामाइयस्स अणुवुठियस्स करणयाए, तस्स०॥९॥

. भावार्थ—नवमे व्रत में एक मुहूर्त (४८ मिनट) या अधिक इच्छा हो वहां तक सावद्य योग–दूसरों को दुःख होवे ऐसा करने और कराने से निवर्ते, मन वचन काया से। इस व्रत के पांच अतिचार–मन वचन और शरीर से पाप कार्य करा होवे, सामायिक की स्मृति भूल गया होवे और काल पूरा वक्त हुये विना सामायिक पारीहो। ये ५ पाप दूर होवो ॥१०॥

पाठ ४३ वाँ " दिशावगासी व्रत "

दशम दिसावगासिक व्रत, दिन प्रते प्रभात थकी प्रारंभकर पूर्वादिक छ दिशा में जितनी भूमिका मोकली रखी है, उपरात स्वेच्छा से काया से जाकर पाच आश्रव सेवन के पचखान, जाव अहोरत्त दुविहं तिविहेण नक० नका० म० वा० का० जितनी भूमि का रखी है उसमे द्रव्यादिकी भी मर्यादा करी है उस उपरात उपभोग परिभोग भोग निमित भोगने के पचखाण जाव अहोरत्त एक विहं तिविहं न करेमि म० वा० का० ॥ * ॥ ऐसा दशमा व्रत का पं० जा० तं० ते आलोउं:–आणवाण प्पओगे, पेसवण प्पओगे, सद्दाणुवाइ,

रूवाणुवाइ वहिया पुग्गल पक्खेवा तस्स० ॥ १० ॥

भावार्थ—दशवें व्रत में प्रातः काल से लेकर इच्छाहो उतनी देर तक पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीची, और ऊंची इन छः दिशामें, इतनी दूर ज़्यादा मेरी इच्छा से नहीं जावूंगा, ऐसा परिमाण दो करण तीन जोग से करे, और भूमिका में रह कर आहार, वस्त्र, आदि की मर्यादा एक करन तीन योग से करे। इस व्रत के पांच अतिचार-मर्यादा करी हुई जमीन के बाहिर की वस्तु मंगाई, भेजाई, शब्द एवं रूपसे बताई, और कोई वस्तु फैंक कर अपना आपा बताया। ये पांच दोष लगे हों तो दूर होवो ॥ १० ॥

पाठ ४४ वॉ " पौषध व्रत "

इग्यारमा पौषध व्रत असणं पाणं खाइमं साइमं का पचखाण, अबंभ का पचखाण, (अमुक) मणिसुवर्ण का पचखाण, माला वन्नग विलेवण का पचखाण, सत्थ मुसल आदि सावज्ज जोग का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं, पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेण नक० नका० म० वा० का० ॥ * ॥ ऐसे इग्यारमे पौषध व्रत का पंच० जाणि० तं० ते आलोउं— अप्पडिलेहिये दुप्पडिलेहिये सिज्झा संथारए, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्झा संथारए, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि, अप्पमज्जिए दुप्पमज्जिए उच्चार पास वण भूमि, पोसहस्स सम्मं अणणु पालणया, तस्स० ॥ ११ ॥

भावार्थ—इग्यारवें पौषध व्रत में एक दिन रात्रि पूर्ण या अधिक इच्छा होवे वहां तक आहार पाणी मूंखडी. मुखवास, कुशील, निकाला जासके ऐसा गहना, शरीर को विलेपन, शस्त्र, और दूसरे का घात होवे ऐसा योग प्रवर्ताने का दो करण तीन जोग से पच्चखाण करे। इसके पांच अतिचारः—मकान बिछौना लघुनीत आदि परिठाणे की भूमि देखे नहीं, पूंजे नहीं, या अच्छी तरह देखे पूंजे नहीं, बराबर पोषा न हुआ हो, ये पांच पाप लगे होतो दूर होवो ॥ १ ॥

पाठ ४५ वॉ " दान व्रत "

बारमा अतिथि संविभाग व्रत, समणे निग्गंथे फासुए एसणिज्जेणं असणं, पाणं खाइमं, साइमं, वत्थ, पडिग्गह, कंबल, पाय पुच्छणेणं, पडिहारिय-

पीढ, फलग, सिज्जा, सथारएणं, ओसह भेसज्जेण, पडिलाभेमाणे विहरामि। एहवी सद्दहणा, परूपणा, फरसनाये करी शुद्ध ॥ * ॥ एवा बारमा अतिथि संविभागव्रत का पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं:–सचित निक्खेवणिया, सचित पिहणिया, कालाइ क्कमे, परोवएसे, मच्छरियाए तस्स० ।।१२।।

भावार्थ—अतिथि नाम साधुका है। अतः साधु साधवियों को दान देनेके योग्य आहार, पानी, मिठाई मुखवास, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, और जो देकर पीछे भी लेने में आवें ऐसे–पाट, पाटला, स्थानक, पराल, औषध चूर्णादि, वस्तु निर्जीव शुद्ध प्रतिलाभने के भाव सदा बनाये रखे, और अवसर मिलने पर उलट भाव से देवे। इस व्रत के पांच अतिचारः–साधू को देने योग्य वस्तु सचित्त वस्तु से ढके, सचित्त पर रखे, वेवक्त आमंत्रे, आप देने योग्य हो तो भी दूसरे के पास दिलावे और देकर अभिमान या निंदा करे। ये पांच पाप लगे होवें तो दूर होवो।

ये चार व्रत हित शिक्षा के कर्ता होने से शिक्षा व्रत कहे जाते हैं।

चौथे आवश्यक में श्रावक जी इन बारह व्रतो को अतिचार युक्त चिन्तवे।

अब साधू और श्रावक दोनों के कहने का पाठ कहते हैं—

पाठ ४५ वाँ " संलेसणा " *

अपच्छिम मरणातिए संलेहणा झूमणा आराहणा, पोषध शाला पूंज कर, उच्चार पासवण भूमिका पडिलेह कर, गमणा गमणे पड़िक्कम कर, दर्भादिक संथारो संथर, दर्भादिक संथारो दुरुहकर, पूर्व तथा उत्तर दिशि पल्यकादिक आसणे बैठकर, करयल संपरिग्गहिय सिरसावंत मत्थएण अंजली तिकट्टु एवं वयासी–नमोत्थुण अरिहंताणं, भगवताणं, जाव संपत्ताण, यो अनंत सिद्धोंजी को

---

* यह संलेखणा का पाठ, वर्तमान काल में श्रावक श्राविकाएँ तो आवश्यक में नियम पूर्वक पढते हैं, किन्तु साधु साधवी बहुत थोड़े ही पढ़ते हैं। परन्तु शास्त्र के न्याय से तो यह पाठ समस्त साधु साधवियों को भी अवश्यही पढना चाहिये। इस विषय के प्रमाण देखिये–

१ ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे दूसरे उद्देशे में–जिस प्रकार तीसरा मनोरथ संलेखणा का श्रावक के लिये कहा है, उसी प्रकार साधू के लिये भी वही मनोरथ कहा है।—

नमस्कार कर, जयवन्ता वर्तमान तीर्थ करो को नमस्कार कर, साधू प्रमुख चारों तीर्थ को खिमाकर, सर्व जीवराशि को खिमाकर, पूर्व जो व्रत आदरे है, उनमें जो दोष अतिचार लगाहो, वह सब आलोई पड़िकमी निंदी निःशल्य होकर, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्व मुसावायं पच्चक्खामि सव्व अदिन्न दाणं पचक्खामि, सव्व मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पचक्खामि, सव्वं कोहं माणं जाव मिच्छा दसण सल्लं सव्व अकरणिज्ज पच्चक्खामि, जाव जीवाए तिविह तिविहेणं, न करेमि, नकारवेमि, करतंपि नाणुजाणामि, मणसा वायसा कायसा, यो अठारह पाप स्थान पचक्ख कर, सव्वं असण पाण खाइम साइमं चउ विहपि आहार पचक्खामि, जाव जीवाए। यो चारो ही आहार पचखकर, जं पीयं इमं शरीर इठं, कतं, पियं, मणुन्न, मणाणं, धिजं, विसासिय, समयं, अणुमयं बहुमयं,

—[२] ज्ञाता धर्म कथा आदि शास्त्रों में जहाँ जहाँ साधुओं के संथारा करने का अधिकार आया है, वहां सर्वत्र इसी वर्तमान संलेखणा का पाठ कहा गया है।

[३] श्रावकों से भी अधिक साधुओं को संलेखणा (अंतिम अनशन व्रत संथारा] करने की परमावश्यकता है।

[४] यदि यह पाठ कंठस्थ न हो एवं प्रति क्रमण के समय नित्य प्रति स्मरण न किया जाता हो तो आकस्मिक प्रसंग पर साधु महात्मा संथारा किस भाँति ग्रहण कर सकेंगे। अतःएव उक्त पाठ कंठस्थ होना चाहिए और नित्य प्रति प्रति क्रमण के समय पढना चाहिये, ताकि हमेशां तीसरे मनोरथ का चिंतन भी होता रहे और समय पर संथारा द्वारा पंडित मरण में भी सहायक बन सके।

[५] इसके अलावा संथारा ग्रहण करने का दूसरा कोई पाठ जानने में नहीं आता, अत: अंतिम आराधना के लिये यह पाठ परमावश्यक है।

(६) रतलाम मालवा में पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज की संप्रदाय के पूज्य श्री नंदलाल जी महाराज की इच्छा संथारा ग्रहण करने की हुई, किन्तु पाठ याद नहीं था। अतः पं० अमिऋषिजी महाराज बुलाये गये, उनके भी याद नहीं था। आखिर कार भाई रूपचन्दजी के मुख से संलेखना पाठ सुनकर ग्रहण किया। तब से श्री अमिऋषिजी प्रतिक्रमण में संलेखणा का पाठ भी कंठस्थ करके पढने लगें। यह घटना स्वयं श्री अमी ऋषि जी ने मुझे सुनाई थी।

(७) संवत् १९५८ में तपस्विराज श्री केवल ऋषिजी महाराज से इस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किये और यह कथन सत्य मालूम पड़ा, तभी से मैं अमोलक भी प्रतिक्रमण में संलेखणा का पाठ कहने लगा, तथैव मेरे पास जितने भी दीक्षित हुए उन सभी को प्रतिक्रमण में संलेखणा पाठ कंठस्थ कराया गया।

(८) संवत् १९८९ के माघ महीने में भीलाडे मेवाड़ में शास्त्र विशारद—

भंड करंड समाणे, रयणकरंड्ग भूयं माणं सियं, माणंउन्हा, माणं खुहा, माणं पीवासा, माणं वाला, माणं चोरा, माण दंसा माणं मसगा, माणं वाहियं, पितियं, कफियं, संभीमं, सनिवाइिय, विवहारोगायंका, परिसहा, उवसग्गा, फासा फुसति, एव पीयणं चरिमेहि उस्साम निस्सासेहिं वोसिरामि, तिकट्टु ऐसी सद्दहणा परूपणा फरसना करूं नव शुद्ध ॥ * ॥ ऐसी अप्पच्छिमा मरणातिय सलेहणा झुसणा आराहणा का पच अइयारा पयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं इहलोग ससप्पओगे, पर लोग संसप्पओगे , जीविया संसप्पओगे, मरणा संसप्पओगे, काम भोगा मसप्पओगे, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन को संसार में किसी भी प्रकार का कार्य न रहे, ऐसे मरण के निकटस्थ जीव अंतिम संलेखना करते हैं । आत्मा को निशल्य करने, पापों को झोंमने-क्षय करने, आत्म धर्म की आराधना करने, पौषध शाला–धर्म स्थानक या एकांत स्थानक को यत्ना से पूंज कर, दिशा मात्रा की जगह भले प्रकार देखकर, फिर पूंजे स्थान में पराल आदि का विछोना शरीर प्रमाणे करके पूर्व या उत्तर की तर्फ मुंह करके

—पूज्य श्री मुन्नालालजी महाराज से मैंने प्रश्न किया था, तब आपने भी ठाणांग आदि कितने ही सूत्रों के पाठों से साधू को संलेखणा का पाठ कहना सिद्ध किया था। तथा फर्माया था कि—इस समय में प्रमाद के कारण उक्त पाठ नहीं पढ़ते हैं।

(६) संवत् १९९१ फागुण सुदी तृतीया गुरुवार को लुधियाने में उपाध्याय श्री आत्माराम जी म, शतावधानी श्री रतनचन्द्र जी म, युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराजने, पूज्य श्री हस्तीमलजी महाराज की तरफ़ से प्रतिक्रमण के निर्णय के लिये आये हुये पं० दुःख मोचन झा को चौथे प्रश्न के उत्तर में यही सम्मति दी है कि—साधु को भी सलेखणा का पाठ प्रतिक्रमण में अवश्य ही कहना चाहिये।

(१०) संवत् १९९२ श्रावण वदी द्वितीया के दिन दिल्ली में श्रीनाथूलाल जी म; ने फरमाया कि—श्री मयारामजी महाराज भी प्रतिक्रमण में संलेखणा का पाठ कहते थे।

इत्यादि महापुरुषों के कहने से तथा शास्त्रों के प्रमाण से सिद्ध होता है कि— साधुओं को भी अपने प्रतिक्रमण में संलेखणा का पाठ अवश्य ही कहना चाहिये। "अमोलक ऋषि"

पालखी आसन लगा के बैठे। फिर दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर चढाकर कहे कि—नमस्कार होवे सिद्ध जी अर्हंत जी और गुरुजी महाराज को। फिर चारोंही तीर्थ और सर्व जीव राशि से क्षमत क्षमावना कर, पहिले लिये हुये व्रतों में दोष लगा हो सो सब आलोचे, विचारे, प्रकाशे, आत्मा की निंदना गर्हना करे। और जाव जीव तक अठारह पाप, चारोंही आहार का तीन करन तीन जोग से त्याग करे। इस इष्ट कारी एवं प्रिय कारी शरीर को इतने दिन विश्राम देकर पालाथा, भूख, प्यास, शीत, ताप चौर क्षुद्र–पशु परिसह उपसर्ग रोगोंसे अनेक उपचार करके बचाया था, रत्नों के डब्बे से भी अधिक हिफाजत कीथी, अब इस शरीर की ममता को अंतिम श्वास तक छोड़, मरणकी इच्छा नहीं करता हुवा, समाधि भाव से लीन हो प्रवर्तूंगा सो दिन मेरा परम कल्याण का होगा। इस संलेखना के पांच अतिचार हैं। इस लोक के तथा परलोक के सुखकी, मरणे की, जीवने की, और काम भोग प्राप्त होने की अभिलाषा करे तो दोष लगे। ये ५ दोष लगे होंतो दूर होवो ॥ १ ॥

पाठ ४७ वॉ " १८ पापस्थान "

प्राणाति पात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कल्ह, अभ्याख्यान, (खोटा आल) पैशुन्य, (चुगली) पर परिवाद, (निंदा) रति, अरति, माया मोसा (कपट युक्त झूठ) और मिथ्या दशण सल्ल, ये अठारह पाप स्थानक सेवे हो सेवाये हो, और सेवते को अच्छा जाना हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाठ ४८ वॉ " पच्चीस मिथ्यात्व "

अभिग्राहिक मिथ्यात्व, अनभिग्राहिक मि०, अभिनिवेसिकमि० सशयिकमि० अनाभोग मि०, लौकिकमि०, लोकोत्तर मि०, कुप्रवचन मि०, वीतराग के सूत्र से ओछी श्रद्धना करेतो मि०, वीतराग के सूत्र से अधिक श्रद्धना करेतो मि०, वीतराग के सूत्र से विपरीत श्रद्धना करेतो मि०, धर्म को अधर्म श्रद्धेतो मि० अधर्म को धर्म श्रद्धेतो मि०, साधु को असाधु श्रद्धेतो मि०, असाधु को साधु श्रद्धे तो मि०, जीवको अजीव श्रद्धे तो मि०, अजीव को जीव श्रद्धे तो मि०,

मार्गको उन्मार्ग श्रद्धे तो मि०, उन्मार्ग को मार्ग श्रद्धे तो मि०, रूपीपदार्थ को अरूपी श्रद्धे तो मि०, अरूपी को रूपी श्रद्धे तो मि०, अविनय मि०, अशातना मि०, अक्रियामि०, और अज्ञान मिथ्यात्व। ये पचीस मिथ्यात्व सेवे हो–सेवाये हों सेवतों को भला जाना हो तो तस्स० ॥

भावार्थ—सत्यासत्य का निर्णय नहीं करे, अपने को ही सत्य माने। सबको एकसां जाने, सत्य में संशय रखे। अनजान पने पाप क्रिया लगावे। लोकों की देखादेखी कुदेव, कु–गुरु कु धर्म को माने। सुदेव सुगुरु सुधर्म को इस लोक निमित्त माने, सच्चे खोटे को एकसां जाने। जैन धर्म से अधिक ओछी और विपरीत परूपणा करे। धर्म, साधु, जीव, मार्ग, रूपी–इन पांचों को उलटा श्रद्धे। अविनय अशातना करे। अक्रिया और अज्ञान। ये २५ श्रद्धे हों सो पाप दूर होवो।

पाठ ४१ वाँ "चौदह संमूर्छिम"

उच्चारेसुवा, पासवणेसुवा, खेले सुवा, सिंघाणे सुवा, वंतेसुवा, पित्तेसुवा, सोणिये सुवा, पुइये सुवा, सुक्के सुवा, सुक्के पोगल परिसाडिये सुवा, विगय जीव कलेवरे सुवा, स्त्री पुरुष सजोगे सुवा, नगर निद्धवणे सुवा, सव्वे लोए असुइ ठाणे सुवा, इन चौदह स्थान के संमूर्छिम जीवों की विराधना करी हो तो तस्स०।

भावार्थ—बड़ीनीत, लघुनीत, खंखार, श्लेष्म, वमन, पित्त, रक्त राध, वीर्य, शुष्क होने के बाद पुनः आर्द्र वस्तु, निर्जीव शरीर (मुरदा) स्त्री पुरुष का संयोग, और लोक में के सर्व अशुचि स्थान, इनमें संमूर्छिम (स्वभाव से) असंख्य असन्नी मनुष्य उपजते हैं। उनकी विराधना की हो तो वह पाप दूर हो।

यह जो व्रतों के अतिचारों की आलोचना करी; अगर उनमें कोई सूक्ष्म अतिचार रह गया हो तो उसकी निवृत्ति के लिये १० वां 'इच्छामि ठामि' का पाठ कहे। फिर परमेष्ठी की साक्षी से आलोचना प्रारंभ की थी सो पूर्ण हुई इस लिये फिर भी ८ वा '**नवकार मंत्र**' का पाठ कहे। और फिर पापों की आलोचना से हलकी आत्मा विशुद्ध हुई इसलिये मांगलिक पाठ कहे।

पाठ ५० वाँ "मांगलिक"

चत्तारि मगलं–अरिहन्ता मगल, सिद्धा मगलं साहू मगल केवली पण्णतो धम्मो मंगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहन्ता लोगुतमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलि पण्णतो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरण पव्वज्जामि–अरिहन्ता सरण पव्वज्जामि सिद्ध सरण पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवली पण्णतो धम्मो सरणं पव्वज्जामि। ये बारह बोल सदा काल मुझको होवो ॥ १ ॥

फिर भी किसी प्रकार की कसर रह गई होतो उसमे निवृत्त होने को फिर १० वा 'इच्छामि ठामि' का पाठ कहे। और फिर उपरोक्त व्रतादि की विधि में हलन चलन करने से किसी प्रकार की विराधना हुई हो तो उससे निवृत्त होने का दूसरा पाठ 'ईर्यावही' का कहे। फिर श्रमण सूत्र कहे।

श्रमण—सूत्र ❀

पाठ ५१ वॉ "निद्रा की आलोचना"

इच्छामि पडिक्कमिओ पगाम सिज्झाए, निगाम सज्झाए, संथारा उवट्टणाए, परियट्टणाए, अउट्टणाए, पसारणाए, छप्पइ सघट्टणाए, कुइए, कक्कराइए, छीए जभाइए, आमोसे, ससरखामोसे, आउल माउलाए, सुवण वतियाए, इत्थि

❀ श्री समण सूत्र के प्रश्नोत्तर

१ प्रश्न–समण सूत्र किस शास्त्र में हैं?

उत्तर–आवश्यक सूत्र का मूल पाठ समण सूत्र ही है। देखिये, दक्षिण हैद्राबाद से प्रकाशित लाला जैन शास्त्र भण्डार में का ३२ वॉ आवश्यक सूत्र, जो कि लिंबडी (काठयावाड़) के प्राचीन भण्डार में की पुरानी प्रति पर से छपा है।

२ प्रश्न-- समण नाम साधु का है, इसलिए समण सूत्र साधु को ही कहना उचित है, न कि श्रावक को?

उत्तर–समण साधु का ही नाम है, ऐसा संकुचित अर्थ शास्त्र सम्मत नहीं है। देखिये–(१) विवाह प्रज्ञप्ति भगवती सूत्र का २० वॉं शतक का ८ वॉं उद्देशा सूत्र "तित्थ पुण चउवण्णइण्णे समण सघे पण्णते तंजहा–समणा समणीओ, सावगा सावियाओ" अर्थात् साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इन चारों को समणसंघ कहना। यद्यपि व्यवहार में समण साधु का ही नाम है, तथापि भगवान ने तो चारों ही तीर्थ को समण कहा है। यह आप्त कथन सब जैनों को अवश्य मान्य होना ही चाहिये। ऐसा ही पाठ और अर्थ उक्त भगवती सूत्र में श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामीजी ने १० स्वप्न देखे हैं, वहाँ भी है।—

स्त्री 'पुरुष' कहे) विपरियासियाए, दिठीविपरियासियाए, मण विपरिया सियाए, पाणभोयण विपरियासियाए, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रभु ! आपकी साक्षी से निद्रा में लगे हुये पापों की आलोचना (विचारना) करता हूं। मर्यादा से अधिक विछौना किया हो, निद्रा में विछौना विना पूंजे करवट ली हो, हाथ पैर संकोचे हों तथा पसारे हो, जू खटमल वगैरह जीवों को दावे हों, उघाड़े मुख से बोला हो, छींक उबासी ली हो, सचित्त रजकी घात करी हो, आकुल व्याकुल चित्त हुवा हो, और स्वप्न में आहार पाणी या स्त्री संबंधी भोग किया हो सो पाप दूर होवो ॥ १ ॥

पाठ ५२ वाँ " गोचरी की आलोचना "

पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए, भिक्खायरियाए, उग्घाड कवाड उग्घाड- णाए, साणा वच्छा दारा संघट्टणाए, मंडि पाहुडियाए, वलिपाहुडियाए, ठवणा पाहुडियाए, संकिए, सहसागारे, अणेसणाए, आण भोयणाए, पाण भोयणाए,

---

३ प्रश्न—समण सूत्र में साधु के आचार का ही कथन है, अत वह सधु कोही कहना उचित है। श्रावक के क्या काम आता है ?

उत्तर—समण सूत्र के पाठ श्रावकों को भी अनेक धर्म क्रिया में परमोपयोगी होते हैं, हरवक्त काम में आते हैं। देखिये— १ जब जब श्रावक पौषध व्रत में तथा संवर में निद्रा से निवृत्ति पाते हैं तब तब निद्रा में लगे दोषों की विशुद्धि के लिये प्रथम मार्ग शुद्धि (इर्यावही) और कायोत्सर्ग (तस्सुत्तरी) का पाठ कहकर चार चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स) के पाठका कायोत्सर्ग करे, फिर प्रगट रूप में एक चौवीसस्तवका पाठ कह कर समण सूत्र का पहिला पाठ " पडिक्कमामि पेगाम सिज्जाय " कहना चाहिए इस पाठ के सिवा निद्रा के दोषों से निवृत्त होने का दूसरा कोई भी पाठ यदि होतो वताने की कृपा कीजिए (२) एकादशवीं प्रतिमा के पालक श्रावक भिक्षोपजीवी ही होते हैं, तथा कितने ही स्थानों में दशवे व्रतधारी तथा दया व्रत के धारक और बाराव्रत धारी श्रावक गोचरी करके आहार पाणी लाते हैं। उन श्रावकों को भिक्षा लाने में लगे दोषों की विशुद्धि के लिए समण सूत्र का दूसरा पाठ "गोयरग्ग- चरियाए" कहना चाहिए (३) ठाणांग जी और नन्दीजी सूत्र में तथा उपाशक दशांग सूत्रों की नोंध में श्रावक को " सुयपरिग्गहिय " अर्थात् सूत्र का पठन करने वाला कहा है। तथा उत्तराध्ययन जी सूत्र के २१ वें अध्ययन में "निग्गंथेपावयणे सावये- सेवि कोविय" अर्थात् पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन शास्त्र का कोविद (पढ़ा-

वीय भोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छा कमियाए, पुराकमियाए, अदिट्ठहडाए, दग संसट्ठहडाए, रय संसट्ठहडाए, परिसाडणियाए, परिठावणियाए, उहासण भिक्खारियाए, जं उग्गमेणं, उवायणेसणाए, अपडि शुद्धं, पडिगाहियं, परिभुतंवा, जं न परिठावियं तस्स० ॥

भावार्थ—गाय की तरह थोड़ी थोड़ी भिक्षा लेने को गोचरी कहते हैं। अस्तु गोचरी जाने पर, आधे लगे या पूरे लगे किमाड़ उघाडे हों, कुत्ता बच्छा बालक इत्यादि को उलंघ कर प्रवेश किया हो, दूसरों को देने के लिये रक्खा हो, बलिदान का हो, भिक्षा चरों के निमित्त रक्खा हो, दोष शंका युक्त हो, और बलात्कार से छीनके देवे, शून्य उपयोग से जल्दी जल्दी देवे, सचित बीज धान्य या लीलोत्री देवे, भोजन लेजाने से पीछे या पहिले दोष लगाकर दिया हो-ऐसा विना दिखता, सचित्त के स्पर्श का, खप से ज़्यादा, अथवा खाने में थोड़ा आवे, और न्हाखने में बहुत जावे, गेरता हुआ लाकर दे ऐसा और १६ उदगमन के (गृहस्थ की तर्फ से लगते) दोष, १६ उत्पात (साधु के तर्फ से लगते) दोष, दश एषणा (दोनों से मिलके लगते) दोष, ऐसा ४२ दोष युक्त आहार भोगा हो, उसे न परिठाया हो सो पाप दूर होवो ॥ २ ॥

हुआ था। तैसे ही इस सूत्र के २२ वें अध्ययन में "सीलवता बहुस्सुया" अर्थात्-राजमतीजी दीक्षा लेती वक्त बहुत सूत्र पढी हुई थी। इत्यादि अनेक सूत्रों के कथनानुसार श्रावक और श्राविका दोनों सूत्र पढे हुए होते हैं, उनको चारों काल में स्वाध्याय करना चाहिए। तथा जिन्होंने सूत्र की स्वाध्याय नहीं की हो उस दोष की विशुद्धि के लिए, तथा सामायिक पोषधादि व्रत में मुहपती आदि वापरने को वस्त्र गुच्छक रजोहरण आदि की प्रति लेखना करते हैं उस में जो कोई दोष लगा हो उसकी निवृत्ति के लिए समण सूत्र का तीसरा पाठ "पडिकमामि चउकाल सज्झाय" कहना चाहिए [४] चौथे पाठ में जो एक बोल से लगाकर तेंतीस बोल तक का कथन है, ये सब ही बोल ज्ञेय [जानने योग्य] तो अवश्य ही हैं। और उनमें से कतिपय हेय [छोडने योग्य] भी हैं, जैसे-बंध, दंड, गर्व, शल्य, विराधना, कषाय, विकथा, क्रिया, कामगुण, भय, मद, क्रिया, अब्रह्म, पापसूत्र, महामोहनीय स्थान, अशातना आदि। और कितनेक बोल उपादेय [आदरने योग्य] भी हैं, जैसे-संयम गुप्ति व्रत समिति यति धर्म प्रतिमा देवता सिद्धगुण आदि।—

पाठ ५३ वाँ " आलोचना "

पड़िक्कमामि चउकालं सज्झायस्स अकरणाए, उभओकालं भडोवगरणस्स अपड़ि लेहणाए, दुपड़िलेहणाए,अपमज्जणाए, दुपमज्जणाए, अइक्कमे, वइकम्मे, अइयारे, अणायारे, तस्स० ।

भावार्थ—दिन और रात के प्रथम और अंतिम यों चार पहर में शास्त्रकी स्वाध्याय नहीं करी हो और प्रातः सायं दोनों वक्त वस्त्र पात्र भंडोपकरण की पड़िलेहणा नहीं करी हो, यदि करी तो प्रमाद के वश करी हो, पूरी नहीं करी हो, विपरीत करी हो, पूंजी नहीं हो, पाप कार्य का प्रवर्तन, ग्रहण, और भोग किया हो, सो पाप दूर होवो ।

पाठ ५४ वाँ " तेतीस बोल "

(१) पड़िक्कमामि—एग विह असजमेहिं (२) पडिक्कमामि—दुविहं बंधणेहिं,—राग बधणेणं, दोष बंधणेणं ॥ (३) प० तिहिं दंडेहिं—मन दंडेणं वयदंडेण, काय दंडेणं । प० तिहिं गुत्तिहिं—मन गुत्तिए वयगुत्तिए काय गुत्तिए । प० तिहिं सल्लेहिं माया सल्लेहि, नियाण सल्लेहिं, मिच्छा दंसण सल्लेहिं । प०

और कितनेक बोल हेय उपादेय दोनों मिलकर हैं, जैसे ध्यान लेश्या आदि । यों सबही बोल बड़े उपयोगी हैं, किन्तु स्थल संकोच के कारण सब ही का सविस्तार वर्णन नहीं कर सकता हूं, तथापि निश्चयात्मक होकर कहता हूं कि—इन ३३ बोलों का ज्ञान भी श्रावकों के लिए परमोपयोगी है । और (५) पांचवॉ पाठ जो "निग्रन्थ प्रवचन" (नमो चौवोसा) का है, उस में श्री जिन वचन (शास्त्र) की और जैन धर्म की परमोत्कृष्ट महिमा है, तथा आठ बोल में हेय उपादेय का कथन बडा ही महत्व पूर्ण है । अतः यह पाठ भी सबही जैन धर्मियों को अवश्य पढना चाहिए । इस कारण समण सूत्र का एक भी पाठ तथा एक भी विषय ऐसा नहीं है कि जो श्रावक के लिये अनुपयोगी होवे ! सबही पाठ बड़े उपयोगी हैं एवं अवश्य पठनीय हैं ।

[४] प्रश्न—तो फिर साधुजी को भी प्रतिक्रमण में श्रावक सूत्र कहना चाहिए, क्यों उसमें भी ज्ञेय हेय उपादेय तीनों प्रकार के विषय का कथन है ।

उत्तर— (१) श्रावक लोग जो बारा व्रत और उनके अतिचारों को सामिल कहते हैं उसका नाम श्रावक सूत्र है । किन्तु विचारना चाहिये कि—एक वक्त कायोत्सर्ग में ९९ अतिचार कहना, दूसरे वक्त चौथे आवश्यक में प्रगट ९९ अतिचार कहना, और तीसरे वक्त व्रतों के साथ ९९ अतिचार कहना, यों तीन तीन वक्त एक

तिहिं गारवेहिं-इड्ढि गारवेणं, रसगारवेणं, सायागारवेणं । प० तिहिं विराहणाए-नाण विराहणाए, दंसण विराहणाय, चारित्त विराहणाय,॥ (४) प० चउविह कसायेहिं-कोह कसाय, माण कसाय, मायाकसाय, लोह कसाय, । प० चउविहं-सन्नाहिं आहार सन्नाय, भयसन्नाय, मेहुण सन्नाय, परिग्गह सन्नाय, । प० चउविहं विकहायेहिं-स्त्रीकहाय, भत्तकहाय, देसकहाय, रायकहाय, । प० चउविह ज्झाणेहिं-अट्टझाणेणं रुद्दझाणेणं, धम्म झाणेण, सुक्कझाणेणं, । (५) प० पचहिकिरियाहिं-काइया किरियाय, अहिगरणिया किरयाय, पाउसिया किरियाय, परितावणिया किरियाय, पाणाइवाय किरियाय । प० पंचहि काम गुणेहिं-सद्देण, रूवेण, गंधेण, रसेणं, फासेणं । प० पचहि महावयेहिं-सवाओ पाणाइ वायाओ विरमणं, सवाओ मुसावायाओ विरमणं, सवाओ अदिन्नदाणाओ विरमणं, सवाओ मेहुणाओ विरमण, सवाओ परिग्गहाओ विरमणं । प० पचहि समियेहिं-इरिया समिय भासासमिय एसणासमिए आयाण भंड मत निक्खेवणा समिए उचार पास वण खेल जल सघाण पारिठावणिया समिए (६) प० छहि जीवनि काएहिं-पुढवी काएणं आउकाएण तेउकाएण वाउकाएणं वणसइकाएणं तसकाएण । प० छहिंलेसाहिं कन्हलेसाए, नील लेसाए, काउलेसाए, तेउलेसाए, पउम्मलेसाए, सुक्कलेसाए, (७) प० सत्तहि भयठाणेहिं-इहलोगभएणं, परलोग भयेण, आदान भएणं, अकम्हा भयेण, आजीविका भयेणं, मरणभयेणं, सिलायाभयेणं, (८) प० अठमय ठाणेहिं जाइमयेणं, कुल मयेण, वलमयेण, रूवमयेण तवमयेण, लाभमयेण, सुत्तमयेण, इसरीमयेण, (९) प० नव विह, बंभचेर

ही पाठ को कहना, इसमें क्या फ़ायदा है ? यदि कहो कि-इच्छामि खमा समणो वगैरह पाठ भी तो प्रति क्रमण में अनेक वार आते हैं, तो फिर उनकी क्या हरकत है ? तो उन्हें समझना चाहिए कि- उक्त पाठतो साधुजी भी अनेक वार कहते हैं। किन्तु महाव्रत समिति गुप्ति तो एकही वार कहते हैं। मात्र महाव्रतों की भावना और समिति गुप्ति कायोत्सर्ग में चिन्तवते हैं। तैसेही श्रावकों को भी ९९ अतिचार एक वार कायोत्सर्ग में और दूसरी वार चोथे आवश्यक के प्रारंभ में व्रतों के साथ कहना चाहिए। यह साधु और श्रावक का विधि विधान सामान्यत. स्पष्ट दीख पड़ता है। किन्तु श्रावक के प्रति क्रमण में से समण सूत्र को निकाल कर तीन वक्त अतिचारों को कहने की युक्ति श्रावक का प्रतिक्रमण साधु के प्रतिक्रमण के जितना ही यना रखने के लिये जमाई है, ऐसा होना चाहिए (२) साधु के महाव्रतों में श्रावक के अणुव्रतों का समावेश होजाता है, इसलिए साधुको श्रावक के व्रतों के कहनेकी कोई भी जरूरत नहीं है। और (३) श्रावक को तो साधु होने का मनोरथ

गुत्तिंहि–नो इत्थीगसु पंडग संसताइं सेविता भवइ, नो इत्थीणं कहं कहिता भवइ, नो इत्थीण सद्धि सन्निसेज्जागये विहरित्ताभवइ, नो इत्थीण इन्दियाइ मणोहराइ मणोरमाइ आलोइत्ता निज्झाइता भवइ, नो इत्थीण कुडन्तरसिवा, दुसन्तरंसिवा कुइयसद्दं, रूइयसद्दं, गीयसद्द, थणियसद्दं, कंदियसद्दं, विलवियसद्दं नो सुणेता भवइ नो इत्थीण पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरिता हवइ, नो पणियं आहार आहरिता हवइ नो अतिमायाय पाण भोयण आहरिता हवइ, नो विभुसाणुवादी हवइ (१०) दस विहे समण धम्मे–खंति, मुत्ति, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चेइये, बंभचेर वासीय (११) इक्कारसहिं–उवासग पडिमाहिं, (१२) बारसहिं–भिक्खु पडिमाहिं (१३) तेरसहिं–किरिया ठाणेहिं (१४) चउदसहिं भूयगामेहिं, (१५) पन्नरसहि–परमाहमिये (१६) सोलसहि गाहासोलसेहिं (१७) सतरसहि–असंजमेहिं (१८) आठरसविह अबंभेहिं (१९) एगुण विसाय-नायझयणाहिं (२०) वीसाय असमाहिठाणेहिं (२१) इग वीसाय–सबलेहिं (२२) बावीसाये–परिसहेहि (२३) तेवीसाय सुयगडझयणेहि (२४) चौवीसाओ-देवेहिं (२५) पणवीसाय भावणाहिं (२६) छब्वीसाय–दसाकप्प विवहार उदेसेण कालेहिं (२७) सत्ताविसाय–अणगार गुणेहिं (२८)अठावी

अवश्य ही करना चाहिये, इसलिए भी समण सूत्र कहने की आवश्यकता है। किन्तु साधुजी भी श्रावक होने की भावना करें क्या ? जो आपकी कल्पना के अनुसार श्रावकसूत्र स्वप्रतिक्रमण में कहें, ऐसा वितंडावाद उपहास्य पात्र होता है !

[५] प्रश्न– समण सूत्र में ऐसा भी कोई पाठ है कि जो केवल श्रावक के ही काम का होवे ?

उत्तर- हां है, देखिये—समण सूत्र में के चौथे पाठ में का ग्यारहवां बोल पाठ " एक्कारसहि उवासग्ग पडिमाहिं " अर्थात् ग्यारा उपासक [श्रावक] की प्रतिमा [प्रतिज्ञा] इन ११ प्रतिमाओं में श्रावक कीही करणी का क्रमशः विधि विधान है, जो साधु के किसी भी काम में नहीं आता है। श्रावक के लिए समण सूत्र नहीं होता तो इस पाठ की इसमें क्या आवश्यकता थी। क्या समवायांगजी सूत्र कथित ११ बोल में से और कोई सा बोल यहाँ नहीं रख सकते थे, अनन्त ज्ञानी से कुछ छिपा हुआ था ! जब साधु और श्रावक दोनों के लिये समण सूत्र है, तब ही तो दोनों की करणी के और दोनों के काम में आने वाले पाठ उसमें हैं।

[६] प्रश्न– लो हम भी एक पाठ बताते हैं कि जो साधु के सिवाय अन्य के कुछ भी काम का नहीं। देखिये—समण सूत्र का पाचवाँ पाठ " समणोऽहं संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे" अर्थात मैं साधू हुं, मैंने

—साये आयार कप्पेहिं (२९) एगुणतीसाये पावसुय पसंगेहिं (३०) तीसाये महामोहनीय ठाणेहिं (३१) एगतीसाय सिद्धगुणेहिं (३२) बत्तीसाय जोग-संगेहिं (३३) तेतीसाये आसायणाय-अरिहंताणं आसायणाय सिद्धाणं आसा-यणाय, आयरियाणं आसायणाय उवज्झायाणं आसायणाय साहूणं आसायणाय साहुणिणं आसायणाय सावयाणं आ० सावियाणं आ०, देवाण आ० देविणआ०, इहलोग आ०, परलोग आ०, केवलीणं आ०, केवली पन्नतस्स धम्मस्स आ०, सदेव मणुयासुरस्स लोगस्स आ० सव्वपाण भूय जीव सत्ताण आ० कालस्स आ०, सुयस्स आ०, सुयदेवस्स आ०, वायणारियस्स आ०, जंवाइद्ध, वच्चामेलिय हीण क्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीण, घोसहीण, सुठुदिन्नं, दुट्ठु पडिच्छिय, अकाले कओ सज्झाए, काले न कओ सज्झाए, असज्झाइये सज्झाए—

मैंने संयम व्रत के समाचरण से पाप कर्म को प्रतिहत किया है। क्या इस पाठ के कहने से श्रावक मृषावादी नहीं हो सकता है ?

उत्तर-(१) नहीं हो सकता, इसका उत्तर तो पहिले ही प्रश्न के उत्तर में कुछ दे दिया गया है। अर्थात् भगवान ने चारों तीर्थ को समण कहा है। इसलिए समणोऽहं, मैं साधु हूं-ऐसा कहने में श्रावक को मृषावाद नहीं आता, क्योंकि जब खुद भगवान ने ही श्रावक को समण कहा है तो दूसरों को कहने में क्या आपत्ति है। और भी (२) ठाणांग सूत्र के ९ में ठाणे में " से जहा णामए अज्जो ! मएसमण निग्गथाणं एगे आरंभे ठाणे जाव तेतीस असायणाय पण्णते " अर्थात पद्म नामके तीर्थंकर होंगे, वे कहेंगे कि अहो आर्यो ? मैंने श्रमण, निग्रंथ के लिए एक आरंभ का स्थानक यावत् तेतीस अशातना कही हैं। इसमें इग्यारमां बोल श्रावक की प्रतिमा का है। इसलिए श्रावक को भी समण कहा है (३) तथा दशाश्रुतस्कंध के ६ ठे अध्ययन में श्रावक की ग्यारमी प्रतिमा का नाम समण भूयपडिमा है अर्थात श्रावक को साधु के समान कहा है। (४) उत्तराध्ययन अ० ३१ गाथा "उवासगाण पडिमासु भिक्खुण पडिमासुय जे भिक्खु जयइ निच्च से न अच्छेइमडले" ११ ॥ इस गाथा में प्रतिमा धारी श्रावक को भिक्खु साधु कहा है [५] सुयग-डांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के दूसरे क्रिया नामक अध्ययन में तथा अनुयोग द्वार में श्रावक के गुणों का वर्णन करते हुए सुव्रती, सशील सुसाधु अच्छा साधु इत्यादि कहा है (६) भगवतीजी सूत्र शतक १० उद्देस ४ में तावतिस श्रावक को उसना, कुशीलिया अपछंदा इत्यादि कहा और वही पाठ साधुओं के लिए भी आता है [७] प्रकरण संग्रह में गुण स्थान द्वार के थोकड़े में पंचम गुण स्थान के लक्षण में श्रावक को सुसाधु कहा [८] भगवती सूत्र श १ उद्देश २ में तिर्यंच श्रावक को ३ क्रिया कही, अव्रत की क्रिया नहीं कही, [९ [श्रावक के प्रत्याख्यान तो मेरु-

सज्झाइ न सज्झाए; ॥ इन तेतीस वोलों में के जानने योग्य बोल जाने न होवें, छोडने योग्य बोल छोड़े न होवे, आदरने योग्य बोल आदरे न होवे, तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ ।

भावार्थ—(१) एक प्रकार का असंयम त्याज्य है, (२)राग द्वेष से जीव बंधन में पड़ता है, अतः वे त्याज्य हैं (३) १ मन वचन काया के योग पाप में प्रवर्ताने से आत्मा दंड पाती है सो त्याज्य है, २ उक्त तीनों योगों को गुप्त रखे, पाप से बचावे सो तीन गुप्ति आदरने योग्य है ३ छल–कपट, करणी के फलकी इच्छा, और कुमत की श्रद्धा ये अंतःकरण के शल्य हैं सो त्याज्य है ४ ऋद्धि का, भोजनका, और सुखका गर्व सो त्याज्य है ५ ज्ञान, दर्शन, और चारित्र, तीनों को

पर्वत जितने और क्रिया राई जितनी रहने से सारे जगत् के अव्रत को रोक देता है इसलिए ऋजूसूत्र नयकी अपेक्षा से श्रावक को साधु कह सकते हैं । + इत्यादि प्रमाणों से श्रावक को साधु कहने में कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि श्रावक ने भी संयम व्रत एवं प्रत्याख्यान द्वारा पाप कर्मों को प्रतिहत किया है, इसलिए उक्त पाठको बोलते हुये श्रावक मृषावादी कदापि नहीं हो सकता है ।

(७) प्रश्न–तो क्या प्रतिक्रमण करने वाले सब श्रावक ऐसे गुणधारी होते हैं, जो समण सूत्र कहें ।

उत्तर–हमभी आपसे पूछते हैं कि–क्या प्रतिक्रमण करने वाले सबही श्रावक बारांव्रत धारी होते हैं ? जो स्वीकृत व्रतों के अतिचारों का वे प्रतिक्रमण करते हैं । ऐसा तो कभी होता ही नहीं कि जो व्रतधारी हो वही प्रतिक्रमण कर सके अन्य नहीं; किन्तु प्रतिक्रमण तो व्रत धारक तथा विना व्रत धारक सभी कर सकते हैं । हां अंतर मात्र इतनाही है कि–जो व्रतधारी हों उनको ग्रहण किये व्रतों के अन्त में " तस्स भंते पड़िक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि " यों पूर्ण पाठ कहना चाहिये और जो बिना व्रतधारी हैं उन्हें मनसा वयसा कायसा तक कहकर प्रत्याख्यान के पाठको छोड देना चाहिये और विशेष में कहना चाहिये कि–ऐसी मेरी श्रद्धना प्ररूपना है, स्पर्शना करूंगा तब शुद्ध । यों कहने से वे व्रतों को स्वीकार

+ स० १९५६ देहली बारादरी के स्थानक में कोटा सम्प्रदाय के पंडितराज श्री छगनलालजी महाराज ने अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया था कि–श्रावक को देश से समण निग्रन्थ कहना चाहिए । आपके इस सम्बन्धी हस्त लिखित पत्र अबभी मौजूद है । जो देखना चाहे तो देहली मालीवाडा निवासी शास्त्र के पाठों के मर्मज्ञ मुन्नालालजी भाई के पास देख सकते हैं ।

सम्यक् प्रकार से नहीं आराधे सो तीन विराधना त्याज्य हैं। (४) १ क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार कषाय त्याज्य हैं २ आहार की, भय की, मैथुन की और धनकी–ये इच्छाएँ त्याज्य हैं ३ स्त्री की, भोजनकी, देशान्तरों की और राजा आदि की यों चार खोटी कथाएँ त्याज्य हैं ४ आर्त और रौद्र ध्यान खोटे हैं सो त्याज्य हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान अच्छे हैं आदरने योग्य हैं। (५) १ शरीर से, शस्त्र से, द्वेष भावसे, परिताप उपजाने से, और जीव काया अलग करने से क्रिया (पाप) लगती है सो त्याज्य है २ शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श ये पांच काम के गुण हैं सो त्याज्य हैं ३ दया, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य और निर्ममत्व ये पंचमहा व्रत आदरने योग्य हैं ४ देखकर चले, विचार कर बोले,

---

करने के जिज्ञासु समझे जाते हैं। ऐसा कहने से व्रत धारियों के तो व्रतों की विशुद्धि होजाती है और अव्रती के स्वात्मा के दुर्गुणों की अनुप्रेक्षा होती है। तथा दोनों के सम्पूर्ण आवश्यक सूत्र की स्वाध्याय का बड़ा भारी लाभ होता है, जो उत्कृष्ट रसायण पक जावे तो तीर्थंकर नाम कर्म का भी उपार्जन कर लेते हैं।

(८) प्रश्न–प्राचीन काल का भी ऐसा कोई प्रमाण है कि–श्रावक समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे ?

उत्तर–हाँ अनेक प्रमाण हैं। देखिये–[१] खास महावीर स्वामीजी के समय में उनके श्रावक श्राविका भी समण सूत्र सहित ही प्रतिक्रमण करते थे + भगवतीजी सूत्र शतक २ उद्देश ३३ वां (लाला भंडार की छपी प्रति का पृष्ट १३८७ ओली १) में मूल पाठ है कि " एव वयासी-एवं खलु जाया ! निगये पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवळी जहा आवस्सए जाव सव्व दुक्खाणमतकरेइ " अर्थात्–श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामीजी के श्रावक श्राविका जमालीजी के माता पिता अपने पुत्र से कहते हैं कि–अहो पुत्र ? तुम निश्चय से जानों कि–जो निर्ग्रंथ के प्रवचन हैं वे सच्चे हैं, प्रधान हैं, केवल एकही है इनके समान दूसरे नहीं हैं, जिस प्रकार आवश्यक सूत्र में कहा है उसही प्रकार यावत् सब दुःखों के अन्त करने वाले हैं। उक्त अंग रूप सूत्र के कथन पर से निश्चय करे कि–जब श्रावक श्राविका समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे तबही तो समण सूत्र में का पाचवा पाठ, जो निर्ग्रंथ प्रवचन [नमो चौवीसा] का है, कहा और कहा कि जैसा आवश्यक [प्रतिक्रमण] में कहा है वैसा न जान लेना। और जमालीजी को समण सूत्र आता था तबहीतो कुछ पाठ कहकर कह दिया कि जैसा आवश्यक में कहा, वैसा जान लेना चाहिये। कहिये, इसमें अधिक–

× इस प्रमाण के दर्शक उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज स्वामी हैं

शुद्ध आहार प्रमुख भोगवे, भंड उपकरण यत्ना से लेवे और धरे, उच्चारादिक न्हांखने योग्य वस्तु यत्ना से परिठावे, ये पांच समिति आदरने योग्य हैं (६) १ मिट्टी, पाणी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीव ये जीव की छः काय जानने योग्य हैं २ कृष्ण, नील, कापूत, यह तीन लेश्या त्याज्य हैं। और तेजु, पद्म शुक्ल, ये तीन आदर ने योग्य हैं, (७) मनुष्य से मनुष्य को हो सो इस लोक भय, मनुष्य को देव तिर्यंच का हो सो परलोक भय, देने का भय, आकस्मिक भय, आजीवका भय, मरण भय, और अपयश का भय. ये मात भय त्याज्य हैं (८) जातिका, कुलका, रूपका, बलका, तपका, लाभका, बुद्धिका, और ऐश्वर्य का—ये आठ मद हैं सो त्याज्य हैं, (९) पहिली वाड़—स्त्री पशु नपुंसक युक्त

और क्या प्रमाण होता है। और भी देखिये (२) उपाशक दशांग सूत्र में आनंदजी आदि श्रावकों ने ११ प्रतिमाओं का आराधन किया है उनमें लगे दोषों की विशुद्धि समण सूत्र के उक्त चौथे पाठ द्वारा करते थे (३) वर्तमान काल में भी द्वादश वार्षिक महादुकाल के कारण धर्म स्खलित जैनियों के पुनरुद्धारक श्रावक श्रेष्ट श्री लोंकाजोशाह अहदाबाद (गुजरात) में हुए हैं उस तरफ़ के देशों में अर्थात् गुजरात काठियावाड़ कच्छ आदि देशों में सबही श्रावक समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं । जब पहिले से यह प्रथा चली आती थी तबही तो उन्होंने भी यह चलाया। (४) सनातन जैन साधु मार्गी समाज के पुनरोद्धारक परम पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज, परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदायके तथैव बाईस ही सम्प्रदाय के मूलाचार्य परम पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदायके, यह दोनों ही सम्प्रदाय जो साधु मार्गी सम्प्रदाय की आदि भूत हैं, इनके सबही श्रावक समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं । अब आश्चर्य इस बात का होता है कि-पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज के शिष्य श्री सोमजी ऋषिजी महाराज, और इनके शिष्य परम्परा से प्रादुर्भूत पंजाबी पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय, तथा कोटा सम्प्रदाय और उनमें से आविर्भूत पूज्य श्री हुक्मीचंदजी महाराज की सम्प्रदाय, वैसेही पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय में से प्रकट हुई मारवाड़ी पूज्य श्री जयमलजी महाराज, पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज पूज्य श्री रतनचंदजी महाराज आदि की सम्प्रदायों के पूर्वज धर्मगुरुओं ने तो अपने संत्र में समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करने की श्रद्धना प्ररूपणा स्पर्शना की। परन्तु उन्होंने श्रावक श्राविका के प्रतिक्रमण में से समण सूत्र क्यों निकाल डाला। किन्तु इसका कारण अपनी सम्प्रदाय को पृथक बताने-

मकान में ब्रह्मचारी रहे नहीं, दूसरी बाड़-स्त्री के शृंगार की कथा करे नहीं, तीसरी बाड़-स्त्री के अंगोपांग देखे नहीं, चौथी बाड-स्त्री के आसन पर बैठे नहीं, पांचमी बाड-स्त्री पुरुष के क्रीडा के शब्द सुने नहीं, छट्ठी बाड़-पूर्व कृत क्रीड़ा को याद करे नहीं, सातमी बाड़-सदा सरस आहार करे नहीं, आठमी बाड़-दबा दबा कर आहार करे नहीं, नवमी बाड़-शृंगार करे नहीं, इन नव बाड़-युक्त शील पाले, यह आदरणीय हैं (१०) दश प्रकार साधु का धर्म-क्षमावंत निर्लोभ सरल नम्र हलके सत्यवंत संयमी, तपस्वी, ज्ञानवन्त, ब्रह्मचारी, ये आदरणीय है (११) श्रावक की ग्यारह प्रतिमा-सम्यक्त्व निर्मल पाले । व्रत निरतिचार पाले। त्रिकाल सामायिक करे । महिने के छः छः पौषध व्रत करे । स्नान, निशि भोजन

के सिवाय और कोई समझ में नहीं आता है ।

प्रश्न-(६) यदि यह बात ठीक है तो फिर पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी की ही सम्प्रदायक के कविवरेंद्र पंडित राज श्री तिलोक ऋषिजी महाराज प्रणीत प्रतिक्रमण सत्यबोध ज्ञान प्रदीप आदि पुस्तकों में जो प्रतिक्रमण छपा है, उसमें समण सूत्र क्यों नहीं ?

उत्तर-उक्त पुस्तकें श्री तिलोक ऋषिजी महाराज की अनुपस्थिति में छपी हैं, याने महाराज श्री का देहोत्सर्ग सं० १९४० के श्रावण मास में हुआ और पुस्तकें सं० १९४१ में छपी हैं । यदि कहोगे कि महाराज साहब के कथनानुसार श्रावकों ने छपाई हैं, तो यह भी असंभव है। क्यों कि- (१) महाराज श्री ने मालवे में जिन श्रावकों को श्री मुख से प्रतिक्रमण सिखाया है, उनको समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हमने देखा है (२) श्रावक प्रतिक्रमण की प्रति महाराज श्री की हस्त लिखित आज तक कोई भी देखने में नहीं आई, (३) आठ कोटी संप्रदाय की मान्यता महाराज श्री की स्वप्न में भी नहीं थी, यह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्ध है । क्योंकि- आठ कोटी की आम्नाय वाले गुजरात देश में और कच्छ देश में ही हैं, और प्रतिक्रमण सत्यबोध में जो प्रतिक्रमण छपा है वह आठ कोटी आम्नाय का है । देखिये—नवमें और ग्यारवे व्रत का मूल पाठ "करंतंणाणु जाणाइ वायसा कायसा" यह पाठ आठ कोटी सम्प्रदाय की आम्नाय वाले बोलते हैं । यह घोटाला प्रुफ शुद्ध कर्ता की तरफ से होने का संभव होता है । इत्यादि प्रमाणों से निश्चय कीजिये कि—जो प्रतिक्रमण सत्य बोध में प्रतिक्रमण छपा है यह श्री तिलोक ऋषिजी महाराज का नहीं है, पूज्य श्री तो श्रावक को समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण कराने के दृढ़ आस्तिक थे ।

हजामत, पगरखी, और धोती की लांग देना—ये पांच बोल वर्जे। सर्वथा ब्रह्मचर्य पाले। सर्व सचित्त आहार का त्याग कर आरंभ करे नहीं, करावे नहीं, अपने निमित्त किया आहारादि करे नहीं। समण भूत—साधु जैसे होवें, स्वकुलकी भिक्षा करे, दाढी मूंछ का लोच करे। पहिली पड़िमा एक महीने की, दूसरी दो महीने की, यावत् ग्यारहवीं ग्यारह महीने की जानना। आगे की प्रतिमा में पीछे के सब बोल पाले जाते हैं। पहिली प्रतिमा में एकांतर उपवास, दूसरी में वेले वेले पारणा, यावत् ग्यारहवी—पडिमा में ग्यारह—ग्यारह उपवास के पारणा करे।

(१२) बारह साधु की पड़िमा—एक महिने तक एक दात आहार की एक दात पानी की। दो महिने तक दो दात आहार की. दो दात

---

[१०] प्रश्न—अजी! इतना बड़ा प्रतिक्रमण कंठस्थ करने से आजके लोग इन्कार करते हैं [२] बड़ा प्रतिक्रमण करने में बहुत देर लगती है, अतः लोग घबराते हैं [३] आलोचना पाठ तो जितना छोटा हो उतना ही अच्छा, क्यों कि वह स्पष्ट और स्थिर चित्त से हो सकता है। इसलिए प्रतिक्रमण का पाठ भी छोटा होना चाहिये।

उत्तर-[१] प्रायः आधे से अधिक भी साधु मार्गी समण सूत्र सहित संपूर्ण प्रतिक्रमण का पाठ करते हुए घबराते नहीं हैं। और आप घबराते हो इसका कारण यही दीखता है कि—आपके यहां पहिले से ही अधूरा प्रतिक्रमण सीखने की प्रथा पड़ रही है [२] प्रतिक्रमण के काल का नियम है कि वह एक मुहूर्त में होना चाहिए, और यह काल वही है कि—संध्या समय और प्रातः काल में जो एक मुहूर्त अस्वाध्याय का समय होता है, वह प्रतिक्रमण में लगाना चाहिए। [३] जितना समय श्रावक सूत्र कहने में लगता है, उतना समय कुछ समण सूत्र के पांच पाठों के कहने में तो नहीं लगता है, [४] ऐसी प्रमाद वर्द्धक बातें बनाकर समण सूत्र के समान परमोपयोगी पदार्थ से लोगों की अभिरुचि उतारना, यह उत्तम पुरुषों को योग्य नहीं है [५] आलोचना पाठ संक्षिप्त होने के विषय में जो कहते हो तो फिर मात्र १८ ही पाप स्थान के नाम लेकर तथा मात्र आत्म विशुद्धि [इच्छामि ठामि] का पाठ कहने से ही आलोचना हो सकती है। फिर आचार्यों ने इतना बड़ा प्रतिक्रमण करना क्यों फरमाया! [६] ऐसी विचित्र कल्पनाएं उठा २ कर इस समय में प्रतिक्रमण की स्थिति कितनी बेढंगी करदी है, जिसे कहने ही शर्म आती है। श्री अमीऋषिजी कहते थे कि मैंने ४५ तरह के प्रतिक्रमण देखे हैं!' [७] मंदिर मार्गीयों में तो पांचों प्रतिक्रमण अलग अलग होते हैं और उन्हें बहुत से उनके श्रावक कंठस्थ करते हैं। उन्हें प्रतिक्रमण करने

पानी की यावत् सातमी प्रतिमा में सात महीने तक सात दात आहारकी सात दात पानी की। आठमी नवमी और दशमीमें सात सात दिन एकांतर चतुर्विधाहार उपवास करे। ग्यारवी में बेला करे। इन उपवासके दिनों में दिनको सूर्य की आतापना लेवे, रातको वस्त्र रहित ध्यान करे। और बारमी प्रतिमा में तेला करे, तेले के दिन श्मशान में एकाग्र दृष्टि रखके ध्यानस्थ रहे, देव दानव मानव के परिषह समभाव से सहे।

(१३) तेरह क्रिया—अपने शरीर कुटुम्बादि के निमित्त पाप करे सो 'अर्थ दंड क्रिया'। निरर्थक पाप करे सो 'अनर्थ दंड क्रिया'। यह मुझे मारेगा ऐसा जान के मारे सो 'हिंसा दंड क्रिया'। मारे किसी को

में कभी कभी दो दो घंटे लगजाते हैं, तो भी वे नहीं घबराते हैं। किन्तु साधु मार्गीयों में तो एकही प्रतिक्रमण है, और वह भी छोटासा है। आश्चर्य होता है कि उसे भी कंठस्थ करते और स्मरण करते हुए आप जैसे घबराने लगते हैं। यह कितनी अफसोस की बात है। किन्तु जो आत्मार्थी होते हैं वे तो अधिक ज्ञान प्राप्त करने और विशेष समय धर्म कार्य में लगाने से बहुत खुशी होते हैं।

उपसंहार—उक्त दसही प्रश्नोत्तरों से सिद्ध होता है कि-[१] समणसूत्र सहित प्रतिक्रमण शास्त्र सम्मत है [२] समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण श्रावक को अवश्य करना चाहिए [३] समण सूत्र के बिना श्रावक की क्रिया शुद्ध होही नहीं सकती है। [४] श्रावकों को अवश्य ही जानने योग्य और आदरने योग्य विषय समण सूत्र में है। [५] महावीर स्वामीजी के समय से [प्राचीन-काल में] ही समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करने की परंपरा चली आरही है। [६] जो नहीं करते हैं, वे पूर्वाचार्यों की आज्ञा के उत्थापक होते हैं और जो करते हैं वे पूर्वाचार्यों की आज्ञा के आराधक होते हैं। और [७] जो समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण है, वही पूर्ण प्रतिक्रमण है। इसलिए वर्तमान काल के सबही श्रावकों को समण सूत्र सहित प्रतिक्रमण अवश्य ही करना चाहिए। इत्यलंविज्ञेषु

इति समण सूत्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

नोट—सम्वत १९९० ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा के दिन ये प्रश्नोत्तर लिखे गये थे और इनका उत्तर प्राप्त करने के लिये बम्बई श्वे० स्था० जैन कॉन्फरन्स के मुख्य पत्र जैन प्रकाश के अंक ३३ और ३४ में प्रसिद्ध किए थे। किन्तु आज (सं० १९९२ श्रावण कृष्णा ७ गुरुवार) तक किसी की तरफ से भी इसका प्रतिवाद देखने में नहीं आया। इससे निश्चय होता है कि—प्रतिवाद नहीं हो सकता और इससे भी सिद्ध होता है कि—समण सूत्र सहित ही प्रतिक्रमण पूर्ण प्रतिक्रमण है। अमोलक ऋषिजी

और मरजाय कोई सो 'अकस्मात् दंड क्रिया' शत्रुके भरोसे मित्रको मारे सो 'दृष्टि विपरासिया क्रिया'। झूठ बोले सो 'मोषवती क्रिया'। चोरी करे सो 'अदिण्णादाणवति क्रिया'। वहुत चिंता करे सो 'अझत्थवति क्रिया'। माता पिता मित्र का अपराध करे सो 'मित्र दोष वति क्रिया'। अभिमान करे मो 'मानवति क्रिया'। दगा करे सो 'मायावति क्रिया'। वांछा करे सो 'लोभवति क्रिया'। और केवल ज्ञानी और छद्मस्थ को यत्न करते भी अयत्ना होजाय सो 'ईर्यावही-क्रिया'। ये तेरह ही क्रिया त्यागने योग्य हैं।

(१४) चौदह प्रकार के जीव–सूक्ष्म एकेन्द्रिय बादर एकेन्द्रिय बेन्द्रिय तेन्द्रिय चोरिन्द्रिय असन्नी पंचेन्द्रिय और सन्नी पंचेन्द्रिय इन सात का अपर्याप्त और पर्याप्त यों जीव के १४ भेद जानने योग्य हैं।

(१५) पंदरह परमाधामी देव हैं (१) नरक जीवों को आम्र की तरह मसले सो 'अम्ब परमाधाभी' (२) आम्र के रसकी तरह रक्त मांस अलग अलग करे सो 'अम्बरस' (३) घातक प्रहार करे मो 'शाम' (४) मांस निकाले सो 'शबल' (५) बरछी भाले से भेदे सो 'रुद्र' (६) टुकड़े टुकड़े करे सो 'महारुद्र' (७) भट्टी में भूंजे सो 'काल' (८) चिमटे से मांस तोड़ कर खिलावे सो 'महाकाल' (९) शस्त्र चलावे सो 'अस्सी पत्त' (१०) धनुष बाण से मारे मो 'धनुष्य' (११) कुम्भी में पचावे सो 'कुंभ' (१२) उष्ण वालूरेती में भूने सो 'वालु' (१३) वेतरणी के तीक्ष्ण पानी में डाले सो 'वेतरणी' (१४) शामली वृक्ष के तीक्ष्ण पत्र से भेदे सो 'स्वरस्वर' (१५) अन्धेरे कोठे में ठसाठस भरे सो 'महाघोष' ये जानने योग्य हैं।

(१६) सोलह सुयगडांगजी सूत्र के पहिले श्रुतस्कंध के अध्याय-(१) स्वसमय पर समय (२) वेताली (३) उपसर्ग (४) स्त्री प्रज्ञा (५) नर्क विभूति (६) वीरत्थुइ (७) कुशील प्रभ (८) सकाम अकाम वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मोक्ष मार्ग (१२) समोसरण (१३) यथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमतीत (१६)

गहावती ये जानने योग्य हैं।

(१७) सतरह असंयम–पृथिवी, पाणी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बेंद्री, तेंद्री, चोरिंद्री, पंचेन्द्रिय, अजीव–इन दश की यत्ना नहीं करे, सर्व कार्य अनुपयोग से करे, सबके साथ प्रीति न रखे, पूंजे नहीं, अयत्ना से परिठावे, मन वचन काया अयत्ना से प्रवर्तावे--ये त्यागने योग्य हैं।

(१८) अठारह अब्रह्मचर्य–औदारिक शरीरसे नव कोटी और वैक्रिय शरीर से नव कोटी—यों अठारह मैथुन सेवे सो अब्रह्म त्यागने योग्य है।

(१९) उन्नीस ज्ञाताजी के अध्याय:-१ मेघ कुँवार २ धना सेठ ३ मयूर के अंडे ४ काछवा ५ थावचापुत्र ६ तुम्बड़ी ७ रोहणी ८ श्रीमल्लिनाथजी ९ जिनरख जिनपाल १० चन्द्रमा ११ दावदव वृक्ष १२ सुबुद्धि प्रधान १३ नंदन मणिहार १४ पोटिला १५ नंदीफल १६ द्रोपदी १७ आकीर्ण जाति के घोड़े १८ सुसुमादारिका १९ कुंडरिक पुंडरिक ये जानने योग्य हैं।

(२०) बीस असमाधि दोष–१ जल्दी जल्दी चले २ विनापूंजे चले ३ पूंजे कहीं और पग कहीं धरे ४ पाट पाटला अधिक भोगवे ५ बड़े के सन्मुख बोले ६ स्थविर की घात चिन्तवे ७ जीवकी घात चिन्तवे ८ क्षण क्षण में क्रोध करे ९ बार बार निश्चयकारी वचन बोले १० निंदा करे ११ नवीन क्लेश करे १२ पुराने क्लेश को पुनः खड़ा करे १३ अकाल में सज्झाय करे १४ सचित्त रजसे भरा हुवा वस्त्र एवं उपकरण विना पूंजे वापरे १५ पहर रात्रि गये पीछे जोर से बोले १६ भयंकर क्लेश करे १७ तिरस्कार के वचन बोले १८ चिन्ता करे, या दूसरों को चिन्ता उपजावे १९ नौकारसी आदि पच्चखाण नहीं करे २० असूझता आहार आदि भोगवे–ये त्यागने योग्य हैं।

(२१) सबला दोष:–१ हस्त कर्म करे २ मैथुन सेवे ३ रात्री भोजन करे ४ आधाकर्मी आहार भोगवे ५ राजपिंड (बलिष्ठ) आहार भोगवे ६ मोलका, बदलेका, छीना हुआ, मालिक की आज्ञा विना का, सन्मुख लाया हुआ–ये पांच दोष युक्त आहार भोगवे ७ बार बार पच्चखाण

लेकर भंग करे ८ छः महीने पहिले सम्प्रदाय बदले ९ एक महीने में नदी के तीन लेप लगावे १२-१३-१४ जान बूझ कर हिंसा करे, झूठ, बोले, चोरी करे १५ सचित पृथिवी पर शयन करे १६ सड़े हुवे पाट भोगवे १७ सचित रज से भरे पाट भोगवे १८ मूल-स्कन्ध-त्वचा-प्रवाल (कूंपल) पत्र-फल-बीज-हरी-ये दश सचित भोगवे १९ एक वर्ष में दश नदी के लेप लगावे २० एक वर्ष में दश वक्त कपट करे २१ सचित वस्तु से भरे हुये हाथ एवं पात्र से आहार लेवे। ये त्यागने योग्य हैं।

(२२) बाईस परिसहः- १ क्षुधा २ तृषा ३ शीत ४ ताप ५ दंस मच्छर ६ अचेल ७ अरति चिंता ८ स्त्री ९ चलना १० बैठना ११ स्थानक १२ आक्रोश वचन १३ वध (मारना) १४ याचना १५ अलाभ १६ रोग १७ सत्कार १८ जलमेल १९ तृण स्पर्श २० ज्ञान २१ अज्ञान और २२ सम्यक्त्व—ये जानने योग्य हैं।

(२३) तेईस सुयगडांग के अध्यायः-सोलह तो पहिले सोलहवें बोल में कहे सो, और ७ दूसरे श्रुतस्कन्ध के अध्यायः-१ पुष्करणी २ क्रिया नाम ३ आहार प्रज्ञा ५ भाषानाम ६ आद्र कुंवार ७ उदक पेढाल पुत्र--ये जानने योग्य हैं।

(२४) चौबीस देव यानी तीर्थंकर। अथवा १० भवनपति ८ वाण व्यतर ५ ज्योतिषी, और १ वैमानिक ये चौबीस जानने योग्य हैं।

(२५) पच्चीस भावना -पांच महाव्रत में २५ भावना देखिये।

(२६) छब्बीस कल्प के अध्यायः--व्यवहार सूत्र के छः दशा श्रुतस्कन्ध के दश, और वेदकल्प के दश, ये छब्बीस जानने योग्य हैं

(२७) सताईस अनगार (साधु) के गुण देखिये प्रकरण आठवां

(२८) अट्ठाईस आचाराङ्ग के अध्यायः-१ शस्त्र प्रज्ञा २ लोक विजय ३ शीतोसनिया ४ समकित, ५ लोकसार, ६ धूता, ७ विमुख ८ उपध्यान श्रुत ९ महाप्रज्ञा (ये आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्याय) १० पिण्डेषणा, ११ सेजा, १२ ईर्या १३ भाषा १४ वस्त्रेषणा १५ पात्रेषणा, १६ उगह पड़िमा १७-२३ सात सत किये २४ भावना २५ विमुक्ति-ये १४ दूसरे श्रुतस्कन्ध के यों आचारांग के २३

ध्याय हुए और २६ उववाइ, २७ अणुववाइ, २८ व्रत रोपण ये तीन
शीत के यों २८ अध्याय आचार के जानने योग्य हैं।

२९. उनतीस पाप सूत्र-भूमि कम्प, उत्पात, स्वप्न, अंतरिक्ष,
ंगस्फुरण, स्वर, व्यंजन, लक्षण, इन आठ शास्त्रों के मूल, अर्थ, और
था, यों तिगुने करने से चौबीस हुवे। और काम शास्त्र, विद्या शास्त्र, वैद्यक
ास्त्र, योगानुयोग, अन्य तीर्थ का आचार यों २९ ये जानने योग्य हैं।

(३०) तीस महामोहनीय कर्म (जो ७० क्रोड़ा क्रोड़ी सागर
क सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने दे) बंध के कारण:-(१-५) त्रस जीव
ो पानी में डुबाकर, श्वासोच्छ्वास रोक कर, धूंवे के योग से, मस्तक में
ावकर, मस्तक पर चर्म बांध कर मारे (६) पागलों एवं मूर्खों की
ंसी करे, (७-८) अनाचार सेवन कर छिपावे, या दूसरे के सिर डाले
९) सभा में मिश्र भाषा बोले (१०) भोगी के भोग रोकदे * (११
्रह्मचारी नहीं ब्रह्मचारी नाम धराये (१३) सेठ का धन गुमास्ता चोरे
१४) सब जने मिलकर बडा स्थापन किया, वह बड़ा सबको दुःख
ेवे, या सब मिलकर बड़े को दुःख देवे (१५) स्त्री एवं पति आपस में
वेश्वास घात करे (१६-१७) एक देश के या बहुत से देश के राजा
ी घात चिंतवे, (१८) साधु को संयम से भ्रष्ट करे, (१९-२१)
ीर्थंकर की, तीर्थंकर प्रणीत धर्म की, आचार्य उपाध्याय की निंदा करे
२२) आचार्य उपाध्याय की भक्ति नहीं करे (२३-२४) बहुसूत्री
नहीं बहुसूत्री तथा तपस्वी नहीं तपस्वी नाम धरावे (२५) वृद्ध—रोगी
तपस्वी-ज्ञानी-नवदीक्षित-इनकी वैयावच्च नहीं करे, (२६) चार
ीर्थ में भेद-फूट डाले (२७) ज्योतिष या वशीकरण आदि मंत्र का
्रयोग करे (२८) देव-मनुष्य-तिर्यंच के अछत्ते काम भोग की तीव्र
अभिलाषा करे, (२९) धर्म के प्रभाव से जो देवता हुए हैं उनकी निंदा
करे, (३०) देवता नहीं आवे और कहे मेरे पास देवता आए, तो महा
मोहनीय कर्म बंधे, ये त्यागने योग्य हैं।

---

* सदुपदेशादि से वैराग्य प्राप्त कराने के निमित्त भोग छुड़ाने को
अंतराय नहीं कही जाती है। यह तो बलात्कार पूर्वक छुड़ाने से संभवता है।

(३१) इकतीस सिद्ध भगवंत के गुण (देखो दूसरा प्रकरण) ये आदरणीय हैं।

(३२) बत्तीस योग संग्रहः–(१) अपने दोष गुरु के सन्मुख प्रकाशे, (२) गुरु भी शिष्यों के दोष किसी को कहे नहीं (३) संकट के समय धर्म में दृढ़ रहे, (४) वांछा रहित तप करे, (५) हित शिक्षण ग्रहण करे, (६) शरीर की शोभा नहीं करे, (७) अज्ञात कुल में गोचरी करे, (८) गुप्त तप करे, (९) समभाव से परिसह सहे, (१०) सरल (निष्कपट) रहे (११–१७) सयम, सम्यक्त्व, चित्तकी समाधि, पंचाचार, विनय, वैराग्य सहित सदा प्रवर्ते (१८) धर्म तप में वीर्य फोड़े (१९) आत्मा का निधान की तरह यत्न करे (२०) शिथिल यानी ढीले प्रणाम नहीं करे २१ संवर को पुष्ट करे (२२) अपनी आत्मा के अवगुण दूर करे (२३) व्रत प्रत्याख्यान की सदा वृद्धि करे (२४) कायोत्सर्ग करे, और उपाधि का अहंकार नहीं करे, (२५) पांच प्रमाद छोड़े (२६) थोड़ा बोले, और यथा काल क्रिया करे (२७) धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान ध्यावे (२८) सदा शुभ योग रखे (२९) मरणान्ती वेदना होने पर मन स्थिर करे (३०) सर्व काम भोग त्यागे (३१) आलोचना निंदनाकर निशल्य होवे, (३२) संलेषणा युक्त समाधि मरण करे। ये आदरने योग्य हैं।

(३३) तेंतीस अशातना-(१) अरिहंत, (२) सिद्ध, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) साधु, (६) साध्वी, (७) श्रावक (८) श्राविका (९) देवता (१०) देवी (११) इसलोक (१२) परलोक (१३) केवल ज्ञानी (१४) केवली प्रणीत–धर्म (१५) देव तथा मनुष्य (१६) सब जीव (१७) काल (१८) सूत्र (१९) सूत्र की वांचना देने वालोंकी। ये उन्नीस और चौदह ज्ञान के अतिचार—यों ३३ अशातना त्यागने योग्य हैं।

यह एक बोल से लगाकर तेंतीस बोल कहे। इनमें से जानने योग्य बोल जाने नहीं, आदरने योग्य आदरे नहीं, और छोड़ने योग्य छोड़े नहीं होवें सो पाप निष्फल होवे।

पाठ ५५ वाँ " नमो चौवीसाए "

नमो चउ वीसाए, तित्थयराण, उसभाइ महावीर पजवसाणं, इणमेव निग्गंथं पावयण-सच्चं, अणुत्तरं, केवलीयं, पड़िपुन्नं, नेयाऊयं, संसुद्र, सल्लकत्ताणं, सिद्धि मग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाण मग्ग, निव्वाण मग्ग, अवितहमविसुद्ध सव्व दुःख पहीण मग्ग, इत्थं ठिया जीवा सिझन्ति, बुझति, मुच्चति, परिनिव्वायंति, सव्व दु.खाणमंत करति। त धम्म-सद्दहामि, पतियामि, रोयामि, फासेमि, पालेमि, अणु पालेमि। तं धम्मं-सदहंतो, पतियंतो, रोयतो, फासतो, पालंतो, अणुपालंतो, तस्स धम्मस्स केवलीपन्नतस्स अब्भुठिओमि, आराहणाय विरओमि विराहणाय, असंजमं परियाणामि, सजम उवसंपज्जामि, अबंभ परियाणामि, बंभ उवसंपज्जामि, अकप्पं परियाणामि, कप्प उवसपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि, णाणं उवसंपज्जामि, अकिरिय परियाणामि, किरिय उव संपज्जामि, मिछत्त परियाणामि, समत्त उव संपज्जामि, अबोहि परियाणामि, बोहिय उवसपज्जामि, अमग्ग परियाणामि, मग्ग उवसपज्जामि, ज सभरामि, ज च न सभरामि, जं पड़िक्कमामि, जंच न पड़िक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसीयस्स अइयारस्स पड़िक्कमामि, समणेहिं, संजए, विरए पड़िहए पच्चखाए पावकम्मो। अनियाणे दिट्ठी सपन्नो, माया मोसं विवज्जओ। अढाइएसु दिवसमुद्देसु पन्नरस्स कम्मभूमिसु जावती केइ साहु रयहरण गुच्छग पड़िगहं धारा, पञ्च महाव्वय धारा, अठारस सहस्स सिलंग रथ धाग, अक्खय आयार चरिता, ते सव्वे सिरसा मणसा मथयेण वंदामि।

—खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा वि खमंतु मे।
मित्ति मे सव्व भूएसु, वेर मझ न केणइ ॥ १ ॥
एवमहं आलोइय, निंदियं गरिहय दुगछिय।
सव्व तिविहेण पडिकतो वंदामि जिण चउवीस ॥ २ ॥

भावार्थ—श्री ऋषभ देवजी आदि चौवीस तीर्थंकरों को सविनय हस्तांजलि युक्त-अभिवंदना युक्त प्रार्थना करता हूं कि-हे नाथ ! आप जैसे निर्ग्रन्थ का पूर्ण ज्ञान की सत्ता से बताया हुआ सर्वोत्तम मार्ग, सत्य न्याय नीति से भरपूर है, शुद्ध है, भ्रम रहित स्वतः सिद्ध है, कर्म से मुक्त करके परम शीतली भूत करने वाला है, इस मार्ग में प्रवर्तने वालों

के सब दुःख का नाश होता है, सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं, लोकालोक के स्वरूप को जानते हैं, कर्म के बन्धन से छूटते हैं, शीतली भूत होते हैं, ऐसा जानकर मै भी बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा से इस धर्म को पक्की आस्था से श्रद्धता हूं, प्रतीत करता हूं, रुचि रखता हूं, तीनों ही योग से स्पर्शता हूं, पालता हूं, विशेष शुद्ध पालता हूं, तैसे ही अहो मुमुक्षु जनो ! तुम भी इस धर्म को श्रद्धो, प्रतीत करो, रुचि युक्त पालो, विशेष शुद्ध पालो। यह धर्म पालने का मेरा प्रयास सफल होने की इच्छा से—आश्रव को त्याग कर संवर ग्रहण करता हूं, कुशील को त्याग शील ग्रहण करता हूं, अकल्पनीक पदार्थों को त्याग कल्पनीक ग्रहण करता हूं, अज्ञानता को छोड़ ज्ञान ग्रहण करता हूं, दुष्कृत्य को छोड़ सुकृत्य करूंगा, मिथ्या श्रद्धा छोड़ सम्यक्त्व की श्रद्धा रखूंगा, कुबोध को छोड़ सुबोध ग्रहण करूंगा, और कुमार्ग को छोड़ मोक्ष मार्ग में प्रवर्तूंगा, इत्यादि जो मुझे याद आया, अथवा नहीं आया, और जिसका प्रायश्चित मैंने किया, अथवा नहीं किया, उन सर्व अतिचारों से अब प्रायश्चित ले निवर्तताहूं। उपरोक्त सिद्ध मार्ग को ग्रहण कर प्रवर्तने वाले सम भावी मुनिवर, संसार से मुक्त होने के लिये संवर क्रिया करके पाप के अव्रत को रोकते हैं, और नियाणा तथा कपट रहित सम्यक्त्व पूर्वक जिनाज्ञानुसार प्रवृत्ति करके अढाई द्वीप के पंदरह कर्म भूमि क्षेत्रों में विचरते हैं। जो रजोहरण, पात्र, गुच्छ, मुहपति इत्यादि नियमित धर्म उपकरण रखते हैं, पंच महाव्रत धारी, अठारह हजार शील व्रत रूप रथके वहन करने वाले धोरी समान हैं, निरतिचार चारित्र पालते हैं, उन सबको त्रिकरण शुद्धि से वंदना कर कृतज्ञ होताहूं। ऐसाही होवो। खमाताहूं सब जीवों ! मेरा अपराध माफ करना, सबके साथ मेरा मैत्री भाव है। किंचितही वैर भाव किसी के साथ नहीं है, ऐसी मै आलोचना—निंदा—गर्हणा करके—पापसे निवृत होताहूं, तथा चौवीसही तीर्थंकर गुरु—महाराज को वंदना करता हूं।

यहा ११ वें पाठमें कहा हुवा खमासमणा विधि युक्त कहना। फिर अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु जी के गुणानुवाद १—२—३—५—६ में प्रकरण में किये हैं, तदनुसार यथा शक्ति कह कर अलग २ वंदना नमस्कार करना।

पाठ ५६ वाँ " आयरिय "

आयरिय उवझाए सीसे साहमिए कुल गणे अ ॥
जेमे के असाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समण संघस्स भगवओ अंजलि करिय सीसे ॥
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीव रासिस्स भावओ धम्म निहिय नियचितो ॥
सव्वं समाइत्ता खमामि सव्वस्स अहयपि ॥ ३ ॥

भावार्थ—आचार्य ' उपाध्याय ' शिष्य ' साधर्मी ' कुल गण इन सबका अविनय किया हो तो त्रिविध त्रिविध क्षमाता हूँ। सर्व संघ को हाथ जोड़ मस्तक पर चढा कर नम्र भूत हो सर्व अपराध की क्षमा चाहता हूं। और मै सबके किये अपराधों को क्षमाता हूं। एकेंद्री आदि जीवराशि का किया अपराध आंतरिक भाव से क्षमाकर, सब जीवों पर समभाव धारण करता हूं।

पाठ ५७ वॉ–' अढाई द्वीप ,

अढाई द्वीप एवं पदरह क्षेत्र के अन्दर और बाहिर, श्रावक और श्राविका दान देवें, शील पालें, तपस्या करें, भावना भावें, संवर करें, सामायिक करें, पोसह करें, पड़िक्कमणा करें, तीन मनोरथ चौदह नियम चितवें, एक व्रत धारी यावत् बारह व्रत धारी, जो भगवंत की आज्ञा में विचरें, मेरे से मोटे को हाथ जोड़ पगें लग क्षमाता हूं छोटे को बारम्बार क्षमाता हू।

यह उपरोक्त ५७ वा पाठ श्रावक ही बोलते हैं

पाठ ५८ वॉ " जीवयोनि "

सात लाख पृथिवी काय, सात लाख अपकाय सात लाख तेउ, काय, सात लाख वाउकाय, दश लाख प्रत्येक वनस्पति काय, चौदह लाख साधारण वनस्पति काय, दो लाख बेंद्री–दोलाख तेंद्री, दो लाख चौरिंद्री, चार लाख तिर्यंच पंचेन्द्रि, चार लाख नारकी, चार लाख देवता चौदह लाख मनुष्य-यों चौरासी लक्ष जीवा जोनी का छेदन भेदन विराधना करी होतो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

पाठ ५९ वाँ " कुल कोड़ी "

पृथिवी काय की बारह लाख क्रोड़, अपकायकी सात लाख क्रोड़, तेउकाय की सात लाख क्रोड़, वाउकाय की सात लाख क्रोड़, वनस्पति की अठाईस लाख क्रोड़, बेंद्री की सात लाख क्रोड़, तेंद्री की आठ लाख क्रोड़, चौरिंद्री की नवलाख क्रोड़, जलचर की साढे बारह लाख क्रोड़, थलचर की दश लाख क्रोड़, खेचर की बारह लाख क्रोड़ उरपर की दश लाख क्रोड़, भुजपर की नव लाख क्रोड़, नरक की पचीस लाख क्रोड़, देवता की छब्बीस लाख क्रोड़, मनुष्य की बारह लाख क्रोड़, सर्व एक क्रोड़ साढे सताणवें लाख क्रोड़, जीवों के कुलका छेदन भेदन विराधना की होतो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

पाठ ६० वाँ " क्षमापना "

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥ १ ॥
एव महं आलोइअ, निंदिअ गरिहिअ दुगंछिअं ।
सव्व तिविहेण पड़िक्कतो, वंदामि जिण चउवीसं ॥ २ ॥

यहां तक चोथा आवश्यक है ।

पंचम-आवश्यक-' काउसग्ग '

पाठ ६१ वाँ " प्रायश्चित "

दैवसिक प्रायश्चित्त विशोधनार्थं करेमि काउसग्ग ।

दिनमें लगे हुये पापों की निवृत्ति के लिये काउसग्ग करता हूं ।

यहां ८ वा पाठ ' **नवकार महा मंत्र का** ' ९ वा सामायिक का १० वा ' **इच्छामि ठामि का** ' और फिर ३ रा पाठ ' **तसुत्तरी** ' का कह कर काउससग्ग करना । काउसग्ग में ४ था पाठ ' **लोगस्स** ' का ४ बार कहना । पुनः काउसग्ग समाप्त कर एक बार और भी ४ था पाठ ' **लोगस्स** ' का संपूर्ण कहना । फिर ११ वां पाठ ' **खमा समणा** ' का दो बार पूर्वोक्त विधि से कहना । यह पांचवां आवश्यक हुआ ।

छट्ठा आवश्यक 'पच्चखाण'

पूर्वोक्त पांच आवश्यक की विधि से आत्मा को पाप मार्ग से हटाकर शुद्ध किया। अब आगामी काल का पाप रोकने के लिये छठे आवश्यक में पच्चखाण करे।

पाठ ६२ वाँ "पच्चखाण"

गंठीसहि, मुठीसहि, नवकारसी, पोरसी, साढ पोरसी; अपनी अपनी धारणा प्रमाणे तिविहंपि चउविहपि आहार, असणं, पाणं खाइमं, साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरा गारेणं, सव्व समाहि वतिआगारेण वोसिरे ॥

भावार्थ—अमुक वस्त्र की गाँठ लगी रहे वहां तक, मुट्ठी भीड़ी रहे वहां तक, नवकारसी नवकार नहीं गिणूं वहां तक तथा कच्ची दो घड़ी दिन आवे वहां तक, पहर दिन आवे वहां तक, डेढ पहर दिन आवे वहांतक, (इस उपरांत इच्छा होवे वहां तक,) जो पानी पीना होवे तो तीन आहारका त्याग करे, * और पानी नहीं पीना होवे तो चारही आहार का त्याग करे, इसमें चार आगार रहते हैं:—१ पच्चखाण का भान नहीं रहने से कोई वस्तु मुखमें डालदे, २ काम करते समय अन्न कण या जल बिंदु उछल कर मुख में पड़जाय परन्तु याद आजाय तो तुरन्त थूक देवे। ३ पच्चखाण से भी अधिक लाभ का कोई काम होवेतो उसके लिए गुरू महाराज या संघ के हुक्म से आहार करले ४ रोगादि कारण से अत्यन्त असमाधि होजाय, और बेभान में कोई वस्तु भोग लेवे। इन चार कारणो से पच्चखाण का भंग न होवे।

पाठ ६३ वाँ "समाप्ति"

१ सामायिक, २ चौवीसत्था, ३ वंदणा, ४ पडिक्कमणा, ५ काउस्सग्ग, ६ पच्चखाण, ये छः आवश्यक पूर्ण हुआ। इसमें सामायिक वर्तमान काल की हुई, प्रतिक्रमण गये काल का हुआ। पच्चखाण आवते काल का हुआ, जिसमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार लगा होवे तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

---

* यह तिविहार फक्त दिनका किया जाता है रातको तो चौविहार ही होता है।

सुखसे निर्विघ्न छःही आवश्यक की समाप्ति हुई, इसलिए ३ रा पाठ ' नमुत्थुणं ' का दो वार पूर्वोक्त विधि से कहे, फिर सब साधू जी महाराज को आर्याजीको अनुक्रम से ' तिखुत्ता ' के पाठसे विधियुक्त वंदना करे, और सब स्वधर्मीयों से क्षमत क्षमावना करे,

इति छः आवश्यक समाप्त,

-:०:-सूचना-:०:-

ये आवश्यक पांच तरह किये जाते हैं:-(१) जो चार पहर दिन में लगे पापों की निवृति के लिये शाम को आवश्यक किया जाता है, उसे " देवसिय " प्रतिक्रमण कहते हैं। इसमें जहां मिच्छामि दुक्कडं शब्द आता है, वहां ' देवसी सम्बन्धी तस्स मिच्छामि दुक्कडं ' कहना चाहिये (२) चार प्रहर रात्रि के पापों की निवृति के लिये जो प्रातः काल में आवश्यक किया जाता है, उसे रायसी प्रतिक्रमण कहते हैं। इसमें छही आवश्यक में जहां ' देवसी ' शब्द आता है वहां ' रायसी ' बोलना चाहिये। और रायसी सम्बन्धी मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिये। देवसी और रायसी दोनों प्रतिक्रमणों में के पंचम आवश्यक में चार लोगस्स का काउसग्ग किया जाता है। ३ पन्दरह या चौदह दिन के अनन्तर जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे पक्खी प्रतिक्रमण कहते हैं। इसमें देवसी शब्द के साथ " पक्खी " शब्द लगाया जाता है, और ' देवसी पक्खी सम्बन्धी मिच्छामि दुक्कडं ' दिया जाता है। और पंचम आवश्यक में बारह बारह ' लोगस्स ' का काउसग्ग करते हैं (४) चार चार महिने के अनन्तर अर्थात् आषाढी पूर्णिमा को, कार्तिक पूर्णिमा को, और फाल्गुन पूर्णिमा को जो प्रतिक्रमण करते हैं, वह ' चौमासी ' प्रतिक्रमण कहा जाता है। इन तीन पूर्णिमाओं को सन्ध्या समय प्रथम देवसी प्रतिक्रमण करके पांच आवश्यक पूर्ण करना, अनन्तर चौमासी प्रतिक्रमण की आज्ञा लेकर पहिले आवश्यक से छः ही आवश्यक पूरे किये जाते हैं। देवसी के स्थान में चौमासी शब्द कहा जाता है और ' चौमासी सम्बन्धी मिच्छामि दुक्कडं ' दिया जाता है। और पचम आवश्यक में २० ' लोगस्स का ' काउसग्ग करे। (५) बारह महीने

में भाद्रव शुक्ल पंचमी को जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'सवत्सरी प्रतिक्रमण कहा जाता है। चौमासी की तरह इसमें भी दो प्रतिक्रमण किये जाते हैं। अंतर केवल 'संवत्सरी सम्बन्धी मिच्छामि दुक्कडं' देना चाहिये। और चालीस लोगस्स का काउसग्ग करना चाहिये।

इन छ. आवश्यक की विशेष विधि, अपने अपने गुरु एवं संप्रदाय के अनुसार करनी चाहिये।

इस प्रकार यथा विधि पापों के प्रति पश्चाताप से युक्त शुद्ध भाव से पांच ही प्रतिक्रमण करने से पूर्वकृत पाप शिथिल (ढीला) हो जाता है, अपने कृत्याकृत्य का ज्ञाता होकर मनुष्य कर्तव्य परायण बनता है, अनेक पाप कार्यों में प्रवृत्त होते मनको रोक सकता है, चित्तकी शुद्धि होती है–जिससे तीनों लोकका सुधार होता है। शुद्ध चित्त से यथा विधि आवश्यक करने वाला उत्कृष्ट पन्द्रह भव में मोक्ष पाता है, और उत्कृष्ट रसायण आने से तीर्थंकर गौत्र की उपार्जना करके तीसरे भव में तीर्थंकर–परमात्मा बनता है।

निरति चार व्रत वालों को ही प्रतिक्रमण शुद्ध होता है, इसलिये व्रतों के अतिचार आगे दर्शाने की इच्छा से, इस प्रकरण की समाप्ति करता हूं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "आवश्यक-प्रतिक्रमण" नामक बारहवा प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–तेरहवाँ

"निरतिचार शीलव्रत"

शीलं प्राण भृता कुलोदय कर, शीलं वपोर्भूषणं,
शीलं शौच करं विपद्भयहरं, दौर्गत्य दुःखापहम् ।
शीलं दुर्भगतादि कंद दहनं, चिन्तामणिः प्रार्थि तो,
व्याघ्र व्याल जलां नलादि शमनं, स्वर्गापवर्गप्रदम् ।

भावार्थ—यह शील है, सो कुलका उद्योत करने वाला है-शरीर को विभूषित करने वाला है-पवित्रता का करने वाला विपत्ति और भय का हरने वाला है-दुर्गति और दुःख का नाश करने वाला है-दुर्भाग्यादि का दहन करने वाला है-चिन्तामणि रत्न जैसा इच्छा का पूर्ण करने वाला है-व्याघ्र, सर्प, जल और अनल (अग्नि) आदिक उपसर्गों को शांत करने वाला है ।

शील शब्द अनेक शुभ अर्थों का वाचक है । जैसे:-सदाचार को शील कहते हैं, शीतल स्वभाव को शील कहते हैं, और शीलका मुख्य अर्थ ब्रह्मचर्य भी है। ब्रह्मनाम सत्‌चित आनन्द मय परमात्मा का है, चर्य नाम आचरण-अंगीकार करने का है, अर्थात् परमात्म पद प्राप्त करने का मुख्य उपाय शील यानी ब्रह्मचर्य ही है ।

इस ब्रह्मचर्य व्रत को, काम रूप महा शत्रु के सर्वथा पराजय करने वाले महा शक्ति के धारक वीर पुरुष ही आराध सकते हैं। कायर एवं कामी जन की क्या ताक़त कि इसकी आराधना कर सकें।

अब काम शत्रु कैसा प्रबल है, सो कहते हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में काम शत्रु के दश वेग कहे हैं—

" काम के १० वेग "

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टु मिच्छति।
तृतीये दीर्घ निश्वासा श्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥
पंचमे दह्यते गात्र षष्ठे भुक्त न रोचते।
सप्तमे स्यान्महा मूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥
नवमे प्राण संदेहो दशमे मृत्युराप्यते।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्वं न पश्यति ॥

अर्थात्—काम विकार उत्पन्न होते ही:–१ चिंता होती है, कि स्त्री का मिलाप कैसे होवे, २ फिर उसे देखने की अति उत्कंठा होती है, ३ दीर्घ निश्वास लेता है–हाय हाय करता है ४ संयोग नहीं मिलने से ज्वरादि रोग की प्राप्ति होवे, ५ शरीर जलनेसा लगता है, ६ दुर्बल होवे, किया भोजन नहीं रुचे ७ मूर्च्छा आवे, अचेत होवे, ८ बुद्धि की विकलता होवे, पागल होवे, यद्वा तद्वा प्रलाप करे, ९ जीते रहने का ही भरोसा न रहे, १० मरण भी निपजे। ये काम के दश वेग कहे हैं। इनमें से एक वेगमें भी फँसा हुआ प्राणी सुध बुध भूल जाता है, तो जिनको दशों ही वेग प्राप्त होवें उनकी क्या दशा ? अर्थात् मृत्यु से ही गांठ पड़े ! ऐसा प्रबल काम शत्रु है।

" कामशत्रु विजय के लिये सद्बोध "

(१) कामाग्नि बड़ी प्रबल होती है, कामी को यदि गहरे समुद्र में भी डूबो देवें तोभी उसकी आत्मा शीतल नहीं होती है। कामाग्नि प्रथम हृदय से प्रज्वलित होती है, फिर सब शरीर में फैल जाती है, बुद्धि को दग्ध कर डालती है, और शरीर को भी भस्म करती हुई काला बना देती है।

(२) काम रूप जहर बड़ा प्रबल है, क्योंकि और जहर तो खाने से व्याप्त होते हैं और यह काम रूप जहर स्मरण मात्र से व्याप्त हो जाता है। और जहर का तो औषध उपचार भी होता है, इसका तो कोई औषध भी नहीं ! और जहर फक्त एकही भवमें प्राण हरण करते हैं, और यह तो अनंती बार मार करभी पीछा नहीं छोड़ता है !

दर्शनात् हरते चित्त, स्पर्शनात् हरते बलम् ।
सभोगात् हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ॥

भावार्थ—नारी का दर्शन करने से चित्त का हरण होता है, स्पर्शकरने से बलकी हानि होती है, और भोग करने से वीर्य की हानि होती है, इस वास्ते नारी को प्रत्यक्ष राक्षसी-समान ही माना गया है ।

(३) यह काम रूप कंटक बड़ाही तीक्ष्ण और दुरुद्धर है। चुभते ही आरपार भिद जाता है। और निकलना बड़ा मुशकिल होजाता है। सदा चुभता ही रहता है, जिससे कामी का लक्ष्य सदा उधर ही लगा रहता है।

(४) कामांध मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा धन सुख यशः और शरीर इनके नाश की तरफ जरा भी लक्ष्य नहीं देता है, और समय पर इच्छित संयोग नहीं मिलने से ज़हर शस्त्र आदि से अपनी मृत्यु भी कर लेता है।

(५) इस काम ठगने चतुर को मूर्ख, क्षमावान को क्रोधी, शूरवीर को कायर, और गुरूको लघु बना दिया है।

(६) काम रूप मद में मदमस्त मनुष्य सासू, पुत्रवधू, भवजाई, विधवा, गुरुपत्नी, और माता भगनी के साथ भी व्यभिचार करने से नहीं चूकता है। योग्यायोग्य का विलकुल ही विचार नहीं करता है,

(७) जैसे फूटे घड़े में से पाणी निकल जाता है, तैसे ही काम बाण से विद्ध हृदय में से भी—सत्य, शील, दया, क्षमा, संयम, तप इत्यादि सब सद्गुण पलायमान हो जाते हैं !

(८) अहो इस काम की प्रबलता की ओर जरा लक्ष्य दीजिये। इसने ब्रह्मा के पांचवां मुख गर्दभ का बनवाया। शंकर के लिंग का पतन कराया, पार्वती के आगे नचाया! माधव को गोपियों के आगे नचाया।

इन्द्र के भगन्दर का रोग किया ! चन्द्र को कलंकित किया ! इत्यादि बड़े बड़े देवों की विडम्बना करने में कुछ भी कसर नहीं रखी ? ऐसे लेख उनको परमेश्वर मानने वालों के शास्त्रो में ही लिखे हुये हैं। और लंकाधीश रावण की भी महा विडंबना हुई, तथा अबभी उसके नाम से कर रहे हैं। * ऐसे ऐसे कितनेही उदाहरण ग्रन्थों में हैं।

(९) और इस लोक में भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि–काम लुब्ध की इज्जत जाती है, फजीहत होती है, और गरमी आदि अनेक कुरोगों से मड़ मड़ कर अकाल ही मृत्यु होजाती है। अंत में नर्कादि दुर्गति में जाता है, जहां यमराज लोहे की गरमागरम पूतली के साथ आलिंगन कराते हैं। यों यह काम शत्रु दोनों भवों में दुःख दाता होता है।

(१०) अहो शौचाचारियों, पवित्र आत्माओ ! जरा विचार तो करो, कि जिस वस्तु को जगत् में अपवित्र गिनते हैं, जिन वस्तु की दुगंछा करते हैं, कामांध उसही को अमृत की तरह (अधरामृत) आस्वादन करते हैं। प्रत्यक्ष देखिये कि शरीर किन किन पदार्थों से निर्मित हुआ है, जिसे देखकर मोह उत्पन्न होता है। प्रथम इसकी उत्पत्ति की ओर दृष्टि दीजिये–माता के रुधिर और पिता के शुक्र का सयोग ही शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण है। और उदर में विष्टा मूत्र के स्थान में ही वृद्धि पाकर रक्त के नाले में वहता हुआ वाहिर पड़ा। और रक्तादि के माफिक ही शरीराश्रय से प्राप्त हुआ माता का दुग्ध पान, एवं विष्टा आदि अपवित्र पदार्थो के खाद से उत्पन्न हुआ अन्न शाक,

* नायकनी रासी, यह वागुरीन भासी,
खासी लिए हासी फासी ताके फान मे न परना।
पारधी अनग फिर, मोहन धनुष धरे,
पैन नेन वान खरे, ताते तोही डरना।
कुचहै पहाड़ हार, नदी रोम वन,
कीसन अमृत पन, बैन मुख झरना।
अहो मेरे मन मृग, खोल देख ज्ञान दृग,
येही बन छोरी, कोउ और टोर चरना।

आदि के भक्षण से वृद्धि पाया। फिर भी इसे पवित्र कौन से कारण से गिनते हैं और इसे देखकर मोहित होते हैं।

(११) और भी जरा आंख मींच कर देखो कि–यह शरीर कौन कौन से अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। कान में मली, आंख में गीड, नाक में सेडा, मुखमें खेंखार–थूक, पेट में विष्टा मूत्र, और शरीर हाड़, मांस, रक्त, राद, नशाजाल आदि से भरा हुआ है। गोरे तथा काले चमड़े ने सब दुर्गुण ढक रखे हैं, जरा चमड़ा दूर कर शरीर का निरीक्षण करो, कि–यह कैसा मनोहर लगता है ? * और चमड़ा है सो भी अपवित्र ही है, क्योंकि चमड़े के टुकड़े को कदापि पवित्र स्थान पर नहीं रखते हैं, और चमड़े के व्यवसायी चमार को भी हलकी जाति का ही गिनते हैं। फिर चमड़े पर प्रीति करने वाले–किस प्रकार पवित्र हो सकते हैं।

(१२) और भी इस संसार में जो वस्तु अपवित्र होती हैं, सो विशेष कर इस शरीर के सम्बन्ध से ही होती है। उमदा भोजन जहां तक इस शरीर के भोगोपभोग में नहीं आता है वहां तक ही मनोहर दीखता है, शरीरसम्बन्ध होने पर तो विष्टा में परिणत होकर दुर्गंधित एवं कुरूप होजाता है, तब उसे देखकर वही भोक्ता भी थूकने लग जाता है। ऐसे ही वस्त्राभूषण की भी आब जो पहिले होती है, वह शरीर सम्बन्ध हुये पीछे नहीं रहती है। ऐसा यह खराब शरीर है। फिर इसके सम्बन्ध से प्रसन्नता कैसे उत्पन्न होती है।

(१३) कामान्ध व्यक्ति श्वान के समान अज्ञानी होता है। जैसे क्षुधा पीड़ित श्वान सूखे हड्डी के टुकड़े को चिगलता है और उसकी

---

* इक्किकगुली वाही, छणवादी होती जाणु मणुयाणे।
आवसेसय सरीर रोया, भणु कितिया भणिया ॥ ३७ ॥

मनुष्य के एक अगुल भर जितने शरीर में ९६ रोग है ! तो सब शरीर में कितने रोग भरे होंगे ! इसका हिसाब आपही कीजिये और मिथ्या ममत्व छोड़ दीजिये। —भाव पाहुड़

तीक्ष्ण कोर के द्वारा तालू फूटने से रक्त श्राव होता है, जिसके स्वाद में लुब्ध हो अधिकाधिक चिगलता है, जिससे तालु में रोग उत्पन्न होकर कीड़े पड़– जाते हैं, फिर मारा मारा फिरता है, महा संकट से प्राण त्यागता है। तैसेही अज्ञानी अपने शुक्र का क्षय करके आनद मानते हैं, और फिर हीन सत्व के धणी होकर गरमी के अनेक रोगों से सड़ सड़ के कुत्ते की मोत से मरजाते हैं। जो उस शरीर को प्राण प्यारे करके बुलाते थे, वेही उस पर थूकने लग जाते हैं, दूर दूर करते हैं, देखिये, काम शत्रु कामी की कैसी विडम्बना करता है।

(१४) जैसे सन्ध्याराग, पानी का बुद्बुदा, इन्द्र धनुष आदि पदार्थ क्षणिक शोभा दिखाकर अदृष्ट होजाते हैं, जैसे घाणी में पिला हुआ तिल निःसार होजाता है, तैसे ही यौवन की लीला से ललित शरीर की चटक–मटक को नष्ट करके सत्व हीन निरुपयोगी असार बनाने वाला, यह दुष्ट शत्रु काम ही है।

(१५)–मुत्ता दाम तग कज्जय, भंज्जय मुढाणाण जे रहिया ॥
इम अत्तरफल सुह लुद्दो, णर आयुदिनमुत्ताफलेहओ ॥ ४९ ॥

अर्थात्—जैसे अज्ञानी बालक सूतके धागे के लिये मोती के हार को तोड़ डालता है, तैसे ही मूढ नर विषय भोग में लुब्ध होकर दिनरात (आयुष्य) रूप मोती का नाश करते हैं।

(१६) असुर सुर नराणा यो न भोगेन तृप्तः,
कथमपि मनुजाना तस्य भोगेन तृप्तिः ।
जल निधि जल पानै र्यो न पाने न तृप्तः,
तृण शिखरगतास्यस्तम्य पाने स तृप्तः ।

अर्थात्—समुद्र का पानी पीने से भी तृष्णा शांत न हुई, तो क्या तृण के अग्र भाग पर जो औस के पाणी की बूंद है, उसके पानसे शांत होगी ? ऐसेही सागरोपमो के आयुष्य तक देवता सम्बन्धी उत्कृष्ट भोग भोगने से ही तृप्ति न हुई तो इन क्षणिक मनुष्य के भोगों से क्या तृप्ति होगी ! अर्थात् भोग भोगने से तृप्ति कदापि नहीं होती है, परन्तु भोगों का त्याग कर शांतात्मा बनने से ही तृप्ति होती है।

अहो सुखेच्छु जनों ! उपरोक्त अनेक दृष्टांतो से इस काम शत्रुकी दुष्टता का अच्छी तरह ख्याल कीजिये, और अपनी आत्मा के हितेच्छु बनकर बाल्य काल से ही आत्म संयम कीजिये अर्थात् इस शरीर में जो राजा तुल्य वीर्य है—जिसकी सहायता से हमने ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, भक्ति, भाव आदि अनेक आत्म उद्धार के काम कर सकते हैं; उस वीर्य को विषय सेवन जैसे नीच कर्तव्य में नष्ट करके आत्म द्रोही पना नहीं करना चाहिये। यदि बाल्य काल से न बन सके तो जब से परिबोध होजाय तभी से आत्म संयम करना, ब्रह्मचर्य धारण करना, शील ब्रती होना चाहिये।

"शीलकी ९ बाड़"

जैसे किसान खेत की रक्षा के वास्ते कांटों की बाड़ करता है, वैसे ब्रह्मचारी भी अपने शील व्रत की रक्षा के वास्ते नव बाड़ करते हैं।

आल ओत्थी जणाइणो, थी कहाय मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तसिन्दिय दरिसिणं ॥११॥
कुइय रुइयं गीइयं, सह भुत्ता सियाणिय।
पाणीय भत्त पाणय, अइ मायं पाण भोयणं ॥१२॥
गत्त भूसण मिट्ठच, काम भोगाय दुज्जया।
नर सत्त गवेसिस्स, विस तालउडं जहा ॥१३॥

अर्थात्—१ पहिली बाड़ में ब्रह्मचारी जहां स्त्री, पशु, नपुंसक रहते होवें उस जगह में रहे नहीं। जो कदाचित् रहेतो, जैसे बिल्ली वाले मकान में रहने वाले मूषक की घात होती है, तैसे शील की घात होवे २ दूसरी बाड़ में, स्त्री के शृंगार-हाव-भाव की कथा करे नहीं, यदि करे तो, जैसे-इमली आदि खटाई का नाम लेने से मुख में से पाणी छुटता है, तैसे मन विचलित होजाता है। ३ तीसरी बाड़ में, स्त्री-पुरुष एक आसन पर बैठें नहीं, और बैठें तो, जैसे-भूरे कोहले के फलसे आटे का नाश होवे, त्यों शील का नाश होवे। ४ चौथी बाड़ में, ब्रह्मचारी, स्त्री के अङ्गोपांग देखे नहीं, देखे तो, जैसे कच्ची आंख वाला सूर्य की

तरफ देखे तो उसकीआंख का विनाश होवे, त्यों शील का नाश होवे। ५ पांचमी बाड़ में, ब्रह्मचारी, जहां टट्टी भींत पड़दा आदि के अंतर में स्त्री पुरुष संसार की क्रीड़ा करते होवें और कान में शब्द आते होवें, वहां रहे नहीं, अगर रहे तो जैसे घी का घड़ा अग्नि के पास रहने से पिघलता है, त्यों मन पिघल कर शील का नाश होवे ६ छट्ठी बाड़ में ब्रह्मचारी पहिले करी हुई क्रीड़ा को याद करे नहीं। अगर करे तो जैसे-परदेशी छाछ पीकर परदेश गये, और छः महीने पीछे आये, तब बुढ्ढीने कहा कि तुम छाछ पीकर गये, पीछे उस छाछ में सांप निकलाथा! इतना सुनतेही उनको सांप का जहर चढ गया और वे मर गये! तैसे पूर्व क्रीड़ा के संभारने से ब्रह्मचर्य का नाश होवे, ७ सातमी बाड़ में ब्रह्मचारी, नित्य प्रति सरस एवं पुष्ट आहार करे नहीं। अगर करेतो जैसे-सन्नि पात के रोगी को दूध सक्कर का आहार आयुष्य का नाश कारी होता है त्यों शीलका नाश होवे ८ आठमी बाड़ में ब्रह्मचारी भूखकी मर्यादा उपरांत दबा दबाकर आहार करे नहीं। अगर करे तो जैसे सेर भर खीचड़ी पकाने वाली हांडी में सवा सेर खीचड़ी पकाने से हांडी फूट जाती है त्यों ब्रह्मचर्य नष्ट होवे ९ नवमी बाड में ब्रह्मचारी, शरीर की विभूषा (शृंगार) करे नहीं। अगर करे तो जैसे-गवांर के हाथ में रत्न नहीं टिके, त्यों शील रत्न नहीं रहे।

इन नव बाड़ में से एक भी बाड़ का भंग करने से, जैसे तालपुट विषके भक्षण से मृत्यु होती है, तैसे ही शील व्रत का नाश होवे। ऐसा जानकर ब्रह्मचारी, नवबाड़ का और शब्द रूप गंध रस स्पर्श की लुब्धता का त्याग रूप दशवें कोट का पक्का बंदोबस्त करके ब्रह्मचर्य व्रत पालते हैं।

"शील व्रत पालने का फल"

इस तरह शुद्ध शील व्रत का पालन करने से दोनों भवों में अनेक महा लाभों की प्राप्ति होती है। द्रव्य लाभतो-रूप, तेज, पराक्रम, नीरोगता, सुसंस्थान, क्रान्ति, बुद्धि, शौर्यता, सुख इत्यादि अनेक शारीरिक संपत्ति की वृद्धि होती है। और ब्रह्मचारी पर दूसरे के किये हुवे कामण टूमण मूठ इत्यादि उपद्रव नहीं चलते हैं। जहर अमृत जैसा होता है।

अग्नि का शीतल पानी, सर्प की फूल माला, सूली का सिंहासन, सिंह का स्याल, और जंगल में मंगल हो जाते हैं। महा सकट भी शील के प्रभाव से कौतुक जैसा हो जाता है।

—देव दाणव गन्धव्वा जक्ख राक्खस किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति ते ॥ १६ ॥

—उत्तराध्ययन अ० १६

अर्थात्—शीलवंत पुरुष, देव दानव गंधर्व नरेन्द्र सुरेन्द्र के पूजनीय होते हैं। इत्यादि अनेक द्रव्य लाभ होते हैं।

और भाव लाभ यह होता है कि महा मोह के कारण, महाघात के स्थान एवं महापाप के गृह कुशील से अपनी आत्मा का बचाव हुआ, जिससे समय समय पर अनंत कर्म वर्गणा की निर्जरा होने लगी—पूर्वोपार्जित कर्म का क्षय होने लगा—शांत, शीतल, निर्विकार, निर्मोह प्रवृत्ति में रमण करने से तथा अनंत ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण आत्मिक निधि के दृष्टिगत होने से, यहां इस लोक में ही परमानन्द परम सुख का अनुभव होने लगा—पुद्गल परिणति से निवृत्ति पाकर आत्मा अपने आत्मानंद में रमण करने लगा—जिससे महा सुख की प्राप्ति होती है!

ऐसे महान् ब्रह्मचारी पुरुष केवल आयुष्य का या शरीर का निर्वाह करने के लिये ही आहार, वस्त्र, आदि भोगते हैं, परन्तु वे उनकी रुक्ष वृत्ति के कारण बिलकुल भी कर्म बंध के कर्ता नहीं होते हैं। यदि कदाचित् पुण्य की वृद्धि हो जावे तो अहमिन्द्र (अनुत्तर विमान या ग्रैवेक निवासी) देव होते हैं। जो कल्पोत्पन्न होवें तो इन्द्र, सामानिक, व गुरू स्थानीय देव महा ऋद्धि महा सुख के भोक्ता, महा द्रव्य तेज के धारक होवें और वहां से आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य होवें, वहां भी महाऋद्धि महा सुख के भोक्ता होवें, यों थोड़ेही भव करके मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त करें। ब्रह्मचारी को सूत्र में भगवन्त ने 'तं विभीए' कहा है। अर्थात् ब्रह्मचारी को भगवंत जैसा फरमाया है। ऐसा यह ब्रह्मचर्य व्रत परमात्ममार्ग के पथिक को परमात्म पद तक पहुंचा देने में समर्थ है।

–एए य सगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महा सागर मुत्तरित्ता , णइ भवे अविगंगा समाणा ॥ १८ ॥

उत्तराध्ययन अ० ३२

अर्थात् जो सर्व संग का त्याग करके ब्रह्मचारी बने हैं, वे समुद्र जैसे सर्व संसार को तो पार कर गये, मात्र गंगा नदी तिरने के समान थोड़ा ही भय रहा है।

यह तो मात्र शील–ब्रह्मचर्य व्रत आश्रित कुछ वर्णन किया।

" व्रत और अतिचार का स्वरूप "

मूलमें लिखा है कि ' शील वय निर अइयारो ' अर्थात् शील= आचार रूप, वय=व्रत, निर=रहित, अइयारो=अतिचार तात्पर्य यह है कि आचरने–आदरने लायक जो व्रत हैं उनको अतिचार रहित पालना चाहिये, किसी प्रकार का दोष नहीं लगाना चाहिये। अब इसका जरा विस्तार से वर्णन किया जाता है–

आचार या चारित्र के दो भेद हैं, व्यवहार और निश्चय। इसमें प्रथम व्यवहार चारित्र सो सर्व प्राणातिपात विरमण प्रमुख पंच महाव्रत यानी सर्व विरति रूप है। और स्थूल प्राणाति पात विरमण प्रमुख बारह व्रत, देश विरति यानी श्रावक पन है। इसका वर्णन गत प्रकरण में किया जा चुका है, अतः वहां देखें। यह व्यवहार चारित्र है सो सुखका कारण है, अर्थात् व्यवहार चारित्र पालने वाले उत्तम देव गतियों के सुख के तो भोक्ता बन जाते हैं, परन्तु यह मोक्ष का कारण नहीं गिना जाता है। क्योंकि:–व्यवहार चारित्रियों की बाह्य गुणों में रमणता और वांच्छा युक्त क्रिया होती है। और निश्चय चारित्रवंत तो शरीर, इन्द्रिय, विषय, कषाय, योग–इन सबको पर वस्तु जानकर एकांत त्यागने के ही अभिलाषी रहते हैं। जिससे जिनके परिणाम चंचल वृत्ति से निवृत्ति भाव को प्राप्त हो एवं आत्म स्वरूप में तन्मयता रूप हो, तत्वानुभव में स्थिर वृत्ति धारण करते हैं, उसे भाव चारित्र कहते हैं। भाव चारित्र में देश विरति और सर्व विरति में प्रायः अभिन्नता ही है। इसलिये यहां जो

देश विरति के बारह व्रत हैं, उनका निश्चय और व्यवहार नय से कुछ वर्णन करते हैं:—

(१) 'प्राणातिपात विरमण व्रत' सब जीवों को अपनी आत्मा के समान जानकर रक्षा करे, वह व्यवहार दया कही जाती है। और जो अपना जीव अनादि से कर्मों के वश में पड़कर दुःख को प्राप्त होता है, उसकी दया करने को भाव दया कहते हैं। जो जो कर्म बन्ध के कारण हैं उनसे अपनी आत्मा को अलग रखना और जिन जिन सद्गुणों के संयोग से आत्मा को सुखकी प्राप्ति होवे उनको ग्रहण करने के प्रति तत्पर रहना और जो सद्गुणों की प्राप्ति हुई है तथा होरही है, उसकी रक्षा के लिये प्रयत्न शील रहना, अर्थात् मिथ्यात्वादि का नाश करके ज्ञानादि निज गुणों की ओर प्रवृत्त तथा पालक होना सो प्रथम दया व्रत है।

(२) 'मृषा वाद विरमण व्रत' झूठ वचन का कदापि प्रयोग नहीं करना, सो व्यवहार सत्य। और जो पुद्गल मय पर वस्तु है उसे अपनी कहे तथा जीवको अजीव, अजीवको जीव इत्यादि दश या पच्चीस प्रकार के मिथ्या वचन बोले और अपने ऊपर आक्षेप आते देख कर शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का परिवर्तन करदे, इत्यादि को निश्चय मिथ्यावादी कहा जाता है। ब्रह्मव्रत के भंग करने वाले का तो आलोचना तपादि से सुधार हो जाता है परन्तु मिथ्यावादी का सुधार नहीं होता, इस भांति शास्त्र प्रमाणों की जानकारी से जिनकी आत्मा अंतःकरण से कम्पित हो जाती है और उपरोक्त दोषों का त्याग कर यथावसर सत्य, तथ्य, पथ्य, मर्यादा शील बचनोच्चारण करते हैं, सो सत्य व्रत है।

(३) 'अदत्तादान विरमण व्रत' जो दूसरे के धन को मालिक की विना आज्ञा के ग्रहण करे, सो व्यवहार अदत्तादान (चौरी) और जो पांच इन्द्रियों की २३ विषय, और अष्ट कर्म वर्गणा के पुद्गल—इनका ग्रहण करना सो निश्चय चोरी। पुण्य फलकी वांच्छा यानी करणी के फलकी इच्छा करना सो भी निश्चय अदत्तादान गिना जाता है। इससे निवृत्त होकर जो निर्विषय और निष्कर्म वृत्ति से निष्काम क्रिया

की जाती है सो अदत्त व्रत है।

(४) 'मैथुन विरमण व्रत' स्त्री पुरुष के सयोग से निवृत्ति धारण करना सो व्यवहार शील। अंतःकरण से विषय की अभिलाषा का तथा ममत्व तृष्णा का त्याग और वर्ण गंध रस स्पर्श पुद्‌गलों के स्वामित्व का त्याग, अभोगवृत्ति सो निश्चय शील व्रत।

(५) 'परिग्रह परिमाण व्रत' धन, धान्य, द्विपद, भूमि, आभरण इसका त्याग सो व्यवहार निष्परिग्रह। और राग, द्वेष, अज्ञान आदि कर्म बंध के कारण से निवृत्ति अर्थात् पर वस्तु की मूर्छा का अंतःकरण से त्याग सो निश्चय निष्परिग्रह व्रत।

(६) 'दिक् परिमाण व्रत' ऊंची नीची और तिरछी चारों दिशाओं में गमन का परिमाण सो व्यवहार दिक् व्रत और चारों गति में गमन कराने के कारण महा आरंभादि कर्तव्यों का त्याग कर सिद्ध अवस्था की ओर उपादेय वृत्ति होना सो निश्चय दिक् प्रमाण व्रत।

(७) 'भोगोपभोग परिमाण व्रत' एक बार भोगने में आवें उन्हें भोग कहते हैं और बारम्बार भोगने में आवें उन्हें उपभोग। इन दोनों वस्तुओं का परिमाण सो व्यवहार से भोग परिमाण व्रत। और विचारे कि व्यवहार नय से तो कर्म का कर्ता भोक्ता स्वयं जीव है, परन्तु निश्चय नय से कर्म का कर्ता भोक्ता स्वयं कर्म ही है, और आत्मा अनादि काल से परभाव का भोगी होकर परभाव रूप से आठ कर्म का कर्ता हुआ है। उक्त परभाव का त्याग कर, ज्ञानादि गुणों का कर्ता एवं भोक्ता होवे सो निश्चय से भोग परिमाण व्रत।

(८) अनर्थ दंड विरमण व्रत' विना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही हिंसा आदि कर्म करने को अनर्थ दंड कहते हैं। उससे निवृत्ति भाव सो व्यवहार अनर्थ दंड विरमण व्रत। और मिथ्यात्वादि कर्म बन्ध के कारणों में स्वभाव प्रवृत्ति से निवृत्ति करे, और अधर्म मार्ग में योगों की प्रवृत्ति नहीं होने दे सो निश्चय से अनर्थ दंड विरमण व्रत।

(९) 'सामायिक व्रत' त्रियोग को आरंभ कारी प्रवृत्ति से रोके सो व्यवहार सामायिक। और सर्व जीवों की सत्ता एक सी जानकर

समता भाव धारण करे सो निश्चय सामायिक।

(१०) 'देशावकाशी व्रत' एक स्थान की और भोगोपभोग की मर्यादा नित्य करे, सो व्यवहार देशावकाशी। और श्रुत ज्ञान की प्रवलता से धर्मास्ति आदि षट् द्रव्य के स्वरूप की पहचान कर, पंच द्रव्य में से स्वभाव की निवृत्ति करे और जीव द्रव्य को ही ध्यावे, सो निश्चय से देशावकाशी।

(११) 'पौषध व्रत' आठ प्रहर पर्यंत सावद्य योग का त्याग कर सज्झाय ध्यान में समताभाव से प्रवर्ते सो व्यवहार पौषध व्रत। और अपनी आत्मा को ज्ञान ध्यान तप आदि स्वगुणों द्वारा पोषे सो निश्चय से पौषध व्रत।

(१२) 'अतिथि सविभाग व्रत' जो साधू और श्रावक को यथा शक्ति यथा विधि आहार वस्त्र आदि देवे, सो व्यवहार अतिथि संविभाग व्रत। और जिससे आत्मानुभव, एवं त्याग वैराग्यादि गुण प्रगट होवें—ऐसा ज्ञान दान अपने को तथा दूसरों को देवे सो निश्चय से अतिथि संविभाग व्रत।

यह बारह व्रत का निश्चय व्यवहार कहा। इन बारह व्रतों की जो यथा शक्ति आराधना करते हैं, उन्हें देश विरति श्रावक कहते हैं। और जो सर्व व्रत धारी साधू होते हैं, वे तो इन में के पूर्वोक्त पांच व्रत सर्वथा प्रकार से धारते हैं। उनमें सब व्रतों का समावेश हो जाता है, इस लिये उन पांच व्रतों को महाव्रत कहते हैं। यह चारित्राचारका स्वरूप जानना।

यह व्रत दो तरह से धारण किये जाते हैं:—१ जो उत्कृष्ट, अवस्थित, या वर्द्धमान परिणाम रूप प्रवृत्ति होवे, उसे उत्सर्ग मार्ग कहते हैं, और २ जो उत्सर्ग मार्ग का निर्वाह करने का कारण हो उसे अपवाद मार्ग कहते हैं।

—संरंघणंमि असुद्धं दुन्नवि गिन्ह तदेतयाण हियं।
आउर दिट्ठंतेण, तेचेव हीयं असंघणे ॥

अर्थात्—जहां तक साधक भावको बाधा न पहुंचे, वहां तक जो अनाचीर्ण वस्तुओं का ग्रहण करता है और जब साधक भावके भंग

होने का प्रसंग आवे, तब मात्र उन साधक भावोंका भंग नहीं होवे उतनाही लाचारी से उदय कर्म को भोगने में असमर्थ हो, अनाचीर्ण का आचरण करता है सो अपवाद मार्ग और इसे ही अतिचार कहते हैं।

अतिचार का विशेष खुलासा यह है कि-जैसे किसीको किसी वस्तुके भोगने का पच्चखान है, और वह उस वस्तु को लेने की इच्छा करे सो अतिक्रम, लेने को जावे सो व्यतिक्रम, ग्रहण करे सो अतिचार, और भोग लेवे सो अनाचार। इन चार दोषो में से यहां "अइयारो" अर्थात् अतिचार नामक तीसरे दोष को ग्रहण करना। क्योंकि पहिले के दो दोषतो छद्मस्थों को प्रायः लगते ही रहते हैं, और वैराग्य युक्त पश्चाताप से शुद्ध भी हो जाते हैं, इस लिये उनसे व्रत का भंग नहीं होता है। और जो तीसरे दोष की आलोचना नहीं करे तो वह चौथे दोष का भी सेवन करवा देता है और व्रत को खंडित भी कर डालता है, इसलिये पहिले के दो दोषों की अपेक्षा इस तीसरे दोष की आलोचना विशेषतः वारम्वार करते रहना, कि जिससे चौथे दोष का प्रसङ्ग न आवे।

अतिचार के १२४ भेद।

अतिचार के शास्त्र में १२४ भेद किये हैं, सो यहां कहते हैं—

ज्ञान के आठ अतिचार-(१) "काल" चौतीस असज्झाय को टाल कर कालों काल सूत्र नहीं पढ़े, व्यर्थ काल गमावे, (२) "विणए" ज्ञान दाता गुरूकी विनय भक्ति नहीं करे, प्रत्युत अभिमान रक्खे। ज्ञानी ज्ञान प्रकाशे तब सुस्त बैठा रहे, परन्तु जी ? वहेत ! वगैरह मानपूर्वक वचनों से ज्ञान ग्रहण नहीं करे। समर्थ होने पर भी ज्ञानी को आहार वस्त्र आदि से साता उपजावे नहीं, और ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि की यत्ना नहीं करे तो दूसरा अतिचार लगे (३) "बहुमान" ज्ञानी गुरूका बहु मान पूर्वक सत्कार सन्मान नहीं करे, तेतीस अशातना करे (४) "उवहणे" शास्त्र शुरू करते तथा पूर्ण करते समय जो उपधान करने का होता है, सो नहीं करे और यथा विधि नहीं पढे (५) "निन्हवणे" ज्ञान के दाता गुरु, वय में-गुणमें-विद्यामें-प्रख्याति में कम होवें तो

उनका नाम छिपा कर दूसरे प्रसिद्ध का नाम लेवे, (६) " व्यंजन " आचारांग और प्रश्नव्याकरण के कथनानुसार सोलह प्रकार के वचनों की शुद्धि रहित शास्त्र पढ़े, अक्षर-पद-गाथा-मात्रा-अनुस्वार-विसर्ग-न्यूनाधिक एवं विपरीत कहे, (७) " अत्थ " पण्डिताई बताने या अपने दुर्गुण छिपाने के लिये अर्थको फेर कर विपरीत अर्थ करे, (८) " तदुभय " मूल पाठ और अर्थ को लोपे-गोपे-विगाड़े-या छिपावे। दूसरे रूप में बनावे या अगमावे तो ज्ञान में अतिचार लगे।

दर्शना चार के आठ अतिचार-(१) ' शंका ' श्री जिनेश्वर के वचनों में शंका करे (२) ' कंखा ' अन्य मतान्तरियों के ढोंग देखकर उस मत को ग्रहण करने की अभिलाषा करे, (३) ' विती गिच्छा ' धर्म करणी का फल होगा या नहीं ? ऐसा संदेह करे, (४) ' मूढ दृष्टि ' मूर्ख की तरह भले बुरे की, तत्वातत्व की, धर्माधर्म की, परीक्षा नहीं करे-एक दूसरे की देखा देखी करे, (५) ' उववुह ' अभिमान के वश होकर कदाग्रह करे, स्वधर्मी और साधु सतीयों का सत्कार नहीं करे, (६) 'अस्थिर करण' अस्थिर रहे अर्थात्-यह सच्चा कि यह सच्चा, यह करूं कि यह करूं-ऐसा डावां डोल चित्त रखे, और बारम्बार श्रद्धा तथागच्छ-सम्प्रदाय का परिवर्तन करे, (७) ' अवच्छल ' मात्र अपना ही यश एवं सुख चहावे, दूसरे की दया नहीं करे, साता नहीं उपजावे, (८) ' अप्रभावी ' ज्ञानी, गुणी, तपस्वी, संयमी, धर्म दीपक-इत्यादि सत्पुरुषों की प्रतिष्ठा सहन नहीं होवे, मन में जले, हीलणा निन्दा करे, लोगों की धर्म से आसता उतारे, तो दर्शन में अतिचार लगे।

चारित्र के आठ अतिचारः-१ ' अईर्या ' देखे और पूंजे विना चले २ ' कुभाषा ' विना विचारे तथा सावद्य भाषा बोले ३ ' अएषणा ' आहार वस्त्र पात्र स्थानक आदि सदोष भोगवे, ४ ' अयत्ना आदान निक्षेप ' भंड उपकरण अयत्ना से लेवे रखे, ५ ' अयत्ना परिठावणिया ' बड़ी नीत आदि अयत्ना से परिठावे ६ ' कुमन ' मन वश में न रखे ७ ' कुवचन ' अमर्यादित बचन बोले, ८ ' कुकाय ' शरीर अयत्ना से वर्तावे, तो चारित्र में अतिचार लगे।

तपाचार के बारह अतिचारः–१ द्रव्य तथा काल की मर्यादा रहित आहार करे, २ परिमाणित आहार वस्त्र भोगवे, ३ त्रियोग की प्रवृत्ति को रोके नहीं, ४ रसना स्वाद का गृद्धि बने, ५ शक्ति होने पर भी धर्मार्थ काया को क्लेश न देवे, ६ विषय कषाय की वृद्धि करे, ७ पापका पश्चाताप नहीं करे, ८ अभिमान रक्खे-विनय नहीं करे, ९ गुरु आदि की भक्ति नहीं करे, १० सूत्र पढे–सुने नहीं ११ अर्थ विचारे नहीं, निर्णय करे नहीं, १२ काया को एक स्थान स्थिर नहीं रखे. तो तप में अतिचार लगे।

वीर्याचार के तीन अतिचारः–१ मनसे कायरता धारण करे, धर्म करणी से घबरावे, प्रणाम ढीले करे २ बचन से धर्म प्रेम के घटाने वाले उत्साह हीन बचन का उच्चारण करे ३ काया से कुकार्य करे, तप नहीं करे।

यह ज्ञान के ८, दर्शन के ८, सम्यक्त्व के ५, चारित्र के ८, बारह व्रत के ७५, तप के १२, और वीर्याचार के ३, यों सर्व १२४ अतिचार से अपनी आत्मा को बचावे। सर्व व्रत प्रत्याख्यान निरतिचार पाले।

४९ भांगे और ४४१ सेरीयाँ *।

निरति चार व्रत पालने वाले को ४९ भंगों और ४४१ सेरियों का जानकार अवश्यही होना चाहिये, सो कहते हैं:—

अंक ११ का, भांगे ९, सेरी ८१। जिनमें रुकी ९, और खुली ७२। एक करण एक जोग से कहनाः–१ करूं नहीं–मन से, पहिली सेरी रुकी, ८ सेरी खुली, २ करूं नहीं–वचन से, दूसरी सेरी रुकी,

* यथा दृष्टांत–भांगे राज पथ (सड़क) जैसे हैं और सेरियां गलियों जैसी है। जैसे सड़क पर चलते चलते आगे किसी प्रकार का व्याघात आने से मार्ग रुक जाता है तो गल्ली में होकर दूसरी सड़क पर जाकर अपना कार्य साधते है। तैसे ही व्रत पालते पालते कोई महान् कारण होने से उस व्रत का निर्वाह होने जैसा न होवे तब इन सेरियों से निकल कर कारण भी साधले और व्रत का भी भंग नहीं होने दे।

८ खुली, ३ करूं नहीं—काया से, तीसरी सेरी रुकी, ८ खुली। ४ करावूं नहीं—मन से, चौथी सेरी रुकी, ८ खुली। ५ करावूँ नहीं—बचन से पांचमी सेरी रुकी, ८ खुली। ६ करावूँ नहीं—काया से, छट्ठी रुकी ८ खुली। ७ अनमोदूं (अच्छा जाणूं) नहीं—मन से, सातमी रुकी ८ खुली। ८ अनमोदूं नहीं बचन से, आठमी रुकी, ८ खुली। ९ अनमोदू नहीं कायामे नवमी सेरी रुकी, ८ सेरी खुली।

अंक १२ का, भांगे ९, सेरी ८१। जिनमें रुकी १८, खुली ७२। एक करण दो जोग से कहना—१ करूं नहीं मन से—बचन से, १—२ सेरी रुकी, ७ खुली। २ करूं नहीं—मन से काया से, १—३ रुकी, ७ खुली। ३ करूं नहीं—वचन से काया से २--३ रुकी, ७ खुली। ४ करावूं नहीं मनसे वचन से ४--५ रुकी, ७ खुली। ५ करावूं नहीं--मनसे काया से ४—६ रुकी, ७ खुली। ६ करावूं नहीं—वचन से काया से ५--६ रुकी ७ खुली। अनमोदूं नहीं मनसे वचन सें, ७—८ रुकी, ७ खुली। ८ अनमोदू नहीं मनसे काया से ७—९ रुकी ७ खुली। ९ अनमोदूं नहीं—बचन से कायासे ८—९ रुकी, ७ खुली।

अंक १३ का, भांगे ३, सेरी २७। जिन में रुकी ७, खुली १८। एक करण तीन जोग से कहना—१ करूं नहीं मन से, वचन से कायासे, १-२-३ सेरी रुकी, ६ खुली। २ करावूं नहीं मन से बचन से काया से, ७—८ रुकी, ६ खुली। ३ अनमोदूं नहीं मनसे बचन से काया से, ७-८-९ सेरी रुकी, ६ खुली।

अंक २१ का, भांगे ९, सेरी ८१, जिनमें रुकी १८, खुली ७२। दो करण एक जोग से कहना—१ करू नहीं करावूं नहीं मन से १—४ रुकी ७ खुली। २ करूं नहीं—करावूं नहीं बचन से २—५ रुकी, ७ खुली। ३ करूं नहीं करावूं नहीं काया से ३—६ रुकी, ७ खुली। ४ करूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से १—७ रुकी, ७ खुली। करूं नहीं—अनमोदूं नहीं बचन से २—८ रुकी, ७ खुली। ६ करूं नहीं—अनमोदूं नहीं बचन से,

३-९ रुकी ७ खुली। ७ कराव्रं नहीं-अनमोदूं नहीं-मन से ४-७ रुकी, ७ खुली। ८ करावूं नहीं--अनमोदूं नहीं वचन से ५-८ रुकी, ७ खुली। ९ करावूं नहीं अनमोदूं नहीं काया से, ६-९ रुकी, ७ खुली।

अंक २२ का, भांगे ९, सेगी ८१। रुकी ३६, खूली ४५। दो करण दो जोग से कहना १ करूं नहीं करावूं नहीं मन से वचन से, १-२-४-५ मी सेगी रुकी, ५ खुली। २ करूं नहीं-करावूं नहीं-मन से काया से, ३-४-६-८ रुकी, ५ खुली। ३ करूं नहीं-करावूं नहीं वचन से काया से, २-३-५-६ रुकी, ५ खुली। ४ करूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से, १-२-७-८ रुकी, ५ खुली। ५ करूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से काया से, १-३-७-९ रुकी, ५ खुली। ६ करूं नहीं अनमोदूं नहीं वचन से काया से, २-३-८-९ रुकी, ५ खुली। ७ करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से, ४-५-७-८ रुकी, ५ खुली। ८ करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से, ४-६-७-९ रुकी, ५ खुली। ९ करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से, ५-६-८-९ ये चार सेरी रुकी बाकी की ५ खुली।

अंक २३ का, भांगा ३, सेगी २७। जिसमें रुकी १८, खूली ९। दो करण-तीन जोग से:—करूं नहीं करावूं नहीं मन से वचन से काया से १-२-३-४-५-६ ये ६ सेगी रुकी, ३ खुली। २ करूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से काया से, १-२-३-७-८-९ छः रुकी ३ खुली। ३-करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मन से वचन से काया से, ४-५-६-७-८-९ छः सेरी रुकी बाकी की खुली।

अंक ३१ का, भांगे ३, सेरी २७। जिसमें ९ रुकी, १८ खुली तीन करण-एक जोग से-१ करूं नहीं करावूं नहीं-अनमोदूं नहीं, मनसे १-४-७ रुकी ६ खुली। २ करूं नहीं-करावू नहीं-अनमोदूं नहीं-वचन से २-५-८ रुकी ६ खुली। ३ करूं नहीं-करावूं नहीं-अनमोदूं नहीं। काया से ३-६-९ रुकी ६ खुली।

३२ का, भांगे, ३, सेरी २७। जिसमें रुकी १८, खुली ९।

तीन करण-दो जोगसे-१ करूं नहीं करावूं नहीं अनमोदूं नहीं-मनसे वचनसे, १-२-४-५-७-८ छः रुकी, ३ खुली। २ करूं नहीं-करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मनसे कायासे १-३-४-६-७-९ सेरी रुकी ३ खुली। करूं नहीं- करावूं नहीं-अनमोदूं नहीं वचनसे कायासे, २-३-५-६-८-९ ये छः सेरी रुकी, वाकी की ३ खुली।

अंक ३३ का, भांगा १, सेरी ९। रुकी ९, खुली नहीं। तीन करण तीन जोगसे-करूं नहीं-करावूं नहीं अनमोदूं नहीं मनसे वचनसे और काया से, १-२-३-४-५-६-७-८-९ नवही सेरी रुकी।

यों ४९ भंगों की ४४१ सेरीयों में से २९७ सेरी तो खुली हैं, और १४४ सेरी रुकी हैं। सो श्रावकको किसी भी प्रकार के पच्चखाण ग्रहण करते समय उपयोग रखना चाहिये, कि यह पच्चखाण मुझे अमुक भंग से करना चाहिये, जिमसे आगे किसी प्रकार का प्रसंग आये तो अमुक सेरी (रास्ते) में से निकल कर अपने व्रत का निर्वाह कर सकूंगा। ऐसी विचक्षणता से जो व्रत ग्रहण करते हैं उनको अतिचार लगने का प्रसंग प्रथम तो आता ही नहीं है, और यदि कदाचित् आया भी तो अपने व्रत में विलकुल दोष नहीं लगाते हैं, निर्मल व्रत पालते हैं, सदा निवृत्ति भावमें रमण करते रहते हैं, जिससे उत्कृष्ट रसायन आने से तीर्थंकर गौत्र की उपार्जना होती है।

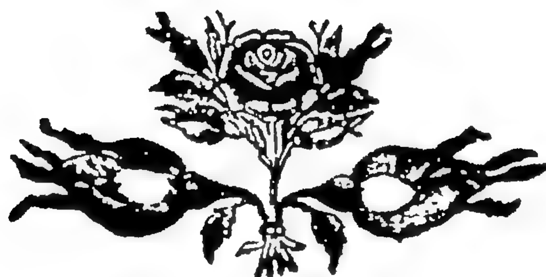
—योगात् प्रदेश वन्धः, स्थिति वन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शन वोध चरित्रं, न योगरूपं कषाय रूपंच॥

अर्थात्—मन वचन काया के योगों की प्रवृत्ति होने से आत्म प्रदेश पर कर्म प्रमाणुओं का वन्ध होता है और उस समय तीव्रमंद जैसा भी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ, हांस, रति, अरति, भय, शौक, दुगंछा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) का उदय होता है, वैसी ही उन कर्मों की स्थिति वन्धती है। इसलिये परमात्ममार्गानुसारी को कर्मों से वचने के लिये सम्यक्त्व युक्त चारित्र में प्रवृत्ति करनी चाहिये,

जिससे अर्थात् सम्यक्त्व से कषाय की, और चारित्र से योगों की प्रवृत्ति मंद पड़ती है तथा रुकती है, जिससे आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है।

व्रतों में दृढ रखने वाला जो निवृत्ति भाव है, उसका स्वरूप आगे दर्शाने की इच्छा रखके इस प्रकरण की समाप्ति यहां ही की जाती है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"निरतिचार" नामक तेरहवा प्रकरण समाप्त।





प्रकरण—चौदहवाँ

"खिणालव निवृत्ति भाव"



सार में के प्रायः समस्त सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों का मन वायु की तरह सदा भ्रमण करता ही रहता है। मन के भ्रमण करने के दो मार्ग हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। इसमें प्रवृत्ति मार्ग तो स्वाभाविक है, जिसमें विना प्रयत्न के मन सदा प्रवर्तता रहता है, क्योंकि जिन जिन पौद्गलिक वस्तुओं का इस जीव को गत काल में अनंती बार सम्बन्ध हुआ उन शब्द रूप गंध रस स्पर्श मय पुद्गलों की प्रीति धारण करके, मनोग्य और अमनोग्य की कल्पना करके, सुख दुःख वेदता है—हर्ष शोक मानता है। और उस समत्व वन्धन में बँधा हुआ जीव पुनः पुनः उन्हीं में उपजता है मरता है। *

---

* सुक णलणी कपमुठइ। मुक्त मंदिय रसाण अणाणीहो ॥
तिम चेयण भम्म भूल्या अप्पवंधेय राय दोसाय ॥ ५० ॥
सुदृष्ट तरगणी २० परिछेद ॥

अर्थात्—जैसे तोता बास की नली पर, बदर चणे से भरे हुये सकडे मुंह वाले घड़े में मुठी बांध कर, और कुत्ता कॉच के महल में अज्ञान भाव कर फॅसता है, और महा दुःख पाता है, तैसे ही चैतन्य आत्मा भ्रम में भूलकर जगत् फांस या मोह फॉस मे आपही बँध रहा है।

कहा है कि ' मन एव मनुष्याणां , कारणं बन्ध मोक्षयोः ' अर्थात् यह मन ही कर्म के बन्धन में बांधने वाला और कर्म बंधन से मुक्त करने वाला है मनही जन्म मरण का मुख्य हेतु है। इसलिये मुमुक्षु जनों को प्रवृति मार्ग में प्रवृत्त मनको रोककर प्रवृति मार्ग में पुद्गल की वासना से अलग हो सहजानन्दी आत्मिक गुणों में संलग्न करना उचित है।

' मनको रोको ' ऐसा कहना तो सहज है, परन्तु मनको रोकना बड़ा ही मुशकिल है। एक क्षण का सम्बन्ध ही मुशकिल से छूटता है, तो जो मन अनादि से प्रवृति मार्ग का अभ्यस्त हो रहा है, उसे मोड़कर निवृत्ति मार्ग में लगाना बडे बड़े धीर वीर मुनियों का ही काम है।

प्रथम तो काया को ही प्रवृत्ति मार्ग से रोकना मुशकिल है, और उससे वचन का रोकना तो बहुत ही मुशकिल है, तो फिर मनका तो कहना ही क्या ? क्योंकि काया पर और वचन पर तो लौकिक लोकोत्तर सम्बन्धी अनेक अंकुश हैं। परन्तु यह मन विना अंकुश का गजेन्द्र है सो इसके वेग को किस तरह से रोका जाय ! हेमचन्द्राचार्य ने कहा है "अति चंचलमति सूक्ष्मं दुर्लभं वेगवत्तयाचेतः" अर्थात् यह मन अतिही चंचल है अति सूक्ष्म है, इसलिये इसकी गति को रोकना बहुत ही मुशकिल है, बड़ा ही कठिन है।

परन्तु ऐसी बातें सुनकर शूर वीर महात्मा कदापि कायरता नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि मनुष्य से बलिष्ट इस जगत् में दूसरा कोई भी नहीं है। बड़े बलिष्ट गजेन्द्र और मृगेन्द्र को मनुष्य करामात से वशमें कर मन माने नाच नचाते हैं, ऐसे क्रूर पशुओं को भी मनुष्य वश में करने को समर्थ हैं तो क्या अपने मनको नहीं वशमें कर सकेंगे ? जो मनुष्य जाज्वल्य मान ज्वाला के मध्य में से अखंड निकल जाता है, हलाहल जहर को भी पचाकर अमृत मय बना देता है, ऐसा पराक्रमी मनुष्य स्थावर और जगम पदार्थों के स्वभाव को शक्ति से पलट देता है, उसे मनको पलटाना क्या अशक्य है, अर्थात् कुछ भी नहीं। जो चाहे सो अवश्य ही कर सकता है, फक्त कायरता छोड़कर इष्टितार्थ के सन्मुख होने एवं मन वश करने के उपाय में प्रवृत्त होने ही की देर है।

भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

—अशंसयं महावाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! मनको वश में करना वहुत ही मुशकिल है, क्योंकि मन अति चंचल है, परन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से यह वश में होता है। मन को वश में करने के दो उपाय वताये हैं। प्रथम तो अभ्यास वैराग्य युक्त निरंतर अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् अनादि काल से इस जगत में शब्द आदि पुद्गल परिभ्रमण कर रहे हैं, उनको ग्रहण कर मनोज्ञ अमनोज्ञ की कल्पनाकरके रागद्वेषमय बनाता है। यह राग द्वेष रूप जो संस्कार है, सो ऐसा प्रबल है कि—मनको कभी तो मूढ वना देता है, कभी भ्रान्त रूप बना देता है, कभी भय भीत बना देता है, कभी रोगी वना देता है, कभी शंकित वना देता है, कभी क्रोधी—मानी—मायी—लोभी—मोही—ममत्वी इत्यादि अनेक रूप मय वना देता है, जिससे आत्मा स्वतत्व (आत्म ज्ञान) से विमुख होजाता है, न्याय मार्ग से च्युत हो जाता है, और अज्ञानता बढ जाती है, वह अज्ञानता मनको और मन से वचन को और वचन से काया को कुमार्ग में धकेल देती है, जिससे अनंत विड़म्बना की वृद्धि होती है, ऐसे ये राग और द्वेष रूपी पिशाच परम प्रबल हैं। इन पिशाचों से मन तथा आत्मा को बचाने के लिये एक वैराग्य रूपी महा मंत्र ही समर्थ है।

इस वैराग्य रूप महा मंत्र का साधन इसतरह से होना चाहिये कि—जिस जिस परिणति में परिणत होकर मन एकी भूत होता हो, उस उस परिणति की पर्याय के स्वरूप का चिन्तन—मनन वैराग्य युक्त करना कि अहो मन ! यह पुद्गल पर्याय है, इसके मिलने विछड़ने का स्वभाव है, सो हमेशां पलटती ही रहती है। हे मन ! वैसाही तू जो पलटने=फिरने लगेगातो तेरी कमवख्ती हो जायगी ! जैसे ध्वजा फरकती है, वैसा ही अगर देवालय भी फिरने लग जाय तो उस देवालय का विनाश

होते कितनी देर लगती है, + इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये।

अत एव हे मन! जो तुझे सुखी होने की अभिलाषा है तो पुद्गलों की पर्याय के समान तुझे फिरना नहीं चाहिये, जैसे पुद्गल शुभाशुभ रूप धारण करते हैं, तैसा रूप तुझे धारण नहीं करना चाहिये, तभी तू सुखी बनेगा।

मनको कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग में प्रवर्ताने का उपाय, * ज्ञानार्णव

+ दोहा—काया देवल मन ध्वजा, विषय लहर फिरजाय।
मन चले जैसी काया चले, तो जड़ा मूल से जाय ॥ १ ॥
मन गया तो फेर ले, वश कर राख शरीर।
विन खेंचे कमान के, कैसे लागे तीर ॥ २ ॥

गजल।

* गुम कर दे जो तकदीर को, तदबीर उसे कहते हैं।
तदबीर से जायद न हो, तक़दीर उसे कहते हैं ॥ १ ॥
सब झूठी है, कागज की क्या मिट्टी की क्या पत्थर की।
बुत हो रहे तसव्वुर में, तसवीर उसे कहते हैं ॥ २ ॥
दुनिया को अगर कत्ल करे, काट की ओछी है।
काटे जो अहंकार को, शमशेर उसे कहते हैं ॥ ३ ॥
कहता है खुदा खुद से जुदा, जान अधूरा है।
दिखला दे जो खुद ही में खुदा, पीर उसे कहते हैं ॥ ४ ॥
सो पर्वत अगर तोड़ दे, फौलाद के तो क्या हैं।
तोड़े जो फकत पर्दा दुई, तीर उसे कहते हैं ॥ ५ ॥
है यूं तो बहुत वेदों की तफसीर, मगर जिससे।
तसदीक़ अनलहक़ हो, तफ़सीर उसे कहते हैं ॥ ६ ॥
जो कहता है मैं इन्द्र हूँ, तोक़ीर कहाँ उसकी।
मैं हूँ यह गुमां मिट जाय, तोक़ीर उसे कहते हैं ॥ ७ ॥
है आबो हवा ठंडी, तो कशमीर नहीं साहिब।
ठंडा हो कलेजा जहां, कशमीर उसे कहते हैं ॥ ८ ॥
दुनिया है मगर निर्भय, तू जागीर समझ जाता है।
कब्जे में हमेशा रहे, जागीर उसे कहते हैं ॥ ९ ॥

ग्रन्थ में इस प्रकार फरमाया है:—

> अष्टावङ्गानि योगस्य, यान्युक्ता न्यार्यसूरिभिः ।
> चित्त प्रसत्ति मार्गेण, बीज स्युस्तानि मुक्तये ॥

अर्थात्—पूर्वाचार्योंने चित्त की प्रसन्नता के लिये मुक्ति मार्ग के बीज भूत आठ अंग फरमाये हैं, सो कहते हैं।

"अथ केश्चिद्यम नियमासैन प्रणायाम प्रत्याहार धारणा ध्याँन समाधिय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि"

अर्थात्—यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि इस प्रकार आठ योगांग साधन से मन निग्रह होता है।

प्रथमांग यमके पांच प्रकार हैं—'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः'

अर्थात्—(१) 'अहिंसा' चराचर (त्रस स्थावर) सर्व प्राणियों के साथ वैर भाव रखने से, शत्रुता साधने से जो घातक प्रवृत्ति होती है उससे निवृत्त होकर आत्म तुल्य—स्वसज्जन तुल्य सबको जाने सर्व के साथ मैत्री भाव धारण करे सो अहिंसा (२) 'सत्य' श्रोत्र आदि। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये भाव हृदय में जिससे प्रविष्ट हो उसे सत्य कहते हैं। वैसाही ग्रहण करे वह तत्थ्य। सर्व को सुख दाता—द्रोहता का नाशक-प्रियकारी—गुण का कर्ता सो पथ्य। ऐसा वचन यथावसर उच्चारण करे सो सत्य (३) 'अस्तेय' किसी की भी सचैतन्य अचैतन्य वस्तु को उसकी अनुज्ञा के विना ग्रहण करना सो चौरी कही जाती है, उससे निवृत्ते और आवश्यक वस्तुओं को मालिक की अंतःकरण के उत्साह युक्त आज्ञा से ग्रहण करे सो अस्तेय (४) 'ब्रह्मचर्य' श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये विषय को मन विकारमय प्रगमावे और आत्मा के प्रदेशों में मथन कर प्रणामों को एवं शरीर को विकल रूप बनावे उसे अब्रह्म कहते हैं। उससे निवृत्त होकर किसी पदार्थ में विकार भाव रहित परिणत होना सो ब्रह्मचर्य (५) 'अपरिग्रह' शब्द आदि विषय में मनोज्ञ पर अनुराग और अमनोज्ञ पर द्वेष सो परिग्रह

जिससे निवृते, निर्ममत्व भाव से प्रवर्ते सो अपरिग्रह। इन पांच यमों को पूर्ण रूप से धारण करे।

दूसरा अंग नियम है, उसके भी पांच प्रकार हैं–शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः" १ 'शौच' बाह्य सात दुर्व्यसनों (ठगाई, ईर्षा, मन्दता, परपरणतिरमण, व्यय से अधिक संचय, मिथ्यावर्तन, अनाचार) को त्यागे तथा अशुचि अंगसे अलग रक्खे सो बाह्य शुद्धि। और छः शत्रु (काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर) का नाश करना सो अभ्यन्तर शुचि २ 'संतोष' प्राणों के और व्रतों के रक्षणार्थ खपे उतना अन्न, (परन्तु रात्रि को एक दाणा भी पास नहीं रखना) शरीर के गुप्त अवयवों का आच्छादन होवे उतना अथवा शीतादि व्याधि से बचावे उतना वस्त्र और आसन प्रमाण या आवश्यकता जितना स्थान, इस उपरान्त इच्छा भी नहीं करे तो ग्रहण करना तो दूर रहा सो 'संतोष' ३ 'तप' क्षुधा, पिपासा, शीत, ताप, वाक्य प्रहार, तर्जना, ताड़ना, निंदा, असत्कार, रोग, वेदना, इच्छित की अप्राप्ति इत्यादि प्राप्त दुःखों का बिलकुल ही संकल्प विकल्प नहीं करता हुआ सम भाव से सहे, धर्मवृद्धि सेवा सदा चरण को स्वीकार करे सो तप, ४ 'स्वाध्याय' पदस्थ=सूत्र के मूल पाठ का पठन एवं नवकार आदि का स्मरण चिंतवन। पिण्डस्थ=स्वात्मा के पर्याय का एवं सूत्र के अर्थ का चितवन। रूपस्थ–घन घातिक–कर्म कलङ्क रहित–चिद्रूप केवल ज्ञान के धारक प्रतिहार्य आदि ऋद्धि युक्त जिनेश्वरों के गुणों का रटन करना। रूपातीत–सत् चिद् आनंदमय निर्विकार निजात्मस्वरूप परमात्मा का ध्यान। ये चार विचार करे सो स्वाध्याय। 'प्रणिधान' जो जो कृत्य होते हैं वे सब होनहार मुजबही होते हैं, फिर उसका हर्ष शोक करना सो निरर्थक है। मैं करता हूं, ऐसा अहं भाव धारण करना भी निरर्थक है। ऐसी परिणति में आत्मा रमणमें सो प्रणिधान।

तीसरा अंग आसन है। इसके लिये शास्त्रों में लिखा है–

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्क, वज्र वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वेचा, कायोत्सर्गश्च सम्मतः॥ १॥

येन येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मन. ।
तत्तदेव विदेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ २ ॥

अर्थात्—पद्मासन, पर्यंकासन वज्रासन, वीरासन, कायोत्सर्गासन, इत्यादि जिस आसन से अपना मन निश्चल रहकर एकाग्रता धारण करे वही आसन करना चाहिये *।

चतुर्थ अंग प्राणायाम है। मनको निग्रह करने का मुख्य उपाय प्राणायामही गिना जाता है। अन्य मतावलम्बी प्राणायाम का साधन करते हैं, परन्तु उनका प्रयोजन तथा स्वरूप कुछ औरही है। तथा जैनाचार्य एवं सर्वज्ञ प्रणीत आगमों में तो स्याद्वाद रूप सिद्धांतसे निर्णय करके सिद्धि और मनकी एकाग्रता से आत्म स्वरूप में ठहरना सोही प्राणायाम श्रेष्ठ है। इनसे इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है, सो पक्ष गौणता में है। और ध्यान की सिद्धि से आत्म स्वरूप में लीन होना, मोक्ष प्राप्त होना, यह प्रयोजन प्रधान है। प्राणायाम करने से शरीर में रमण करता हुवा पवन, मुख नासिका द्वारा जो गमन करता है, उसका साधन होता है, और उस पवन की प्रेरणा से जो मनको गति गमन की सहायता मिलती थी वह बंद होकर मन भी वशीभूत हो जाता है, जिससे ध्यान की सिद्धि होती है।

---

* समं काय शिरो ग्रीव, धारयन्न चलस्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं, स्वादृशाचानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः ।
मन. संयम्य मच्चिनो युक्त आसीत्मत्पर· ॥१४॥
युञ्जन्नेव सदात्मनं योगी नियत मानस· ।
शान्तिनिर्वाण परमा मत्सस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अर्थ—श्री कृष्ण कहते हैं कि—अहो धर्म राज, जो शरीर मस्तक और ग्रीवा स्थिर कर, इधर उधर न देखते फक्त नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर, अतःकरण को अत्यन्त निर्मल कर,—भय रहित और ब्रह्मचर्य सहित जो मन का सयम कर मेरी तरफ लगाता है—मेरे कोही सर्वस्व जानता है ऐसे योगी ही मेरी सहायता से निर्वाण और परम शाति को प्राप्त होते हैं।

पवन को रोकने के उपाय तीन प्रकार से बताये हैं–

समाकृष्य यदा प्राण, धारण स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरी कृत्य, रोधनतु स कुम्भकः ॥ १ ॥
यत्कोष्टाद् अतियत्नेन, नासा ब्रह्म पुरातनैः ।
बहिःप्रक्षेपणं वायोः, स रेचक इति स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थात्—१ तालुवे के छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुल दूर से पवन को खेंचकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में पूर्ण करे सो "पूरक" २ जैसे भरे हुये घड़े में पाणी रुकता है तैसे उस पूरक पवन को नाभि-कमल में स्थिर करे, चलने नहीं देवे सो "कुंभक" ३ उस पवन को मंद मद धीरे धीरे बडे यत्न के साथ निकाले सो "रेचक"। इस तरह अभ्यास करने वाले योगी अप्रमादी होकर, बड़े यत्न से अपने मनको निरंतर हृदय कमल की कणिका मे पवन के साथ स्थिर करें, जिससे मन में उठते हुये विकल्पों की आशा का नाश होकर मन स्थिरी भूत हो जाता है, इन्द्रियॉ मद रहित हो जाती है, कषाय क्षीण होजाती है, और अविद्या का समूल नाश होकर अंतरंग मे ज्ञान का प्रकाश बढता जाता है।

इस प्रकार पवनकी साधना करना, केवल मन को वश करने काही मुख्य हेतु है। परन्तु यह प्राणायाम की क्रिया हरेक के करने योग्य नहीं है क्योंकि श्वासोच्छ्वास के रोकने से दुःख होता है, और उस दुःख से आर्त ध्यान होता है, जिससे वक्त पर समाधि भाव नष्ट होने की संभावना रहती है। इस लिये जो मुनि सांसारिक देह भोग से विरक्त, मंद कषायी, विशुद्ध भाव युक्त, वीतराग और जितेन्द्रिय होते हैं, वेही प्राणायाम कर सकते हैं।

पांचवां अंग प्रत्याहार है। प्राणायाम करने से कदाचित् मन विग्रह गति को प्राप्त होजाय तो उसे स्वस्थ करने को समाधि की सिद्धि के लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है। प्रशान्त बुद्धिविशुद्धता युक्त मुनि अपने मनको इन्द्रियों के विषय से खेंचकर जहां अपनी इच्छा हो वहां लगा देवे, उसे प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार कर्ता मुनि, इन्द्रियों के विषय से पृथक् करे हुये मनको एक स्थानस्थित करने के लिये आकुलता रहित

प्रथम ललाट पर निश्चलता पूर्वक स्थापन करे, यों कितनीक देर रहने से जब मन क्षोभ रहित होवे तब नेत्र युगल, कर्ण युगल, नाशाग्र, मुख, हृदय, नाभि, मस्तक, तालु, भौंह मध्य—इन दश स्थानों में से किसी एक स्थान में मनको ठहरा कर ध्यान में लीन करना चाहिये।

छट्ठा अंग 'धारणा' है। मनको एकाग्र कर लेनेके पश्चात् फिर जिसका ध्यान करना हो उसकी तरफ लक्ष्य ठहराकर, अन्य सर्व इच्छा से विरक्त होवे, और एकसा अभङ्ग अजपाजाप स्वभाव रूप रटन लगादे। विचार करे कि-मैं राग द्वेष रूप बंधन में फँसकर अनेक प्रकार के संसार रूप दुर्गम मार्ग में अनेक विड़म्बना के अधीन हो, अनेक दुराचरणों का सदाचरण जानकर आचरण किया, उसका भान अब मुझे होता है। यही मेरी आत्मा के सुधारे के चिन्ह हैं। अब राग द्वेष रूप जीर्ण ज्वर जीर्णता को प्राप्त होने लगा, और मोह रूप निद्रा का जोर भी घटने लगा, और आत्म ज्ञान रूप सूर्य भी प्रकाशने लगा। अब ध्यान रूप खड्ग को धारण कर कर्म रूप शत्रुओंका विदारण करूं, तप रूप ज्वाला से पाप रूप कचरे के पुंजको जलाकर भस्म करूं जिससे सर्व लोकालोक के प्रकाशने वाले जो मेरे आत्मा के नेत्र निरावरण हो, मोक्ष मार्ग को देखने लगें। क्योंकि मेरा अंतःस्थान शिरस्थान तो मोक्ष है, मैं वहां ही का निवासी हूं, मेरे और सिद्ध भगवंत में मात्र शक्ति व्यक्ति का ही अंतर है अर्थात् अनंत चतुष्टयादि जो गुण सिद्धों में व्यक्ति रूपसे प्रगट हुये हैं, वे मेरे में शक्ति रूप हैं, इस लिये अभेदत्व है। द्रव्य तो अनादि निधन है, और उन में जो पर्याय हैं वे क्षण क्षण में उत्पन्न होते हैं, और विनष्ट भी होते हैं। उन में जो त्रिकाल वर्ती पर्याय हैं वे शक्ति की अपेक्षा से सत् रूप एकही काल में कहे जाते हैं। और व्यक्ति की अपेक्षा जिस काल में जो पर्याय होता है, वही सत्य रूप कहा जाता है, तथा भूत भविष्यके पर्याय असत् रूप कहे जाते हैं। इस प्रकार शक्ति की अपेक्षा से सत्का उत्पन्न होना और व्यक्ति की अपेक्षा से असत् का उत्पन्न होना कहा जाता है, अतएव द्रव्यकी अपेक्षा सत्का उत्पाद है, और पर्याय की अपेक्षा असत्का उत्पाद है। इस प्रकार आत्मद्रव्य से भी सामान्यतया

मति ज्ञानादि गुण भूतपूर्वक कहे जाते हैं, तथा अभूतपूर्वक भी कहे जाते हैं।

परन्तु वास्तव में अनंत चतुष्टयादि ही अभूत पूर्वक कहे जाते हैं। इस भाँति नय विभाग से वस्तु का स्वरूप विचारने पर मेरे में और परमात्मा में कुछ विशेष भेद नहीं है, इस लिये मैं अनंत वीर्य शक्ति का धारने वाला हूं, अनन्त ज्ञानदर्शनवंत आनन्द स्वरूपी हूं। अस्तु अब मैं, मुझे अपने स्वरूप से च्युत करने वाले प्रति पक्षी कर्म शत्रुओं का जड़ामूल से नाश नहीं करूंगा तो फिर कब करूंगा! मुझे उचित है कि ऐसा मौका मेरे हाथ लगा है तो अब उनका नाश करूं! उनके नाश होने से मैं शिव स्थान नामक आनन्द मन्दिर मे प्रवेश करूंगा, और फिर अपने स्वरूप से कदापि च्युत न होवे–ऐसा बन जावूंगा, इत्यादि विचार सो धारणा।

सप्तम अंग ध्यान है। उक्त रीत्या धारणा निश्चल होजाने पर ध्यान करे। ध्यान नाम विचार का है, सो विचार कहते हैं:—

साकारं निर्गताकार, निष्क्रिय परमाक्षरम्।
निर्विकल्प च निष्कम्प, नित्यमानन्द मन्दिरम् ॥ १ ॥
विश्वरूपं विज्ञात-स्वरूप सर्वदोदितम्।
कृत्य कृत्य शिव शान्त, निष्कलं करुण च्युतम् ॥ २ ॥
निःशेष भव सम्भूत,-क्लेश द्रुमहुताशनम्।
शुद्ध मत्यन्तनिर्लेप ज्ञान राज्य प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
विशुद्धादर्शसंक्रान्त प्रति बिम्ब सम प्रभम्।
ज्योतिर्मयं महा वीर्यं, परि पूर्णं पुरातनम् ॥ ४ ॥
विशुद्धाष्टगुणोपेत, निर्द्वन्द्व निर्गतामयम्।
अप्रमेयं परिच्छिन्न विश्व तत्व व्यव स्थितम् ॥ ५ ॥
यद् ग्राह्यं बाह्यभावं ग्राह्य चान्तमुर्खं क्षणात्।
तत्स्वभावात्मक साक्षा स्वरूप परमात्मन ॥ ६ ॥

अर्थ–अहो परमात्मन्! (१) 'साकार' आप साकार अर्थात् आकार से युक्त हो। जो परमात्मा अर्हंत भगवंत केवल ज्ञानी पद में हैं,

उनके मात्र चरम शरीर रहता है, सो आकारमय है। इसलिये उन्हें साकार परमात्मा कहते हैं क्योंकि वे परमात्म पद (निजगुण की प्रगटता) को प्राप्त हो चुके हैं। अर्थात् अनन्त चतुष्टय के धारक होगये हैं। और उसी शक्ति की धारक मेरी आत्मा है, (२) 'निर्गताकार' निराकार निजात्मरूप में संस्थित जो जीव हैं वे मुक्ति स्थान में रहने वाले सिद्ध हैं। उनका पुद्गलों जैसा आकार नहीं है, और वही मेरा निज स्वरूप है (३) 'निष्क्रिय' अर्थ दंडादि तेरह क्रियाओं तथा कायिकादि पच्चीस क्रियाओं से रहित अक्रिय हैं, क्रिया पुद्गल मय है और परमात्मा पुद्गलातीत निर्लेप हैं, तैसेही निजात्मा भी अक्रिय है। (४) 'परमाक्षरम्' जिसका क्षय नहीं होवे सो परमाक्षर। अर्थात् ऐसी कोई भी वस्तु परमात्मा में नहीं है जो किसी काल में नष्ट होजाय, इसलिये परमाक्षर है। इसी तरह जीवात्मा भी अखंड है। (५) 'निर्विकल्प' विकल्प रहित हैं। किसी भी वस्तु में संदेह भाव उत्पन्न होने से मनमें विकल्प होता है, सो परमात्मा तो यथार्थ सर्व वस्तुओं के ज्ञाता होने से संदेहातीत होगये हैं, इसलिये विकल्प रहित हैं। और ऐसा श्रद्धान मेरा है, (६) 'निष्कम्प' परमात्मा निष्कम्प हैं, कदापि चलायमान नहीं होते हैं। चलन स्वभाव धर्मास्ति का है सो अचैतन्य है, और उसकी सत्ता अचेतना युक्त चैतन्य परही चलती है, शुद्ध चैतन्यपर नहीं चलती है, इसलिये परमात्मा अकम्प है, और मेरे निजगुण भी अकम्प हैं, (७) 'नित्य' परमात्मा सदा नित्य हैं, एकसे रहते हैं। क्योंकि—पुद्गलों के गुणों में पलटने का स्वभाव है, आत्म गुणों में नहीं। परमात्म स्वभाव तो सदा एकसा ही रहता है, इसलिये नित्य है, और स्वात्मस्वभाव भी नित्य है, (८) 'आनन्द मन्दिर' परमात्मा आनंद के घर हैं—अक्षय आनन्द के धारक हैं; क्योंकि आनन्द में विघ्न के कर्ता जो पर परणति भाव हैं, उनका समूल नाश हुआ है। और सदा स्वस्वभाव की परिणति में प्रगम रहे हैं, सो आनन्द का स्थान है। वही आनन्द मेरी आत्मा में भी है, (९) 'विश्व रूप विज्ञात स्वरूप' अर्थात् जैसे छत मे लगे हुये कॉच में अधः स्थित सर्व पदार्थों का प्रतिविम्ब पड़ता है, तैसे सर्व जगत् के

ऊपर अग्र भाग मे विराजित परमात्मा की निर्मल आत्मा में सर्व जगत् के पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। और यही शक्ति इस आत्मा में है, (१०) 'सर्वदोदितम्' सदैव काल उदय रूप हैं। परमात्मा की आत्मा में जो ज्ञानादि गुण रूप सूर्य का उदय हुआ है, उसको न राहू ही ग्रस्त कर सकता है और न पश्चिम दिशाही। अर्थात् अनन्त अक्षय उदय के धारक परमात्मा और निज आत्मा हैं, (११) 'कृत्य कृत्य' पूर्णतया कृत कृत्य हैं, सर्व कार्य की सिद्धि होने से परमात्म पद को प्राप्त हुए हैं, जिससे उनको किसी भी कार्य करने की कदापि इच्छा नहीं होती है। अतएव वे सृष्टि आदि की रचना के झगड़े में कदापि नहीं पड़ते हैं। क्योंकि सृष्टि आदि किसी भी पदार्थ के बनाने की जो इच्छा होती है, सोही अपूर्णता है, अपूर्णता है सो ही दुःख है। और जहां दुःख है वहां परमात्मत्व नहीं और इसलिये सर्व इच्छा रहित होने से परमात्मा कृतकृत्य कहे जाते हैं, तैसाही निजात्मा भी है। (१२) 'शिव' कल्याण रूप हैं। आधि (चिंता) व्याधि (रोग) उपाधि (काम) इन तीनों दुःखों से रहित निरुपद्रवी सोही शिव है। तैसे ही निजात्म गुण है। (१३) 'शांत' शांत स्वरूप हैं, क्षोभ रहित होने से शांत हैं। क्षुधा—तृषा—ताप—जरा—मृत्यु इत्यादि किसी भी प्रकार के शत्रु की वहां सत्ता नहीं रहती है। इसलिये परमात्मा अक्षोभ हुये हैं। आत्मा भी अक्षोभ ही है, (१४) 'निष्कल' अकलङ्क हैं। दुष्ट लक्षण व्यंजन कुरूपता हीनांगता आदि अपलक्षण शरीर के होते हैं, और परमात्मा तो शरीर रहित हैं, इस लिये निष्कलङ्क हैं। तथा जिनका स्वरूप मिथ्यात्वियों के कलने यानी जानने में नहीं आवे, इस लिये निष्कल हैं। और आत्मा का निजस्वरूप भी निष्कल है, (१५) 'करुण-च्युत' शोक रहित हैं। शोक यानी चिंता अज्ञानता का चिन्ह है, और परमात्मा त्रिकालज्ञ होने के कारण भविष्य के ज्ञाता हैं, इस लिये उन्हें किसी भी प्रकार का शोक कदापि नहीं होता है। तथा 'च्युत' यानी इन्द्रियों से रहित हैं, परमात्मा अशरीरी होने से अनिंद्रिय हैं। और इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों को ग्रहण करके मनोमय परिणत होती हैं, जिससे

कई विकल्प होते हैं, सो भाव परमात्मा में नहीं हैं। तथा उन को इन्द्रियों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है; क्योंकि जो वस्तुएँ समय पर इन्द्रियों से ग्रहण करी जाती हैं, वे उन्होंने केवल ज्ञान के द्वारा पहिले ही ग्रहण करली हैं—जानली हैं, कि—अमुक वक्त अमुक शब्दोच्चारण होगा, रूपकी प्रवृत्ति होगी—ऐसे सब विषयों के भविष्य संबन्धी ज्ञाता होने के कारण राग द्वेष नष्ट होगया है। आत्मा का भी निजगुण यही है (१६) 'निःशेष भव सम्भूत क्लेश द्रुम हुतासनम्" अनेक भवों के परिभ्रमण में अनेक पापों के बीज बोये और इतने कालमें उन बीजों के बड़े बड़े वृक्ष होगये हैं कि—जिनका निकंदन बड़े बड़े तीक्ष्ण कुदाल से भी न हो। ऐसे वृक्षों को भगवंत ने ध्यान रूप प्रबल अग्नि से क्षण मात्र में जलाकर भस्म करदिये, निरंकुर कर दिये कि—जिससे उनमें अंकुर प्रगटने की सत्ता भी बिलकुल नहीं रही। और अब मैं भी उसी ध्यान पर आरूढ होता हू। (१७) 'शुद्ध' अशुभ योग, कषाय, कु—लेशा इत्यादि परिणति में प्रणमने से आत्मा मलिनता को प्राप्त होती है, उस मलिनता का कारण जिनेन्द्र की आत्मा में से स्वभाव से ही नाश होगया है, जिससे परम पवित्र शुद्ध होगये हैं। और निजात्म स्वरूप भी तैसाही शुद्ध है। (१८) 'अत्यन्त-निर्लेपम्" शुद्धात्म प्रदेशोंपर अनादि से कर्म लेप चढ रहा है, उस लेपको तप रूप अग्नि से दूर कर एवं शुद्ध निजात्म स्वरूप को प्राप्त कर अत्यन्त निरलेप हुवे हैं। और आत्मा पर भी लेप नहीं लगता है (१९) "ज्ञान राज्य प्रतिष्ठतम्" यह आत्मा सदा से ज्ञानादि त्रिरत्न का निधान है, परन्तु उस निधान को ज्ञाना वरणीय आदि शुभटों ने चौतरफा घेर रक्खा था। जिससे चैतन्य अपने गुणों पर अपना अधिकार नहीं कर सकता था। जब अनन्त आत्म वीर्य शक्ति प्रगटी और उसे कर्मों के संमुख पूर्ण रूप से आजमाया तब कर्मों ने वहां से अपनी चौकी उठाई कि उसी समय वह अनुपम निधान प्रगट हुआ। चैतन्य ने अपना माल जानकर उस पर अपनी मालकी करी, जिससे सर्व आदि अनन्त गुण में अक्षय स्थित हुये (२०) "विशुद्धा दर्श सक्रान्त, प्रति बिम्ब समप्रभम्" जैसे सर्व पदार्थों का प्रति बिम्ब निर्मल दर्पण में पड़ता है ऐसे ही सर्व क्षेत्र

में रहे हुये जीवादि द्रव्यों को समय समय पर जिस जिस प्रकार के भावों की प्रवृत्ति होती है वे सबके सब भाव परमात्मा के आत्मा रूप दर्पण में प्रति विम्बित हो रहे हैं। और जैसे वह दर्पण उस प्रति विम्ब से भार भूत नहीं होता है, तैसे ही परमात्मा भी नीरोगी होने के कारण सर्व भाव देखते हुवे भी किसी प्रकार भार भूत नहीं हैं। और आत्मा भी भार रहित है, (२१) 'ज्योतिर्मयं' जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, और जगह नहीं रोकता है, तैसेही एक परमात्मा के आत्म प्रदेश के स्थान पर अनंत परमात्मा के आत्म प्रदेशों का समावेश हुआ है, तो भी सिद्ध स्थान की किंचित् मात्र भी जगह नहीं रुकती है। और जैसे दीपक की ज्योति प्रकाश करती है, तैसे ही परमात्मा का ब्रह्मज्ञान भी प्रकाश करता है। अंतर यह है कि वह दीपक ज्योति तो देश प्रकाशक होती है और गुलभी होजाती है; किन्तु ब्रह्मज्ञान सर्व प्रकाशक है एवं कदापि नाश को नहीं पाता है, (२२) 'अनंत वीर्य' आठ कर्मोमें के अंतिम कर्मका नाम अंतराय है। और पांच अंतराय में के अंतिम अंतराय का नाम वीर्य अन्तराय है। जिन्होंने आठ कर्म का नाश किया, अतएव जिनके अन्तराय कर्म का और अन्तराय कर्म के साथ वीर्य अन्तराय का नाश हुआ उनकी आत्मा में अनादि अखंड शक्ति प्रगट हुई, जिससे अनन्त वली हुवे। तथा जो अपूर्ण घड़ा होता है वही छलकता है परन्तु पूर्ण घड़ा कदापि छलकता नहीं है, इसही दृष्टान्त से जो अपूर्ण शक्तिवन्त हैं, वेही अपनी शक्ति आजमाने के लिये कम शक्ति वालों को दबाने का प्रयास करते हैं, परन्तु जो पूर्ण–अनन्त शक्ति के धारक परमात्मा हैं, उनको अपनी शक्ति किसी को जताने का कदापि इरादाही नहीं होता है, इसलिये शांत निश्चल भावको प्राप्त हुवे हैं, और उस शक्ति के प्रभाव से अनंत काल तक एकही स्थान पर रहने से भी कदापि थकते नहीं हैं, (२३) 'परिपूर्ण' प्रतिपूर्ण है। जिवन जगत् में उत्तमोत्तम गुण कहलाते हैं, उन सब गुणों से उनकी आत्मा प्रति पूर्ण भरी हुई है। अर्हंत (साकार) परमात्मा आश्रित तो द्रव्य रूप से सर्व अंगोपांग, शुभ लक्षण व्यंजनादि से परिपूर्ण हैं, और भाव रूपसे कर्म नष्ट होने के कारण

ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, तैसेही सिद्ध भगवंत में भी सब गुणों की पूर्णता जानना और तैसे ही आत्मा भी जान लेना (२४) 'पुरातन' परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं हुये और न किसी ने परमात्मा बनाये हैं। जो सिद्ध की स्थिति आश्रित * दो भंग कहे हैं वे तो व्यवहार नय आश्रित हैं। परन्तु आत्मा के सिद्ध मय जो गुण हैं, वे तो 'अणाया अपज्जबसीया' अर्थात् आदि अन्त रहित ही हैं। मात्र पटलान्तर का ही फरक है। यह पटल दूर होते ही आत्मा परमात्म पद को प्राप्त होता है, इसलिये आत्मा का परमात्म पद पुरातन ही है, (२५) 'विशुद्ध' अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, निराबाध, क्षायिक सम्यक्त्व, अजरामर, अरूपी, अखोड़, अनन्त शक्ति–ये आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इनपर जो ज्ञानावरणीय आदि आवरण हैं, वे दूर होने से अष्टगुण वन्त परमात्मा हुये हैं, और ये आत्मा के शक्ति रूप हैं। (२६) 'निर्द्वन्द्व' पुद्गलों के परिवर्तन के स्वभावों को यथावस्थित संपूर्ण तया जानने देखने वाले होने से उनमें विपर्यास पणा के परिवर्तन को देख कर परमात्मा को कभी किसी प्रकार की द्वन्द्वता—संकल्प विकल्पता नहीं होती है, क्योंकि द्वन्द्वता ही कर्मों का आकर्षण करती है। और परमात्मा तो अकर्मक हैं, उन्हें कर्म लगते ही नहीं हैं, इससे द्वन्द्वता होती नहीं है. और तैसेही आत्मा है (२७) 'निर्गतामय' सकर्मी जीव कर्मोंके उदय भावसे अनेक शारीरिक मानसिक विपत्तियां भोगते हैं। उन सब पीड़ाओं का कर्मों का नाश होने के साथ ही स्वाभाविक नाश होगया है, जिससे परमात्मा निरोगी है। और परमात्मा के निज प्रदेश भी निरोगी हैं, (२८) 'अप्रमेय' अपरिमाण हैं। यह शब्द संख्या और गुण दोनों में लागू होता है। संख्या आश्रित तो अनंत काल से सिद्ध होते ही जा रहे हैं, इस लिये अनन्त परमात्मा हैं। उनका प्रमाण किसी भी तरह नहीं होता है। तैसे ही अनंत ज्ञान आदि अनंत गुणों के धारक होने से गुण भी अनंत हैं। और आत्मा अनंत गुणकी सत्तावंत है, (२९) 'अपरिछिन्न' परमात्मा का स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है, अतः वे सर्व के जानने

---

* ', अणाइया अपज्जवसिया' आदि अंत रहित। और 'साइया अपज्जवसीया' आदि सहित और अंत रहित जैसे श्री महावीर प्रभु।

में नहीं आते हैं। उनके स्वरूप को तो वे ही जानेंगे कि—जिनके अंतःकरण में भेद विज्ञान का प्रकाश हुआ है। अर्थात् चैतन्य और जड़ को अलग जानने की सामर्थ्य प्रगट हुई है। वेही सम्यक्त्वी भी कहलाते हैं, (३०) 'विश्वतत्वव्यवस्थितम्' यह विश्वालय जीवादि तत्वों से परिपूर्ण भराहुआ है। उन सर्व तत्वों का भावभेद युक्त प्रतिभास, परमात्मा के आत्मा में हो रहा है। वह भासता निश्चय रूप है, न कि व्यवहार रूप, (३१) 'यदग्राह्य बाह्यभावै. ग्राह्यचान्तर्मुखं क्षणात्' यह परमात्मा का स्वरूप बाह्य भावों से ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म है, निरुपम है, निर्विकल्पक है। इस लिये जिनके अन्तरंग भाव हुये हैं, उनके तो क्षण मात्र में ग्रहण करने योग्य हैं। इस प्रकार से परमात्मा का स्वरूप संसार अवस्था मे तो शक्ति रूप है, और मुक्त अवस्था में व्यक्ति रूप है। ऐसा जानकर ध्यानस्थ महात्मा, इस विचार से स्वात्मा परमात्मा की एकता करते हुवे दृष्टि गोचर करें सो ध्यान है।

अष्टम अंग समाधि भाव है। ध्यान मे अधिक लीनता होने से समाधि प्राप्त होती है। तद्यथा—'तदेवार्थमात्रनिर्भासी समाधिः' ध्यान मे किये हुवे विचारों से एकता अभेदता प्राप्त होवे सो समाधि।

सोऽय समरसी भाव स्तदेकी करणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥
अनन्य शरणस्तद्धि तत्सल्लीनक मानसः।
तद्गुण स्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ॥

अर्थात्-समरसी भाव उसे कहते हैं कि-जिस भावमे आत्मा अभिन्नतया परमात्मामें लीन होजाय। तदनतर आत्मा और परमात्मा का जो समानता स्वरूप भाव है सो उस परमात्मा और आत्मा की एकता से जाना जाय सो एकी करण भाव है, इसमें परमात्मा के सिवाय अन्य किसी का भी आश्रय नहीं रहता है। और तद्गुण कहिये उन परमात्मा केही अनंत ज्ञानादि गुण उसमें संप्राप्त होवें, सो उसका शुद्ध स्वरूप आत्मा ही है। और तत्स्वरूपता से उसे परमात्मा ही कहना, ऐसी आत्मा परमात्मा की एकता से अन्य भावका विस्मरण होजाय सो समाधि।

इन उपरोक्त आठ प्रकारों से यथा क्रम मनको प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर, निवृत्ति मार्ग में रमण करने की युक्ति बताई है। मुमुक्षु जन इस युक्ति से मनका निग्रह करते हैं।

ये मन निग्रह की आठ बातें कही, जिनमें से इस वर्तमान काल में सप्तम ध्यान तक तो साधन हो सकता है। अष्टपाहुड़ में कहा है—

भरह दुस्सम काले, धम्म ज्झाणं हवइ णाणिस्स।
त अप्प सहवठि, एणहु नण्णइ सोदु अण्णाणी॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा, अप्पा ज्झाऊण लहइ इदत्त।
लोयंतिय देवत्त, तच्छाचु दाणि व्वुदिं जति॥

अर्थात्—इस भरत क्षेत्रमें जो वर्तमान अर्थात् पञ्चम काल है, इस में ज्ञानी जीवों के धर्म ध्यान होता है—इस बातको जो कोई नहीं मानता है वह अज्ञानी है। क्योंकि इस समय भी जो सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय है, इससे शुद्ध हुये जीव आत्माका ध्यान करके इन्द्रपने को अथवा लोकांतिक देवपने को प्राप्त होते हैं। और वहां से च्युत होकर नर पर्यायको धारण कर उसी भवसे मोक्ष जाते हैं।

इस वचनके अनुसार इस काल में भी ध्यान होता है। और ध्यान से इस भवमें आत्म धर्मकी प्राप्ति होती है, जिससे परमसमाधि भाव, परमानन्दी पणा, एकावतारीपणा, तथा तीर्थंकर गोत्रकी उपार्जना होती है।

ऐसा जानकर परमात्म पद प्राप्त करने के अभिलाषियों को परमात्माका ध्यान जरूर ही करना चाहिये।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपात, स्वरूप गुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता स्तएव साक्षादमृत पिबन्ति॥

अर्थात्—जो नयों के पक्षपात से और विकल्प जाल से अपने विचार की निवृत्ति कर के आत्म स्वरूपमें लीन हुये हैं वे साक्षात् सदा अमृत के घूंट पीते हैं। अर्थात्—परमानन्दमें गर्क होते हैं, और आखिर

परमात्म पद पाते हैं।

यह ध्यान, तपके प्रभावसे होता है, इसलिये तपका स्वरूप आगे के प्रकरणमें दर्शाने की इच्छा रखके यह प्रकरण पूर्ण किया जाता है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "खिणालव
निवृत्ति भाव" नामक चौदहवा प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–पन्दरहवाँ

"तव–तप"



ट्टी और धातु के समान जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। जैसे मिट्टीके सम्बन्ध से धातु को अलग करने वाली द्रव्य अग्नि होती है, तैसे ही जीव और कर्म के अनादि सम्बन्ध को अलग करने वाली तपरूप भावाग्नि शास्त्रमें बतलाई है। इस लिये मुमुक्षु यानी मोक्षार्थी जीवोंको तप करने की बहुत ही आवश्यकता है।

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥७॥

उत्तराध्ययन अ० ३०

अर्थ—उक्त तपके शास्त्र में मुख्य दो भेद किये हैं— बाह्य तप और अभ्यन्तर तप। इन दोनों में से प्रत्येक तप के सामान्यतया छः छः भेद किये हैं, यों तप के १२ भेद होते हैं। और विशेष प्रकारेण भेदानुभेद करने से तप के ३५४ भेद होते हैं, सो कहते हैं—

१ "अनशन तप" के २७ भेद।

१–२ अनशन तप के मुख्य दो भेद हैं—(१) 'इतरिया'—

थोड़े कालका मर्यादा युक्त (२) और 'आवकाहिए' जाव जीव मर्यादा रहित।

३-८ इतरीय तप के छः भेद हैं:-(१) 'श्रेणितप'- उपवास दो उपवास तीन उपवास (तेला) यावत् छः महीने का तप करे* (२) 'प्रतरतप' ४×४=१६ कोठों में अंक आवें, ऐसा तप करे। (३) 'घन तप' ८×८=६४ कोठों में अंक आवें ऐसा तप करे। (४) 'वर्ग तप' ६४×६४=४०९६ कोठों में अंक आवें ऐसा तप करे। (५) 'वर्गा वर्ग तप' ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ कोठों में अंक आवें ऐसा तप करे। और (६) 'प्रकीर्ण तप' मो अनेक प्रकार से तप करे।

९-२१ प्रकीर्ण तप के तेरह भेद हैं—१ कनकावली (२) रत्नावली (३) एकावली (४) मुक्तावली (५) बृहत् सिंह क्रीड़ा (६) लघुसिंह क्रीडा, (७) गुण रत्न संवत्सर, (८) सर्वतो भद्र-पडिमा (९) महा भद्र पडिमा (१०) भद्र पडिमा (११) यवमध्य पडिमा (१२) वज्र मध्य पडिमा (१३) आंविल वर्धमान तप,

२२-२७ आवकाहिय तप के छः भेद हैं—१ 'भत्त पच्चक्खाण' यावज्जीव चारही आहार का त्याग करे, (२) 'पादोपगमन' आहार और शरीर दोनों का जाव जीव तक त्याग करे, हले चले नहीं (३) 'पड़िकम्म' प्रतिक्रमण करे, (भत्त पचक्खाण वाले) (४) 'अपरि-कम्म' प्रतिक्रमण नहीं करे, (पादोपगमन वाले) (५) 'निहारिम' ग्राम में संथारा करें उनके शरीर का निहारण यानी दहन क्रिया होती है (६) 'अनहारिम' ग्राम के बाहिर अटवी पहाड़ आदि में संथारा करे, उनके शरीर का निहारण नहीं होता।

तपों के खुलासे के लिये अग्रिम यंत्र १-१३ देखिये।

* छः महीने से अधिक तिविहार या चौविहार स्थगलरूपतप नहीं होता है। परन्तु ऋषभ देवजी ने जो १२ महीने तप किया, वह पूर्वकृत कर्मों के भोग रूप था।

कनकावली तप नं० १

	१				१	
	२				२	
	३				३	
(३	३	३)		(३	३	३)
(३	*	३)		(३	*	३)
(३	३	३)		(३	३	३)
	१				१	
	२				२	
	३				३	
	४				४	
	५				५	
	६				६	
	७				७	
	८				८	
	९				९	
	१०				१०	
	११				११	
	१२				१२	
	१३				१३	
	१४		३		१४	
	१५		३ ३		१५	
	१६		३ ३ ३ ३		१६	
	३		३ ३ ३ ३		३	
	३		३ ३ ३ ३		३	
	३		३ ३ ३ ३		३	
			३ ३ ३ ३			
			३ ३			
			३			

रत्नावली तप नं० २

	१				१	
	२				२	
	३				३	
(२	२	२)		(२	२	२)
(२	*	२)		(२	*	२)
(२	२	२)		(२	२	२)
	१				१	
	२				२	
	३				३	
	४				४	
	५				५	
	६				६	
	७				७	
	८				८	
	९				९	
	१०				१०	
	११				११	
	१२				१२	
	१३				१३	
	१४		२		१४	
	१५		२ २		१५	
	१६		२ २ २ २		१६	
	२		२ २ २ २		२	
	२		२ २ २ २		२	
	२		२ २ २ २		२	
			२ २ २ २			
			२ २			
			२			

कनकावली तप की एक परिपाटी (लड) के तप दिन ४३४ पारणे ८८ जिसके महीने १७ और दिन १२ होते हैं, चार परिपाटी के ५ वर्ष ९ महीने १८ दिन।

रत्नावली तपकी एक परिपाटी के तप दिन ३८४ पारणे ८८ जिसके महीने १५ और दिन २२ होते हैं। चार परिपाटी ५ वर्ष २ मास २८ दिन में होती हैं।

एकावली तप नं० २

बायाँ	दायाँ
१	१
२	२
३	३
(१ १ १)	(१ १ १)
(१ * १)	(१ * १)
(१ १ १)	(१ १ १)
१	१
२	२
३	३
४	४
५	५
६	६
७	७
८	८
९	९
१०	१०
११	११
१२	१२
१३	१३
१४	१४
१५	१५
१६	१६
१	१
१	१
१	१
*	*

	१		
	१	१	
१	१	१	१
१	१	१	१
१	१	१	१
१	१	१	१
१	१	१	१
	१	१	
	१		

एकावली तपकी एक परिपाटी के तपदिन ३३४ पारणे ८८ जिसके मास १४ दिन २ होते हैं। चार परिपाटी में ४ वर्ष ८ महिने ८ दिन लगते हैं।

मुक्तावली तप नं० १

बायाँ	दायाँ
१	१
२	२
१	१
३	३
१	१
४	४
१	१
५	५
१	१
६	६
१	१
७	७
१	१
८	८
१	१
९	९
१	१
१०	१०
१	१
११	११
१	१
१२	१२
१	१
१३	१३
१	१
१४	१४
१	१
१५	१५
१	१
१६	१६

मुक्तावली तप की एक परपाटी के तप दिन ३०० पारणा दिन ६० जिसका पूरा एक वर्ष होता है। ४ परिपाटी ४ वर्ष में पूरी होती है।

वृहत् सिंह क्रीड़

	तप नं० ५	
१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१०		१०
९		९
११		११
१०		१०
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४		१४
१६	१५	१६

वृहत (वडा) सिंहकी क्रीडा वाले तपके दिन ४९७ पारणा ६१ जिसके महीने १८ और दिन १८ होते हैं, चार श्रेणी ६ वर्ष २ महीने १२ दिन में होती हैं।

लघु सिंह क्रीड़ा

	तप नं० ६	
१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९	८	९

लघु (छोटे) सिंह की क्रीड़ा जैसे तप के दिन १५४ पारणा ३३ सर्व ६ मास ७ दिन। चार ओलीमें २ वर्ष २८ दिन लगते हैं।

गुण रत्न संवत्सर नं० ७

तप दिन		पारणा	सर्व दिन
३२	१६ १६	२	३४
३०	१५ १५	२	३२
२८	१४ १४	२	३०
२६	१३ १३	२	२८
२४	१२ १२	२	२६
३३	११ ११ ११	३	३६
३०	१० १० १०	३	३३
२७	९ ९ ९	३	३०
२४	८ ८ ८	३	२७
२१	७ ७ ७	३	२४
२४	६ ६ ६ ६	४	२८
२५	५ ५ ५ ५ ५	५	३०
२४	४ ४ ४ ४ ४ ४	६	३०
२४	३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३	८	३२
२०	२ २ २ २ २ २ २ २ २ २	१०	३०
१६	१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १	१६	३२

गुणरत्न संवत्सर के तप दिन ४०८ पारणे ७४ सर्व दिन ४८२ जिसके १६ महीने २ दिन हुए

सर्वतोभद्र प्रतिमा तप
नं० ८

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

सर्व तो भद्र प्रतिमा तप। तपदिन ३९२ पारणे ४९ सर्व ४४१ दिन होते है।

महाभद्र प्रतिमा तप नं० ९

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

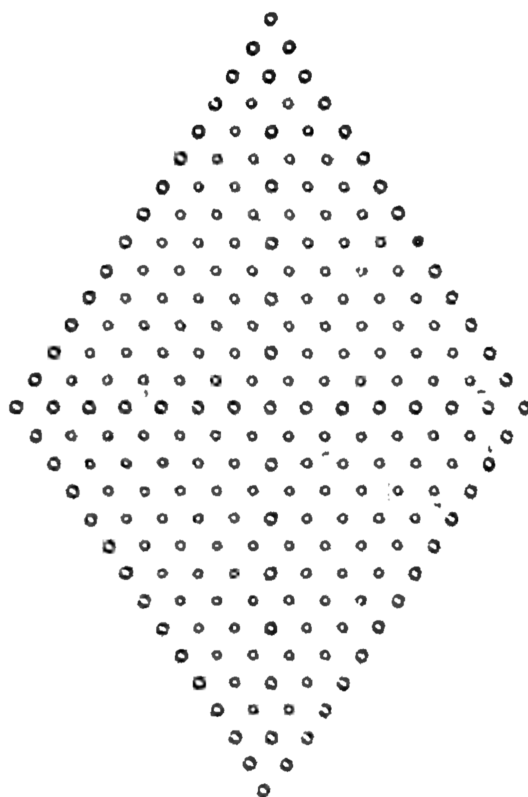
महाभद्र प्रतिमा तप। तप दिन १९६ पारणे ४९

भद्रप्रतिमा तप
नं० १०

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

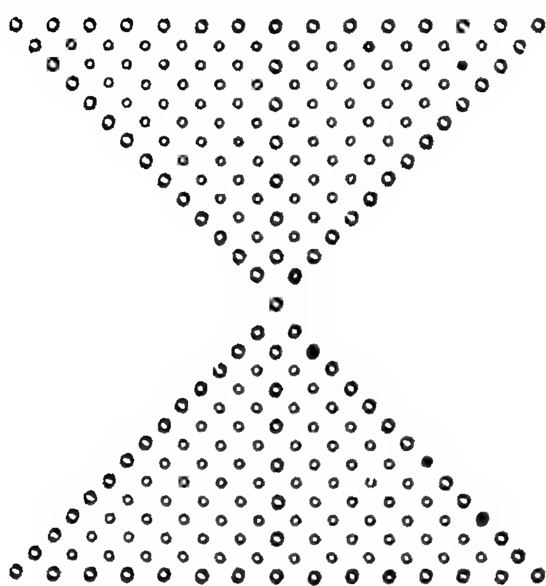
भद्रप्रतिमा तप
तपदिन ७५
पारणे २५

यव मध्य प्रतिमा तप
नं० ११



यव मध्य प्रतिमा तप वाला, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास भोगवे फिर एकेक ग्रास बढ़ाता अमावस्या को १५ ग्रास भोगवे, और फिर कृष्ण प्रतिपदा से एकेक ग्रास घटाता हुवा पूर्णिमा को एक ही ग्रास भोगवे, ये दोनों तप एकेक महीने में होते हैं।

वज्र मध्य प्रतिमा तप नं० १२



वज्र मध्य प्रतिमा तप करने वाले शुक्ल पक्षकी पूर्णिमा को १५ ग्रास (कला) भोगे फिर एकेक ग्रास घटाता हुआ अमावस्या को एक ही ग्रास भोगे और फिर प्रतिपदा से एकेक ग्रास वढाता हुआ पूर्णिमा को १५ ग्रास भोगे।

प्रकीरण तप नं० १३			
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

तपदिन ४० पारणा दिन १६ सर्व दिन ५६ चार ओली के ७ महीने १४ दिन।

इन सब तपों के नाम श्रीउववाइ जी सूत्र में हैं और इन की विधि तथा कर्त्ता महात्माओं के नाम श्रीअंतगडदशांग सूत्र में हैं। इन सर्व तपों की परिपाटी चार (ओली श्रेणी) की जाती है अर्थात ऊपर लिखे मुजब एकेक तपको चार २ वक्त करते हैं उस में पहिली वक्त पारणे में विगय (घृतादि) भोगते हैं दूसरी परिपाटी में पारणा के दिन नीवी करते हैं अर्थात रूखी सूखी रोटी छाछके साथ खाके रहते हैं, तीसरी ओली में अलेप (सूखी) वस्तु भोगते हैं, और चौथी श्रेणी में आय-बिल करते हैं अर्थात एक ही धान्य पाणी में भीजो के खाके रहते हैं। तब ही मोक्ष पाते हैं।

२ "उणोदरी तप" के १३ भेद।

२८–२९ मुख्य रूप से उणोदरी के दो भेद हैं—१ द्रव्य से उणोदरी और भाव से उणोदरी।

३०–३२ द्रव्य से उणोदरी के तीन भेद हैं (१–३) वस्त्र, पात्र, उपकरण कम करे।

३३–४० भाव से उणोदरी के आठ भेद हैं (१–८) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, क्लेश ये सात घटावे, और थोड़ा बोले।

३ " भिक्षा चरी तप " के ४६ भेद ।

४१–४४ मुख्यतः भिक्षाचरीके चार भेद हैं—१ द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से, (४) और भाव से ।

४५–७० द्रव्य से भिक्षाचरी के छव्वीस भेद हैं—(१) 'उखित-चरिये' पात्र में से वस्तु निकालकर देवे सो लेवूं (२) 'निखित चरिये' पात्र में वस्तु डालता हुआ देवे सो लेवूं, (३) ' उखित निखित चरिये' पात्र में से निकालता पुनः डालता हुआ देवे सो लेवूं (४) ' निखित-उखित चरिये ' पात्र में डालता हुआ एवं पुनः निकालता हुआ देवे सो लेवूं (५) ' वट्टीज माण चरिये ' दूसरे को परोसता हुआ देवे तो लेवूं (६) ' साहारिज माण चरिये ' दूसरे को परोसे बाद बचा हो सो लेवूं (७) ' अवणिजमाण चरिये ' दूसरे को देने लेजाता हो सो लेवूं (८) ' उवणिज माण चरिये ' दूसरे को देकर पुन लाता हुआ देवे सो लेवूं (९) उवणिज अवणिज माण चरिये ' दूसरे को देकर पीछा लेकर देवे सो लेवूं (१०) ' अवणिज उवणिज माण चरिये ' दूसरे के पास से लेकर देवे सो लेवूं (११) ' संसठ चरिये ' भरे हुवे हाथों से देवे तो लेवूं (१२) ' असंसठ चरिये ' विना भरे हाथों से देवे तो लेवूं (१३) ' तज्जाए संसठ चरिये ' जिस द्रव्य से हाथ भरे हों वही द्रव्य देवे तो लेवूं (१४) ' अन्नाए चरिये ' मुझे पहचाने नहीं वहां से लेवूं (१५) ' मोणं चरिये ' विना बोले चुप चाप देवे सो लेवूं (१६) ' दिठ लाभए ' वस्तु दिखा कर देवे तो लेवूं (१७) ' अदिठ लाभए ' विना दिखाई वस्तु देवे सो लेवूं (१८) ' पुठ लाभए ' अमुक वस्तु लोगे, यों पूछ कर देवे तो लेवूं (१९) ' अपुठ लाभए ' विना पूछे देवे सो लेवूं (२०) ' भिख लाभए ' मेरी निंदा करके देवे तो लेवूं (२१) ' अभिख लाभए ' मेरी स्तुति करके देवे तो लेवूं (२२) ' अन्न गिलाए ' जिसके भोगने से शरीर को दुःख होवे ऐसा आहार लेवूं (२३) ' उवणी हिए ' गृहस्थ भोगता होवे उसमें से लेवूं (२४) ' परमित पिंडवतिए ' सरस आहार लेवूं (२५) ' सुद्धे सणिए '

बारम्बार चौकम करके लेवूं (२६) 'संक्खा दत्तीए' कड़छी तथा वस्तु की गिनती करके लेवूं।

७१-७८ क्षेत्र से भिक्षाचरी के आठ भेद हैं — (१) संपूर्ण पेटी की तरह गोचरी अर्थात् चारों कोनों के घर फर से (२) 'अर्ध पेटी की तरह गौचरी' अर्थात् दोनों कोने के घर फरसे (३) 'गोमूत्र की तरह गौचरी' अर्थात् एक इस लायन का तो दूसरा उस लायन का, इस प्रकार गोमूत्र के ढंग से गोचरी करे। (४) 'पतगिया गौचरी' पतंग के समान छूटकर घरों से आहार लेवे (५) 'अभ्यन्तर संखावृत गोचरी' पहिले नीचे का फिर उपरका, यों घर फर से (६) 'बाह्यसंखा-वृत गौचरी' पहिले उपर का फिर नीचेका यों घर फरसे (७) गौचरी जाते समय ही आहार लेवे वापिस लौटते नहीं लेवे (८) आते हुए आहार लेवे जाते हुए नहीं लेवे।

७९-८२ काल से भिक्षाचरी के चार भेद हैं—(१) पहिले पहर का लाया तीसरे पहर में भोगे (२) दूसरे पहर का लाया चौथे पहर में भोगे (३) दूसरे पहर का लाया तीसरे पहर में भोगे, ४) पहिले पहर का लाया दूसरे पहर में भोगे।

८३-८६ भावसे भिक्षाचरी के चार भेद हैं—(१) सर्व वस्तु पृथक् पृथक् भोगवे, (२) सर्व वस्तु मिलाकर भोगवे (३) इच्छित वस्तु का त्याग करे, (४) मुख में ग्रास फिरावे नहीं, तथा परिमाण से न्यून ही आहार करे।

४ "रस परित्याग तप" के १० भेद।

८७-९६ (१) 'निव्वितिए' दूध, दही, घी, तेल, मिठाई, इन पांचों का त्याग करे, (२) 'पणिएरस परिचए' धार विगय तथा ऊपर से विगय लेना छोडे, (३) 'आयम सित्थ भोए' औसावण में के कण यानी दाने खाकर रहे (४) 'अरस आहारे' रस और मसाले रहित आहार भोगवे (५) 'विरस आहारे' पुराना धान्य सीझा हुआ भोगवे (६) 'अंत आहारे' उड़द चणा प्रमुख के बाकले भोगवे (७) 'पंत-आहारे' ठंडा बासी आहार भोगवे (८) 'लूह आहारे' लूखा सूखा आहार भोगवे, (९) 'तुच्छ आहारे' निःसार तुच्छ आहार

भोगवे, (१०) अरस विरस, अंत पंत, लुख तुच्छ, सब कुछ परस्पर मिलाकर भोगवे।

५ " काय क्लेश तप " के १८ भेद।

९७-११४ बारह भिक्षुक (साधु) की पड़िमाः-(१) पहिली पड़िमा में एक महीने तक एक दात आहार की और एक दात पानी की लेवे (२) दूसरी में दो महीने तक दो दात आहार और दो दात पानी (३-७) तीसरी में तीन यावत् सातमी में सात महीने तक सात दात आहार सात दात पानी लेवे, (८-१०) आठमी नवमी और दशमी मे सात सात दिनचोविहार एकान्तर उपवास करे, (११) ग्यारहमी में बेला करे, (१२) बारमी में तेला करे, श्मशान में कायोत्सर्ग करे, १३ कायोत्सर्ग करके खड़ा रहे १४ उकड्डू आसन आदि नाना प्रकार के आसन करे, १५ केशका लोच करे, १६ उग्र विहार करे, १७ शीत ताप सहे, १८खाज नहीं खोरे इत्यादि।

६ " प्रति संलीनता तप " के १६ भेद।

११५-११८ मुख्य रूप से प्रति संलीनता के चार भेद हे- १ इन्द्रिय प्रति संलीनता २ कषाय प्रतिसंलीनता, ३ योग प्रतिसंलीनता, ४ विविक्तशय्याशन प्रतिसंलीनता, सो स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थान में रहे।

११९-१२३ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच भेद (१-५) श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्श, इन पांचों इन्द्रियों को अपने वश में करे

१२४-१२७ कषाय प्रतिसंलीनता के चार भेद हैं:-(१-४) क्रोध मान-माया-लोभ इन चारों कषायों का त्याग करे।

१२८-१३० योग प्रतिसंलीनता के तीन भेदः-(१-३) मन वचन काया-इन तीनों को वश में करे।

ये बाह्य यानी प्रगट तप के ३० भेद हुए।

७ " प्रायश्चित्त तप " के १० भेद।

१३१-१४० दश प्रकार से दोष लगावेः-१ कंदर्प के वश, २ प्रमाद के वश, ३ अज्ञान से, ४ क्षुधा के वश, ५ आपत्ति के वश, ६ शंका के वश, ७ उन्माद के वश, ८ भय के वश ९ द्वेष के वश, १० और परिक्षा के निमित्त।

१४१–१५० अविनीत (पापी) दश प्रकार से आलोयणा करे, १ क्रोध उपजाकर, २ प्रायश्चित के भेद पूंछकर, ३ दूसरे की देखा देखी दोष कहे, ४ छोटे छोटे दोष कहे ५ बड़े बड़े दोष कहे, ६ बोलते गड-बड़ करे, ७ लोगों को सुनाकर कहे ८ बहुत लोगों के सन्मुख कहे, ९ प्रायश्चित के अनजान के आगे कहे, और १० सदोषी के आगे कहे

१५१–१६० दश गुण का धारक आलोयणा करेः–१ आत्मा का खटका वाला, २ जातिवत, ३ कुलवन्त, ४ विनयवन्त, ५ ज्ञान-वन्त, ६ दर्शनवन्त, ७ चारित्र वन्त, ८ क्षमावन्त, ९ वैराग्यवन्त, और १० जितेन्द्रिय ।

१६१–१७० दश गुण का धारक प्रायश्चित्त दे सकता है –१ शुद्धाचारी २ व्यवहार शुद्ध, ३ प्रायश्चित की विधि का ज्ञाता ४ शुद्ध श्रद्धावन्त, ५ लज्जा दूर करके प्रायश्चित देने वाला ६ शुद्ध करने समर्थ ७ गंभीर, ८ दोष स्वीकार करा के प्रायश्चित देने वाला ९ विचक्षण, और १० प्रायश्चित लेने वाले की शक्ति का ज्ञाता ।

१७१–१८० दश प्रकार के प्रायश्चितः–१ " आलोयणा " गुरू के आगे पाप प्रकाशे २ " प्रतिक्रमण "–पश्चात्ताप युक्त मिथ्या दुष्कृत देवे, ३ " तदुभय " आलोचना और मिथ्या दुष्कृत दोनों करे, ४ " विवेगे ' अकल्पनीक वस्तु परिठावे, ५ " विउसग्ग '–ईर्यावही आदि कायोत्सर्ग करे, ६ ' तवे '–आंबिल उपवासादि तप करे, ७ ' छेद ' चारित्र में से दिन मास आदि कम करे, ८ 'मूल'–दूसरी बार पुनः दीक्षा देवे, ९ " अपावठप " उठने की शक्ति नहीं रहे, ऐसा तप करावे, १० " पारंचिय " छः महीने या बारा वर्ष तक सम्प्रदाय के बाहिर रक्खे ।

८ " विनय तप " के ८२ भेद ।

१८१–१८७ मुख्यतया विनय के सात भेद हैं १—ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र विनय, ४ मन विनय, ५ वचन विनय, ६ काया विनय ७ लोक व्यवहार विनय ।

१८८–१९२ ज्ञान विनय के पन्दरह भेद—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यव, केवल इन पांच ज्ञानों के धारक महानुभावों का विनय करे ।

१९३–१९४ दर्शन विनय के दो भेद सत्कार करे, और अशातना टाले।

१९५–२३९ अनाशातना विनय के ४५ भेदः–१ अर्हंत, २ अर्हंत प्ररूपित धर्म ३ आचार्य, ४ उपाध्याय, ५ स्थविर, ६ कुल, ७ गण, ८ संघ ९ क्रियावन्त, १० संभोगी, ११ मति ज्ञानी, १२ श्रुत ज्ञानी, १३ अवधि ज्ञानी, १४ मनः पर्यव ज्ञानी, और १५ केवल ज्ञानी इन १५ की अशातना नहीं करे, इन १५ की भक्ति करे और इन १५ के गुणानुवाद करे। यों १५ को ३ गुणा करने से १५×३=४५ भेद हुए

२४०–२४४ चारित्र विनय के ५ भेदः–१-५ सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथा ख्यात–इन पांच चारित्र वालो का विनय करे।

२४५–२४६ मन विनय के दो भेदः–मनको पाप मार्ग से निवारे, और धर्म मार्ग मे प्रर्तावे।

२४७–२४८ वचन विनय के दो भेदः–पापकारी वचन छोड़े और धार्मिक वचन उच्चारण करे।

२४९–२५५ काया विनय के ७ भेदः—१–७ चलते, खड़े रहते, बैठते, सोते, उल्लंघते, पलंघते और सर्व इन्द्रियों को अयत्ना से निवारे एवं यत्ना मे प्रवर्तावे।

२५६–२६२ लोक व्यवहार विनय के ७ भेदः–१गुरु की आज्ञा में चले, २ गुणाधिक स्वधर्मी की आज्ञा में चले, ३ स्वधर्मी का कार्य करे, ४ उपकारी का उपकार माने, ५ चिंता उपशमावे ६ सदा विचक्षणता से प्रवर्ते और ७ देश काल के योग प्रवृत्ति करे।

९ "वैयावच्च तप" के १० भेद।

२६३–२७२, १ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ नवदीक्षित, ४ रोगी ५ तपस्वी, ६ स्थविर, ७ स्वधर्मी, ८ कुल–गुरु भाई ९ गण–संप्रदाय, और संघ इन दशों की आहार, वस्त्र, स्थान आदि से सेवा भक्ति करे।

१० " सज्झाय तप " के ५ भेद ।

२७३-२७७, १वायणा-सूत्र पढे, २ पूछणा-अर्थ पूछे, ३ परियट्टणा--बारम्बार फेरे, ४ अणुप्पेहा--दीर्घ दृष्टि से विचारे, और ५ धम्म कहा--धर्म कथा व्याख्यान करे।

११ " ध्यान तप " के ४८ भेद ।

२७८-२८१ ध्यान के मुख्य ४ भेद हैं—१ आर्त ध्यान २ रौद्र ध्यान, ३ धर्म ध्यान, ४ शुक्ल ध्यान।

२८२-२८५ आर्त ध्यान के चार भेद, १--२ मनोज्ञ अच्छे शब्दादि विषयों का संयोग और अमनोज्ञ बुरों का वियोग चिंतवे ३--४ ज्वरादि रोगों का नाश और काम भोग सदा बने रहें, ऐसा चिंतवे।

२८६-२८९ आर्त ध्यानी के लक्षण—१ आक्रंद करे २ शोक करे, ३ अश्रुपात करे और ४ विलापात करे।

२९०-२९३ रौद्र ध्यान के चार भेद—१-४ हिंसा में, झूंठ में, चौरीमें, और विषय भोग में अनुरक्त होवे।

२९४-२९७ रौद्र ध्यानी के लक्षण १-२ हिंसा आदि पांच ही आश्रव का एक बार या बारम्बार चिन्तन करे, ३ अज्ञान भाव से अकृत्य करे एव हिंसा धर्म की स्थापना करे और ४ मृत्यु पर्यंत पाप का पश्चात्ताप नहीं करे।

(इन आर्त और रौद्र दोनों ध्यानों को त्यागने से तप होता है)

२९८-३०१ धर्म ध्यान के चार पाद--१ ' आणा विचय ' श्री तीर्थंकर की आज्ञा का चिंतवन करे, २ ' अवाय विचय ' राग द्वेष के नाश का चिंतन करे ३ ' विवाग विचय ' शुभा शुभ कर्मों से ही सुख दुःख होता है, ऐसा विचार करे और ४ 'सठाण विचय'–लोक के किंवा वस्तु के संस्थान (आकार) का विचार करे।

३०२-३०५ धर्म ध्यानी के चार लक्षण—१ ' अणारुइ ' तीर्थंकर की आज्ञा पर रुचि जगे, २ ' निसग्ग रुइ ' तत्वातत्व जानने

की रुचि जगे, ३ ' उपदेश रुइ ' सद्बोध श्रवण करने की रुचि जगे, और ४ ' सुत्त रुइ ' सूत्र पढने की रुचि जगे।

३०६–३०९ धर्म ध्यानी के चार आलंबनः–१ वायणा, २ पूछना ३ परियट्टना, ४ धर्म कथा।

३१०–३१३ धर्म ध्यानी की चार अनुप्रेक्षा–१ 'अणिचाणुप्पेहा' पौद्गलिक पदार्थ सर्व अनित्य हैं, २ ' असरणाणुप्पेहा-' संसार में कोई भी आश्रय दाता नहीं है, ३ ' एगत्ताणुप्पेहा ' चैतन्य सदा अकेला ही है, ४ ' ससाराणुप्पेहा ' चार गति के परिभ्रमण में महा दुःख है।

३१४–३१७ शुक्ल ध्यान के चार पाद १ ' पुहतवीयके सवीयारी ' वितर्क और विचार सहित, २ ' एगत्तविय के अवीयारी ' वितर्क सहित और विचार रहित, ३ 'सुहम किरिय अपडिवाइ ' ईर्यावही क्रिया युक्त अप्रतिपाती और ४ 'समुच्छिन्न किरिय अनियट्टी'–सर्व क्रिया रहित मोक्ष गामी।

३१८–३२१ शुक्ल ध्यानी के चार लक्षणः–१ 'विवेग '–तिल और तेल के समान आत्मा और कर्म को भिन्न भिन्न जाने, २ 'विउसग्ग' बाह्य और अभ्यन्तर संयोग से निवृत्त हो ३ ' अवहे ' अनुकूल प्रतिकूल परिसह समभाव से सहे, ४ ' असमोह '–मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषयों पर राग द्वेष नहीं करे।

३२२–३२५ शुक्ल ध्यानी के चार आलम्बनः–' खंत्ति ' क्षमावंत २ ' मुत्ति ' निर्लोभ ३ ' अज्जव ' सरलता और ४ ' मद्दव ' निरभिमानिता।

३२६-३२९ शुक्ल ध्यानी की चार अनुप्रेक्षाः-१ ' आवायाणुप्पेहा '–पांचहीं आश्रव अनर्थ के मूल है २ ' असुभाणुप्पेहा ' पुद्गल द्रव्य ही अशुभ कर्ता है, ३ अनंत वितीयाणुप्पेहा ' अनंत पुद्गल परावर्तन आत्मा ने किये हैं, और ४ ' विपरिणामाणुप्पेहा ' पुद्गल का स्वभाव सदा पलटता ही रहता है।

१२ " विउसग्ग तप " के २५ भेद ।

३३०–३३१ मुख्य रूप से विउसग्ग तप के दो प्रकार हैं–द्रव्य विउसग्ग और भाव विउसग्ग ।

३३२–३३५ द्रव्य विउसग्ग के चार भेदः—१ ' शरीर विउसग्ग ' शरीर की ममता त्यागे २ ' गण विउसग्ग '–गण यानी सम्प्रदाय त्यागे ३ ' उवहि विउसग्ग ' वस्त्र पात्र आदि उपधि त्यागे, और ४ ' भत्तपान विउसग्ग ' आहार पानी का त्याग करे ।

३३६–३३८ भाव विउसग्ग के तीन भेदः—१ कषाय विउसग्ग २ संसार विउसग्ग और ३ कर्म विउसग्ग ।

३३९–३४२ कषाय विउसग्ग के चार भेद—१-४ क्रोध, मान माया- लोभ का त्याग करे ।

३४३–३४६ संसार विउसग्ग के चार भेद–१-४ नर्क तिर्यंच मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जाने के कर्मों का त्याग करे ।

३४७-३५४ कर्म विउसग्ग के आठ भेद—१ ज्ञान वरणीय २ दर्शना वरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र, और ८ अन्तराय–इन आठ कर्मों के बन्धन के कारणों से आत्मा को बचावे ।

यह छ प्रकार के, अभ्यन्तर तप का विवेचन किया ।

उक्त रीत्या तप के जघन्य दो, मध्यम बारह, और उत्कृष्ट ३५४ भेदों का संक्षिप्त वर्णन है । इनका विस्तार उववाईजी, उत्तराध्ययनजी सूत्रों, और जैन तत्व प्रकाश आदि ग्रन्थों में से जानना ।

इस भांति ३५४ प्रकार का तप, दशवैकालिक सूत्र के नवम अध्याय के चौथे उद्देश में कहे अनुसार करे–

तथा च सूत्रम् ।

चउव्विहा खलु तव समाही भवइ त जहा—नो इह लोगठयाए
तव महिठेज्जा, नो परलोग ठयाए तव महिठेज्जा,

नो क्त्ती वण सद्द सिलोगठयाए तव महिठेज्जा, नन्नत्थ निज्जर
ठयाए तव महिठेज्जा, चउत्थ पय भवइ, एत्थ सिलोगो—
विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जर ट्ठिए।
तवसा धूणइ पुराण पावगं, जुत्तो सया तव समाहिए ॥ ३ ॥

अर्थात्—गुरु महाराज फरमाते हैं कि अहो शिष्य! निश्चय से तपकी समाधि चार प्रकार से होती है;:-(१) इस भव के लब्धि ऋद्धि आदि सुखों की इच्छा से भी तप नहीं करे, (२) परलोक के सुख देवता की ऋद्धि या चक्रवर्ती आदि की पदवी प्राप्त करने की इच्छा से भी तप नहीं करे, (३) सर्व दिशाओं में कीर्ति फैलाने की इच्छा से भी तप नहीं करे, (४) पूर्वोक्त तीनों ही प्रकार की इच्छा से रहित मात्र एकान्त कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप करे। अनेक प्रकार के गुण युक्त तप में सदा अनुरक्त रहे, यथाशक्ति तप करने का उद्यम करे, क्योंकि सर्व प्रकार की इच्छा से रहित एकान्त निर्जरा के लिये जो तप करेंगे, वे ही पूर्व जन्म कृत पापों को क्षय करेंगे, और उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थंकर गोत्र की उपार्जना करेंगे। ऐसा जानकर परम पद के अभिलाषियों को शूरवीर धीर बन कर तप रूप धर्म की आराधना जरूरही करनी चाहिए।

जो दानेश्वरी होते हैं, वे ही तप मार्ग में प्रवृत्त हो सकते हैं, इस लिये दान का अधिकार वर्णन करने की इच्छा से, इस प्रकरण की यहां समाप्ति की जाती है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "तव-
तप" नामक पंदरहवा प्रकरण समाप्त।



॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रकरण–सोलहवाँ

"चेइय–दान"

दान सुपात्रं विशदंच शील , तपो विचित्र शुभ भावना च ।
भवार्णवोत्तारणयानपात्र , धर्मं चतुर्द्धा मुनयो वदति ॥



अर्थात्—सुपात्र को दान, शुद्ध शील, विचित्र प्रकार का तप और शुभ भाव–ये चारों संसार समुद्र से तारने वाले यान पात्र यानी जहाज हैं, ऐसा मुनियों ने फरमाया है।

उक्त चेइय शब्द के ग्रन्थो में ११२ अर्थ किये हैं, इस लिये यह शब्द बड़ा गहन है। जिस स्थान पर जो अर्थ योग्य लागू हो उस स्थान पर वही अर्थ करने से यथार्थ वाद कहा जाता है। पाच प्रतियों का अवलोकन किया तो सबमें इस शब्द का उक्त स्थान पर दान ही अर्थ मिला है।

कितने ही चेइय शब्द का अर्थ प्रतिमाही करते हैं, वह प्रतिमा कौनसी, जिसका खुलासा दिगम्बर आम्नाय के अष्ट पाहुड जी सूत्र के चौथे बोध पहुड मूलमें और अर्थ में चेइय–सिद्धायतन और प्रतिमा का अर्थ इस प्रकार किया है—

—सिद्धंजस्स सदत्थ , विशुध्द ज्ञाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिध्दायदणं सिध्द , मुणिवरवसहस्स मुणिन्दत्थ ॥ ७ ॥

दान की महिमा।

श्री पूर्वाचार्यों ने धर्म के मुख्य चार साधन फरमाये हैं, दान शील, तप, और भाव। इन चारों का क्रमशः आराधन करने पर ही सच्चे धर्म की आराधना हो सकती है। देखिये, धर्म के प्रवर्तक स्वयं श्री तीर्थंकर भगवान ही मोक्ष मार्ग को अंगीकार करते समय अनुक्रम से इन चार ही की आराधना करते हैं। प्रथम तो दीक्षा लेने के पहिले बारह महिने तक नित्य एक क्रोड़ और आठ लाख (१०८००००० सोलह मासे की सुवर्ण की मोहर) सुवर्ण मुद्राओं का दान देते हैं, इस भांति दान धर्म की पहिले आराधना करके फिर शील अर्थात् चारित्र ग्रहण करते हैं; और फिर तप करते हैं। तब कहीं क्षायिक भाव की प्राप्ति होने

अर्थात्—जो मुनि सिद्ध समीचीन शुद्ध ध्यान युक्त आत्माके धारी मोक्ष प्राप्त करेंगे, उनका शरीर ही सिद्धायतन है।

बुध्द जो बोहतो , अप्पाण चेइयाइ आणंच।
पचमहव्वयसुध्द , णाणमयजणचेदिहर ॥ १० ॥

अर्थात्—जो मुनि ज्ञानवान, आत्मा के जानने वाले, चेतना युक्त, पचमहाव्रत शुद्ध पालने वाले है उन्ही मुनियों को चैत्य या देहरा जानना, न कि पाषाणादि।

सथरा जंगम देहा , दसण णाणेण सुध्द चरणाण।
निग्गथ वीयराया , जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

अर्थात्—सम्यक्त्वी ज्ञानी शुद्ध चारित्री निर्ग्रन्थ वीतराग मुनियो का चलन शक्ति रूप जो शरीर है, सो जिन मार्ग की प्रतिमा है।

अणतदसण अणत णाण, वीरियं अणत सुक्खं य।
सासय सुखपदेहा, मुक्का कम्मटबधेहि ॥ १३ ॥
णिरूवममचल मक्खाहा, णिम्मविया जंगमेण रूवेण।
सिध्दट्ठाणम्मि ठियावो, सा पडिम्मा धुवासिद्दा ॥१४॥

अर्थात—जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप अनन्त चतुष्टय के धारक हों, अष्ट कर्मों के बन्धन से मुक्त हों, शाश्वत

पर घन घातिक कर्म का नाश करके केवल (ब्रह्म) ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके अनंतर जिस मार्ग से अर्थात् दान आदि चारों को अनुक्रम से आराधना करने से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति हुई, उसही मार्ग में मुमुक्षुजनों को प्रवृत्त करने के लिये परमात्मा ने इन चारही बातों का द्वादशांगी द्वारा विविध भांति सदुपदेश दिया।

अस्तु जिस मार्ग से अपने परम पूज्य पुरुषों ने आत्महित साधा और जिस मार्ग को स्वीकार करने के लिये हमें विविध भांति से फरमान किया उसी मार्ग पर चलने से अपनी आत्मा का कल्याण होगा, न कि छलांग मारकर दान शील को छोड़ एक दम तपस्वीराज महाराजाधिराज बन जाने से, और घणी खमा के नारों से अभिमान में फूल जाने से !

—सुखमय बने हों जो निरुपम अचल और अवाबाह—सर्व बाधा पीड़ा रहित होकर सिद्ध स्थान में चैतन्य रूपेण स्थित हैं वेही सिद्ध भगवत की ध्रुव प्रतिमा हैं। इस भाँति अनेक प्रमाण प्रतिमा पूजको के ग्रन्थो मे ही मिलते हैं, इसके विपरीत जो पाषाणादि की मूर्ति का अर्थ करते हैं, यह सत्य संभवित नहीं है, क्योकि—जिन प्रतिमा यानि मूर्ति की स्थापना तो पीछे से हुई है। इसके विषय में नीचे देखिये—"श्राद्धगुण विवरण" नामक पुस्तक का तृतीय भाग (ट्रैक्ट नं० ७२), अनुवादक पंन्यास श्री सोहन विजय जी महाराज, प्रकाशक—श्री आत्मानद जैन ट्रैक्ट सोसायटी अंबाला शहर, वीर सम्वत् २४५१, विक्रम सं० १९८१ आत्म सं० २९ इसके पृष्ठ ११ मे छपा है कि—मधुमति (महुआ) के रहने वाले भावड सेठ किसी पर्व के दिन सिद्धाचल तीर्थपर यात्रा करने को गया, परंतु वहा पर स्नात्र के योग्य जिन प्रतिमा के न होने से स्नात्र वगैरह धर्म कृत्य न हो सके। सेठजी की आँखों में से अश्रु की धारा चल पड़ी, पिता की ऐसी दशा को देखकर जावड सेठ ने उसका कारण पूछा तब भावड सेठ ने कहा "हे पुत्र ! गिरिराज पर जिन प्रतिमा के न होने से स्नात्र पूजा न कर सका" यह बात सुनकर जावड सेठ ने प्रतिज्ञा की कि मै इस तीर्थ पर एक जिन प्रतिमा की स्थापना करूंगा। बाद में जावड सेठ ने काशमीर के नव पुल्ल नगर में जाकर नौलाख सोने की मोहरों से श्री ऋषभदेव श्री पुण्डरीक गणधर और चक्रेश्वरी देवी की तीन मूर्तियां लाकर दशलाख सोना मोहर खरच करके सम्वत् १०८—

" दान का अर्थ और भेद "

दान शब्द की धातु 'दा' है, इसका अर्थ देना होता है—अर्थात् किसी भी निमित्त से किसी को किसी प्रकार की वस्तु दी जाय, उसे दान कहते हैं। इस दानके श्रीठाणांगजी सूत्र में दश भेद कहे हैं—

—अणुकंपी सग्गेहं चेव, ऽ भैय कालुंणिए तिए।
लज्जाए गारँवा ण च, अहँम पुण सत्तम ॥
धर्म्मं अट्ठम वुत्तं, काहीतिय कयतिंयं।

अर्थात्—१ अनुकम्पा दान, २ संग्रहदान, ३ अभयदान, ४ करुणा दान, ५ लज्जादान, ६ गर्वदान, ७ अधर्मदान, ८ धर्मदान, ९ काहीदान, और १० कीर्ति दान, इन दशों का सविशेष वर्णन किया जाता है:—

—चितामणी ना कर्ता मेरू तुंगसूरी आ उध्दार ना संबध मां जणावेछे के—काठीयावाड़ ना कोई सूवर नामना मंडलीक शत्रुने जीतवा माटे महाराजा कुमार पाल पोताना मत्री उदयन ने मोटी सेना आपी मोकल्यो; बढवाण शेहरने पासे जे बखत मत्री पहोंच्यो ते बखते शत्रुंजय नजीक रह्यो जाणी सेना ने आगल काठियावाड़ मा रवाने कर्यो, पोते गिरीराज नी यात्रा करवा माटे शत्रुंजय तरफ रवाना थयो, शत्रुंजय ऊपर पहोंची त्या भगवन्त प्रतिमाना दर्शन वदन अने पूजन कर्युं, ते बखते मदिरनी स्थिती बहु जीर्ण हती, मत्री पूजन करी प्रभु प्रार्थना माटे रग मंडपमां बेठा, ते वखते मदिरनी कोइ फाट माथी एक उंदर निकल्यो, दीवानी बत्ती मोंमा लइने क्यांक चल्यो गयो, अप्रसग देखी मंत्रीए दिलगीरी साथे विचार कर्यो के मदिर काष्ट मय अने जीर्ण होवाथी आवीरीते कोइ बखते अग्नि लागीजाय तो तीर्थ नी भारी अशातना थाय। मत्रीए प्रतिज्ञा करीके आ युद्ध पूर्ण थयाबाद आ मदिर नो जीर्णोध्दार करीश, काष्टने स्थाने पत्थरना मजबूत मदिर बधावीश वगैरा। तदनन्तर मत्री तो सग्राम में काम आगया और पिता की आज्ञानुसार वाहड और आवड नाम के दोनो पुत्रों ने सं० १३११ में १६०००००० रुपये खरच कर अनेक मंदिर बनाए।' पाठको! इन दोनो लेखों पर मे शत्रुंजय की प्रतिमाओं के विषय में सत्यासत्य का स्वय ही विचार कर लीजिये। वे लोग जिन जिन—

१ " अनुकम्पा दान "

अनुकम्पा रखना ही सम्यक्त्वी का लक्षण है और अनुकम्पा ही दान का मूल है। अणु=हित के लिये, कम्पा–धृजना, अर्थात् दूसरे को दुःखी देखकर अंतःकरण में जो कॅपकॅपी हुआ करती है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। अनुकम्पा अंतःकरण का निर्मल नीर झरना है, यह कृत्रिम नहीं परन्तु स्वाभाविक ही होता है। जिनके हृदय में सम्यक्त्व रूप ज्योति प्रगट हुई हो, धर्म की दृढ रुचि जगी हो, दया का सद्भावतः उद्भव हुआ हो, ऐसे धर्मात्मा प्राणी ही कर्म पीडा से पीड़ित जीवों को देखकर अनुकम्पा करते हैं, कि–देखो विचारे जीवों के कैसा अशुभ कर्म का उदय हुआ है कि जिससे इन्द्रियहीन, अंगहीन, द्रव्यहीन, स्वजनहीन, इत्यादि की हीनता पाई है। सुख संपत्ति के लिये झूरते हैं और तन तोड़ परिश्रम करते हैं, तो भी इच्छित सुख नहीं मिलते हैं। कितनेक तो इच्छित भोगोपभोग की प्राप्ति होनेपर भी रोगोदय के एवं धन स्वजनादि वियोग के कारण भोग नहीं सकते हैं तथा चिंता ग्रस्त हो सर्वदा रोते झूरते ही रहते हैं। कितनेक एकांत विषय सुखों में मशगूल होकर बिलकुल ही धर्म ध्यान आत्म साधना नहीं करते हैं, और कितनेक धर्म नाम के भ्रम में पड़कर धर्म के स्थान में अधर्म करते हैं, शांति के स्थान में उन्माद करते हैं, पानी में भी आग लगा देते हैं–अर्थात धर्म के नाम से झगड़े कदाग्रह मचाते हैं। इन्द्रियों और कषायों के पोषण में ही धर्म मान बैठे हैं। अहो प्रभू! ऐसे भारी कर्मा जीवों की आगे क्या गति होगी! इन कर्मों का बदला कैसी मुसीबत से देवेंगे, यह विचार भी अनुकम्पा का है।

और भी जो सम्यक्त्वी, श्रावक एवं साधु होकर तथैव सम्यक्त्व देशव्रत एवं सर्वव्रती पणा आदर कर, यथा तथ्य आराधना पालना स्पर्शना नहीं करते हैं और हरेक तरह विराधना करते हैं, जिससे वे आगे

- उद्धारकों का नाम बताते हैं, जब उनका ही पूरा पता नहीं लगता है तो फिर दूसरे कथनों की सत्यता कैसे जानी जाय। इसलिये "चेइय" शब्द का अर्थ जैसा इसने किया है वैसा नहीं होना चाहिये।

को हीन स्थिति को प्राप्त होकर पश्चात्ताप करेंगे। अहो प्रभू! तब इन विचारे जीवों की क्या दशा होगी? यह विचार उन जीवों को समझाकर उनकी आत्मा का सुधार करना, सो भी अनुकम्पा ही है। इसी प्रकार अपनी आत्मा का भी विचार करे कि—महा पुण्योदय से मेरी आत्मा इतनी ऊंची आई है, सम्यक्त्वादि आराधन करने से सामर्थ्यवान् बनी है, किन्तु पूर्ण तया आराधना नहीं कर सकती है तो हे आत्मन्! तेरी क्या दशा होगी। इत्यादि विचारों से अपनी आत्मा को सम्यक्त्व ब्रत के भंग होने के मार्ग से बचाकर सम सम्वेगादि मार्ग में प्रवर्तावे सो भी स्वानुकम्पा है।

श्री तीर्थंकर भगवंत द्वादश परिषद के मध्य में विराजमान हो कर, जो भिन्न भिन्न भेदों से, सब समझें—ऐसा धर्मोपदेश फरमाते थे, वह भी एकांत जगत् वासी जीवों को आधि ब्याधि उपाधि रूप दुःख से पीड़ित देखकर एवं अनुकम्पा लाकर उन्हें उस दुःख से मुक्त करने को ही फरमाते थे। और वर्तमान काल में भी जो महात्मा किसी भी प्रकार के बदले की आशा नहीं रखते हुये उपदेश करते हैं, वह भी जगजीवों को अनुकम्पा दान देना ही है।

२ "संग्रह दान"

इस संसार में परिभ्रमण करते हुये जीव शुभाशुभ कर्म के वश होकर ऊंचता एवं नीचता पाते ही रहते हैं। जो नीच स्थिति को प्राप्त हुये हैं, वे उच्च स्थिति वालों का आश्रय चाहते हैं, क्योंकि बहुत हीन स्थिति वाले उच्च स्थिति वालों के आश्रय सेही जीते हैं, कहा है कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव के आश्रय से दूसरा जीव जीता है। इसलिये परस्पर एक दूसरे की सहायता करनी, यह जीवों का एक मुख्य कर्तव्य है। जो उच्च स्थिति को प्राप्त हुये हैं, सो बहुत कर नीच स्थिति के प्राणियों के संरक्षण से ही हुये हैं। अतः जिसके योगय से ऊंचता प्राप्त करी, उसही कार्य की विशेषता करने से विशेष ऊंचता प्राप्त होवे, यह स्वाभाविक ही है। और जो ऊंचता के गर्व में आकर उच्चता का

यथातथ्य लाभ नहीं लेते हैं, अर्थात् गरीबों का अपमान करते हैं-उन्हें सताते हैं, वे नीच स्थिति को यानी कंगाल स्थिति को प्राप्त होवें, यह भी स्वाभाविक ही है। उच्चस्थिति प्राप्त जीवों का कर्तव्य है कि वे उक्त बोध को हृदय में रख कर तदनुसार वर्तन करें। जो नीच स्थिति प्राप्त होने से डरते हों उन्हें भविष्य में नीच स्थिति वालों की सहायता यथा शक्ति एवं यथोचित अवश्यही करनी उचित है। वह सहायता इस प्रकार की जाती है-(१) जो अनाथ हो अर्थात् बचपन में माता पिता आदि पोषकों का वियोग हुआ हो, सुलक्षणी स्त्री पति की वियोगिनी हो, अपना पोषण करने को असमर्थ हो, वृद्ध अवस्था में पुत्रादि सहायकों का वियोगी हुआ हो, सो अनाथ गिने जाते हैं, (२) जो असमर्थ हों अर्थात अत्यन्त दुःख से पीड़ित हों, हस्त पाद नेत्र कर्ण आदि अंगोपांग रहित हों, कुष्ट आदि राज रोग से पीड़ित हों, सो असमर्थ कहे जाते हैं। वैसे ही दुष्काल आदि में अन्न आदि की महर्घता के कारण कुटुम्बका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो, जल प्रलय आदि उपद्रवों से द्रव्य का एवं कुटुम्ब का वियोगी हो, अन्य भी किसी प्रकार से दुःखी हो। इत्यादि अनाथ असमर्थ दुःखी जीवों को किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की इच्छा नहीं रखते हुये अन्न, धन, वस्त्र, स्थान, पात्र, गात्र, * औषध आदि की सहायता देकर, उस दुःख का निवारण कर सुखी बनावे सो संग्रह दान कहा जाता है।

३ "अभय दान"

सुयगडांग सूत्र में फरमाया है कि "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं" अर्थात् सर्व दानों में अभय दान ही श्रेष्ठ है।

समवायांग जी सूत्र में सात प्रकार के भय फरमाये हैं-

(१) "इह लोग भय" मनुष्य को मनुष्यका भय होता है, उसे इह लोग भय कहते हैं। अत्याचारी राजाओं के एवं चोर चंडाल आदि

* गात्र दान सो शरीर से पुण्य कार्यों में सहायता करने का है। परन्तु नरक गति में पहुँचाने वाला रति दान वगैरह नहीं समझना।

अनार्य मनुष्यों के वश मे पड़कर जो दुःखी हो रहे हैं, तथा जो क्लेशी कुटुम्ब के झगड़े में फँसकर दुःख भोग रहे हैं। इत्यादि दुःखित जीवों को यथा योग्य सहायता देकर दुःख से मुक्त करें सो इह लोग अभयदान।

(२) " पर लोक भय " मनुष्यको पशु देव आदि से जो भय होता है सो परलोक भय। सिंह सर्प आदि या दंशमशकादि क्षुद्रजीवों के उपद्रव से मनुष्यों को बचावे। इसका यह भाव नहीं लगाना कि क्षुद्र जीवों का नाश करे, क्योंकि किन्हीं भी जीवों को दुःख देनेका नाम अभयदान कदापि नहीं होता है। जो क्षुद्र जीवों का नाश करने में भी दया बताते हैं वे अनार्य हैं। देखिये श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के १४ वें अध्याय में नारद ऋषि क्या फरमाते हैं—

यूकोष्ट्र खर मर्कटाखुसरीसृपाः खगा मक्षिका.।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् , तेषामन्तर न क्रियते ॥

अर्थात्—यूका, ऊँट, गधा, बंदर, गिलेहरी, सर्प, पक्षी, और मच्छर मक्खी जैसे छोटे एवं क्षुद्र प्राणियों का भी अपनी आत्मा एवं पुत्र के तुल्य समझकर पालन करना चाहिये ? परन्तु कदापि किंचित् भी अंतर नहीं रखना। लीजिये, इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ? नरसिंह अवतार तथा वराह अवतार आदि स्वयं ईश्वरने धारण किया कहते हैं। सर्प को कृष्णजी की शय्या कहते हैं। महादेव जी के गले में सर्प की माला बताते हैं, तथा नाग पंचमी को प्रायः सभी हिंदू नाग की पूजा करते हैं एवं शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं—यदि सच्चा नाग नहीं मिले तो चित्रका बनाकर ही पूजते हैं। एक तरफ तो ऐसी ऐसी बातें कहते हैं और दूसरी तरफ प्राणियों को क्षुद्र बताकर मारते हैं, ऐसे अज्ञानियों को कैसे समझावें ? क्षुद्र जीवों की हत्या की निवृत्ति के लिये सर्वदा सप्रयत्न रहना चाहिये, ताकि हत्या का कभी प्रसंगही न आवे। जैसे, बहुत अशुद्ध एवं मलिन झूठन आदि एक स्थान पर संग्रह कर रखने से क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है, अतः प्रथम ही विशेष काल तक संग्रह करके नहीं रखना चाहिये। ऐसे उपायों की योजना होने से परलोक अभय दान दिया गिना जाता है। और भी भूत प्रेत

पिशाच डाकिनी आदि की जनता में प्रायः बहुत अधिक भ्रमणा होगई है। वायु आदि रोग किंवा प्रकृति विकार होने पर व्यन्तर आदि के भ्रम में पड जाते हैं। तैसे ही बाबा भोंपा आदि स्वार्थी जनों के भरमाने से भरम में पडजाते हैं, वहम का भूत भरलेते हैं। ऐसे झगडों में सुज्ञ जनों को नहीं फँसना चाहिये। और यदि कोई स्थान व्यंतरादि युक्त हो तो भी डरना नहीं चाहिये, क्योंकि देवता ऐसे क्षुद्र नहीं हैं कि जो जीवादि के वध से खुशी होवें। यह तो अज्ञानियों की भ्रमणा है। प्रायः अज्ञानी ही भयभीत होकर मरजाते हैं, जिससे अनेक मनुष्य भ्रान्त बन जाते हैं। इस भ्रम में भी सुज्ञ जनों को नहीं पडना चाहिए। इत्यादि विचारों द्वारा देवादि के भय से बचावे, सो परलोक अभय दान।

३ 'आदान भय' लोकोक्ति है कि लेन देन का भय भी बड़ाभारी घातक है। कर्जदार नर्क के दुःख भोगता है। इस भय से बचने का मुख्य उपाय तो कर्ज का न करना ही है। प्रारंभ से ही विचार रखे कि जिससे भविष्य में आपत्ति में फंस कर दुःखी होना नहीं पड़े। अगर कदापि भवितव्यता वश कर्जदार हो भी गया हो तो चुकाते समय घबराना नहीं; क्योंकि नम्रता से सब कार्य सफल होते हैं। परन्तु जो अधीरता के कारण प्राण झोंक मरजाते हैं, वे कर्जा से कदापि नहीं छूटते हैं, उलटे दूने कर्जदार होते हैं—जैसे कारागृह में से भगा हुआ कैदी दूनी सजा का अधिकारी होता है। ऐसा जान कर कितना भी भयंकर दुःख आवे तो भी आत्म घातकी इच्छा नहीं करना, किन्तु समभाव से दुःख सहना, जिससे इसही जन्म से छुटकारा होजाय। अगर सामर्थ्यवान कर्जदारों को कर्ज से यथा शक्ति बचाकर साता उपजावे तो वह आदान अभय गिना जाता है। इसी प्रकार जिन जीवों से इस भव सम्बन्धी तथा परभव सम्बन्धी जो वैर विरोध होवे उसकी सद्बोधादि से क्षमत क्षमापना करावे, अतःकरण से वैर विरोध की निवृत्ति करे करावे, तो उसे भी आदान अभयदान समझना चाहिये।

४ 'अकस्मात् भय' जो भय अचिन्त्य यानी अचानक उत्पन्न होता है, उसे अकस्मात भय कहते हैं। यह होनहार की बात गिनी

जाती है, एकाएक टाली नहीं टलती है—ऐसे विचारों से अकस्मात् भय प्राप्त होनेपर धैर्य धारण करना चाहिये। कितनेही परिहास प्रिय व्यक्ति भोले जीवों को कुटुम्ब के या धनके वियोग का समाचार सुना कर तथा पत्र तार आदि द्वारा बताकर अकस्मात् भय उपजाते हैं, सुज्ञों को इनसे बहुत बचकर रहने की जरूरत है। अर्थात् वश पहुँचे वहां तक किसी को भयोत्पादक बातें कहनी नहीं चाहिएँ। जो कोई कर्माधीन अकस्मात् भय से—अग्नि पाणी आदि से, या जहाज डूबने आदि से, प्लेग आदि रोग से भय भीत हुआ हो उसकी यथा शक्ति रक्षा करे, सो अकस्मात् अभय दान।

५ 'मरण भय' कहा है कि 'मरणं महा भयाणि' अर्थात् मृत्यु के समान और दूसरा भय इस जगत में कोई है ही नहीं! मृत्यु महा भय का स्थानक है, क्योंकि महाभारत में कहा है—

अनिष्टं सर्व भूताना, मरणं नाम भारत।
मृत्यु कालेह्नि भूताना, सद्यो भवति वेपथु॥

अर्थात्—मृत्यु का नाम ही जीव मात्र को अप्रिय लगता है, सुनते ही रोमांच होजाते हैं, कँप कँपी हो जाती है। मरते समय पापात्मा कम्पायमान होती हैं। अज्ञानी जन विना प्रयोजन या किंचित् रस लोलुपता के वश होकर जब दुर्दैव पीड़ित विचारे अशक्त जीवों पर घातकी पना गुजारते हैं, मरण सामग्री शस्त्रादि सन्मुख करते हैं, तब उनको कितना अधिक त्रास होता होगा, यह विचार अपनी आत्मा पर से ही करना चाहिये। जब किसी मनुष्य को फांसी आदि से मारने की सजा होती है, तब वह उससे मुक्त होने को कैसा महान् प्रयत्न करता है। अगर कोई उसका सर्वस्व लेकर उसे जीवितदान दिलाने का मात्र बचन ही देता हो तो वह अपना सर्वस्व उसे खुशी से समर्पण कर देता है, यावज्जीवन गुलाम होना स्वीकार करता है। अस्तु, मनुष्य को ऐसाही अन्य दुर्बल जीवों का भी विचार करना चाहिये। कहा भी है कि—

यथात्मनः प्रियाः प्राणा स्तथा तस्यापि देहिनः ।
इति मत्वा न कर्तव्यो घोर प्राणि वधो बुधैः ॥

अर्थात्—जैसे अपने प्राण अपने को प्यारे लगते हैं, तैसे ही सब जीवों को अपने-अपने प्राण प्यारे लगते हैं। ऐसा जान कर बुद्धिमानों को प्राणिवध रूप घोर पातक कदापि नहीं करना चाहिये।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ।
आत्मौपम्येन मंतव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः ॥

अर्थात्—अपने प्राणों के समान ही दूसरों के प्राणों को भी प्रिय जानना चाहिये। तथैव जैसी रक्षा अपनी आत्मा की की जाती है तैसी ही सब जीवों की करनी चाहिये। भेद भाव किंचित् मात्र भी नहीं रखना चाहिये।

नहि प्राणात्प्रियतरः, लोके किंचिद्धि विद्यते ।
तस्माद्दया नरः कुर्याद्यथात्मनि तथा परे ॥

अर्थात्—इस जगत् में प्राणों से अधिक प्रिय दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है—ऐसा जान कर तत्वज्ञ मनुष्यों को अपनी आत्मा के समान ही सब प्राणियों का संरक्षण करना उचित है।

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा ।
द्रव्य कोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितमिच्छति ॥

अर्थात्—किसी भी मरते हुये मनुष्य को अगर कोई क्रोड़ सौने का द्रव्य (धन) देवे, तो वह क्रोड सौने का त्याग कर एक जीवन की वांछा एवं याचना करेगा। जीवन ऐसा प्रिय है ! !
शास्त्रों में जीवितदान यानी अभय दान का फल भी बहुत बताया गया है—

कपिलाना सहस्राणि यो द्विजाय प्रयच्छति ।
एकस्य जीवितं दद्यात् नच तुल्य युधिष्ठिर ॥

अर्थात्—श्री कृष्ण जी कहते हैं कि हे युधिष्टिर, एक व्यक्ति तो प्रति महीने हजार गायें दान में देवे, और कोई दूसरा मरते हुवे एक जीव को बचावे, तो उस जीवित दान के पुण्य की तुलना गौदान किंचित् मात्र भी नहीं कर सकता है।

एकतः काञ्चनो मेरुः बहु रत्ना वसुधरा ।
एकतो भयभीतस्य प्राणिना प्राणरक्षणम् ॥

अर्थात्—कोई तो मेरु पर्वत जितना बड़ा सुवर्ण का ढेर और सुवर्ण रत्न से भरी हुई संपूर्ण पृथिवी दान में देवे, और कोई भय भीत प्राणी के प्राणों का रक्षण करे अर्थात् मरते को बचावे तो उस अभय दान की तुलना वह सुवर्ण दान कदापि नहीं कर सकता ।

लैयना लल्ला होल्हु मोहा वलाद माऊ ।
हावला कीयना ललहुतक वामिन कूम ॥

कुरान सूराह हजकी ३६ मी आयत ।

अर्थात्—हरगिज न पहुंचेगा अल्लाह को गोश्त उनका, और न लोहू उनका, लेकिन पहुंचेगी उसको परहेजगारी तुम्हारी ।

"दाणाण सेट्ठं अभय प्पयाण"

सुयगडांग अ० ६

अर्थात—सर्व दानों में श्रेष्ठ दान अभय दान ही फर्माया है । इस प्रकार सब शास्त्रों में अभय दान के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण मिलते हैं । परन्तु यहां ग्रन्थ गौरव होने के डर से नहीं दिये गये ।

इसी भांति ऐतिहासिक दृष्टान्त भी अनेक हैं जैसे–मुसलमान महमद नबीसाहब पयगम्बर की अल्लाह ताला ने तारीफ की कि नबी बड़ा रहम दिल (दयालु) है । अजराइल फिरस्ता (देवता) उनका अजमोदा (परीक्षा) लेने आया और शिकरा (बाज) व फाकते (कबूतर) का रूप बनाया । फाकता आगे को उड़ता हुआ आकर महमद की गोद में बैठ गया, पीछे से शिकरा आकर कहने लगा महमद मेरी शिकार देदीजिये । महमद बोले तुझे चाहिये तो मैं मेवा मिष्टान्न दिलाता हूं परन्तु इस विचारे फाकते की जानको सदमा (दुःख) मत दे । शिकरा बोला कि यह फाकता तुम्हें इतना प्यारा है तो इसके बदले में अपने बदन का गोश्त (मांस) देदीजिये । महमद ने यह

कबूल किया, और छुरी उठाई कि उसी वक्त जमीन आशमान कॉपने लगा। फिरमता कदमों में आगिरा और सच्चा हाल कह सुनाया।

जब खुद नबी महोमद ने ही दूसरे की जानकी रक्षा के लिये अपने बदन का गोश्त देना कबूल किया तो उनके हुकम पर अकीन (भरोसा) रखने वाले मुसलमान भाइयों को भी लाजिम है कि बने वहां तक किसी की जान को कभी सदमा न पहुंचावें। क्योंकि रहम दिल वाले पर ही रहमान खुश रहते हैं। और भी देखिये-

सुबक्तगीन हिरणी के बच्चे को पकड़े घरको लेजा रहा था। अपने पीछे हिरणी को भागती आती देखकर रहम आया। तब बच्चे को छोड़कर भूखा ही अपने घर में आकर सोरहा। रात को स्वप्न में अल्लाह ताला ने फरमाया कि तूने बेचारी हिरणी की जान को आराम दिया इसके बदले में तुझे प्रातः काल ही बादशाही मिलेगी। अनंतर वह बादशाह बन गया! इससे समझ लीजिये कि-रहमसे ही खुदा खुश हैं!

श्री कृष्ण भगवान् शिशुपाल से लड़ रहे थे, उस वक्त जमीन पर पड़े हुये टिटहरी के बच्चों को देखकर दया आई, अतः रक्षा के वास्ते हाथी का घंटा उनपर रख दिया! यों खुद भगवान ने ही जब रक्षा की है, तो उनके अनुयायियों को तो जरूर ही करनी चाहिये।

जैन धर्म तो अभयदान का मूल स्थान ही है:-

श्री नेमिनाथजी ने पशुओं की रक्षा के वास्ते राजुल जैसी महा-रूप और महा गुण संपन्न स्त्री को त्याग कर दीक्षाली। श्रीपार्श्वनाथजी ने जलते हुवे नाग नागनी को लकड में से निकाला। महावीर स्वामी ने अविनीत शिष्य गोशालक को तेजो लेश्या के जलने से बचाया। धर्म-रुचिजीने कीडियों की और मेतारजजीने मुरगे की रक्षा के निमित्त अपने प्राण झोंक दिये। श्रेणिक राजाने अमारी पडह बजाया। मेघ कुमारने हाथी के भव में शशक को बचाया इत्यादि अनेक दृष्टांत उपलब्ध हैं। ऐसे उत्कृष्ट अभय दान को जहां तक बने वहां तक तो सद्बोधसे, नहीं तो तन धन से अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये। मरण-मुख प्राप्त जीवों को बचावे सो अभयदान।

(७) 'पूजाश्लाघा भय' सो अपकीर्ति का भय जानना। अपकीर्ति के कारण कितनेही लज्जालु जन प्राणों तक का त्याग कर देते हैं। अस्तु सुज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है, कि वे किसी की इज्जत को ठेस पहुंचे, ऐसा विचार उच्चार आचार कदापि नहीं करें, अपनी इज्जत जैसी ही दूसरों की इज्जत भी जानें और जितना प्रयत्न अपनी इज्जतकी रक्षा के लिये करते हैं उतना ही प्रयत्न अन्य की रक्षा के लिये भी करना, यह 'पूजाश्लाघा' अभयदानियों का कर्तव्य है। कितनेही अविचारी मनुष्य समझते हैं कि इससे हमको लोग अच्छा जानेंगे, इत्यादि विचार से दूसरे की इज्जत हतक करते हैं, झूठी सच्ची निंदा करते हैं, एक दूसरे पर मिथ्या कलंक लगा देते हैं। उक्त भयंकर अनीति कार्य से सज्जनों को सदा बचकर रहना चाहिये। अगर किसी की इज्जत की रक्षा अपने से होसकती हो तो अवश्य ही यह पूजाश्लाघा अभयदान है।

४ "करुणा दान"

इस जगत् में प्रवृत्ति के चलाने वाले दो तरह के पुरुष हुए हैं:- पहिले पारमार्थिक- जिन्हों ने सब जीवों के एकान्त हितकारी सत्य आगम का प्रतिपादन किया है। और दूसरे स्वार्थी अर्थात् मतलबी जो केवल अपने ही हित के लिए अनेक कल्पित ग्रन्थ आदि बनाकर भगवान ने या अमुक महान् पुरुषने बनाये हैं, ऐसा ऊँचा नाम रखते हैं, भोले-भाले लोगों को ठग कर अपनी आजीविका चलाते हैं। इन दोनों की परीक्षा विद्वान् लोग उनके लेखों व उच्चारण के शब्दोंसे ही कर लेते हैं, कि किस में कितना अंश सत्य और परमार्थ है।

जो मृत्यु के समय किया जाता है अर्थात् मरते समय अभ्यागतों की, अनाथों की, पशु पक्षियों की रक्षा के लिये जो दान किया जाता है, वह कलुनीए दान कहलाता है। धार्मिक एवं पारमार्थिक कार्यों में जो खर्च किया जाता है, मै यहां उसका निषेध नहीं करता हूं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य से ममत्व छोड कर सत्कृत्यों की वृद्धि व अनाथों की सहायता करना भी पुण्य प्रकृति उपार्जन करने का मार्ग है, ऐसा शास्त्र

कारने बताया है। इसके विपरीत कितने ही मनुष्य कहते हैं कि-मरते समय गौदान करो, वह तुम को वैतरणी नदी से पार कर देगी, यह बात सर्वथा अप्रमाण है, क्योंकि वैतरणी नदी तो नर्क में है, और उस गौदानी को वह गुरु नर्क में पहिले ही पहुँचादेते हैं तथा दी हुई गौ तो यहां ही रहजाती है, फिर न मालूम वह यहां रही हुई गौ उस दानी को कैसे पार करती होगी ? ऐसी ही और भी अनेक असत्य प्रथाएँ संसार में प्रचलित हैं। इसका विचार करुणा दानी को जरूर ही करना चाहिये।

और भी इस समय लोग अपनी आर्थिक शक्ति का विचार न करके मान के वशीभूत होकर मरने वाले के पीछे अमर्यादित खर्च करने लगे हैं, यह भी बड़ा अयोग्य कार्य है। इससे अनेक साहूकारों के दिवाले निकल गये, इज्जत डूबगई, और आप झुर झुर के मरगये ! तथा उनके अनेक कुटुम्बी रोते हुए दृष्टि गोचर होते हैं। इसका भी सुज्ञों को अवश्य विचार करना चाहिये। यदि दो दिनकी वाह वाह के लिये व्यर्थ खर्च न करके उतना ही द्रव्य व उस में का कुछ भाग धर्मोन्नति, ज्ञानवृद्धि व दया आदि पारमार्थिक सत्कृत्यों में सद्व्यय करें तो उससे कितनी धर्म वृद्धि व यशः कीर्ति की वृद्धि होगी, और कितने प्रबल पट् कायिक आरंभ से अपना बचाव होगा। इन दोनों पाप पुण्य के कारणों का भी दीर्घ दृष्टि के साथ विचार करना चाहिये, और फिर जो विशेष लाभ दायक ज्ञात होगा, उसे सुज्ञ पुरुष स्वाभाविक रूप से स्वीकार करेंगे ही।

५. "लज्जा दान"

लज्जा यानी मान प्रतिष्ठा रखने के लिये विवाहादि प्रसंगों में जो दान दिया जाता है, वह लज्जा दान है। वर्तमान समय में कितने ही लोग ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्हें अन्य लोग तो धनाढ्य समझते हैं और उनके घरमें फाके पड़ते हैं, परन्तु मानके वश से या लज्जा के कारण अपना नाम या मान रखने के लिए अपने गृहका सत्यानाश कर बैठते हैं। लौकिक की रक्षा के लिये प्रयत्न करते हैं, किन्तु उलटे लौकिक को गमा बैठते हैं। लग्न पहरावणी आदि कामों में बेहद खर्च करदेते हैं,

यह अयोग्य है। हां! संसारी होने के नाते अगर संसार का व्यवहार नहीं साथे तो भी अच्छा न लगे, अतः एतदर्थ कुछ करना पड़े तो वह बात दूसरी है। परन्तु वह भी अपनी परिस्थिति के अनुसार ही करना चाहिये, ताकि गृहहानि व लोकापवाद न होने पावे।

और उसी प्रकार दान के विषय में स्पष्टतः लज्जा का त्याग भी नहीं करना चाहिये, अर्थात् इह लोक के अपयश से और परलोक के डरसे निर्भय बनके साफ दान देने दिलाने का निषेध करना—कि परभव किसने देखाहै, जो यहां देवेंगे और वहां पावेंगे। सब झूठी बातें हैं। खाया पिया सो अपना है! तथा दान देने का यह उपदेश तो स्वार्थी जनों का है, कमाकर खाना नहीं आता तब पेट भरने का यह उद्योग प्रारंभ किया है, हम लोगों को इनके भ्रमजाल में पड़कर धन का नाश नहीं करना चाहिये। इत्यादि कुबोध पैदा करने वाले नास्तिक जन भी इस संसार में बहुत से हैं, सुज्ञों को ऐसे निर्लज्ज नास्तिकों के भ्रम में पड़कर लज्जा का त्याग करके लौकिक व लोकोत्तर पुण्य की हानि करना उचित नहीं है।

६ " गर्व दान "

आत्मा को अधोगति में पहुँचाने वाला अभिमान ही है। अभिमान के जोश में मनुष्य संपत्ति संतति और शरीर को तुच्छ समझ कर योग्यायोग्य का विचार नहीं करके नष्ट कर देता है। अभिमान के वश होकर योग्य स्थान में दिया हुआ दान भी यथार्थ फल का देने वाला नहीं होता है। कहा है कि " वासनानः तस्य फलं " अर्थात् दानके फल की जैसी इच्छा होती है वैसेही उसका फल होता है। जो अभिमान के वश हो यश की इच्छा से दान करे, उस दान से उसकी जितनी कीर्ति फैले उतना ही उस दान का फल समझना चाहिये। जैसे महावीर स्वामी को पारणा कराने की भावना चार महिने तक 'जीर्ण' नामक सेठने भाई और जब प्रभु पूर्ण शेठ के घर पारणा लेने गये तो उसने गर्व में आकर दासी के हाथ से उड़द के बाकले दिलाए, उसका भगवन्त ने

पारणा किया। वहां देव दुंदुभि बजी, और सुवर्ण की वृष्टि हुई। जब लोगों ने पूछा कि तुमने क्या वहराया, तो वह गर्व में आकर बोला कि मैंने खीर सक्कर वहराई, तब लोग वाह वाह करने लगे, जिससे वह अभिमान से फूल गया। एक समय ज्ञानी मुनि पधारे तब ग्राम के राजा ने यह प्रश्न किया, मुनि के उत्तर से निश्चय हुआ कि उत्कृष्ट परिणाम की धारा चढने से जीर्ण शेठ ने बारहवे स्वर्ग का आयुष्य बांधा * और पूर्ण ने उड़द के बाकले दे गर्व किया, जिससे उसे केवल वाहवाही और सुवर्ण वृष्टि के सिवाय कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इसलिये महादान का फल भी गर्व करने से नष्ट होजाता है, ऐसा जान कर यथा योग्य यथा शक्ति दान तो देना, परन्तु कभी गर्व अभिमान नहीं करना।

७ "अधर्म दान"

जिस दान से धर्म उत्पन्न न होकर अधर्म पैदा हो वह अधर्म दान है। जैसे कितने ही अधर्मी जन कलियुग की खोटी रुढियों के अनुसार लग्न आदिक उत्सव प्रसंगों पर अमङ्गला मुखी कहलाने वाली अमङ्गल अपवित्र मुखवाली वेश्या कि जिसके देखने मात्र से ही धर्म का नाश हो जाय, ऐसी कुलटा को इच्छित द्रव्य देकर मंगल मनाते हैं एवं नृत्य गान आदि कराते हैं, सो अधर्म दान कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रत्यक्ष अधर्म ही है, क्योंकि अधर्म की जड अनीति है, और अनीति की उत्पत्ति व वृद्धि करने का प्रथम मार्ग वेश्या नृत्य है। वेश्या नृत्य का अवलोकन करने के लिए पिता और पुत्र आदि व बहुत मर्यादा युक्त रहने वाली उत्तम घराणों की लज्जा शील स्त्रियां, मर्यादा का भंग करके एक स्थान पर बैठ कर निर्लज्ज गायन सुनते हैं, कुचेष्टाये देखते हैं, और करते भी हैं। जिसपर पिताने विषय भाव धारण किया वह माता हुई, और माता को कुदृष्टि से देखना व विषय भाव धारण करना, फिर उस पापका क्या ठिकाना रहा! तैसे ही वेश्या गमन करने वाले माता भगिनी और

* कहते हैं कि यदि वह उस वक्त देव दुंदुभि का शब्द नहीं सुनता तो उत्कृष्ट परिणाम की धारा चढने से केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता।

अपनी पुत्री से गमन करने के पाप के भी अधिकारी होते हैं, क्योंकि वेश्या के द्वार पर कुछ साइन बोर्ड (नाम का पटिया) तो लगा नहीं होता है, कि अमुक व्यक्ति यहां आते हैं। जिस स्थान पर पिता जाता है, वहां पुत्र भी चला जाता है, और पिता के वीर्य से किंवा अपने खुद के वीर्य से उत्पन्न हुई वेश्या पुत्री के साथ भी गमन करता है—ऐसे महा अधर्म नर्क गमन के स्थान में जो द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे अधर्म दान कहा जाता है। यह दान एकांत त्यागने योग्य है।

८ " धर्म दान "

जिस दान से धर्म की वृद्धि होवे वह धर्म दान है। सर्वोत्कृष्ट धर्म वृद्धि के करने वाले तो साधुजी ही होते हैं, उनके ज्ञान दर्शन चारित्र तप रूप मोक्ष मार्ग के साधन की वृद्धि के लिये तथा उनसे सद्बोध के द्वारा धर्म का प्रसार कर अन्य भव्योंकी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति कराने के लिये आहार, औषध, वस्त्र, पात्र, स्थानक औरजो जो उपकरण उन्हें आवश्यक हों उनका देना सो धर्म दान है। तैसे ही सम्यक्त्वधारी व्रत धारी जो श्रावक हैं, उनको धर्म में सहायता करने वाले उपकरण पुस्तक, पूंजणी, माला मुंहपती वगैरह देवे,सो भी धर्म दान की गिनती में हैं। धर्म दान देने के योग्य बनना और धर्म दान देकर यथोचित लाभ लेना, यह पुण्यात्मा ही कर सकते हैं। कहा है " अर्थस्य सार करपात्र दानम् " अर्थात् धन पाने का सार यही है कि सुपात्र दान के द्वारा उसका लाभ लेना।

९ "प्रत्युपकार दान"

उत्तम पुरुषों की स्वाभाविक ही अभिलाषा होती है कि—कब उपकार करने वाले उपकारियों पर प्रत्युपकार करने का अवसर मुझे मिले और कब मै उनसे उऋण होवूं। वे समय आने पर अपने तन धनतक को उपकारी के लिये झोंक देते हैं, एवं सब तरह उन्हें सुख उपजाते हैं।

१० "कीर्ति दान"

भाट चारण आदि विरुदावली बोलने वाले लोगों को कीर्ति

फैलाने के लिये देवे सो कीर्ति दान है।

इन दश दानों में योग्यायोग्य का विचार पाठक गणों को ही करना चाहिये।

—" विधि द्रव्य दातृ पातृ विशेषा—त्तद्विशेषः "

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७

अर्थ—दान देने की विधि, दातार के गुण, दान में देने का द्रव्य और दान ग्रहण करने वाला पात्र, ये चार जैसे होते हैं, वैसा ही दान का फल मिलता है, सो यहां बताते हैं:—

१ " दान देने की विधि "

सग्रहमुच्चस्थान पादवंदनं भक्तिः प्रणामं च।
वाक्काय मनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधि माहुः॥

अर्थात्—दान देने की इच्छा वाले को:—१ प्रथम तो दान में देने योग्य वस्तुओं का अपने घरमें संग्रह कर रखना योग्य है, जिससे दान के समय 'नहीं' कहने का प्रसङ्ग नहीं आवे २—जो पात्र यानी दान ग्रहण करने के योग्य व्यक्ति आएँ उनको उच्च स्थान में खड़े रखे ३—फिर गुणानुवाद करे कि—आपने बड़ी कृपा की जो मुझे पावन करने पधारे इत्यादि ४—यथा योग्य सविधि नमस्कार करे ५—दोनों हाथ जोड़कर नम्रता युक्त अपने यहां जिस जिस वस्तु का योग हो उसकी आमंत्रणा करे, कृपा कीजिये! यह लीजिये! ६—परिणामों में उल्लास तथा उदारता रखे, विपरीत भाव तथा किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट से रहित होवे ७—दान देने के पश्चात् प्रमोदता युक्त कहे कि आज मेरे धन्य भाग्य हैं, जो यह मेरी वस्तु सार्थक हुई इत्यादि ८—दानेच्छु को दान अपने हाथ से ही देना उचित है। कहते भी हैं कि "हाथे सो ही साथे" अर्थात् जो हाथ से दिया जाता है, सो ही साथ आता है, और ९—दान देते वक्त घबरावे नहीं। जो देने योग्य वस्तु हो उसे भली भाँति देखकर यत्ना चार युक्त होकर देवे। अर्थात् दान देने की वस्तु सड़ी बिगड़ी न हो या प्रकृति के प्रतिकूल न हो, जिसके भोगने से संयम में विघ्न

न हो। यह दान देने की नवधा भक्ति—नव प्रकार की विधि बताई गई है।

दातार के गुण।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्ति र्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमितिहि दातृ गुणाः॥

१ 'फलानपेक्षा' दान देकर उसके फल की वांच्छा नहीं करे, क्योंकि वांच्छा करने से उस दान का पूरा फल प्राप्त नहीं होता है। इस वक्त भी देखते हैं, कि जो आनरेरी (बिना वेतन लिये) सेवा करने वाले हितैषी मनुष्य हैं, उनको किसी समय पर मालिक संतुष्ट होकर उनके परिश्रम से भी अनेक गुणा अधिक लाभ दे देते हैं। और वेतन लेने वाले अगर पूरा काम नहीं करें तो दंड भी पाते हैं, इसी तरह दान के विषय में भी जानना चाहिए।

व्याजे स्याद् द्विगुण वित्त व्यापारे तु चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शत गुण ज्ञेय दाने चानत गुण मतम्॥

अर्थात्—लगाया हुवा द्रव्य व्याज में दुगुणा, व्यापार में चौगुणा और खेती में सौ गुणा कदाचित् हो जाता है; परन्तु यह कुछ सार्वत्रिक नियम नहीं है। इसके विपरीत सत्पात्र के दान में लगाया हुआ द्रव्य तो नियमेन अनंत गुणा होता है। अतः ऐसे अनंत गुणित लाभ देने वाले पदार्थ को तुच्छ वस्तु की वांछा में कभी भी नष्ट नहीं करना चाहिए।

देखिये! सत्पात्र दान के प्रभाव से—१ सुबाहु कुमार महा रूप और महा संपदा का भोक्ता हुआ, २ शालिभद्रजी की ऋद्धि देखकर श्रे· णिक राजा चकित ही होगया था, ३ धना सार्थवाह ऋषभ देवजी हुए। ऐसे अनेकानेक दृष्टांत पाये जाते हैं, दान ऐसा महा लाभ दाता है।

(२) "क्षमावान्" दातार को क्षमावान, होना चाहिए। कितने ही पात्रों की प्रकृति में स्वभाव से ही उष्णता बनी रहती है, अतः कभी कभी वे अच्छे दान को भी निद्य बना देते हैं। क्योंकि तपस्वियों की

प्रकृति अधिकतर तेज ही होती है। ऐसे प्रसंगोंपर दातारों को सहन शीलता रखने की बहुत आवश्यकता है। पात्रों के चित्त में किंचित् मात्र भी अशांति उत्पन्न न करतेहुए उन्हें संतुष्ट रखना, यही दातारों का मुख्य कर्तव्य है। पात्रों की तरफ से अगर कोई आघात होतो उसे समता पूर्वक सहन करके अपने दान धर्म रूप कर्तव्य की वृद्धि करता रहे, ताकि उस दान का फल भी पूर्ण प्राप्त हो सके, और कीर्ति भी विश्वव्यापिनी बन सके।

३ 'निष्कपटता' दातार को सरल स्वभावी होना चाहिये। कपट युक्त दान का यथार्थ फल नहीं होता है। कपटी दातार केवल लोगों को अपना गौरव बताना चाहता है, इसलिये सामान्य वस्तु भी विशेष आडम्बर और दिखावे के साथ देता है, छाछ देकर दूध का नाम लेता है। परन्तु जब उसका यह कपट प्रगट होता है, तब कीर्ति के साथ उस दान का फल भी नष्ट हो जाता है और इसके विपरीत पश्चात्ताप भी करना पडता है।

४ "अनसूयत्व" दातार को ईर्षा रहित होना चाहिये। दातार बनने का आधार अपनी प्राप्त धन शक्ति पर ही निर्भर है, इसमें किसी की बराबरी एवं देखा देखी कदापि नहीं करनी चाहिये। जो लोग ईर्षा करके दान करते हैं, अर्थात् इसने इतना दान किया तो मै भी इतना या इससे कुछ अधिक करूं, या यह इतना दान क्यों करता है, ऐसे ईर्षा भाव पूर्वक किए गए दान का यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता है। अपने से जो अधिक दान देने वाला हो, एवं जो शक्ति हीन होकर भी थोडा बहुत दान करता हो उसकी प्रशंसा करनी चाहिये कि यह पुरुष धन्य है, जो दान करके पुण्य का लाभ लेता है।

५ "अविषादित्व" दातार को अखिन्न भावी रहना चाहिए। ऐसा नहीं विचारना कि यह झगडा मेरे पीछे लग गया, सब दौड़ दौड कर मेरे ही पास आते है और मांगते हैं, मै किन किन को दूं, अगर निषेध करूँ तो भी अच्छा नहीं होगा, क्यों कि मेरी कीर्ति का भङ्ग

होता है। इत्यादि विचार दान देने के पहिले करे और देते समय यह दें कि यह दें, अच्छी अच्छी वस्तु छिपावे, वस्तु होते हुये भी नट जावे, देता देता अटक जावे, थोड़ा थोड़ा देवे, और देने के अनन्तर पश्चात्ताप करे कि इतनी क्यों देदी, वह क्यों दी, अब मै क्या करूंगा! इत्यादि। इस तरह जो खिन्न भाव युक्त होकर दान देते हैं वे फल में विपरीतता प्राप्त कर लेते हैं। * ऐसा जान कर दान के पहिले उत्सुकता, देते समय उदारता और देने के पश्चात् प्रमोद धारण कर, दान का यथार्थ लाभ लेना चाहिए।

६ "मुदित्व" दातार को उल्लास सहित होना चाहिए। पात्र देखकर बड़ा प्रसन्न होवे और विचारे कि मेरे अहो भाग्य हैं जो ऐसे २ महान् उत्तम सत्पुरुष स्वयमेव पधार कर मेरा घर पावन करते हैं, दान ग्रहण कर मेरा द्रव्य सार्थक करते हैं, मुझे तारते हैं, अगर यह नहीं होते तो मेरी यह संपत्ति क्या काम आती, जितना पात्र में पड़ता है उतना ही मेरा द्रव्य है, बाकी द्रव्य के या तो दूसरे मालिक बन जायँगे या नष्ट होजायगा, इसलिये प्राप्त द्रव्य के लाभ लेने का यह अपूर्व समय मेरे हाथ लगा है, इसलिये जितना लाभ लेसकूं उतना ही थोड़ा है। ऐसा भाव रखता हुआ चढते भावों से दान देवे।

(७) "निरहङ्कारित्व" दातार को निरभिमानी होना चाहिए। विचारे कि—श्री तीर्थंकर भगवान् बारह महिने में ३ अब्ज ७४ क्रोड़, ४० लाख सुनैये दान में देते हैं। ऐसे दानेश्वरों के सामने मैं विचारा पामर किस गणना में हूं! मै क्या दे सकता हूँ! इत्यादि विचार से निरभिमानी होकर दान करे।

---

* किप्पणण जतण वचय वंचय सुयणण जणक तीए मित्ती।
तणदे तणण दाणो धम्म रहियो मित्य काय समजी जी॥

अर्थात्—जो कृपण होता है वह माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, आदि को ठगता हुआ अपनी आत्मा को भी ठगता है, क्योंकि वह तन देना (मरना) तो स्वीकार करता है परन्तु तृण (घास की काडी) मात्र भी देना स्वीकार नहीं करता है।

" दान देने योग्य वस्तुओं के नाम "

साधु और साधवियों को देने योग्य चौदह प्रकार की वस्तुएँ शास्त्र में निरुपण की हैं:—(१) 'असणं'—अग्निपर सिझाकर, सेककर, अचित्त किया हुआ चौवीस प्रकार का अनाज, (२) 'पाणं'—अग्नि राख आटा आदि के प्रयोग से अचित्त किया हुआ पानी (३) 'खाइमं'—घृत, तेल आदि में तले हुए एवं शक्कर गुड़ आदि के संस्कार से मिष्ट किये हुए पक्वान्न, अथवा बादाम पिस्ता द्राक्षा आदि एवं बीज रहित किया हुआ मेवा (४) 'साइमं'—लवंग, सुपारी, तज, जायपत्री पापड़ आदि स्वादिम, (५) 'वत्थ'—चोल पट्टे, पछेवड़ी, झोली आदि के उपयोगों में आने वाले सूत सन आदि के वस्त्र, (६) 'कंबल'—शीत वर्षा आदि की व्याधि निवारण करने वाले ऊन आदि के वस्त्र, (७) 'पडिगहं'—काष्ठ (लकड़) के, तूम्बा के, मिट्टी के आहार पानी औषधि आदि ग्रहण करने योग्य पात्र, (८) 'पाय पुच्छणं' ऊनका, सन का, आदि रजोहरण। अदृष्ट (जहां दिखे नहीं ऐसी) जगह पर बैठने उठने आदि क्रिया करते समय भूमि शोधने के लिये रजोहरण। तथा वस्त्र, पात्र, शरीर शोधने के लिये गोच्छा, (९) 'पीठ'—बैठने के लिए तथा वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि रखने के लिये पाटला, (१०) 'फलग'—शयन करने—सोनेके लिये बड़ा पाट, (११) 'सेजा' स्वाध्याय, ध्यान आदि करने के लिये एवं रहने के लिये स्थानक जगह—मकान (१२) 'संथारह'—जो वृद्ध तपस्वी रोगी साधु होवें उनके शयन करने को चांवल का, गेहूं का, कोद्रव का, काँस वगैरा का पराल (घास) (१३) 'औषध'—सोंठ, काला नमक एवं अग्नि तथा निम्बू आदि प्रयोग से अचित्त किया हुआ नमक काली मीरच वगैरह औषधियां, (१४) 'भेषज'—तेल चूरण गोली आदि बहुत वस्तु मिलाकर जो दवाई बनाई हो सो भेषज।

ये १४ प्रकार के पदार्थ साधु साध्वियों के देने योग्य हैं। दान देने की इच्छा रखने वाला गृहस्थ ये वस्तु अपने एवं अपने कुटुम्ब के निमित्त लाया होवे तथा बनाई होवे, तो उसमें से बनाकर सचित्त के

संघेटे से रहित रखते हैं, वे अपने घरके कार्य में भी काम आती हैं, और पुण्योदय से सुपात्र का योग मिल जाय तो साधु साध्वी के एवं पड़िमा धारी श्रावक के और दया पालने वाले श्रावकों के काम में आने से उस दाता गृहस्थ को महा निर्जरा तथा पुण्य का उपार्जन होता है। इसके सिवाय और भी शास्त्र थोकडे ढाल सज्झाय स्तवन आदिक की पुस्तकें मुहपती, माला, पूंजणी, वगेरह जो जो धर्म क्रिया में सहायक उपकरण हैं, उनका योग भी दानेश्वर गृहस्थ अपने घरमें रखते हैं, और वक्त पर देकर लाभ लेते हैं।

पुण्य ९ प्रकार से होता है।

ठाणांग सूत्र में ९ प्रकार की वस्तुएँ दान में देने से पुण्य का उपार्जन होता है, ऐसा निरूपण किया है:—१ 'आण पुण्य' अन्न देने से २ 'पाण पुण्य' पानी देने से, ३ 'लेण पुण्य' पात्र यानी भाजन देने से, ४ 'सेण पुण्य' मकान देने से ५ 'वत्थ पुण्य' वस्त्र देने से, इस तरह इन पांच वस्तुओं के देने से जो पुण्य होता है वह दानाश्रित पुण्य है। इनमें सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी का, सूजते असूजते का, सावद्य निर्वद्य का. कुछ भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु इसमें भी जितनी पापसे आत्मा बचेगी उतना ही पुण्य अधिक होगा। जो दाता उपरोक्त ५ वस्तुएँ देने में समर्थ न हो वह भी ६ 'मन पुण्य' मनसे दूसरे का भला चाहे, गुणवानों की अनुमोदना करे, ७ 'वचन पुण्य' दूसरे को सुखदाई हितमित वचन बोले गुणानुवाद करे, ८ 'काय पुण्य' काया से अन्य के योग्य कार्य में सहायता करे वैयावृत्य करे, और ९ 'नमस्कार पुण्य' ज्येष्ठ पुरुषों को गुणज्ञों को नमस्कार करे तथा सबके साथ नम्र होकर रहे, इस तरह दान के पुण्य का उपार्जन करते हैं।

अब 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' ग्रन्थ कर्ता ने दान में कैसे पदार्थ देने चाहिएँ, इसका खुलासा संक्षेप में किया है, वह यहां कहते हैं:-

राग द्वेषा संयम मद दुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धि करम्॥ १७०॥

अर्थ—दान में देने योग्य वही द्रव्य है कि—जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय, आदि विकार भावों का उत्पन्न करने वाला न हो और जिसके भोगने से उत्तम तप स्वाध्याय तथा ध्यान की वृद्धि हो।

संसार में जो विषय लोलुप जीवों ने लोगों को भ्रम में डालकर कन्या दान, पुत्र दान आदि मनुष्यः हाथी, घोड़ा, गाय, बकरे आदि पशुः सुवर्ण, चांदी, लोहा, तांबा, बरतन आदि धातुः हीरा, पन्ना, नीलम आदि रत्नः तरवार, सुई, आदि शस्त्रः भांग, तम्बाखू, गांजा, आदि मादक पदार्थ और स्त्रियों को ऋतु दान आदि कुकर्मों की वृद्धि करने वाली वस्तुएँ देने में भी पुण्य व धर्म बताया है। यह प्रत्यक्ष ही मिथ्यात्व है; क्योंकि इन वस्तुओं के भोगने से जीव घात, मृषा, चोरी, मैथुन, ममत्व, मोह, विषय, कषाय, कलह आदि अनेक पाप कर्मों की वृद्धि होती है, और जो पुरुष ये पदार्थ देते हैं वे भी पाप की सहायता करने वाले पाप के अधिकारी गिने जाते हैं, इस लिये दान के योग्य व अयोग्य पदार्थों का दातार को पूरा विचार करलेना चाहिए।

दान लेने वाले पात्र।

जैसे किसान खेतकी परीक्षा करते हैं, कि इस क्षेत्र में बोया हुआ बीज फलप्रद होगा कि नहीं, होगा तो कितना होगा, वैसे ही दानार्थियों को भी पात्र की परीक्षा करना चाहिये, और किस पात्र में दिये गये दान का कितना लाभ होगा, यह भी विचारना चाहिए। इस तरह विचार-पूर्वक जो दान करते हैं, उन्हें ही पूर्ण लाभ होता है।

पात्रों के मुख्य दो भेद हैं, (१) सुपात्र और (२) कुपात्र। इसका संक्षेप में इतना ही अर्थ है. कि—सम्यक् दृष्टि आत्मा सुपात्र, और मिथ्या दृष्टि आत्मा सो कुपात्र। इन में से सुपात्र (सम्यक दृष्टि) के तीन भेदः—

> पात्रं त्रिभेदमुक्त संयोगो मोक्ष कारण गुणानाम्।
> अविरत सम्यक् दृष्टि विरता विरतश्च सकल विरतश्च॥
>
> पुरुषार्थसिध्युपाय

अर्थात्—जो दान लेने वाले पुरुष आत्मा भावी होवें वे पात्र कहलाते हैं। उनके तीन भेद हैं,-(१) सर्व चारित्र के धारी (साधु) सो उत्तम पात्र, (२) देश चारित्र के धारी (श्रावक) उत्कृष्ट भावेन त्यागी सो मध्यम पात्र, (३) व्रत रहित सम्यक् दृष्टि सो जघन्य पात्र।

इन तीनों के तीन तीन भेद करने से सुपात्र के नौ भेद होते हैं:—

(१) 'उत्तम–उत्तम पात्र' श्री तीर्थंकर भगवान (२) 'उत्तम मध्यम पात्र' छद्मस्थकालीन श्रीतीर्थंकर व गणधर, आचार्य महाराज, (३) उत्तम–जघन्य पात्र–निर्ग्रन्थ साधु मुनिराज ४ " मध्यम–उत्तम पात्र " प्रतिमाधारी श्रावक ५ मध्यम–मध्यम पात्र–बारह व्रत धारी श्रावक ६ " मध्यम–जघन्य पात्र " यथा शक्ति थोडे व्रत प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक ७ जघन्य उत्तम पात्र–क्षायिक सम्यक्त्वी ८ " जघन्य–मध्यम पात्र " क्षयोपशम सम्यक्त्वी और ९ " जघन्य–जघन्य पात्र " उपशम सम्यक्त्वी। इन नौ पात्रों को ही यथा योग्य रीति से यथा योग्य वस्तुओं का दान करके संतोषित करना चाहिए, ऐसी जिनेश्वर की आज्ञा है।

ऐसे ही कुपात्र के भी नौ भेद हो सकते हैं:–१ ' उत्तम–उत्तम जन लिंग धारी साधु तो है परन्तु मोह कर्म की प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि न हुआ हो या अभव्यत्वनामक पारिणामिक भाव का परिणाम न होने से भाव लिंग को प्राप्त न हुआ हो, २ ' उत्तम–मध्यम-पात्र ' जैनी श्रावक तो है परन्तु अभव्य हो ३ ' उत्तम कनिष्ट पात्र ' जो व्रतादि पालन न करते हुये केवल नाम मात्र का श्रावक है। ४ 'मध्यम उत्तम पात्र' जो मिथ्यात्वी है परन्तु अज्ञान तप से आत्म दमन करता हो ५ ' मध्यम–मध्यम पात्र ' मिथ्यात्वी तो है परन्तु लौकिक व्यवहार में शुद्धता के लिये कुछ व्रत नियम पाले और लोगों को उपदेश दे ६ ' मध्यम कनिष्ट पात्र ' मिथ्यात्वी होकर भी अपने प्रयोजन के लिये सम्यक्त्वी का गुणानुवाद करे ७ ' कनिष्ठ–उत्तम पात्र ' अनाथ अपंग अभ्यागत भिक्षुकादि ८ ' कनिष्ठ मध्यम पात्र ' कसाई आदि जिसे धन देकर जीववध का त्याग कराया जाय ९ ' कनिष्ठ–कनिष्ठ पात्र ' वेश्या कसाई आदि। ये नौ प्रकार कुपात्र के कहे। इनको देने से

पुण्य प्रकृति, लौकिक व्यवहार की शुद्धि, यशः आदि फलकी प्राप्ति हो जाती है। श्री भगवतीजी सूत्र की वृत्ति में कहा है किः-

मोक्खत्थं च जे दाण एम त्रियस्स मोक्खाओ।
अनुकंपा दाणं पुण जिणेहि कहिंवि न पडिसिद्धं ॥

अर्थात्—जो मिथ्यात्वियों को गुरूकी बुद्धि से तथा मोक्ष के हेतु जानकर दान करे तो उसके सम्यक्त्व में दोप लगे। परन्तु अनुकम्पा के निमित्त देने वाले तो पुण्य ही उपार्जन करते हैं, इसलिये जिनेश्वर ने मिथ्यात्वियों को देने का भी कहीं निपेध नहीं किया है।

कुछ ग्रन्थों में द्रव्य पात्रों के द्वारा, भाव पात्रों का एक और भी स्वरूप बताया है, वह भी यहां दिखाते हैंः-१ जैसे सर्व जाति के पात्रों में रत्न का पात्र उत्तम गिना जाता है, उसी प्रकार यथाख्यात चारित्र के धारकः-श्री तीर्थंकर भगवान केवली भगवान सब पात्रों में परमोत्तम पात्र हैं। २ लाभालाभ सुख दुःख में एकसी वृत्ति रखने वाले तथा सम्यक-ज्ञान-दर्शन-चारित्र युक्त क्रिया के करने वाले संतोषी साधु सुवर्ण पात्र के समान हैं ३ सम्यक-ज्ञान-दर्शन-चारित्री प्रतिमा-धारी व्रत धारी श्रावक रजत यानी चांदी के पात्र समान हैं ४ सम्यक ज्ञान दर्शन के तो धारक हैं, परन्तु पूर्व अप्रत्याख्यानावरणी कर्मोदय के कारण व्रत प्रत्याख्यान नहीं कर सके हैं, तो भी देव गुरू धर्म की सच्चे मनसे भक्ति व श्रद्धा करते हैं वे ताम्र पात्र के समान हैं ५ सम्य-क्त्व के गुण से तो रहित हैं परन्तु मार्गानुसारी होने के कारण क्षांति आदि किंचित् गुणों के धारक हैं, गुण ग्राही एवं गुणानुवादी हैं वे लोह पात्र के समान हैं ६ दीन दुःखी व क्षुधा आदि दुःखों से पीडित प्राणी मृत्तिका पात्र के समान हैं। और ७ पंच आश्रव (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) के सेवन करने वाले मिथ्यात्वी अधर्मी, निंदक, कुधर्म के उपदेशक, पापी प्राणी सर्वथा अपात्र तथा कुपात्र कहलाते हैं।

पात्रों को देने का फल।

अब इन पात्रों के भेद से दान के फल का तारतम्य बताते हैंः-

(१) सहस्र मिथ्यात्वियों के पोषण से एक अव्रती सम्यक् दृष्टि के पोषण में फल अधिक होता है, (२) सहस्र अव्रती सम्यक् दृष्टियों के पोषण से एक व्रतधारी श्रावक के पोषण में अधिक फल होता है. (३) सहस्र श्रावकों के पोषण से भी अधिक फल एक महाव्रत धारी साधु के पोषण का होता है, (४) सहस्र महाव्रत धारियों से अधिक फल जिनेन्द्र भगवान् को दान देने में होता है।

सुप्पुरिसाणं दाणं कप्प तरूणा फलाण सोहवा।
लोहिण दाण जइ विमाण सोहा मव्वस्स जाणेह ॥

—रत्न सार ग्रन्थ

अर्थ—सत्पुरुषों को यथा विधि से दिया हुआ दान कल्प वृक्ष के समान फलप्रद होता है, और कुपात्रों को दिया हुआ दान शव के विमान को शृंगारित करने के समान शोभा का देने वाला यानी क्षणिक कीर्ति का कर्ता होता है, विशेष लाभ का कारण नहीं है।

सूत्र—कहण्णं भंत्ते जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति गोयमा नो पाणे अइवाइवा, नो मुस वाइवा, तहारूवं समणवा महाणं वा वंदिता जावपज्जुवासित्ता, जावअन्नयरेणं पीइ कारएणं असणपाण खाइम साइमं पडिलाभित्ता एवंखलु जीवा जाव पकरेंति।

भगवती सूत्र शतक ५ उदेशा ६

अर्थ—अहो भगवान! जीव, शुभ (सुखभोग सहित अकाल मृत्यु रहित) लंबी आयु किस कर्म से पावे! उत्तर—अहो गौतम! जो जीव हिंसा नहीं करे, झूठ नहीं बोले और साधु श्रावकका गुणानुवाद सत्कार सन्मान करे, उन्हें मनोज्ञ अच्छा आहार पानी पक्वान्न मुखवास देवे, वह जीव सुख पूर्वक पूर्ण करने के योग्य दीर्घ आयु पावे।

"दान का गुण"

हिंसायाः पर्य्यायो लोभो ऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरण हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥

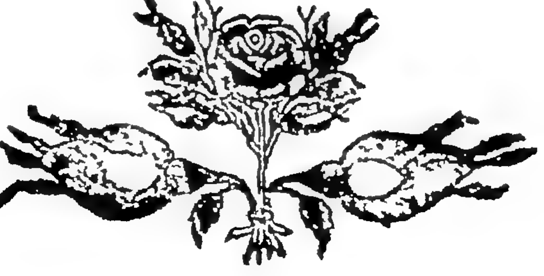
अर्थ—लोभ का त्याग किये विना दान नहीं होता है, और

लोभ हिंसा का पर्याय रूप है, इस लिये दान में लोभ का त्याग होने से हिंसा का भी त्याग हो जाता हैं। जिन्होंने दया रूप व्रत का आराधन किया उन्होंने सब व्रतों का आराधन किया, इस लिये दान रूप गुण सब गुणों में श्रेष्ठ और सब गुणों का मूल कारण है।

दान के फल से ही धन्नासार्थवाही, शंखराजा आदि ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया, ऐसा यह दान परमात्म पदको प्राप्त करने का मुख्य उपाय है। अतः जो परम पद के अभिलाषी इस व्रतका आराधन करेंगे वे अवश्यही परमात्मा पद को प्राप्त करेंगे।

दान वैय्यावृत्य का मुख्य अंग है, इस लिये वैयावृत्य धर्म का आगे वर्णन करने की अभिलाषा से इस प्रकरण को यहां समाप्त करते हैं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "चेइय
–दान" नामक सोलहवा प्रकरण समाप्त।





प्रकरण–सतरहवाँ

—:०:—

"वैयावच्च–भक्ति"



क्ति धर्म का मुख्य अंग है, भक्तिमान आत्मा अन्य सद्-गुणों में भी सप्रेम होती है, इसी प्रेम से सद्गुणों का आकर्षण करके वह अनेक सद्गुणों की सागर बन जाती है। इस भक्ति–वैयावच्च नामक धर्मांग के समवायांगजी सूत्र में ९१ भेद किये हैं:–

सूत्र—" एकाणउइ पर वेयावच्च कम्मपड़िमतो पन्नता "

अर्थात्–वैयावृत्य कर्म (प्रतिमा–अभिग्रह) के ९१ भेद कहे हैं, सो कहते हैं:–१साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना करे सो ' तीर्थंकर ' २ सद्बोध के द्वारा सद्ज्ञान देकर धर्म प्राप्त करावे सो ' धर्माचार्य ' ३ सूत्र अर्थ दोनों सुनावे पढावे समझावे सो ' वाचनाचार्य ' ४ धर्ममें अपनी और पराई आत्मा स्थिर करे सो स्थविर ५ एक गुरु के बहुत शिष्य होवें सो ' कुल ' ६ बहुत गुरुओं के बहुत शिष्यों का एकत्र होकर रहना सो ' गण ' ६ चारों तीर्थ सो ' संघ ' ७ एकही मंडल पर बैठ कर आहार करे सो ' संभोगी ' ८ जिनेश्वर

देवकी आज्ञा के अनुसार सूत्रोक्त शुद्ध क्रिया करे सो 'क्रियावंत' ९ क्षान्त्यादि धर्म की आराधना करे सो 'धर्मी' १० बुद्धि निर्मल होवे सो 'मति ज्ञानी' ११ शास्त्रज्ञान के अभ्यासी सो 'श्रुत ज्ञानी' ११ मर्यादा प्रमाण क्षेत्र की बात जाने सो 'अवधि ज्ञानी' १२ अढाई द्वीप के अन्तर्गत संज्ञी के मनकी बात जाने सो 'मनपर्ययवज्ञानी' १५ सर्व जाने सो केवल ज्ञानी। इन १५ की-१ भक्ति करना २ बहु मान देना ३ गुणानुवाद करना और ४ अशातना न करना-इन चारों से उपरोक्त पन्दरह स्थानों को गुण न करने से १५×४=६० भेद तो वैयावृत्य के ये हुए। और १ दीक्षा दाता सो प्रव्रज्याचार्य २ हित शिक्षा दाता सो हिताचार्य ३ सूत्र दाता सो उद्देशाचार्य ४ सूत्रार्थ दाता सो समुद्देशाचार्य ५ वाचनी दाता सो वाचनाचार्य ६ उपाध्याय ७ स्थविर ८ तपस्वी ९ गिलाण १० शिष्य ११ स्वधर्मी १२ कुल १३ गण १४ संघ-इन चौदह का-१ सत्कार करे, २ आते जाते देखकर खड़ा हो ३ नमस्कार करे, ४ आसन देवे ५ द्वादशावर्त वंदना करे, ६ हाथ जोडकर प्रश्नोत्तर करे, ७ उनकी आज्ञा में चले ८ जाते हुओं को पहुंचाने जावे ९ पास रहे, सदा भला चाहे १० और सर्व तरह का सुख उपजावे, इस प्रकार से तो वैयावृत्य करे, और १ सन्मुख नम्रता युक्त रहे २ उनकी चेतोवृत्ति के अनुसार कार्य करे, ३ बहुत मनुष्यों के वृन्द में गुणानुवाद करे, ४ उनका कार्य आप चतुराई से निष्पन्न करे, ५ व्याधि उत्पन्न हुई होतो औषधि पथ्य आदि भक्ति करे ६ देश काल के अनुसार प्रवृत्ति रखे ७ और सर्व कार्य में कुशल हो सब के प्रति भली प्रवृत्ति रखे। इस तरह सात प्रकार से लौकिक व्यवहार साधे। उपर्युक्त चौदह में इन १० और ७ के मिलाने से सर्व ३१ हुये। और पहिले के साठ (६०) इस तरह सर्व ९१ प्रकार वैयावृत्य के होते हैं।

इस तरह वैयावृत्य करने से श्री उत्तराध्ययन जी सूत्र के २९ वें अध्याय में, और भगवती सूत्र के ५ वें शतक के ६ वें उद्देश में कहे अनुसार फल होता है।

सूत्र—वेयावच्चेणं भंते जीवे किं जणयइ? वेयावच्चेणं तित्थयर नाम गोत्तं

कम्मं निबन्धइ ॥ ४३ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

प्रश्न—अहो पूज्य! वैयावृत्य करने से जीव को क्या फल होता है?

उत्तर—अहो शिष्य! आचार्यादिक की वैयावृत्य करने से जीव तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करता है।

और भी इस वैयावृत्य का विशेष वर्णन गुरु गुणानुवाद, संघ भक्ति आदि प्रकरणों में बहुत विस्तार से प्रथम करदिया गया है; इस लिये यहां संक्षेप में ही कहा है।

पहले जो ८ वॉ संघ भक्ति नाम का प्रकरण भूल से अधिक छप गया है, उस संपूर्ण प्रकरण का समावेश इस १७ वें प्रकरण में होता है।

तथा वैयावृत्य करने वाले को क्षमावान अवश्य होना चाहिए इस लिये आगे क्षमा का स्वरूप दर्शाने की इच्छा से यहां ही इस प्रकरण की समाप्ति की जाती है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "वैयावच्च
भक्ति" नामक सतरहवा प्रकरण समाप्त।





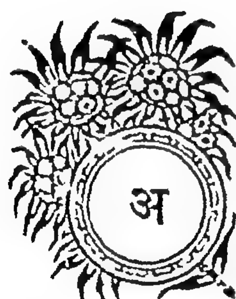
॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रकरण–अठारहवाँ

—:०:—

"समाधिभाव–क्षमा"

क्रोध वन्हेः क्षमैकेय प्रशान्तौ फल वाहिनी ।
उद्दाम संयमाराम वृतिर्वाऽत्यन्त निर्भरा ॥



अर्थात्—अत्यन्त भयंकर क्रोध रूप जाज्वल्यमान अग्नि ज्वाला को शांत करने वाली–यह क्षमा ही एक महा प्रबल औषध वाहिनी नदी है, और ज्ञानादि त्रिरत्न के धारक संयम रूप बाग को रक्षा करने के लिये क्षमा ही सुदृढ़ वाड़ है।

जब क्रोध रूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित होती है उस समय उस के तेज से आँखें अरुणता (लालरंग) धारण करती हैं, भ्रकुटि चढ़ जाती है, प्रेम भाग जाता है, और द्वेषका साम्राज्य स्थापित हो जाता है, क्षमा, शील, संतोष, तप, संयम, दया आदि गुण रूप इंधन का भक्षण करती है और उस के धूम्र से आत्मा को काली बनाती है, समीपवर्ती माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, गुरू, शिष्य, स्वामी, दास, आदि

तथा गृह, वस्त्र, भूषण, वर्तन आदि जिसकी तरफ भी झुकती है उसका नाश करने में नहीं चूकती है। इस तरह अतृप्तिता से भक्षण करती करती जब भक्ष्य का अभाव दृष्टि गोचर आने लगता है, तब उसी के रक्त मांस आदिका भक्षण कर उसे मृतक तुल्य वना देती है। इस तरह उसका और उसके सर्वस्व का भक्षण करने से तृप्त न होती हुई उस क्रोधी प्राणी को अपने साथ ही महा अंधकार युक्त नर्क स्थान में ले जाकर सागरों पर्यंत उसके साथ विलास करती ही रहती है! यों एकही भव में नहीं, परन्तु अनंत अनंत भवों की वृद्धि करके भव भव में जलाया करती है! ऐसी भयंकर यह क्रोध रूप अग्नि है।

ऐसी भयंकर ज्वाला के ग्राम से एवं ताप से वचने वाले सुख शान्ति के इच्छुक प्राणियों को इस क्रोध अग्नि के प्रज्वलित होने के पहिले या उसही समय क्षमा रूप अत्यन्त शीतल जल का सिंचन करना उचित है।

" क्षमावानों की भावना "

(१) संसारी जीवों में गुण और अवगुण स्वाभाविक रूप से पाए जाते हैं। अतः जो सच्चे सज्जन होते हैं वे अपने स्वजनों को अवगुणों से हटाकर गुणों की तरफ लगाने के लिये हर समय सूचना देते ही रहते हैं। और जो गुण अवगुणों को पहचानने वाले सुज्ञ जन होते हैं वे उन सज्जनों की हित शिक्षा श्रवण कर बड़े प्रसन्न होते हैं, और विचारते हैं कि—मै जानता नहीं था कि मेरी आत्मा इन अवगुणों से दूषित हो रही है। अच्छा हुआ जो इन्होंने उपकार करके मुझे सूचित किया, अब मै इन दोषों से अपनी आत्मा को वचाने में प्रयत्न शील वन सकूंगा। मतलब यह कि—वैर भाव धारण करके भी अगर कोई गाली प्रदान करता है, तो क्षमा शील पुरुष उसके क्रोध की तरफ दृष्टि नहीं लगाते, प्रत्युत उन वचनों को अपनी आत्मा के हित की तरफ ही लगाते हैं।

(२) जो अपना धन व्यय करके दूसरे का उपकार करते हैं उन्हें सब लोग अच्छा कहते हैं, तो फिर हे आत्मन् जो क्रोध के आधीन

होकर अपने पुण्य रूप द्रव्यका नाश करके तेरे को सावधान करने का उपकार करता है-उसकी तुझे भी प्रशंसा करनी चाहिये।

(३) धन के पीछे ही चोर लगते हैं, और धनवान ही उन से बचने का प्रयत्न करते हैं, अतः तू अपने क्षमा रूप धन का यत्न कर।

(४) यह तो निश्चय है कि—लिया हुआ कर्जा चुकाये विना कदापि छुटकारा नहीं हो सकता, अतः जो दुःख देता है, वह भी कर्ज चुकवाता है, फिर देने का सामर्थ्य होते हुए भी देते समय क्यों रोता है, खुशी से दे।

(५) अज्ञानी से ज्ञानी होना महा कष्ट साध्य है, और ऐसे क्रोध के समय में धैर्य धारण करना यही ज्ञानी का कर्तव्य है। अस्तु जो ज्ञानी होकर भी अज्ञानी की बराबरी करने लगे तो फिर परिश्रम से ज्ञान प्राप्त करने का लाभ ही क्या हुआ।

(६) ज्ञान से इतना तो निश्चय हुआ कि—अपने समय में प्राप्त हुए कर्मों का उदय कोई भी नहीं रोक सकता है, फिर तू क्यों व्यर्थ परिश्रम करता है? आय नाश करने से व्यय स्वयमेव ही बंद होजायगा।

(७) व्यापारी लोग यह जानते हैं कि—सबका सब कर्जा चुकाने से ही खाता बंद होता है, लेन देन करते रहने से नहीं, तो फिर हे आत्मन्! खाता खतम होने के वक्त प्रत्युत्तर रूप देन लेन चालू क्यों रखता है, चुप रहो।

(८) चोरों का स्वभाव होता है कि घरके मालिक को भ्रम में डालकर घर में आग लगा देते हैं, और फिर वह घरधनी जब आग बुझाने में लगजाता है तो इतने में चोर अपना मतलब करलेते हैं। और अगर गृहस्वामी होश्यार होता है तो चोर और आग दोनों से अपने माल की रक्षा कर लेता है वैसे ही कर्म रूप शत्रु क्षमा आदि गुण रूप संपदा का हरण करने के लिए-यह क्रोध रूप अग्नि आत्मा में लगाते हैं, इससे बचो!

९ जो भले मनुष्य होते हैं, वे कर्ज चुकाने में ही खुशी मानते हैं और महा कष्ट सह कर भी कर्ज चुकाते हैं। ज्यों ज्यों कर्ज कम होता है, त्यों त्यों अधिक खुशी मानते हैं। तैसे ही अपनी आत्मा पर भी जो दुःख सकट आकर पड़ते हैं वे कर्मों का कर्ज़ा कम करते हैं इसलिये ज्ञानी आदमी ज्यादा दुःख पढने से अधिक खुश होते हैं क्योंकि शीघ्र ही ऋण मुक्त होजाऊँगा।

१० श्वान (कुत्ता) नामक पशु का स्वभाव होता है कि जब वह क्रुद्ध होता है तब मनुष्य को काटता है परन्तु वह मनुष्य उसे नहीं काटता है क्योंकि उसकी बराबरी करने से शरमाता है। तैसे ही अज्ञानियों की बराबरी करते हुये ज्ञानियों को भी शर्म लाना चाहिए।

११ जैसे सड़े हुये अंग को अच्छे अंग से दूर करने के लिये डाक्टर चीर फाड़ आदि के द्वारा दुःख देता है, उसे पैसा देकर भी रोगी उपकार मानता है, तो यह शत्रु तो विना पैसे लिएही दुर्गुण रूप अंग को दूर करने के लिए कष्ट देता है। इसका तो अधिक उपकार मानना चाहिए, कृतघ्नी नहीं होना चाहिए।

१२ कड़वी औषधि लिए विना रोग नहीं मिटते तैसे ही परिषह उपसर्ग रूप दुःख समभाव से सहन किये विना कर्म नहीं कटते।

१३ जैसे विद्यार्थी स्कूल में पढकर होश्यार होजाता है, तब उसकी परीक्षा लेते हैं, कि कैसा पढा है ? परीक्षा देते समय अगर विद्यार्थी अडग रहकर प्रश्नोत्तर करे, चूके नहीं, तभी इनाम पावे; तैसे ही यह उपसर्ग कर्ता मनुष्य भी परीक्षक है सो मेरी परीक्षा लेने आया है कि देखें इसने क्षमा धर्म का इतने वर्षों में कैसा अभ्यास किया है ? सो अब मुझे अडग रहकर सम परिणाम से पूरी परीक्षा देकर मुक्ति स्थान का राज्य रूप इनाम संपादन करना ही चाहिये।

१४ आंखों वाले आदमी खड्डे से बचकर चलते हैं, तो हे आत्मन् ! तू ज्ञान नेत्र का धारक होकर दुर्गति रूप खड्डे से अपनी आत्मा को बचा !

१५ इस विश्व में दो मार्ग हैं, सद्‌गति और दुर्गति। जो सुगतिमें

जाना होतो क्षमा धारण कर अन्यथा दुर्गति तो तैयार है।

१६ हे मुमुक्षु आत्मन्! विना परिश्रम के कोई भी काम नहीं होता है, तो मोक्ष प्राप्ति का तो कहना ही क्या है? और यह उपसर्ग तेरे पर सहज ही आया है, मुक्ति का उपाय सहज ही हो रहा है, फिर सम परिणाम रखके अपूर्व लाभ क्यों नहीं लेता है?

१७ जैसे किसीने जहर खाया हो और उसकी चिकित्सा करने में वैद्य असमर्थ होतो वह खुद जहर खाकर नहीं मरता है और जो कदाचित् पी ले तो मूर्ख गिना जाता है तैसे ही क्षमा शील को विचारना चाहिए कि किसी ने अपने परिणाम विगाड कर मेरा बुरा करना चाहा, और मै उसे निवारण करनेमें (समझाने) समर्थ न हो सकूं तो क्या अपने परिणाम विगाड कर उसके जैसा करना उचित है? नहीं कदापि नहीं।

१८ जैसे गुरू महाराज व अफसर (मालिक) होते हैं, वे वारम्वार हटकते–मना करते रहते हैं, कि सीधे चलो और उस शिक्षण को हित कारक जानकर जो उस प्रमाण चलते हैं वे सुखी होते हैं। तैसे ही ये दुर्वचन कहने वाले भी मेरे अफसर बन के मुझे चेताते हैं कि पूर्व काल में तुमने जो क्रोध किया था उसका यह फल प्राप्त हुआ है और अब जो करोगे तो आगे भी ऐसे वचन सुनने पड़ेंगे, इसलिये सीधे चलो सम परिणाम रखकर सहो!

(१९) इस विश्व मे अनेक उत्तम पुरुष दूसरों को सन्तुष्ट यानी सुखी करने के लिये धन का व्यय करते हैं, अस्तु जो यह तुझे दुर्वचन कह कर सन्तुष्ट होता है–सुखपाता है तो तेरी इस में क्या हानि है, खुशी से होने दे।

(२०) जो कोई दुर्वचन कहता है या मारता है, उससे उसके पूर्व पुण्य रूप पूंजी की हानि होना तो प्रत्यक्ष ही है, किन्तु मै इसे सम-भाव से सहन करूंगा, तो मेरे कर्मो की निर्जरा होगी, यह भी प्रत्यक्ष है। किन्तु मै इसके प्रतिकार में इसे दुर्वचन आदि कहूंगा तो मेरे कर्मो की निर्जरा भी न होगी और विशेष कर्मो का बन्ध भी होगा–ऐसे दोनों प्रकार से अपनी ही हानि करना मुझे उचित नहीं है।

(२१) विना उपसर्ग एवं प्रसंग के मिले तो क्षमा सवही करते हैं अतः वे कुछ क्षमावान नहीं गिने जाते हैं। क्षमावान तो वेही कहे जाते हैं जो कि प्रसंग पडने पर—उपसर्ग परिषह आने पर-सम भाव से उन्हें सहन करते हैं। इसलिये जो तू क्षमावान् है तो ऐसा बन।

(२२) शस्त्र कला के अभ्यासी वर्षों तक परिश्रम करके शस्त्र चलाने की विद्या में निपुण होते हैं और जब शत्रु से युद्ध करने का प्रसग आता है तव उस पढी हुई विद्या को सार्थक करते हैं अर्थात् शत्रु का पराजय करते हैं। तैसे ही मैंने इतने दिनों जो क्षमा का साधन किया सो उसे सार्थक करने का मौका यही आया है अर्थात् क्षमा रूप शस्त्र से इन उपसर्गादि शत्रुओं का पराजय करूं। यदि ऐसे वक्त भी यह शस्त्र काम नहीं आया तो फिर सब परिश्रम व्यर्थही है।

(२३) देख आत्मन्! जब कुठार से चंदन वृक्ष का छेदन करते हैं, तो वह चंदन उस कुठार की धार और छेदन कर्ता दोनों को सुगन्ध ही प्रदान करता है, ऐसा ही तू बन अर्थात् उपसर्ग करने वाले का भी भला कर।

(२४) मंत्र वादी मंत्र की साधना करते हैं, उस वक्त उनपर अनेक उपसर्ग पड़ते हैं उन सब को वे सम भाव से सहते हैं तभी उनका इष्ट कार्य सिद्ध होता है, तैसेही मोक्ष प्राप्ति का मंत्र साधने के लिये जो मैं प्रवृत्त हुआ हूं तो मुझे अडिग होकर अपना इष्ट अर्थ सिद्ध करना चाहिये।

(२५) "कडाण कम्माण नमुक्ख अत्थि" इन वचनों पर पूर्ण प्रतीति है तो फिर जो कर्म मुझ पर उदय भाव को प्राप्त हुए हैं उनका बदला यदि यहां समभाव से नहीं चुकाऊंगा तो फिर नर्क तिर्यंचादि गतियों में तो जरूरही चुकाना पडेगा! अतएव सम भाव से स्वल्पकाल तक यहाँही बदला देकर नर्कादि दुर्गति से अपना छुटकारा करलूं!

(२६) जैसे कोई अपना अच्छा कार्य देर से होने की उम्मेद हो और वह जलदी ही हो जावे तो वड़ी खुशी होती है तैसे ही कर्म रूप कर्ज का इतने जलदी चुकने का भरोसा नहीं था, और यह जलदी

चुकने का मौका मिल गया है तो खुश हो, मन बिल्कुल ही मत दुखा।

(२७) ससारी जन धन, यश और सुख के लिये अनेक कष्ट सहते हैं, तो मुझे तो मोक्ष रूप महा लाभ की इच्छा है तो क्या उस महा लाभ के लिये इतनासा भी दुःख नहीं सहूं, जरूर सहना चाहिये।

(२८) प्रत्येक पक्ष की प्रख्याति प्रतिपक्ष से ही होती है, जैसे रात्रि से दिन की। वैसे ही क्रोधी उपसर्ग कर्ता जब मुझ पर उपसर्ग करे और मैं समभाव पूर्वक सहूंगा, तब ही तो लोग मुझे जानेंगे कि यह क्षमावान है। अगर यह उपसर्ग नहीं करता तो लोग मेरे गुण कहां से जानते? इसलिये यह तो मेरी प्रख्यातिकर्ता है, उपकारी है।

(२९) जिन जिन मुनिराजों ने पूर्व काल में केवल ज्ञान व मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने उपसर्गो–संकटों को सह करही किया है। इसलिये केवल ज्ञान व मोक्ष का दाता उपसर्ग व उपसर्गकर्ता ही है।

(३०) जो बड़े बड़े शूर वीर मानधारी योद्धा, सदा शस्त्र कवच से सज्जित रहने वाले, और शब्द से विश्व को गर्जाने वाले, यदि संग्राम के समय पीठ दिखा कर भाग जावें तो उनकी बड़ी हँसी होती है, वह मुँह दिखाने लायक नहीं रहते हैं। वैसे ही मैं रजोहरण मुंहपति आदि साधु के लिंग रूप शस्त्र कवच से सज्जित हुआ, सद्बोध की गर्जना से सभा को गर्जाने वाला, इस उपसर्ग रूप संग्राम में पीठ दिखावूंगा–क्रिया से भ्रष्ट होऊंगा तो मेरे धर्म की और मेरी बड़ी हँसी होगी, इस लिये पीठ बताना–भागना बिलकुलही योग्य नहीं।

(३१) जब दुष्कर तप, दुष्कर ध्यान, मौन, शील, तप सहन लोंच आदि कायकष्ट करता हूँ तब इतने कर्मों का नाश होता है, किन्तु यह उपसर्ग के समय में तो केवल समभावमात्र से ही क्षणभर में कर्मों का नाश हो सकता है, सब आपत्ति नष्ट होकर पाप कटता है, तो कटने रे! ऐसी समता धार।

(३२) यह तो निश्चय है कि इस भवका या परभवका वैर हुए विना किसी का किसी पर द्वेष जागृत ही नहीं होता है। अतः पूर्व भव में मैंने अवश्य ही इसका कुछ नुकसान किया होगा तब ही तो इसका

द्वेष जागृत हुआ है अस्तु बदला ले लेने दो, क्योंकि इस वक्त तो मुझ में देने की सामर्थ्य है।

(३३) यदि विना अपराध ही यह मेरे पर द्वेष करता है, तो अज्ञानी बाल पशु है। शठ मनुष्य को कभी छोटे बच्चे मार देवें, या कुछ बोल देवें तो वह उसकी दरकार नहीं करता है, ध्यान में नहीं लाता है, तो मुझे भी इस अज्ञानी के वचन पर व कर्तव्य पर लक्ष्य नहीं देते हुए दया करना ही उचित है।

(३४) यह अज्ञानता से मदान्ध हो कर उन्मत्तसा बन रहा है, इसका क्रोध से नहीं परन्तु युक्ति से समझाकर सुधार करना चाहिए। बड़े बड़े मदोन्मत्त गजेन्द्र व मृगेन्द्र (सिंह) भी युक्ति से वश में हो जाते हैं, तो क्या यह नहीं होगा ? अवश्य ही होगा। ऐसा निश्चयात्मक बनकर प्रथम तो उसे नम्रता से वश में करे, और जब वह शांत बने तब उसे क्रोध के दुर्गुण बता कर समझावे कि—देख भगवती सूत्र के ५ शतक के ६ वें उद्देश में कहा है:—

सूत्र—जेणं भंते ! पर अलिएणं ! असब्भूएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति तस्सण कहप्पगारा कम्मा कज्जति ! गोयमा—जेणं पर अलिएणं असब्भूएणं अब्भखाणेणं अब्भक्खाति तस्स तहप्पगाराचेव कम्मा कजंति, जत्थेवण अभिसमागच्छति तत्थेवण पडिसंवेदन्ति तत्तो से पच्छावेदेति सेवं भंते २ ॥

अर्थात्—प्रश्न ! गौतम स्वामी पूछते हैं कि अहो भगवन् जो झूठा कलंक किसी को देवे, दूसरे के दुर्गुण प्रगट करे, वह किस प्रकार के कर्म बांधता भोगता है। भगवान ने फरमाया अहो गौतम—जो दूसरे को झूठा कलङ्क देता है, दूसरे के दुर्गुण प्रकट करता है वह उसही प्रकार से कर्म भोगता है, अर्थात्—उसही भव में या आगे जहां जाकर उत्पन्न होगा वहां उसके शिर पर भी उसही प्रकार का कलंक लगेगा एवं उसका तिरस्कार होगा !!

ऐसी भगवान् की आज्ञा जानकर अहो सुखेच्छु आत्मन् ! इस क्रोध को उपशान्त कर शांत—शीतल बनो ! इत्यादि समझाने से अगर वह सुधरजाय तो अच्छा नहीं तो अपने शुद्ध आशय का फल तो अपने

को जरूर ही मिलेगा क्योंकि परिश्रम व्यर्थ नहीं होता है।

(३५) किसी भी कार्य को सहायता मिलती है तब उसकी वृद्धि होती है। जैसे अग्नि को इंधन मिलेगा तो वह बढेगी, नहीं तो क्षीण होकर नहीं बुझ जायगी। तैसे ही क्रोधाग्नि को भी जानना।

—दीधा गाली एक है, पलट्या गाल अनेक।
जो गाली देवे नहीं, तो रहे एक की एक॥

(३६) जो कुवचन बोलता है, वह तो अपने विश्वास को नष्ट करता है और जो सुनकर समता रखने वाले हैं उनको निर्जरा और कीर्ति ऐसे दो लाभ होते हैं।

(३७) यह तो निश्चय है कि–इस जगत् में ऐसी जाति योनि कुल स्थान नहीं है कि जहां पर हमारी आत्मा ने जन्म मरण नहीं किया अर्थात्–सर्व जाति में जन्म धारण कर आये हैं, फिर कोई अपने को चंडाल दुष्ट मूर्ख गंवार आदि शब्द कहे तो बुरा क्यों मानना, गाली क्यों समझना! क्या वह झूठा है? नही वह तो अपने पूर्व जन्म का स्मरण कराके विगड़ी अकल को ठिकाने लाता है, इसलिये उपकारी है।

(३८) गाली देता है, कुछ लेता तो नहीं है, जैसी उसके पास वस्तु है वैसी वह देता है। तेरे को पसंद होतो ग्रहण कर नहीं तो छोड़ दे। नापसंद वस्तु को ग्रहण करके मलिन मत बन!

(३९) क्या सभी गालियां खराब होती है? नहीं, ऐसा नहीं समझना। जरा उनके अर्थकी तरफ भी ध्यान देना–जैसे (१) किसीने कहा "तेरा खोज जावो" अथवा "तेरा खोज गया" सो उसने तो अपने को सिद्ध तुल्य बनाया; क्योंकि खोज (संसार का कारण) तो केवल सिद्ध काही जाता है, इसलिये यह आशीर्वाद हुआ। (२) किसीने कहा 'रे कर्म हीन' 'अभागी' 'अकर्मी' तो ये तीन गुण सिद्ध भगवान में पाये जाते हैं (३) 'साला' कहे तो अपने को ब्रह्मचारी बनाया, क्यों कि उत्तम पुरुष तो स्त्री मात्र के साथ भगिनी भावही धारण करते हैं। इन तीन उदाहरणों के अनुसार ही सब गालियों के भावार्थ की तरफ लक्ष्य देने से अहित कारी बचन भी हित कर्ता हो जाते हैं।

(४०) कोई अपने को बुरा कहे, चोर जार आदि कुछ भी कहे तो अपने मन में विचार करना कि–यह जो कहता है सो कर्तव्य शास्त्र की आज्ञानुसार मै करता हूं या नहीं ? तीर्थंकर की गुरू की मालिक की जीवकी चोरी करता हूं या नही ? पांच इन्द्रियों के विषय की लोलुपता मेरे में है या नहीं ? यों विचार करने से उसके कहे अनुसार जब अपनी आत्मा में दुर्गुण नजर आने लगें तो विचारिये कि–अहो इसने तो मेरे पर वैद्य–हकीम से भी ज्यादा उपकार किया; विना फीश लिये और विना नाडी देखे ही मेरे अंतःकरण का रोग बता दिया तो फीश देने के बदले में उलटे अपशब्द कहना कदापि उचित नहीं है । ऐसे प्रबल उपकार के बदले में अपकार करना, कितना बड़ा भारी पाप है ? ऐसा जानकर कुविचारों से आत्मा को सर्वदा बचाना चाहिये ।

(४१) यदि विरोधी के कहे हुये दुर्गुण अपनी आत्मा में दृष्टिगत नहीं होवें, तो बुरा मानने की कुछ भी जरूरत नहीं है । क्योंकि अंधेको अन्धा कहने से बुरा लगता है, परन्तु शुद्ध नेत्र वाले को नहीं ।

(४२) यदि हम भले हैं, और किसी ने बुरा कह दिया तो क्या हम बुरे हो जायेंगे ? नहीं कदापि नहीं । जैसे रत्न को किसी ने काँच कह दिया तो क्या वह कॉच होजायगा ? कदापि नहीं ।

(४३) हे आत्मन् सुकोमल न होना, अहंता घटाना, सद्गुणी बनना इत्यादि सत्पुरुषों की हित शिक्षा का पठन मनन करके एक कटु वचन मात्र भी सहन नहीं कर सकता है तो फिर ज्यादा क्या करेगा ?

(४४) अरे प्राणी ! नर्क, तिर्यंच, दरिद्री मनुष्य और अभोगी देवों में परवशता से पल्योपम सागरोपम तक महा भयंकर प्रहार व परिताप सहन किया हो तो क्या अब किंचित् काल के लिये इतना सा भी दुःख नहीं सह सकता है ? अस्तु क्या फिर वैसेही दुःख भोगने चाहता है ?

(४५) वस्तुतः कर्ज से छुटकारा तो नम्रता से ही होता है, कड़ाई करने वाले से तो कट मिती का व्याज भी भर लेते हैं, अतः तूं वनिया होकर इस बात को भूले मत, नम्रता से थोड़े में ही सर्व कर्ज़ चुकाके और फारकती लेकर बेफिक्र बनजा ।

(४६) जो वस्तु जिस काम में लगाने की होती है, उसको खराब होने से पहले पहले ही चतुर मनुष्य काम में लगादेते हैं। काम में लगाते समय उस वस्तुके व्यय-नाश होने की बिलकुल ही फिकर नहीं करते हैं। तैसे ही यह शरीर भी धर्म तप संयम में लगाने का है, अतः क्षमा आदि धर्म का रक्षण करते हुए इस शरीर का नाश होता है तो भलेही हो, उसका फिक्र क्यों करे ?

(४७) यह वध करने वाला शरीर का नाश क्या करता है, यहतो स्वयं ही नश्वर है, अर्थात् कभी न कभी इसका नाश होगा ही। दूसरे इस शरीर के नाश से मेरा कुछ भी नाश नहीं होता है, क्यों कि मैं (आत्मा) अविनाशी अखण्डित हूं, अग्नि से जलूं नहीं, पानी से गलूं नहीं, हवा से उडूं नहीं, जहर से मरूं नहीं, शस्त्र से कटूं नहीं, पशु पक्षी कोई भी भक्षण कर सके नहीं, फिर मुझे डर किसका ?

(४८) रे आत्मन् ! अभिमान में आकर वैर-बदला लेने को तैयार तो होता है, परन्तु संभलना ! उलटा न हो जाय। लेने के बदले कहीं देन दार नहीं बन जाय ! देख तेरे महान् पिता श्री महावीर प्रभुने वैर बदला किस तरह चुकाया है ? गवालिये जैसे पामर जाति की भी मार खाई, परन्तु कुछ जबाब ही नहीं दिया। और बदला चुकाने के लिये चंड कौशिक की बंबीपर, शूलपाणी यक्ष के मंदिर में, और अनार्य देश में गये ! उनकी तरफ से होने वाले महा भयंकर एवं असह्य कष्टों को भी समभाव से सहन किया ! और फिर उनको बोधामृतके पान से तृप्तकर, स्वर्ग मोक्ष में पहूंचाया! और स्वयं प्रभु ने भी सर्व बदला चुकाकर मोक्ष पाया। देख, वैर इस तरह चुकता है, यह अनुकरण तुझे भी करना उचित है, अर्थात् समभाव से उपसर्ग सहना, और अपकार के बदले में उपकार करना, यही बदला चुकाने का अत्युत्तम उपाय श्री वीर परमात्मा ने अपने को बताया, सो करना चाहिये।

(४९) शत्रुता से निवृत्त होने का सर्वोत्तम सच्चा अचूक उपाय यही है कि-अपनी आत्मा को शत्रु भाव रूप अमङ्गल पदार्थ से अपवित्र

बनाना ही नहीं चाहिये। यदि अपना मन सब पर प्रेम पवित्र रहा तो सबका मन भी अपने पर प्रेम पवित्र रहेगा, फिर शत्रुता उत्पन्न होगी ही नहीं।

(५०) यह क्षमा धर्म है, सो परमोत्कृष्ट धर्म है। इस की पूर्ण आराधना पालना स्पर्शना करने से जीव यहां भी परमानन्दी हो जाता है और आगे भी श्रेष्ठ सुख पाता है।

(५१) 'क्षमया स्थाप्यते धर्मः' क्षमाही धर्म की स्थापना करने वाली है। 'क्षमा तुल्यं तपो नास्ति' क्षमा जैसा दूसरा तपही नहीं है। 'खंती जीवाते मुणी वंदे' क्षमावानों की ऋषि भी वंदना करते हैं। इस तरह अनेक जगह सूत्रों ग्रन्थों व कविताओं में क्षमा की प्रशंसा की है। ऐसी सर्व मान्य क्षमा देवी, आवो मेरे मनोमन्दिर में निरन्तर वसो !!

(५२) इस तरह जो पठन मनन निदिध्यासन के द्वारा क्षमा शील बनते हैं, उनका मन पवित्र होता है, शरीर वलवान होता है, नियम दृढ़ होते है, सर्व जगत् जन्तु मित्र बनते हैं, और सर्व कार्य सिद्ध होते हैं।

उक्त रीतिसे जो क्षमा का आराधन है सोही परमात्मा का मार्ग है। ऐसे क्षमा शील ही तीर्थंकर पद–परमपद प्राप्त करते हैं। परन्तु जिनका आत्मा निरंतर अपूर्व ज्ञान ग्रहण करने में उद्यमी होता है, वेही सच्चे क्षमावान् होते हैं। इस लिये अपूर्व ज्ञान ग्रहण करने के गुणों का आगे वर्णन करने की अभिलाषा रखके इस प्रकरण को समाप्त करता हूं।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "समाधि-
भाव" नामक अठारहवा प्रकरण समाप्त।



प्रकरण–उन्नीसवाँ

—:०:—

"अपूर्वज्ञानाभ्यास"

पढम नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्व संजए ।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहीय सेय पावगं ॥



जो व्यक्ति प्रथम ज्ञान संपन्न होगा वही स्वात्मा और परमात्मा को जानेगा और जो जानेगा वही दया पालेगा। जिसे ज्ञान ही (जीव अजीव की पहिचान) नहीं है, उसकी शुभ कार्यों में यानी अनुष्ठानों में अन्ध तुल्य प्रवृत्ति रहती है। जो जीव अजीव को जानेगाही नहीं, वह संयम–यानी आत्म दमन के मार्ग को कहां से जानेगा ? और जो नहीं जानेगा तो अङ्गीकार कैसे करेगा और विना अङ्गीकार किये उसकी आत्मा का कल्याण नहीं होगा। अज्ञानी मनुष्य इस दुस्तर संसार सागर की कालीधार में डूब जायंगे। इसलिये सुखार्थी जनों को नित्य प्रति अपूर्व अपूर्व ज्ञान अभ्यास करने की बहुत आवश्यकता है।

अहो भव्य गणों ! इस जगत् में सब से उत्तम पदार्थ ज्ञानही है, क्योंकि सांसारिक और पारमार्थिक सब सुख ज्ञान के अधीन हैं।

" प्राचीन कालकी स्थिति "

सत्ययुग अर्थात् चतुर्थ काल में जो सुख धन कुटुंब आदि शुभ पदार्थों की अधिकता और दुःख क्लेश रोग इत्यादि की हीनता थी, इसका कारण ज्ञान–सद्विद्या का ही प्रसाद था। सूत्र ग्रन्थों कहानियों–और इतिहासों की तरफ लक्ष्य देने और अवलोकन करने से यह बात भली भांति विदित होजाती है कि उस समय के लोग कैसा और कितना ज्ञान का अभ्यास करते थे। जैसे इस समय के लोग स्त्री सम्बन्ध मिलने में कृतार्थ–ता समझते हैं, अर्थात् विवाह हुआ कि संसार में आने का सार प्राप्त कर लिया ऐसा समझते हैं तैसे ही बल्कि इससे भी बहुत अधिक उस समय के लोग ज्ञान संपादन करने में कृतार्थता समझते थे। गत युगों के सच्चे माता पिता (कलि काल के शत्रु रूप माता पिता जैसे नहीं) अपने पुत्र पुत्रियों को जहां तक वे सांसारिक व्यवहार के कार्यों में स्वयं ज्ञान प्राप्त न कर लेते थे, इन्द्रियें जागृत न होजाती थी, वहां तक उनको स्त्री पुरुष के सहवास से अलग रखते थे एवं ज्ञानका–विद्या का अभ्यास कराते थे। पुरुष को ७२ कला तक और स्त्री को ६४ कला तक पढाते थे, तब ही लौकिक विद्या का कुछ अभ्यास किया कराया समझते थे।

पुरुष की ७२ कलाओं के नाम।

१ लेखन कला * २ गणित, ३ रूपपरावृत्त, ४ नृत्य, ५ गीत, ६ ताल, ७ बादित्र, ८ वंसरी, ९ नर लक्षण, १० नारी लक्षण, ११ गज लक्षण, १२ अश्व लक्षण, १३ दड लक्षण, १४ रत्न परीक्षा, १५ धातु वाद, १६ मंत्र वाद, १७ कवित्व शक्ति, १८ तर्क शास्त्र, १९

* लेखन कला की १८ लिपि हस, भूत, यक्ष, राक्षस, यवनी, तुरकी, कीरी, द्रावड़ी, सैंधवी, मालवी, कनाड़ी, नागरी, लाटी, फारसी, अनीमिती, चाणक्य, मूलदेवी, उड़ी नटी। इन १८ लिपियों मे से ही देश आदि के फरक से गुजराती, सोरठी, मराटी इत्यादि अनेक प्रकार की भाषाऐं बनी हैं। ये एकही कला के भेद हैं। ऐसे ७२ ही कलाओ के पृथक् पृथक् अनेक भेद होते हैं।

नीति शास्त्र, २० तत्व विचार, (धर्म शास्त्र), २१ ज्योतिष शास्त्र, २२ वैद्यक शास्त्र, २३ षड् भाषा, २४ योगाभ्यास, २५ रसायन, २६ अंजन, २७ स्वप्न शास्त्र, २८ इन्द्रजाल २९ कृषि कर्म, ३० शस्त्र विधि, ३१ जुआ, ३२ व्यापार, ३३ राज सेवा, ३४ शकुन विचार, ३५ वायुस्तम्भन, ३६ अग्नि स्तम्भन, ३७ मेघ वृष्टि, ३८ विलेपन, ३९ मर्दन, ४० ऊर्ध्व-गमन, ४१ सुवर्ण सिद्धि, ४२ रौप्य सिद्धि, ४३ घट बन्धन, ४४ पत्र छेदन, ४५ मर्म भेदन, ४६ लोकाचार, ४७ लोक रंजन, ४८ फलाकर्षण, ४९ अफल फलन, ५० धार बधन, ५१ चित्र कला, ५२ ग्राम वास, ५३ कटक उतारण, ५४ शकट युद्ध, ५५ गरुड़ युद्ध, ५६ दृष्टि युद्ध, ५७ वाक्य युद्ध, ५८ मुष्टि युद्ध, ५९ बाहु युद्ध, ६० दंड युद्ध, ६१ शस्त्र युद्ध, ६२ सर्प मोहन, ६३ भूत दमन, ६४ मंत्र विधि, ६५ यंत्र विधि, ६६ तंत्र विधि, ६७ रौप्य पाक विधि, ६८ सुवर्ण पाक विधि, ६९ बन्धन, ७० मारण, ७३ स्तंभन, ७२ संजीवन ।

" स्त्रियों की ६४ कलाओं के नाम "

१ नृत्य, २ चित्र, ३ औचित्य, ४ वादित्र, ५ मंत्र, ६ यंत्र, ७ ज्ञान, ८ विज्ञान, ९ दंभ, १० जलस्तंभन, ११ गीतगान, १२ तालवान, १३ मेघ वृष्टि, १४ आराम रोपण, १५ आकार गोपन, १६ धर्म विचार १७ धर्म नीति, १८ शकुन विचार, १९ क्रिया कल्प, २० प्रसाद नीति, २१ संस्कृत, २२ वनिका वृद्धि, २३ स्वर्ण वृद्धि, २४ सुगन्ध करण, २५ लीला संचरण, २६ गज तुरंग परीक्षा, २७ स्त्री लक्षण, २८ पुरुष-लक्षण, २९ काम क्रिया, ३० लिपि छेद, ३१ तत्काल वृद्धि, ३२ वस्तु शुद्धि, ३३ वैद्यक क्रिया, ३४ सुवर्ण रत्न शुद्धि, ३५ घट भ्रमण, ३६ सार परिश्रम, ३७ अंजन योग, ३८ चूर्ण योग, ३९ हस्तलाघव, ४० वचन पटुत्व, ४१ भोज्य विधि, ४२ वाणिज्य विधि, ४३ काव्य शक्ति, ४४ व्याकरण, ४५ शालि खंडन, ४६ मुख मण्डन, ४७ कथोपकथन, ४८ कुसुमगुंथन, ४९ शृंगार, ५० सर्व भाषा ज्ञान, ५१ अभिधान, ५२ आभरण सज्जा, ५३ भृत्योपचार, ५४ गृहाचार, ५५ सचय करण,

५६ निराकर, ५७ धान्यरंधन ५८ केशवंधन ५९ वीणानाद, ६० वितंडावाद ६१ अंकविचार, ६२ लोक व्यवहार, ६३ अंतः परीक्षा ६४ प्रश्न पहेली।

इन ७२ और ६४ कलाओं के नाम से ही जरा ख्याल कीजिये कि कितना अधिक व्यावहारिक ज्ञान का अभ्यास गत काल में पुत्र पुत्रियों को कराया जाता था।

" प्राचीन काल का धर्माभ्यास "

ऐसे ही धार्मिक अभ्यास की तरफ भी जरा लक्ष्य दीजिये। जिस जिस शास्त्र में श्रावक श्राविकाओं के गुणों का वर्णन चला है, वहां साफ लिखा है कि-वे श्रावक आरंभ और परिग्रह से ममत्व कम करने वाले, श्रुत धर्म चारित्र धर्म को यथा शक्ति ग्रहण करने वाले और दूसरे को उपदेश तथा आदेश कर धर्म ग्रहण कराने वाले, अतिचार रहित व्रत पालने वाले, जीव अजीव के स्वरूप को यथार्थरीत्या पहिचानने वाले, पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा क्रिया अधिकरण (कर्म बन्ध के कारण) बंध मोक्ष-इनको भिन्न भिन्न भेदों से जानने वाले होते हैं। इत्यादि बहुतही वर्णन चला है। और भी देखिये, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २१ वें अध्याय में कहा हैः-" निग्गंत्थ पव्वयणे, सावय सेवि कोविये " अर्थात् चंपा नगरी का पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन यानी शास्त्र का ज्ञाता था। तैसे ही भगवतीजी में भी तुंगिया नगरी के श्रावकों का अधिकार है, और तैसाही उत्तराध्ययनजी के २२ वें अध्याय में राजमतीजी को "सील वंता बहुस्सुया " अर्थात् शीलवती व वहुत शास्त्रों की ज्ञान वाली वताई है। इन के पिता जैन धर्म के पालक थे, अतएव राजमतीजी ने बचपन सेही जैन शास्त्रों का कितना ज्ञानाभ्यास किया था, सो देखिये। तैसेही जयंती श्राविकाने भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रश्नोत्तर किये हैंः इत्यादि आगे के मनुष्यों में व्यावहारिक और धार्मिक ज्ञान का इतना प्राबल्य था, तबही वे एक घर में ६० स्त्री पुरुष एकत्र रह सकते थे, और कम से कम क्रोड़ों सौनैयों की स्टेट वाले थे, तथा शरीर संपत्ति निरोगता सुन्दर सुरूपता वगैरह उत्तमोत्तम ऋद्धि के धरने वाले थे। यह सब जाहो-जलाली भोगने का मुख्य हेतु ज्ञान ही था!

"अर्वाचीन काल की स्थिति"

वर्तमान समय में उक्त भारत देश की जो अत्यन्त हीन स्थिति हो रही है, बड़े बड़े राजा महाराजा दासत्व भोग रहे हैं, बहुत से मनुष्य अन्न अन्न पाणी पाणी करते हुये मर रहे हैं, बन वासियों की तरह मकान के एवं अपने धनके स्वामित्व से रहित निराधार बने बैठे हैं, इत्यादि जो दुर्दशा हो रही है, सो सब अज्ञानता का कारण है। बताइये, अभी इस आर्य भूमि में ७२ और ६४ कला के जानकार कौन स्त्री पुरुष हैं ? तथा यह भी बताइये कि नव तत्व की तोता रटंत विद्या को छोड़ पारमार्थिक स्वरूप के जानने वाले कितने श्रावक हैं ? बंधुओ ! अभी तो बालक को दो चार शब्द बोलना या तराजू पकड़ना आया, कि बस उसके मां बाप यही विचार करेंगे कि लड़का होशियार होगया, जल्दी शादी करो ! और दस वर्ष के पशु के गले में बारह चौदह वर्ष का डींगरा बांध कर खुशी के मारे पागल बने फिरते हैं। इस प्रकार पुत्रों के साथ बड़ी शत्रुता साधते हैं तो भी मित्रता समझते हैं। हा ! कितनी भयंकर अज्ञान दशा है। इसी भांति फिजूल खरच, कुसंग, क्लेश, निर्लज्जता वगैरह कुरीतियों का प्रसार होने से दिनोंदिन भारत वर्ष की सुख संपत्ति का नाश होता जा रहा है।

विद्या का प्रत्यक्ष प्रभाव।

जो लोग स्वप्न में भी ज्ञान एवं विद्या के नाम को नहीं समझते थे, वनवास ही जिनके शहर थे, पत्ते ही जिनके वस्त्र थे, और लाल पीले कंकरों को पाणी में घिसकर शरीर को लगाना ही जो शृंगार समझते थे, ऐसों ने जब विद्या का झन्डा उठाया और सतयुग के पासंग में भी न आने वाली विद्याओं का सपरिश्रम अध्ययन किया तो वेही आज सर्व मान्य महाराजा बन बैठे हैं। उनके तेज प्रताप से बड़े बड़े वीर क्षत्रियों के पुत्र भी चुप हो गये हैं। उनकी एक छत्र आज्ञा प्रवर्त रही है। और उसी देशके लोग अनेक कला कौशलों के द्वारा अन्न जनों को

चकित कर रहे हैं। हंसा हंसा कर द्रव्य ग्रहण करके साक्षात् देवलोक व सत्य युग जैसी सुख संपत्ति ऋद्धि नीरोगता सुरूपता भोगते हुये देखने में आते हैं। तथापि ऑखें होते भी अंधे और हीये के फूटे आर्य लोग दिनों दिन अपनी दशा बिगाड़ने में ही अपना सुधार समझते हैं। हा अफसोस है !

अहो आर्य बन्धुओ ! चेतो चेतो, ऑखें खोलो, और अपने हित के गवेषी बनके विद्या एवं ज्ञान की वृद्धि का पुनः प्रयत्न करो !

भर्तृ हरिने कहा है कि:—

विद्या नाम नरस्य रूप मधिक, प्रच्छन्न गुप्त धनं।
विद्या भोगकरी यशःसुख करी, विद्या गुरूणा गुरू ॥
विद्या बन्धुजनो विदेश गमने, विद्या पर दैवतम्।
विद्या राजसुपूजिता नहि धनं, विद्या विहीनः पशुः ॥

अर्थात्—जिम मनुष्यने विद्याभ्यास नहीं किया, वह निर्बुद्धि मनुष्य पशु के समान है। यदि कभी हस्त पाद कर्ण चक्षु आदि अवयव के धारक को मनुष्य कहते हों तो फिर बंदर को भी महा मनुष्य कहना चाहिये; क्योंकि उसके मनुष्य से एक अंग (पूंछ) ज्यादा है। परन्तु उसे मनुष्य नहीं कहने का कारण यही है कि—उस में विद्या व ज्ञान नहीं है। इस लिये मनुष्य का रूप ही विद्या है। इम वक्त के मनुष्यों को धन की अधिक लालसा होती है, परन्तु मच्चा धनतो विद्या ही है, क्योंकि दूमरे धनको तो चोर हरण करते हैं, राजा हिस्सा लेता है, अग्नि में जल जाता है, पानी में डूब जाता है, व गल जाता है, इत्यादि कई उपद्रव लगते हैं, और भारभूत भी होता है। परन्तु—

नच चोर हार्यं नच राजग्राह्यं न बन्धु भाज्य नच भारकारि।
एतद् धन सर्व धन प्रधानं विद्या धनं सत्पुरुषोत्तमानाम् ॥

अर्थात्—विद्या धनको न तो चोर हरण कर सकते हैं, न राजा ले सकता है, न भाई भाग लेता है, और न विदेशों में फिरते हुये भार

भूत ही होता है; इस लिये सब धनों में विद्या धनही उत्तम है और वह सत्पुरुषों के पास ही मिलता है। और धनतो दूसरों को देने से कम होता है, किन्तु विद्या धनतो देने से दूना होता है, इस लिये सच्चा धन विद्या ही है। आजकल के लोग विषय भोग में ही आनन्द मानते हैं, परन्तु सच्चा भोग तो विद्या का ही है; क्योंकि विषय भोग इस लोक में क्षणिक सुख रूप और परभव में महा दुःख दाता होते हैं और विद्या भोग अखण्ड अक्षय आनन्द का दाता है। विद्याभ्यासी खाद्यादि द्रव्यों के गुणों के जानकार भी होते हैं, अतः वे खाद्य अखाद्य व पथ्य अपथ्य का ज्ञान होने से अपथ्य से बचे रहते हैं, जिससे अपने शरीर का रक्षण करके इच्छित भोग भोग सकते हैं। मनुष्यों को यशः कीर्तिकी अभिलाषा भी अधिक रहती है, यह सच्ची कीर्ति तो विद्या सेही होती है; क्योंकि विद्वद्वर अकार्यों से बचते हैं, सबका भला करते हैं, इस लिये उन्हें सब चाहते हैं। मनुष्य जो सुख चाहते हैं, वे सुख भी विद्या में ही हैं, क्योंकि सब सुखका साधन विद्या सेही होता है। गुरुओं का गुरु विद्या ही है, जो जगत् में गुरुपद पाते हैं, वे विद्या के बल से ही पाते हैं। परदेश में विद्या बन्धु—भाई की तरह सहायता करने वाली होती है, खान पान सत्कार सन्मान आदि सब सुख दिलाती है। परम देवता भी विद्या ही है क्योंकि परम पद को प्राप्त हुए परमात्मा की पहिचान भी विद्या से ही होती है, और परमात्मा के पदको ज्ञान वान् ही प्राप्त होते हैं। तथा परम देव आत्मा है, उसका स्वरूप ही ज्ञान मय है, इस लिये विद्या ही परमदेव है। विद्यावानों की बड़े बड़े नरेन्द्र पूजा करते हैं, तथा राजा तो स्वदेश में पूजा जाता है और 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' अर्थात् विद्वान् सर्व देश में पूजे जाते हैं। इत्यादि विद्या के गुणों का अन्तर्दृष्टि से विचार करने पर सर्व उत्तमोत्तम सुख की देने वाली एक विद्या ही मालूम होती है।

यह तो बाह्य विद्या यानी कलाआश्रित गुणों की प्रशंसा की गई है। जब कि द्रव्य ज्ञान में ऐसे ऐसे गुण हैं, तो धर्म ज्ञान व आत्मिक ज्ञान के गुणों का तो कहनाही क्या?

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञान तिमिरा हतम् ।
तावदास्ते उदेत्युचै र्न यावज्ज्ञान भास्करः ॥

अर्थात्–जब तक ज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होता है, तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित रहता है। ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होते ही अज्ञान अन्धकार नष्ट होजाता है, आत्मा के निज गुण प्रकाशित होने लगते हैं।

" ज्ञानार्थी के विचार "

१ जो इन्द्रिय रूपी मृग संसार रूपी अरण्य (जंगल) में अनेक तरह के पदार्थ श्रवण कर, अवलोकन कर, सूंघकर, आस्वादन कर, भोग कर, उनमें लुब्धता धारण करते हुए अहर्निशि परि भ्रमण करते हैं, उन मृगों को वश में करने का उपयुक्त उपाय ज्ञान ही है, अर्थात्–ज्ञान से इन्द्रियां सहज ही वश में होजाती हैं।

२ ज्ञान कर्म शत्रुओं के नाश करने को तीक्ष्ण खड्ग है, सर्व तत्वों को प्रकाशित करने के लिये अद्वितीय सूर्य है, प्रमाद रूप राक्षस का क्षय करने को वज्र है, और क्लेश रूपी ज्वाला बुझाने को पुष्करावर्त मेघ है।

३ बडे बड़े योगीश्वर ज्ञानकी प्राप्ति के लिये बडे बड़े दुष्कर तप जप नियम अभिग्रह धारण करते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हैं।

४ जिन जिन उपायों से अज्ञानी कर्मों के बन्धन से बन्ध जाते हैं, उन उन उपायों को ही ज्ञानी विवेक वैराग्य युक्त करके कर्मों से छुट जाते हैं।

५ अज्ञानी करोड़ों जन्म व करोड़ों पूर्व तक के किये हुए तप से जिन कर्मों का नाश कर सकता है, ज्ञानी उतने कर्म एक श्वासोच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देते हैं। ज्ञान ऐसा पराक्रमी कारण है।

६ ज्ञानीजन के आचरण कर्म बन्धन से मुक्त होने के अविकल कारण होते हैं। ज्ञानी के कार्य रुक्ष वृत्ति को लिये हुए होते हैं, अतः वह

कर्म बन्धन में नहीं पड़ता है।

७ ज्ञानीका और अज्ञानी का रहने का स्थान यह संसार एक ही है, परन्तु भेद विज्ञान के कारण उन दोनों के आचरण और आचरण के फलों में पृथिवी आकाश जितना महान अतर होजाता है। यह ज्ञानका महात्म्य तत्ववेत्ता के अतिरिक्त अन्यों को अगम्य है।

८ लौकिक और लोकोत्तर सुधार एक ज्ञान से ही होते हैं।

इस प्रकार अनत गुणों के सागर ज्ञान को जानकर गुणज्ञ बन सदा अपूर्व ज्ञान पढते ही रहते हैं। ज्ञान अपरम्पार है, कितना भी पढे तो भी कभी अंत नहीं आता, इसलिये ज्ञानप्रेमी को ज्ञान ग्रहण करने में तृप्ति होती ही नहीं है। ऐसी अतृप्ति से अपूर्व ज्ञान ग्रहण करते करते जब अनेकानेक नवीन चमत्कारिक बातों का हृदय में चमत्कार उत्पन्न होने के कारण एकाग्रता होती है उस वक्त आत्मा में उत्कृष्ट शुद्धि आने से तीर्थंकर गौत्रका उपार्जन होता है।

" ज्ञान ही मोक्षका मार्ग है "

श्री दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्याय में कहा है किः—ज्ञान उसेही कहना जिसमे जीव आदि पदार्थों (तत्वों) की श्रद्धा हो।* जिसे जीवादि पदार्थों का ज्ञान होगा, वह जीवादि के रहने का स्थान चार गति चौवीस दंडक-चौरासी लक्ष जीव जातियोनि आदि को जानेगा। जो गति दडंक आदि को जानेगा वह उन ऊंच नीच गतियों में उपजने के कारण पुण्य और पाप को तथा उनके उपार्जन करने के कारणों को भी जानेगा। जो पुण्य पाप को जानेगा वह पुण्य पाप से होने हुए

---

* सूत्र सुणी पगण व यागो णधम्मो णय मातस्स पाणो।
तउ पगण किहकज्जय वाइस इव घुणी घाली पलाये जो॥

अर्थात्—सूत्र सुनते भी है और पढते भी हैं और पढाते भी हैं परन्तु उसका सार धर्म, वैराग्य, शाति धारण नहीं करते हैं वे कडनेकी तरह फक्त ध्वनि करने वाले हैं। —सदाग तरगिणी

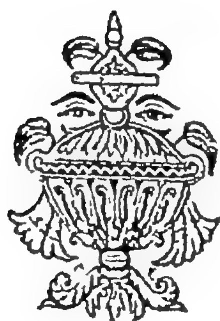
संसारके कारण रूप बंधन को और उस बंधन से छूटना स्वरूप मोक्ष—इन दोनों को जानेगा। जो बन्ध मोक्ष को जानेगा, वह बन्ध के कारण जो देव मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी भोग हैं, उनसे निवृत्त होगा। जो भोगों से निवृत्त होगा—वह बाह्य (प्रगट—धन धान्य आदि) और आभ्यन्तर (गुप्त—विषय कषाय आदि) परिग्रह से निवृत्त होगा। जो भोग परिग्रह से निवृत्त होगा, वह द्रव्य तो शिर (मस्तक) दाढी मूछके केशों का लोंच कर मुंडित होवेगा और भाव से क्रोध आदि कषायों के अंकुरों को अंतःकरण से उखाड़ कर मुंडित होवेगा। जो द्रव्य भाव से मुंड होवेगा, वह साधु धर्म की स्पर्शना करेगा। जो उक्त उत्कृष्ट धर्म को स्पर्शेगा, उसकी आत्मा पर चढ़ा हुआ अनादि का मिथ्यात्व मोह रूप मैल दूर होवेगा। जिनका यह मैल दूर होगा उनकी आत्मा कर्म रहित निर्मल होवेगी। जिनकी आत्मा कर्म रहित निर्मल हुई है, उनको महा दिव्य जगत् प्रकाशी—सर्व लोकालोक व्यापक—अपार—अनंत—अक्षय—केवल ज्ञान केवल दर्शन की प्राप्ति होवेगी। जिनको केवल ज्ञान केवल दर्शन की प्राप्ति हुई है, वे राग द्वेष रूप महाप्रबल कर्म शत्रु के जीतने वाले जिनेश्वर कहलावेंगे, और वे जिनेश्वर ही लोकालोक के सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् स्पष्ट रूपेण प्रत्यक्ष देखेंगे। ऐसे जिनेश्वर केवल ज्ञानी भगवान् ग्रामानुग्राम अप्रतिबन्ध विहार करते हुये जिस श्रुत ज्ञान के प्रसाद से इतने उच्चपद को प्राप्त हुए, इन्द्र नरेन्द्र के पूज्य हुए, उसी श्रुत ज्ञान का, अपनी अमोघ धारा वाणी के द्वारा प्रकाश एवं प्रसार करते हैं। तथा आयुष्य के अन्त में शैलेशी भाव को प्राप्त होकर अर्थात् मन वचन काय के योगों को पर्वत (पहाड) की तरह स्थिरीभूत कर, शेष सब कर्मों का नाश कर, शरीर त्याग कर, शुद्ध सत्य चिदानन्द अवस्था को प्राप्त हो कर, सर्व लोकके ऊपर अग्र भाग में परमात्म पद—मोक्ष स्थान को प्राप्त करते हैं और वहां सादि अनंत काल तक अनंत—अक्षय—अव्याबाध—शाश्वत सुखकी लहर में विराजमान होते हैं। यही परमात्मा कहलाते हैं।

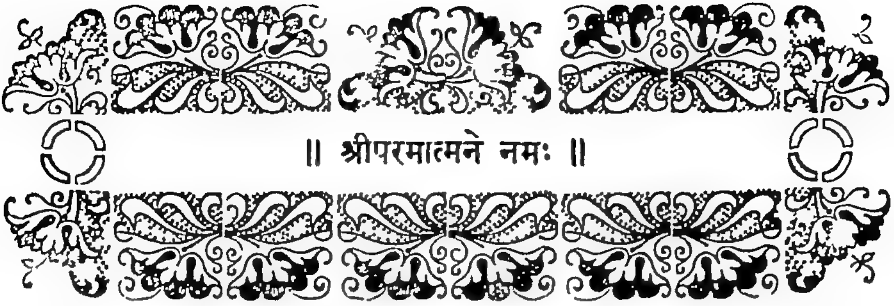
अहो भव्यो! श्रुत ज्ञान का सदा अभ्यास करने से उपर्युक्त

रीत्या क्रमशः आत्मा की उच्चातिउच्च दशा होती है और अन्त में परम परमात्मा पद तक पहुंचती है, यह ध्यान में लीजिये।

ऐसे श्रुत ज्ञान को महा प्रभावक जान कर सदा अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करते ही रहना चाहिये। यह ज्ञानका अभ्यास, जिनके हृदय में सूत्र की भक्ति होगी वेही कर सकते हैं-इस लिये सूत्र भक्ति का वर्णन आगे करने की इच्छा से उक्त प्रकरण की यहीं समाप्ति की जाती है।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "अपूर्व-
ज्ञान" नामक उन्नीसवा प्रकरण समाप्त।



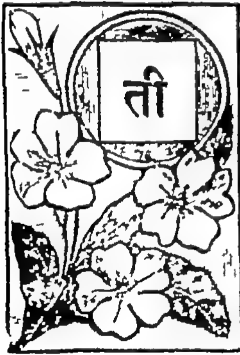


प्रकरण–बीसवाँ

—:०:—

"सूत्र भक्ति"

—तीर्थ प्रवर्तन फल यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थंकर नाम ।
तस्योदयात्कृतार्थो ऽ प्यर्हं स्तीर्थं प्रवर्तयति ॥



र्थ प्रवर्तन रूप फल का देने वाला जो तीर्थंकर नाम कर्म शास्त्र में कहा गया है, उसके उदय से अर्हंत भगवान स्वयं कृतार्थ होते हुए भी तीर्थ की प्रवृत्ति अर्थात् संसार सागर से पार उतारने वाले धर्म का उपदेश करते हैं। वह धर्मोपदेश यानी वाणी का प्रकाश अर्थरूप होता है, अर्थात् ऐसी सरलता के साथ वचनोच्चारण होता है कि किसी भी देश के किसी भी भाषा के जानकार किसी भी अवस्था में (बाल युवा वृद्ध पशु पक्षी मनुष्य देव) सब श्रोताओं को ऐसाही प्रतिभास होता है कि–यह भगवान हमारी ही भाषा में उपदेश फरमाते हैं। इसलिये भगवान की वाणी अर्थरूप है।

—अत्थ भासेति अरिहा सुत्त गुथति गणहरा निउणं ।
सासणस्सहि अट्ठाहिं ततो सुत्त पवत्तइ ॥

अर्थात्–अरिहंत भगवान तो अर्थरूप वाणी का प्रकाश करते हैं, और उसी वाणी के अनुसार गणधर महाराज गद्यपद्यमय सूत्र गूंथते हैं। उन सूत्रों के आधार से जहां तक जिनेश्वर भगवान का शासन चलता है वहां तक चारोंही तीर्थों की प्रवृत्ति एवं धर्म का प्रकाश होता है।

ऐसे अर्हंत कथित और गणधर ग्रथित तथैव दश पूर्व ज्ञानधारी महात्मा रचित ग्रंथ ही सूत्र कहे जाते हैं—

महतो ऽ ति महाविषयस्य दुर्गम ग्रन्थ भाष्य पारस्य।
कः शक्तः प्रत्यासं जिन वचन महोदधेः कर्तुम्॥

अर्थात् महान्, महा विषय से पूर्ण एवं अपार जिन भगवान के वचन रूपी महा समुद्र का संग्रह करने को कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं।

अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर भगवान तो हैंही नहीं, परन्तु उनके द्वारा निरूपित सूत्र हैं, उनही के प्रसाद से भव्य जीव जगतारक धर्म को प्राप्त कर सकते हैं, और आगे चलाते हैं जिससे अनेक जीव संसार सागर के पार पहुंचने में समर्थ होते हैं। ऐसे परमोपकारी सूत्रोंकी भक्ति परम आवश्यक कर्तव्य है।

एक मपि तु जिन वचानाद्यस्मान्निर्वाहक पदं भवति।
श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिक मात्र पद सिद्धा.॥

अर्थात्–श्रीजिनेश्वर भगवान के उपदेश का एक भी पद अभ्यास करने पर उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्ति द्वारा संसार सागर से पार उतार देता है, क्योंकि अतीत काल में केवल सामायिक मात्र पद से ही अनंत सिद्ध होगये हैं। इस प्रकार जो सिद्धि दाता सूत्र ज्ञान है, उसकी भक्ति करना योग्य ही है।

सूत्र भक्ति की विधि और सद्बोध।

पुस्तकेषु विचित्रेषु श्री जिनागमलेखनं।
तत्पूजावस्तुभिः पुण्यैर्द्रव्याराधनमुच्यते॥

सूत्र भक्ति इस तरह से करनी चाहिए:- जो जिनागम पुराने होकर जीर्णभाव को प्राप्त होगए हैं, उनको जिस प्रकार अशातना नहीं हो, हिंसा नहीं हो, इस तरह लेखन आदि कराके तथा स्वयं करके बहुत काल तक स्थित रहें, ऐसे प्रबन्ध के साथ रखे। जितना अधिक प्रसार (फैलाव) बने उतना करने में कमी नहीं रक्खे। इस वक्त मुद्रणयन्त्र-सम्बन्धी सुभीता होने से सर्व धर्मावलम्बी, अपने अपने धर्मका ज्ञान प्रसिद्ध करने में कटिबद्ध-सावधान हुये हैं,-ऐसे समय में जैनधर्मियों को मौन रहना बिल कुल उचित नहीं है। क्योंकि आजकल सब धर्मावलम्बी अपने २ धर्म का दिग्दर्शन कराने लगे हैं, और ऐसे समय में जैन का तत्व अगर उनके दृष्टिगत न हुआ तो जैनियों के धर्म विषय में शंका उत्पन्न होने का, तथा जैनियों के जैनत्व से च्युत होनेका बड़ा धोखा है। ऐसा समझ कर, अलग अलग फिरके वाले जैन भी अपना अपना मत प्रकाश में लाने लगे हैं, यह महाशय अगर अन्य लोगों के खण्डन की तरफ से दृष्टि हटाके अपने सत्य दर्शाने के प्रयास में न चूकें तो अवश्य ही इष्टार्थ सिद्ध करने में समर्थ बन सकते हैं क्योंकि आपस के खण्डन से अपने घर की कितनी ही रहस्य मय बातें अन्य के हाथ लगने से वक्तपर भेद भाव नहीं जानने वाले सर्व मत की असत्य कल्पना करके अन्य मतावलम्बी बनजाते हैं। यह करतूत मेरे दृष्टि गत होनेसेही यहां यह नम्र सूचना की है। आप देखिये कि जो जैनशास्त्र निष्पक्ष दृष्टि से मुद्रित हुए हैं, उन्हें पढकर पाश्चिमात्य बडे बडे विद्वान भी एक आवाज से जैन धर्म की तारीफ करने लगे हैं, और अनेक जैनी भी बन गये हैं! मै जानता हूं कि इसका कारण उनके दृष्टिगत विरोधी पुस्तकों का नहीं होना है। वहां धर्म की वृद्धि होने का मुझे तो यही कारण मालूम पड़ता है। और आर्य खंड के जैनी कितने ही नास्तिक बन रहे हैं, इसमें बहुत कर विरोधी पुस्तकों का पठन ही कारण प्रतीत होता है। इस लिये मेरी उक्त विज्ञप्ति पर ध्यान देना चाहिये और जैन का सत्य तत्व यथा साध्य आकर्षक रूप में विस्तार के साथ मुद्रण द्वारा प्रसिद्ध करने से वंचित नहीं रहना चाहिये।

बहुत स्थानों के जैन भण्डारों में अनेक उत्तमोत्तम ज्ञान के सागर तत्व के आगर सूत्र एवं ग्रन्थ पड़े पड़े मड़ रहे हैं। उन पर से अहंता एवं ममता का त्याग करके सर्व साधारण को लाभ देना चाहिये। सब दान से विद्या दान का बड़ा महान् लाभ बताया है।

यावदक्षर संख्यानं, विद्यते शास्त्र संचये।
तावद्वर्ष सहस्राणि, स्वर्गे तिष्ठति मानवः॥

अर्थात—लौकिक भी कहते हैं कि:—शास्त्र के संग्रह में जितने अक्षर होवें, उन अक्षरों की संख्या प्रमाण अर्थात् जितने अक्षर होवें उतने ही हजार वर्ष विद्यादान का करने वाला स्वर्ग में रहकर स्वर्ग सुखका भोक्ता होता है। पाठको! देखिये सूत्र भक्ति का महात्म्य कितना महान् है?

ऐसी ऐसी लाभकारक बातों को जान कर भी जो सूत्र भक्ति–ज्ञान प्रसार करने में पीछे रहते हैं, तो उनकी कितनी कम नशीबी है? अहो बन्धुओ! यह समय प्रमाद करने का बिलकुल नहीं है। देखिये, पहिले कितना ज्ञान था! और अब घटते घटते कितना कम रहगया है, जिससे जैन सूत्रों में कही हुई कितनी ही खगोल भूगोल सम्बन्धी बातों में लोक शंकाशील होने लगे हैं। इत्यादि प्रसंग आनेका मुख्य हेतु सूत्र–भक्ति का अभावही है।

न मालूम इस समय लोगों की क्या समझ होगई है कि ज्ञान को छिपाने में एवं दूसरों को न बताने में ही फायदा समझने लगे हैं। किसी को कभी एक दोहरा भी नया मिल जाता है तो वह यही विचारेगा कि मेरे इस दोहे को और कोई न जान पाये। बड़ी अफसोस की बात है कि वे उसे इतना गुप्त रखकर न मालूम कौनसा फायदा उठाना चाहते हैं? अगर कभी यह विचार केवली भगवान या शास्त्र के उद्धारकर्ता देवर्द्धी गणी क्षमा श्रमण करते तो यह धर्म कभी का लुप्त होजाता? अहो भाइयो अब कितना ज्ञान रहा है, जो हम छिपावें। जब पूर्वो का ज्ञान था; और दशवां विद्याप्रवाद पूर्व अनेक चमत्कारिक विद्याओं से भरा हुआ था, वह भी पढ़ने वाले को खुशी के साथ पढ़ाते थे तो और ज्ञान की

तो कहना ही क्या ? गौतम स्वामी जैसे जैन के प्रतिपक्षी को भी श्री महावीर प्रभु ने जैनी बनाकर एक मुहूर्त मात्र में चौदह पूर्व की विद्या देदी। कहिये, है कोई ऐसा ज्ञान दान का दाता ! अबतो केवल अपने शिष्य कोही एक गाथा का अर्थ बताने में भी माया सेवन करते हैं, कि इसे सब बता दूंगा तो फिर मुझे कौन पूछेगा ? इस भांति कदाग्रहियों के हाथ ज्ञान जाने से, इस वक्त नवीन फिलोसुफी के पढे हुये तर्कवादी जैननामधारी पंडितों को खगोल भूगोलादि के प्रश्नों से सहज मेंही दिङ्मूढ बना देते हैं। ऐसी धर्म की गिरी दशा को अवलोकन करके भी ज्ञान को छिपा रखते हैं, प्रकट नहीं करते हैं, फिर उनका ज्ञान भंडार में पड़ा पड़ा सड़ जायगा ! तब क्या काम आयगा ? इस बात को जरा दीर्घ दृष्टि से विचारिये और धर्म के नाम से एवं प्रसाद से पुण्य पद भोगते आनंद मानते हो उमही धर्म की रक्षा कीजिये, अधोगति में जाने से बचा लीजिये, और डूबते हुये ज्ञान का पुनरुद्धार करिये, जिसमे जैन पंडित धर्म के गुरु पूर्ण शक्तिमान होकर तर्कवेत्ताओं का तर्कवितर्क द्वारा समाधान कर सत्य सनातन जैन धर्म का उद्योत करें।

" सूत्र भक्ति के ८ दोष "

१ ' काल ' सूत्र दो प्रकार के होते हैं कालिक और उत्कालिक। कालिक वे हैं, जो दिन तथा रात्रि के पहिले और चौथे पहर में पढे जावें अतिरिक्त समय में नहीं। और उत्कालिक सूत्र वे हैं जो दिन उदय होते, मध्याह्न में, सन्ध्या समय में, अर्ध रात्रि में, इन चारोंही वक्त में सदा एक एक मुहूर्त छोडकर पढे जावें और आश्विन सुदी पूर्णिमा कार्तिक बदी प्रतिपदा, कार्तिक सुदी पूर्णिमा मार्ग शीर्ष प्रतिपदा, चैत्र सुदी पूर्णिमा वैसाख बदि प्रतिपदा, आषाढ सुदी पूर्णिमा भाद्रव वदी प्रतिपदा, भाद्रव सुदी पूर्णिमा आश्विन वदी प्रतिपदा, इनआठ दिनों में संपूर्ण दिन रात नहीं पढे जाते। यों चौदह कालों को छोड़कर सूत्र पढना चाहिये।

२ ' विणए ' जिनसे अपने को ज्ञान की प्राप्ति होवे-ऐसे सूत्र पुस्तक वगैरह को पैर नहीं लगावे, शिर के नीचे दाब कर नहीं सोवे,

अपवित्र स्थान पर नहीं रखे, इत्यादि अशातना टाले। और सूत्र श्रवण करते समय तहत आदि शब्द से बधाता हुवा ग्रहण करे।

३ 'बहुमान' सूत्रों के वचनों को बहुमानपूर्वक ग्रहण करे, एकांत आत्मा के कल्याण करता जाने। और (१) 'उवकाय' तारा टूटे तो एक मुहूर्त, (२) 'दिशा दाह' प्रातः व शाम को या दूसरी वक्त भी दिशा लाल रंग की रहे वहां तक, (३) 'गज्जियो' मेघ गर्जना हो तो एक मुहूर्त, (४) 'विज्जिए' बिजली चमके तो एक मुहूर्त, (५) 'निग्घाए' कडके तो आठ पहर, (६) 'जुव' शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को चन्द्रमा रहे वहां तक, (७) 'जक्खले' आकाश में मनुष्य पशु पिशाचआदि के चिन्ह दीखें वहां तक, (८) 'धुम्मीए' काली धूंई (धंवर) पडे वहां तक, (९) 'महिए' श्वेत (धोली) धूँवर पडे वहां तक, (१०) 'रएघाए' आकाश में धूलके गोटे चढे हुए दृष्टि आवें वहां तक, (११) 'मांस' पंचेन्द्रिय का मांस दृष्टि आवे वहां तक, (१२) 'सोणी' रक्त दृष्टि आवे वहां तक, (१३) 'अट्ठी' अस्थि (हड्डी) दृष्टि आवे वहां तक, (१४) 'उच्चार' विष्ठा दृष्टि आवे वहां तक (१५) 'सुसाण' मशान के चारों तरफ १००–१०० हाथ, (१६) 'राय रमण' राजा की मृत्यु की हडताल रहे वहां तक, (१७) 'राय वुग्गह' राजाओं का युद्ध होवे वहां तक, (१८) 'चंदोवरागे' चन्द्र ग्रहण खग्रास होवे तो बारह पहर, कम होवे तो कम, (१९) 'सूरोव-रागे' सूर्य ग्रहण की भी चन्द्रवत, (२०) उवसता' पचेन्द्रिय का कलेवर (जीव रहित शरीर) पडाहो वहां से चारों तरफ १००–१०० हाथ वरजे। इस तरह असझाइ वर्ज कर सूत्र वाचने वाले का बहु मान करे–तेंतीस अशातना टाले।

४ 'उवहाणे' सामान्य मंत्र भी जो विधि युक्त पढ़े तोही फली-भूत होता है, तो सूत्रज्ञान विना विधि पढ़ा कैसे फलीभूत होगा–ऐसा जानकर सूत्र प्रारंभ करते समय, और पूर्ण करते समय गुरु महाराज जैसा फरमायें वैसा उपवास आम्बिल आदि तप करे। और यथा विधि विनययुक्त पठन मनन करे, उघाड़े मुख से वांचे नहीं।

५ 'निन्हवणे' सूत्र के वचन लोपे गोपे छिपावे नहीं। कितने ही मतपक्ष के कारण अपने मत से अन मिलते सूत्र बचन को हटाकर-अर्थ फेर कर मनमाने अर्थ एवं पाठ की स्थापना करदेते हैं, सो बड़ा अनर्थ कर देते हैं। एक सामान्य राजा की आज्ञा को भी जो फिरा देता है, वह बड़ा दण्ड भोगने का अधिकारी होता है, तो जो त्रिलोकी-नाथ श्री तीर्थंकर भगवान् के फरमान को फिरावेगा उसके पाप का तो कहनाही क्या? तीर्थंकरों के बचन को जानकर उत्थापने वाले तथा फिराकर अन्य रूप में परिणत करने वाले, बोध बीज सम्यक्त्व का नाश कर अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं, ऐसा सूत्र का फरमान जानकर भव्यात्मा यथा तथ्य-जैसा उसका अर्थ भासे या गुरु परम्परा से धारा होवे वैसाही-श्रद्धें और प्ररूपें।

६ 'वंजणे' शास्त्र के अभ्यासी को प्रथम व्याकरण का ज्ञान अवश्यही होना चाहिए। क्योंकि व्याकरण के ज्ञान विना शब्दों का शुद्ध उच्चारण होना मुश्किल है, और अशुद्ध बचन बोलने से शास्त्र की अशातना होती है, सो कर्म बंधका कारण है। इस लिये आचारांग सूत्र के फरमाये मूजब १६ बचनों का ज्ञान जरूर ही होना चाहिये। और पठन करते वक्त एव उच्चारण करते वक्त उपयोग रखकर बने वहां तक शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, कदाचित् ज्ञानावरणीय के उदय से पूर्ण अक्षरों का ज्ञान न होवे तो, जैसा गुरु महाराज के पास से धारण किया हो वैसा उच्चारण करना चाहिये।

७ 'अत्थ' सूत्रार्थ को विपरीत नहीं करे अर्थात् शास्त्र के बचन हैं सो अनंत ज्ञानी के फरमाये हुए बहुतही गंभीर हैं, अल्पज्ञ के अपूर्ण ज्ञान में आना बहुत ही मुश्किल है। इसलिये गुरु गम की बहुत ज़रूरत है, और जैसा गुरु महाराज के पास से धारण किया हो वैसा ही आगे सुनावे सिखावे, परन्तु अपनी पंडिताई का ढोंग जमाने को गप्पसप्प नहीं चलावे। जो बचन समझ में न आवे तो साफ कह देवे कि मै इतना ही जानता हूं तुम विज्ञानियों के पास खुलासा कर लेना।

और अपने मन में भी संकल्प विकल्प न करे क्योंकि चौदह पूर्व के पाठी मुनि भी जब शंका शील हो जाते थे, तब आहारक समुद्घात कर केवल ज्ञानियों के पास से प्रश्नोत्तर मँगाते थे, तो अपने पास कितना ज्ञान है, ऐसे विचार से प्रणामों में निश्चलता रखे।

८ 'तदुभय' सूत्र और अर्थ दोनों ही माननीय हैं, अर्थात् जो अर्थ सूत्र के अनुसार सूत्र से मिलता हुआ हो, और दश पूर्व ज्ञान के धारी ने प्रकाशित किया हो, सो सब मान्य है। और दश पूर्व से कम अभ्यासियों ने जो सूत्र पर विशेषार्थ किया हो वह सर्व मान्य नहीं है, क्योंकि भगवंत ने फरमाया है, कि दश पूर्व से कम अभ्यासियों का सम्यक् सूत्र भी होता है, और मिथ्या सूत्र भी होता है अतः सूत्र (मूल पाठ) और उसका अर्थ जैसा होवे वैसा ही श्रद्धे प्ररूपे उसमें कभी ज़्यादा विपरीत बिलकुल ही नहीं करे।

यह ज्ञान के ८ दोष कहे। इन्हें वर्जकर जो निर्दोष रीति से सूत्र का अभ्यास किया जाता है सो सूत्र भक्ति कही जाती है।

सूत्र—से नूण भंते तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेदिय ? हता गोयमा तमेव सच्चं णीसकं जजिणेहिं पवेदिय। से नूण भंते एवं मणधारेमाणे, एवं पकरे माणे, एवं चिठमाणे, एवं संवरे माणे, आणाए आराहए भवति। हंता गोयमा मणधारे माणे जाव भवंति। सेनूण भंते अत्थितं अत्थिते परिणमेइ नत्थितं नत्थिते परिणमइ ! हता गोयमा जाव परिणमेइ।

श्रीविवाह पन्नत्ति (भगवती) सूत्र

प्रश्न—अहो—भगवंत ! जिनेश्वर के फरमाये वचनों को निशंकित (शंकादि दोष रहित) सत्य जानना ?

उत्तर—हां गौतम ! जिनेश्वर के वचन को सत्य जानना।

प्रश्न—अहो भगवंत ! जिनेश्वर के वचन को सत्य मन से धारता हुआ, वैसाही करता हुवा, वैसाही रहता हुवा, वैसाही प्रवृत्त होता हुआ, आज्ञा का आराधक होता है ?

उत्तर—हां गौतम ! धारना यावत् प्रवृत्त होता आराधक होता है।

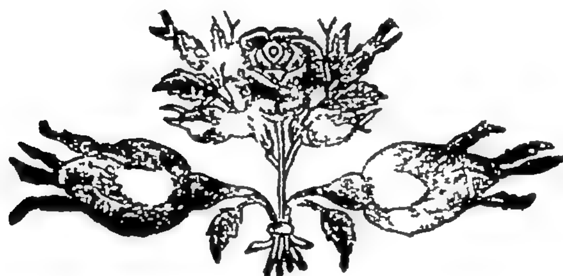
प्रश्न—अहो भगवंत ! उसको जिन बचन यथातथ्य परिणमें ?

उत्तर—हां गौतम परिणमें ।

इस तरह शुद्ध भाव से सूत्र ज्ञान की यथा विधि भक्ति करते हुये उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थंकर गोत्र की उपार्जना करे ।

सूत्र भक्ति तो प्रवचन के प्रभावक पुरुषही कर सकते हैं, इसलिये प्रवचन प्रभावना का आगे वर्णन करने की इच्छा से इस प्रकरण की यहां समाप्ति की जाती है ।

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के बाल ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का "सूत्र भक्ति" नामक बीसवा प्रकरण समाप्त ।

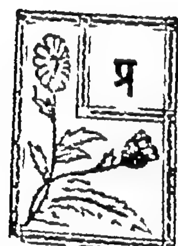




प्रकरण—इक्कीसवाँ

—:०:—

"प्रवचन—प्रभावना"



वचन—प्रधान वचन, अर्थात् श्री तीर्थंकर भगवान के तुल्य ज्ञान और अतिशय का धारक दूसरा कोई भी नहीं होता है कि जो ऐसे वचन उच्चारण कर सके, इस लिये जिनराज के वचन ही प्रवचन कहे जाते हैं। और उक्त प्रवचनों के आधार पर जो धर्म मार्ग चालू होता है, वह जैन धर्म यानी जैन मार्ग कहा जाता है। अस्तु तीर्थंकर परमात्मा के मार्गानुसारी सज्जनों को प्रवचन की प्रभावना यानी सर्वतोमुखी उन्नति करना ही चाहिये। क्योंकि परमात्म पद प्राप्त करने का सब से श्रेष्ठ उपाय, प्रवचन प्रभावनाही है।

८ "प्रभावना"

यह प्रवचन की प्रभावना आठ प्रकार से होती हैः—१ प्रवचन २ धर्म कथा, ३ निरपवाद, ४ त्रिकालज्ञ, ५ तप, ६ व्रत, ७ विद्या, और ८ कवित्व। इनका जरा विस्तार से वर्णन करते हैं—

१ "प्रवचन-प्रभावना"

परमात्मा ने मोक्ष प्राप्त करने के चार (ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप) उपाय बताये हैं, इन में प्रथम पद ज्ञानको दिया गया है। इसलिये प्रवचन प्रभावना करने का पहिला उपाय ज्ञान ही है, अतः प्रवचनोन्नति इच्छुक सज्जनों को सर्व प्रथम तो गुरु आदि गीतार्थों के पास जैन धर्म के जिम काल में जितने शास्त्र होवें उन सबका यथाबुद्धि विस्तार के साथ स्वयं अभ्यास करना चाहिये। पश्चात् अपने अनुयायी जनों को-संसारियों के तो स्त्री पुत्र आदि कुटुम्ब एवं मित्र, मुनीम, गुमास्ते, दास, दासी आदि और साधु के शिष्य, प्रशिष्य आदि—बडी लगन के साथ जैन शास्त्रों का अभ्यास कराना चाहिये। तैसे ही शास्त्र थोकड़े स्तवन सज्झाय वगैरह-जो गुणानुराग संवेग वैराग्य रस से पूर्ण भरे होवें-उनका भी अभ्यास करे करावे। इस तरह ज्ञानात्मा में रमण करने से स्वाभाविक ही अंतःकरण के पवित्र हो जाने पर सम्यक्त्व आदि गुण आत्मा में आते हैं और जैन धर्म की दृढ़ आस्तिकता होती है।

२ " धर्म कथा-प्रभावना "

प्रवचन की प्रभावना करने का दूसरा उपाय धर्म कथा यानी व्याख्यान करना है। ऊपर के प्रमाण जो सब शास्त्रों के ज्ञाता हुए हैं और धर्म में आस्तिक बने हैं, उनको उचित है कि उस ज्ञान का दान अन्य को भी दें, आस्तिक बनावें। इस प्रकार ज्ञान देनेका मुख्य उपाय धर्म कथा ही है। इस लिये कथा कहने वाले वक्ता और सुनने वाले श्रोता के गुण कहते हैं:—

"वक्ता के गुण"

—प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेवदृष्टोत्तरः
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिंदया
ब्रूयाद्धर्म्म कथा गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः

अर्थ–बुद्धिमान्, सर्व शास्त्रों के रहस्य का जानकार, लोक मर्यादा का पालने वाला, किसी भी प्रकार की आशा–वांछा रहित, प्रतिभावान्, उपशान्त (क्षमावंत), प्रश्न करने के पहिले ही उत्तर देसकने वाला, प्रश्नों का सहने वाला, प्रभु–समर्थ हो, पर की निंदा न करके परिषद् का मनहरण करने वाला, गुणों का निधि, स्पष्ट और मिष्ट वचन बोलने वाला–ऐसा गुणवान् सभा का नायक हो, वह धर्म कथा करे।

" श्रोता के गुण "

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद् भृशं भीतिवान्।
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्॥
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यास्थितम्।
गृह्णन्धर्मकथा श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥

अर्थात्–जिसको अपने हित की परम अभिलाषा हो, जो अपने कल्याण की बात समझता हो–विचार कर सकता हो, जिसे संसार के दुःख का डर हो, मोक्ष प्राप्त की इच्छा हो, शास्त्र श्रवण करने में चतुर हो, सुनी हुई में हेय (त्यागने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) उपादेय (आदरने योग्य) का निर्णय करने की सामर्थ्य रखता हो, दयामय परम धर्म का ही आराधक हो, दुराग्रही कदापि न हो, इत्यादि गुण संयुक्त जो होता है, उसेही ज्ञान दान देना योग्य है।

धर्म कथा करने की विधि ठाणांगजी सूत्र में इस तरह से कही है:–

–चउविह कहा पन्नता तंजहा–अक्खेवणी,
विक्खेवणी सवेगणी, निव्वेगणी।

१ 'अक्खेवणी' धर्म कथा उसे कहते हैं, जिसका आक्षेप यानी स्थापन श्रोता गणों के हृदय में हूबहू होवे। इसके चार प्रकार हैं। (१) वक्ता का कर्तव्य है कि श्रोताओं को प्रथम तो साधु का आचार, पंचाचार, महाव्रतादि प्रवृत्ति का वर्णन विस्तार से सुनावे, जिसे सुनके श्रोता संयम ग्रहण करने में समर्थ बनें।

—नो दुःकर्मप्रवृत्तिर्नकुयुवतिसुनस्वामिदुर्वाक्यदुःखम् ।
राजादौ न प्रणामोऽशन वसन धन स्थान चिंता न चैव ॥
ज्ञानाप्ति र्लोक पूजा प्रशम सुख रतिः प्रेत्यमोक्षाद्यवाप्तिः ।
श्रामण्ये ऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतय स्तत्रयत्न कुरुध्वम् ॥

मुनिराज किसी भी प्रकार के दुष्कर्म–कुकर्म में कदाचित् प्रवृत्त होते ही नहीं है। न उनके स्त्री पुरुष स्वामी सेवक हैं, कि जिससे दुर्वाक्य कटु वचन कहने सुनने का प्रसंग आवे। न वे महाराजादि किसी को कभी नमस्कार (सलाम) करते हैं। न उनको खान पान वस्त्र स्थानादि की कदापि चिंता होती है क्योंकि विरक्त हैं, और विरक्तों को कुछ कमी नहीं है। और जो सदा अपूर्व अपूर्व ज्ञानानन्द में रमते हुये सर्व जगत् के वन्दनीय पूज्यनीय हैं। प्रशम सुख में ही अभिरुचि रखते हैं। इत्यादि इस लोक में सुख भोगते हैं, और देह छूटे (मरे) बाद स्वर्ग मोक्ष के सुखों के भोक्ता होते हैं। इस भांति महान सुख जिनदीक्षा में हैं, इसलिये अहो बुद्धि वन्तो! तुम रत्नत्रय रूप जो जिनदीक्षा है; उसे ग्रहण करने का–साधु होने का उद्यम करो! इस प्रकार उपदेश देने पर भी अगर कदाचित् दीक्षा लेने के भाव नहीं हुए तो भी साधुओं पर पूज्य बुद्धि तो उत्पन्न होवेगी ही। क्योंकि जैन साधुओं का कहना और करना एकसां है, ऐसा दुष्कर आचार अन्यत्र कहीं भी नहीं है। २ कितने ही वक्ता पण्डिताई का ढोंग जमाने के लिए षट्द्रव्य आदि का सूक्ष्म उपदेश पहिले से ही करने लगते हैं। अतः कितनेही श्रोताओं की समझ में नहीं आने से वे सुनते सुनते उद्विग्नसे होजाते हैं और व्यवहार प्रवृत्ति से वाकिफ नहीं होकर कोरे धर्म के धोरी बनकर व्यवहार बिगाड देते हैं एवं कभी कभी धर्म को लजाने जैसे कर्तव्य करते हैं। इस लिये वक्ताओं को उचित है कि—प्रथम व्यवहार मार्ग में प्रवर्तने की आदेश द्वारा नहीं परन्तु उपदेश द्वारा रीति नीति बतावें। तथा अमुक काम करने से इतना पाप लगता है, और यदि वही काम अमुक तरह से करें तो इतने पाप से आत्मा बच जाती है, इत्यादि व्यवहार की प्रवृत्ति बताता हुआ आप भी पाप से बच जाता है और श्रोता भी समझ जाते हैं। और जो कोई

वक्ता होना चाहता हो, उसे उपदेश करने की पद्धति बतावे। और श्रोताओं को सभामें कैसे प्रवर्तना सो भी बतावे। अमुक पाप करने से अमुक कुगति होती है, और पाप से आत्मा शुद्ध करने की अमुक रीति है, इस तरह व्यवहार मार्ग की शुद्धि करावे। (३) वक्ताओं को बोध करते वक्त बहुत ही सावधानी रखने की जरुरत है, क्योंकि सभा में किसी को भी आनेकी मनाई नहीं होती है, इस लिये हर एक तरह के और हर एक मजहब के लोग आते हैं, अत एव ऐसे ढंग से उपदेश देना चाहिये ताकि उनका मन भी न दुःखे और उनका समाधान भी होजाय तथा वे जो प्रश्न धार कर आये हों उनका आशय आने वालों की मुख मुद्रापर से जाने एवं उपदेश द्वारा ऐसा समाधान करे कि फिरसे उनको प्रश्न पूछने की जरुरत ही न रहे। और कदापि कोई प्रश्न पूछेभी तो उसे ऐसे मार्मिक शब्दों से उत्तर देवे कि—जिस से पृच्छक के रोम रोम में वह बात ठसती चली जाय, खुश हो जाय, चमत्कार पा जाय। (४) जिनेश्वर का मार्ग एकान्त नहीं है, परन्तु स्याद्वाद है। इस बात को वक्ता पूर्ण लक्ष्य में रखकर उपदेश करे, कि जिस से किसी की पकड़ में नहीं आवे। और ऐसी सरलता के साथ प्रकाशे कि जिस में किसी मत की निंदा रूप शब्द नहीं आवें, किसी तरह विरोधी पना मालूम नहीं पड़े, और श्रोताओं के मन में ठस जाय कि इन का कहना सत्य है। यह आक्षेपणी कथा के चार प्रकार कहे।

(२) "विक्खेवणी"—जो न्यायमार्ग को त्याग कर अन्याय मार्ग में प्रवृत्ति करता हो, उसे पुनः न्याय मार्ग में विक्षेपे यानी स्थापे सो विक्षेपणी कथा कही जाती है। इसके चार प्रकार हैं-(१) प्रायः सर्व वक्ता अपने मतकी ही प्रशंसा करते हैं, वे अपने मत का ही ज्ञान दूसरों को देते हैं। अस्तु अपने मत पर दूसरों की रुचि जगे, वैसी कथा करने की भगवान ने यह रीति बताई है कि—अपने मतका ज्ञान प्रकाशते समय बीच बीच में दूसरों के धर्म के भी चुटकले छोड़ता जाय, कि जिस से अन्य मतावलम्बी समझें कि अपने मजहब जैसी बातें इनके धर्म में भी हैं, (२) किसी वक्त अन्य मतावलम्बियों की अधिक संख्या में

उपस्थिति हो तो सद्गुण, त्याग, वैराग्य की बढाने वाली उनही के मजहब की बातें उनको सुनावे और बीच बीच में अपने मजहब का स्वरूप भी थोड़ा थोड़ा सुनाता जावे, जिस से वे समझें कि जैन मत ऐसा चमत्कारी है। इस से उनको जैन धर्म की विशेष बातें सुनने की अभिलाषा जगे और अवसर आए ग्रहण भी करें (३) धर्म करो धर्म करो की पुकार तो प्रायः सब ही वक्ता करते हैं, परन्तु जहां तक लोग पाप कार्यों के स्वरूप को नहीं समझेंगे, वहां तक उसे छोड़ेंगे भी कैसे और धर्म भी कैसे करेगें? इसलिये वक्ताओं को उचित है कि-श्रोताओं को पाप या मिथ्यात्व का स्वरूप स्पष्टतया बताकर उससे प्राप्त हुये फल को बतावें जिससे उनके अंतः करण में जान पड़े कि पाप ऐसा दुःख दाता है, इसे नहीं करना चाहिये (४) परन्तु पाप खोटा है, दुःख दाता है, ऐसा एकान्त भी निकम्मा गिना जाता है, क्योंकि पाप के बिना संसार का निर्वाह होना मुश्किल है। एकांत पाप की निंदा करने से कदाचित श्रोता भड़क भी जाँय इसलिये पाप के कार्य्यों का प्रकाश करते हुए बीच बीच में धर्म के कार्य भी बताते जांय. कि विवेक पूर्वक कार्य करने से कर्म बंध कम होता है आदि आदि। इस प्रकार श्रवण करने से श्रोतागणों की इच्छा पाप से हटकर यथा शक्ति धर्म करने की अवश्य होती है। यह निक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं।

(३) "संवेगणी"-सद्बोध करने का मुख्य हेतु यही है कि श्रोताओं के हृदय में वैराग्य स्फुरित हो। इसके चार प्रकार हैं:-(१) सच्चे वैराग्य का कारण वस्तुकी अनित्यता का ज्ञान ही है। जो जो वस्तु दृष्टिगत होती हैं; वे सब अनित्य ही प्रत्यक्ष से दिखती हैं; अर्थात्-क्षण क्षण में उनके स्वभाव का परिवर्तन होता ही रहता है (ऐसा पक्का निश्चय करावे) और धर्म ही नित्य है, सुखदाता है, परन्तु धर्म की प्राप्ति होना बहुत ही मुश्किल है, सो बतावे। इन बातों से श्रोताओं का मन संसार की बातों से हट कर धर्म की तरफ लगेगा, (२) दूसरा वैराग्य का कारण सुख की इच्छा और दुःख का डर भी है। इसलिये देवलोकों के सुख का वर्णन करके कहे कि यह अच्छी करणी दान आदिक का फल है,

और नर्क के दुःखों का वर्णन करके कहे कि यह खराब करणी पाप का फल है, जिसे सुन कर जिज्ञासु नर्क के दुःख से डर कर पाप को छोड़ें और स्वर्ग मोक्ष की इच्छा से धर्म करने में प्रवृत्त होवें, (३) तीसरा वैराग्य भाव में हरकत करने वाला कुटुम्बियों का स्नेह है। इसलिये श्रोताओं को स्वजनों का मतलबीपना समझा कर उन पर से ममत्व भाव कम करावे और सत्संग से वैराग्य की वृद्धि होती है, इसलिये सत्संग का गुण बताकर उसमें संलग्न करे। (४) चौथा वैराग्य का कारण पुद्गलों से ममत्व का त्याग है। इसलिये पुद्गलों का स्वभाव जो मिलने बिछुड़ने का है; तथा अच्छे के बुरे और बुरे के अच्छे होने का है, सो बतावे। और भी पुद्गलों से ममत्व करने वाला पुद्गलों को छोड़ते समय अतीव दुःखी होता है, तथा जो पुद्गल स्वयं ही उसका त्याग करें तो भी वह ममत्वी दुःखी होता है, परन्तु पुद्गल दुःखी नहीं होते हैं, इत्यादि समझाकर उन परसे ममत्व कम करावे। और ज्ञानादि गुणों की अखण्डता अविनाशीपना बताकर ज्ञानादि गुणोंका प्रेमी बनावे। यह संवेगी कथा के चार प्रकार कहे।

(४) "निर्व्वेगणी" धर्मकथा का मुख्य हेतु यह है कि—संसार के परिभ्रमण से जीवों को बचाना। भव भ्रमण बढ़ाने के मुख्य हेतु कर्म हैं, वे कर्म चार तरह भोगे जाते हैं:—(१) कितने ही ऐसे अशुभ कर्म हैं, कि जिनके अशुभ फल इस ही भव में प्राप्त हो जाते हैं, जैसे मनुष्य को मारने वाला मृत्यु दण्ड पाता है, झूठेकी जबान काटलेते हैं, चोरों को अंध कूप में बंद कर देते हैं, व्यभिचारी गरमी के रोग से सड़ सड़ कर मरजाता है, विशेष ममत्व रखने से धन कुटुम्ब का गुलाम हो मारा मारा फिरता है, इत्यादि (२) कितने ही शुभ कर्म भी ऐसे हैं, कि जिनके फल इस ही लोक में मिल जाते हैं, जैसे—साधु आदिक उत्तम प्राणी जो हिंसा नहीं करते हैं, वे सर्व को प्रिय लगते हैं, वंदनीय पूजनीय होते हैं। जो झूठ नहीं बोलते हैं, उनके वचन सर्व मान्य होते हैं। चोरी नहीं करते हैं, वे सब के विश्वासपात्र होते हैं, निस्वार्थ होते हैं। ब्रह्मचर्य पालते हैं, शरीर से और बुद्धि से प्रबल होते हैं, निर्ममत्व रहते हैं,

सदा सुखी रहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष तः शुभ कर्म के फल इस भव के इस ही भव में भोगते दृष्टि आते हैं, (३) अगर पूर्व पुण्योदय से इस जन्म के किये हुये कुकर्म के फल इस भव में उदय नहीं आवें तो यों नहीं समझना कि वे सब व्यर्थ गये; क्योंकि किये हुए कर्म का फल भोगे बिना कदापि छुटकारा नहीं होता है। इसलिये उन अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये मर कर तिर्यंच आदि कुगतियों में जरूर ही जाना पड़ेगा (४) तैसे ही जो शुभ कर्म करते हैं, और कदाचित् पूर्व पापोदय के द्वारा दुःखी दृष्टि आते हैं तो ऐसा नहीं समझनाकि वह पुण्य कर्म व्यर्थ गया है, वे शुभ कर्म के कर्ता भी आगे को मनुष्य देव आदि उत्तम गति में जाकर उसका फल जरूरही प्राप्त करेंगे। यह निर्व्वेगणी कथा है।

ठाणांगजी सूत्रानुसार यह धर्म कथा यानी व्याख्यान करने की रीति बताई गई है। धर्म के प्रभावक सज्जन जहां विशेष मनुष्यों का समूह एकत्र–एक स्थान पर जमा हुआ देखते हैं वहां जाकर द्रव्य क्षेत्र काल भाव अनुसार विचक्षणता से सर्व को प्रिय लगे और सब का स्पष्टतया समझ में आवे–ऐसी भाषा में स्याद्वाद शैली युक्त निशंकित भाव से धर्मोपदेश–व्याख्यान–सद्भाषण करते हैं, जिससे धर्म की उन्नति–प्रभावना होती है।

" निरपवाद प्रभावना "

जो धर्म हम लोगोंने परीक्षा पूर्वक ग्रहण किया है और अपना तन, मन, धन जिसके समर्पण कर दिया है, उसका अपवाद–निंदा या हीनता किसी भी तरह से होता देखे तो धर्मात्मा उसे कदापि सहन नहीं कर सकते हैं। हरएक उपाय से उस अपवाद को निवारण कर पूर्ण ज्योति से प्रकाश मान करना, यही वीर पुत्रों का कर्तव्य है। धर्म का अपवाद चार तरह दूर करना चाहिये—

(१) अन्य मतावलम्बियों के परिचय से, अन्य मतावलम्बियों के शास्त्र पठन से या उनके ढोंग चमत्कारी कार्य देखने से तथा स्वमत

के गहन ज्ञान के शास्त्र पढने सुनने से, स्वमत के किसी साधु आदि का अयोग्य कृत्य देखने से, धार्मिक जनों पर संकट पडा देखने से, अगर किसी के परिणाम जैन धर्म से चलित हुए हों, और अपने जानने में आवे तो अवश्यही उसे समझावे कि—अन्यमतियों में जीवाजीव का यथार्थ ज्ञान न होने से उनकी करणी निरर्थक है। सर्वज्ञ कथित शास्त्रही प्रमाण माने जाते हैं, अन्यकृत नहीं। इसलिये अन्यमतावलम्बी के वचन सर्व मान्य नहीं होते हैं। ढोंगों से मोक्ष नहीं मिलता है, ढोंग तो अनंत वार जीव कर आया है, परन्तु उनसे प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ, मोक्ष तो आत्म साधन से है, केवल ज्ञानी के कहे हुये वचन छद्मस्थ के ज्ञान में धीरे धीरे आवेंगे, एक दम हताश होकर घवराना नहीं चाहिये। कर्मोंकी गति विचित्र है, पूर्व के पाठी भी कर्म का धक्का लगने से गिर जाते हैं; तो अन्य सामान्य प्राणी का तो कहना ही क्या है ? दूसरे की हानि देख अपनी हानि कोई भी सुज्ञ पुरुष नहीं करेगा। सुख दुःख कर्मों की छाया है, धर्मी अधर्मी सर्व पर पड़ती है। और दुःख है सो ही दुःख क्षय करने की औषधि है, अर्थात् दुःख को समभाव पूर्वक भोगने से ही दुःख दाता अशुभ कर्म का नाश होगा। और तब ही सुख की प्राप्ति होगी। इत्यादि सद्बोध से उनके चित्तका समाधान करे एवं पुनः धर्म मार्ग में स्थिरीभूत करे।

किसी क्षेत्र में स्वधर्मियों का पराक्रम थोड़ा होवे और उन्हें कोई अन्यमती संकट में डालकर जबरदस्ती से या किसी प्रकार का लालच देकर धर्म से भ्रष्ट करता होवे, संकट में डालता होवे, और यह बात अपने जानने में आवे और खुद उस अपवाद को निवारने में समर्थ होवे, स्वधर्मी को धर्म में स्थिर स्थापने समर्थ होवे, तो शक्ति से जैसे बने वैसे उसे अपने धर्म में स्थिर करे। यदि आप समर्थ न हो और दूसरा कोई समर्थ अपने जानने में हो तो उसके पास आप जाकर उनसे समझाकर, स्वधर्मी को सहाय दिलाकर, उसे धर्म में स्थिर करे—अपना धर्म दिपावे।

(३) कोई मिथ्या मोह के उदय से, मिथ्या ज्ञान के पराक्रम

से मिथ्याभिमानी बन कर मिथ्या धर्म की वृद्धि अनेक के उपायों से सद्-धर्मियों को भ्रष्ट करने में प्रवृत्त हुआ हो और उसको हटाने की अपने में शक्ति होवे तो किसीन किसी प्रकार उसे हटावे। जहां तक अपना संबन्ध पहुँचता हो वहां तक कोशिश कर मिथ्यात्व का जोर कम करे, जैन धर्म की उन्नति करे।

(४) कोई मिथ्यात्वी कुतर्कवादी छल कपट का भरा हुआ, सरल स्वभावी मुनिवर को छलने आवे और आप जान जावे तो मुनिवर को संकेत से चेताकर होश्यार करे। तथा वह अगर मर्यादा उल्लंघन कर विवाद करता हो तो आप उससे विवाद कर यथोचित रीति से हरावे। सुपक्ष स्थापित कर कुपक्ष का निराकरण करे। इत्यादि प्रकारों से जैन धर्म पर आते हुए अपवादों का निवारण करे। धर्म की उन्नति करने में अपनी शक्ति बिलकुलही छिपावे नहीं, कदापि पीछा हटे नहीं।

त्रिकालज्ञ प्रभावना।

धर्म की उन्नति का मुख्य हेतु ज्ञानही है। संसार में बहुत काल से ऐसी प्रथा चली आरही है कि जहां चमत्कार वहां नमस्कार। जैन शास्त्रों में चमत्कार का कुछ टोटा नहीं है, और केवल ज्ञानी सर्वज्ञों के वचन कदापि मिथ्या होते नहीं है। जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति चन्द्र प्रज्ञप्ति सूर्य प्रज्ञप्ति वगैरह सूत्रों में खगोल भूगोल विद्या का, भूत भविष्य वर्तमान के शुभाशुभ एवं लाभालाभ सुख दुःख वगैरहके ज्ञान का कथन है। उक्त ज्ञान का अधिगम गुरु आम्नाय से यथा विधि करे। परन्तु यह विद्या गंभीर साहसिक दृढ श्रद्धालु इत्यादि गुणों का धारक हो व ग्रहण कर सकता है; क्योंकि इस विद्या का पात्र होना बहुत ही मुशकिल है। यह विद्या जहां तहां प्रकाशित नहीं की जाती है, यह तो दीक्षा आदि कोई मोटा उपकार का कारण होवे या साधु आदि तीर्थों पर या धर्म पर कोई महा संकट प्राप्त होने का मौका हो उसे निवारण करने आदि महा कारण शिर पर आपड़ने से प्रकाशना पड़े तो, प्रायश्चित्त ले शीघ्र ही शुद्ध होवे।

५ " तप प्रभावना "

जैन प्रवचन की प्रभावना करने का अति उत्तम और विशाल मार्ग विशुद्ध तपही है, क्योंकि जैन धर्म जैसी तप की निर्मलता निरालम्बनता अन्य पंथ में नहीं है। अन्य मती तो तप का नाम धारण कर कई रात्रि को खाते हैं, कई पहर दो पहर ही भूखे रहकर फिर माल मशाले खाते हैं, कई अनन्त जीवों का पिंड कंद मूल आदि का भक्षण कर तप समझते हैं, ऐसे अनेक तरह के ढोंग चल रहे हैं। इस प्रकार के कायर लोग जैन मार्ग के उपवास अठाई पक्ष खमण मास खमण आदि का नाम सुनकर चकित हो जाते हैं। और कितनेही नास्तिक तो इस बात को स्वीकार ही नहीं करते हैं–गुप्त आहार करने आदि का दोष–कलंक लगाते हैं। परन्तु यह जानते नहीं है, कि–जैन मार्ग में पोल बिलकुल भी नहीं है; क्योंकि प्रथम तो तप करने वाले आत्मार्थी होते हैं, वे इस लोक का किसी प्रकार का लालच नहीं चाहते हैं, दूसरे विशेष तप धारी को भोग्य पदार्थों से सर्वथा अलग ही रखते हैं, और उनके दर्शनार्थी हर वक्त बनेही रहते हैं। और लोकोक्ति भी है कि "नहाये के बाल और खाये के गाल छिपे नहीं रहते हैं"। इत्यादि कारणों से जैन मार्ग में बिलकुल पोल नहीं चलती है। जो फक्त कर्मो की निर्जरार्थ तप करते हैं, वे कदापि किसी प्रकार का दोष नहीं लगाते हैं, यह निश्चय जानना। ऐसा जैन धर्म का उग्र घोर तप देखकर लोग चमत्कार पावें, जिससे जैन धर्म की प्रभावना होवे।

६ " व्रत प्रभावना "

व्रत धारण करना, यह भी धर्म की प्रभावना है; क्योंकि ममत्व का त्याग करने से ही व्रत होते हैं। अपने को स्वतंत्र तया प्राप्त हुई वस्तुओं का भोगोपभोग नहीं करना ही बड़ा भारी व्रत है। ऐसा करने से भाव से तो महा कर्म की निर्जरा होती है और द्रव्य से लोग देख कर चमत्कार पाते हैं, कि धन्य है, जो स्वतन्त्रतया प्राप्त वस्तु भी नहीं भोगते हैं, मनको मारते हैं। इस तरह के व्रतों से धर्म की प्रभावना होती है। जब कि अन्यमत में ब्रह्मचर्य अन्नत्याग वगैरह एक आध व्रत धारण करने

वाले भी बड़े पूज्य होजाते हैं तो जो अहिंसा आदि पंच महाव्रत धारण करने वाले हैं, वे जगत में पूजे जावें एवं धर्म दिपावें, इस में आश्चर्य ही क्या है ? तैसे ही भर जवानी में इन्द्रियों का निग्रह करना, बड़े बड़े अभिग्रह धारण करना, कायोत्सर्ग, मौन, लोच, आतापना (सूर्य के ताप में रहना), अल्प उपधि, विगयत्याग वगैरह क्रिया काण्ड साधुजी करते हैं। तैसे ही श्रावक भी सजोड़े ब्रह्मचर्य, रात्रि में चार ही आहार का त्याग, सचित्त का त्याग, गाली देने का त्याग, रुपये पर एक आना से अधिक लाभ उपार्जने का त्याग, वगैरह अनेक प्रकार के नियम धारण करें, उन्हें शुद्ध उत्साह भाव के साथ पालें, संकट के समय व्रतका निर्वाह करें, देव मनुष्य आदि के चलाये भी नहीं चलें, व्रत भंग नहीं करें इत्यादि प्रकार से व्रत धारण और उसके निर्वाह की दृढ़ता देखकर अन्य लोक मन में चमत्कार पाते हैं कि देखो इन में कैसे त्यागी वैरागी हैं, कैसे कैसे कठिन व्रत धारण करते हैं, और कैसे कठिन वक्त पर भी लोभ ममत्व का त्याग कर लीहुई प्रतिज्ञा निभाते हैं, आत्मा वश में रखते हैं। इन्हें धन्य है, इनका जन्म सफल है। ऐसा अपन भी कुछ करें। इस तरह धर्म वृद्धि और प्रभावना करें।

७ " विद्या प्रभावना "

विद्या=जानना व जानकर प्रकाश करना, इसे विद्या कहते हैं। वह अनेक तरह की होती है—जैसे रोहिणी, प्रज्ञप्ति, परशरीरप्रवेशिनी, रूप प्रावर्तिनी, गगन गामिनी, अदृश्य वगैरह, तैसेही मंत्र शक्ति, अंजन सिद्धि, गुटिका सिद्धि, रस सिद्धि, इत्यादि अनेक विद्या पहिले प्रचलित थी। विद्याधरों और लब्धि धारी मुनिराजों को ये शक्तियां प्राप्त होती थीं, जिस से वे समय पर विद्या का प्रयोग कर जैन धर्म की कीर्ति दिग् दिगंतर में फैला देते थे, और बड़े बड़े इन्द्रों को थरथरा देते थे। ऐसे शक्ति के धारक हो कर भी ऐसे गंभीर होते थे कि कोई जान भी नहीं सकता था कि यह ऐसे करामाती हैं, क्योंकि वे केवल धर्म का लोप होते देख उसके उदय करने को उनका प्रयोग करते थे, अन्यथा नहीं।

और प्रयोग के पीछे प्रायश्चित्त ले शीघ्र शुद्ध हो जाते थे, इस वक्त इस प्रभाव की लुप्तता हुई दिखती है।

८ " कवि प्रभावना "

कवित्व शक्ति भी एक विचित्र शक्ति है। कहते हैं कि–जहां नहीं पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि"। इतनी महान् शक्ति कवियों की गिनी जाती है। सत्य भी है कि अर्थात् सूर्य तो मात्र स्व क्षेत्र में अढाई द्वीप के अन्दर ही प्रकाश करता है और कवि तो नर्क स्वर्ग मोक्ष तक की कथनी कविता में कर देता है। कितने ही कवियों ने तो कवित्व शक्ति के द्वारा अनेक अशक्य कार्य भी सहज में ही कर दिखाये हैं। इस बात के अनेक दृष्टान्त इतिहास परंपरा से चले आरहे हैं, इस वक्त भी लोगों को शास्त्र की अपेक्षा ढाल चौपाई आदि कविता सुनने का शौक ज्यादा होता है। कविता में किया हुआ बोध बहुत असर करने वाला होता है, शीघ्र समझ में आता है, साधरण जन त्याग वैराग्य शीघ्र ग्रहण करते हैं। कवित्व शक्ति अभ्यास से तो कम प्रगट होती है परन्तु इसमें पूर्वोपार्जित पुण्य की बहुत अपेक्षा है। प्राकृतिक शक्ति वाले की कविता में जैसा गूढ ज्ञान का चमत्कार व अलौकिक शब्दों का समावेश होता है, वैसा कृत्रिम में होना मुश्किल है। जिनको प्रकृति की तरफ से कवित्व शक्ति का आशीर्वाद मिला है, उनको उचित है कि–अपनी शक्ति को व्यर्थ नहीं जानेदें। तथा उन्हें कुमार्ग यानी विषय कषाय की वृद्धि एवं निंदा विकथा का पोषण करने वाली कविता नहीं करनी चाहिये। उत्तम पदार्थ तो उत्तम स्थान पर लगाने सेही शोभा पाता है, और उसकी प्राप्ति का सार गिना जाता है। इसलिये कवियों को योग्य है कि तीर्थंकर, सिद्ध, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, सम्यक्दृष्टि आदि सत्पुरुषों के गुणानुवाद की कविता ढाल चौपाई वगैरह हूबहू रस से भरी हुई बनावें। तैसे ही–दया, क्षमा शील, संतोष, आदि सद्गुण की दर्शाने वाली और हिंसा आदि पाप का दुःख दायक स्वरूप बताने वाली लावणी आदि कविताएँ बनावें। जिनका पठन, श्रवण, मनन करने से बहुत जीव सद्बोध पावें, धर्म मार्ग में आवें,

वैराग्य प्राप्त होवें, त्याग-नियम कर धर्म बढावें, तन मन धन से धर्म दिपावें, और अन्यमती कवीश्वर एवं विद्वान श्रवण पठन कर चमत्कार पावें कि इस जैन धर्म में भी ऐसे ऐसे विद्वान विराजमान हैं। इस प्रकार कविता द्वारा भी धर्म की प्रभावना होती है।

ये आठ प्रभावना जैन शास्त्रों में एवं ग्रन्थों में कही हैं। अतएव जैन धर्म के प्रभावक यथाशक्ति प्रभावना द्वारा धर्म का उद्योत करें, अपनी शक्ति को व्यर्थ ही नष्ट न होने दें।

" प्राचीन जैन प्रभावक "

गत चतुर्थादि काल में जैन धर्म, जो विश्व व्यापी धर्म बन रहा था, उसके मुख्य हेतु जैन धर्म के प्रभावक ही थे। देखिये—(१) भर्तेश्वर चक्रवर्ती को चक्र रत्न उत्पन्न होने की और श्री ऋषभ देव भगवंत को केवल ज्ञान उत्पन्न होने की दोनों बधाइयां एक साथ मिली। तब केवल ज्ञान को धर्म का कारण जानकर ' धर्मस्य त्वरिता गतिः ' न्याय के अनुसार प्रथम केवल ज्ञान का ही उत्सव किया। छः खंड का राज्य देने वाले चक्र रत्न मे भी धर्म की महिमा अधिक बढाई। (२-३) और भी कितनेही महापुरुषोंने नयी नयी युक्तियों से धर्म दिपाया। कृष्ण वासुदेव और श्रेणिक महाराजाने तो मानों अपना सर्वस्व ही धर्म के अर्पण कर दिया था। दीक्षा उत्सव आदि धर्म कार्य आप स्वयं अगुवा होकर, समस्त सेना के साथ वैरागी के घर जाकर, उन्हें राज भूषणों से भूषितकर, पट्ट हस्ती पर बैठा कर, आप सेवक के तुल्य चमर ढोलकर बड़े हर्ष से करवाया करते थे तथैव धर्म बधाई में एव दान में क्रोडो सौनैयों का व्यय कियाथा, (४) तैसेही जहां जहां राजा, महाराजा, शेठ साहूकार श्रावक श्राविका तीर्थंकरों व मुनिराजों के दर्शनार्थे गये हैं, वे प्रायः सब के सब अपनी अपनी सर्व ऋद्धि कुटुम्ब आदि की सजाई से गये हैं। वह भी जैन मार्ग की प्रभावनाही समझनी चाहिये, (५) तैसे ही इन्द्र महाराज आदि देवता भी सजाई सजकर आये हैं, सो भी धर्म प्रभावना ही जानना (६) श्रीतीर्थंकर भगवान् वर्षीदान में दीक्षा लेने से पहले क्रोड़ों सौनैये देतेथे, वह भी

धर्म की प्रभावना ही थी। (७) दीक्षा का, केवल ज्ञान उत्पन्न होने का एवं देहोत्सर्ग–निर्वाणका जो उत्सव होता था, सो भी धर्म की प्रभावना, (८) जहां जहां बडी और विशुद्ध तपश्चर्या का पारणा हुआ वहां वहां देवों ने दुंदुभि बजाई और पांच द्रव्य की वृष्टि की, सो भी धर्म की प्रभावना, (९) तीर्थंकर भगवान के त्रिगडे की रचना, ३४ अतिशय का देखाव, ३५ वाणी के गुण, इत्यादि से भी धर्म की महा प्रभावना होती थी, (१०) हरीकेशीबल ऋषि का ब्राह्मणों ने अपमान किया, तब तिंदुक वृक्ष निवासी यक्ष देवने चमत्कार बताया सो भी धर्मकी प्रभावना, (११) विष्णु कुँवार ने वैक्रय लब्धि के द्वारा लक्षयोजन का रूप बना कर नमुचि विप्रको पाताल में पहुंचाया, (१२) सुदर्शन ऋषिने अपनी उपधि भस्मकर तथा बौद्धमति के गुरू वन श्रेणिकराजा आदि के सन्मुख कुधर्म को झूठा ठहराया, (१३) सुदर्शन सेठ के लिये सूली का सिंहासन हुवा। इत्यादि अनेक दृष्टान्त शास्त्रों मे और ग्रन्थों में देखने में आते हैं, कि जैन धर्म की प्रभावना मुनि महाराज तो लब्धि से, शक्ति से, तप से, ज्ञान से, देवताओं और श्रावकोंकी सहाय से, अनेक प्रकार करते ही रहते थे–तैसे ही श्रावक भी भक्ति से, शक्ति से, धन से, कुटुंब से, दान से, पुण्य से, तप से, महोत्सव से अनेक प्रकार से धर्म की प्रभावना करते ही रहते थे–तैसे बडे बडे इन्द्र और देवता तथा राजा महाराजा भी भक्ति से शक्ति से धर्म की प्रभावना सदा करते रहते थे, जिससे जैन धर्म का आर्य खंड में अद्वितीय प्रभाव फैल रहा था, जिससे महा मिथ्यात्वी जन चुप होजाते थे, बड़े बडे महाराजा भी धर्म धारण करते थे, चक्रवर्ती जैसे छः खंड की विभुति को त्याग कर जैन मुनि बनते थे। ऐसे ऐसे महान प्रभावकों के प्रताप से ही यह धर्म अब तक टिका हुआ है।

"वर्तमान स्थिति का दिग्दर्शन और सदुबोध"

वर्तमान समय में इस महा प्रभावक धर्म की जो दिनोंदिन हीन स्थिति देखने में आती है, इसका मुख्य कारण जैन धर्मियों पर ईर्षा

और आलस्य नामक महाबली शत्रुओं का अटल साम्राज्य स्थापित होजाना ही प्रतीत होता है। इनकी फांसी में फँस कर आज जैनी बावले जैसे बन गये हैं, अपनी और अपने धर्म की महा हानि करते हुवे भी जैन धर्म की प्रभावना करना समझ रहे हैं। कितनेक जैनी इन्द्रों की देवताओं की बराबरी करने जाते हैं, अर्थात् सामान्य मनुष्य होकर भी इन्द्र बनते हैं, तथा तीर्थंकर के माता पिता बनते हैं, दयालु पुरुषों के नाम से छः काय जीवों का महा घमशान करते हैं, और इन में जैन धर्म की प्रभावना समझते हैं। अगर अब वर्तमान काल में के किसी समर्थ पुरुष की ऐसी ही नकल करें, अथवा ऐसे महान् पुरुष के कुटुम्ब की ऐसी नकल करें तो उसका इसही लोक में क्या फल प्राप्त होता है ? कैसी उसकी खराबी होती है ? इस बातपर ही जरा विचार करेंगे तो अपने मनसे ही समझ जावेंगे कि हम हमारे देव गुरू धर्म की प्रभावना करते हैं, या अपचेष्टा करते हैं।

गत काल के समर्थ धनेश्वरी धर्मात्मा लोग, अपनी शक्ति का एवं धनका व्यय मिथ्यात्व का नाश करने तथा पाखंड को हटाने में लगाकर धर्म की प्रभावना समझते थे। किन्तु इस वक्त के भोले जैनी अपने महान् पिता की मान मर्यादा लूटने में, अपने भाइयों की गर्दन उड़ाने में, अपने धर्म के एक अंग का नाश करने में ही धर्म की प्रभावना समझते हैं। एकेक बात का पक्ष धारण कर सत्यासत्य का व वीतराग प्रणीत स्याद्वाद मार्ग का यथार्थ विचार नहीं करते हैं। धर्म खाते में जमा हुवे लक्षों क्रोड़ों द्रव्य को अधर्मी एवं मांसाहारियों के भोग में लगाकर, अपने भाइयों को रोते तरसते देखकर आनंद मानते हैं ! और धर्म प्रभावना समझते हैं !

गत काल के महान् मुनिराज ग्रामानुग्राम विहार कर, जिनेश्वर की आज्ञानुसार प्रवृत्ति कर, राग द्वेष का निरोध करने वाली स्याद्वाद मय द्वादशांगी श्री जिन वाणी का सद्बोध देकर, जैन धर्म को दैदिप्य मान करते थे। किन्तु इस वक्त के मुनि महात्मा अपने धर्म के दूसरे अंग की उत्थापना और अपनी मान्यता की स्थापना करने में ही सद्बोध समझते हैं;

मानों सम्यक्त्व संयम का ठेका हमारे कोही मिल गया है। अन्य सबको मिथ्यात्वी ढीले पासथे वगैरह कलंक लगाते है एवं उनकी निंदा करने में ही धर्म की उन्नति समझने लगे हैं। किसी से विवाद कर कुतर्कों से जीत गये तो जैसे पाणी में चना फूलता है, त्यों फूल जाते हैं और हेंड बिलों पुस्तकों में अपने नाम पर आपही शुभोपमा वाचक शब्द छपा कर जानते हैं, कि हमारी कीर्ति दिगदिगन्तर में फैल गई-वश हम अद्वितीय वन गये-हमही जैन मार्ग के सच्चे प्रभावक हैं-ऐसे अभिमान में भर जाते हैं। इस प्रकार इस समय अनेक वातें चल रही हैं; सब का कहां तक वर्णन करूं ? वर्तमान का रंग ढंग देख वडा ही अफसोस पैदा होता है कि हे प्रभू ! यह एकदम ही भयंकर पतन कैसे होगया ? सत्य के आगे पड़दा कैसे पड गया ? अपनी तरवार से अपना ही अंग छेदन करने में कैसे चातुरी मानने लगे ? यह क्या गजब होरहा है ! सूर्य से अन्धकार और चन्द्रमा से अङ्गार वृष्टि ! अर्थात् जो सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश के धारक पण्डितराज-कहलाते हैं, विशेषतः वेही राग द्वेष रूप अन्धकार की वृद्धि के कारण वन रहे हैं, और परम शांत रस से भरपूर श्री वीतराग के जैन मार्ग में कलह रूप अंगार की वृष्टि होरही है। अब कहिये, इस पतन के प्रतिरोध का क्या उपाय करना ? इस अंगार को कैसे बुझाना ? इस अन्धेरे को कैसे भगाना ? और जो जैन प्रभावक नाम धारण कर जैन की पायमाली कर रहे हैं, उन्हें कैसे समझाना ? हे शासन पति दयानिधे ! हमें सन्मति दीजिये-हमारे मनमें जैन प्रभावक बनने की जो उत्कंठा है, उसे पूरा कीजिये-हमें सच्चे प्रभावक बनाइये-क्लेश रूप दवाग्नि बुझाइये-कुसंप की धाड भगाइये-राग द्वेष को मिटाइये और सच्चा प्रेम " मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ " अर्थात् " वसुधैव कुटुम्बकं " सर्व जीव मेरे कुटम्बी हैं, मित्र हैं, किसी के साथ मेरा किंचित् भी वैर विरोध नहीं है, ऐसा सच्चा प्रेम उत्पन्न कीजिये-सब जैन धर्म धारियों को एक ही श्रद्धा शील बनाइये-आपके इस सच्चे पंथ में हमारे को लगाकर आगे बढने की शक्ति प्रदान कीजिये। अहो वीर परमात्मा महान पिता जी ! यद्यापि हम आपके कुपुत्र हैं तो भी

आपको अपने माता पितापने के उच्च विरुद का ध्यान रखकर, हमारे सब दुर्गुणों का नाशकर, सुपुत्र के रूप में स्वीकार कीजिये ! आपके अतिरिक्त और कोई भी हमारा सुधार करने वाला इस समूचे विश्व में हमारे को नहीं दिखता है, इस लिये आपकी सेवा में अर्ज गुजारी है और हमें पूर्ण भरोसा है कि आपही हमारा कल्याण करेंगे।

"संपके लिये दृष्टान्त"

अहो कृपानिधे ! श्री महावीर परमात्मन् ! आपने अपने अनन्त ज्ञान दर्शन में भविष्य काल का स्वरूप जानकर अपने अनुयायियों को संगठित करने में, स्याद् वाद मत का सत्स्वरूप बताने में, शास्त्रीय अनेक दृष्टान्त देकर समझाने में तो कुछ कमी नहीं रक्खी ! उन बातों को हम जानते हैं, पढते हैं, सुनते हैं, परन्तु उनके तात्पर्य-मतलब पर अगर हम शान्त-निष्पक्ष चित्त मे विचार करें तो वे अवश्य ही हमारे हृदय पर असर करें।

इस वक्त में श्रीविवाह पन्नत्ती (भगवती) जी सूत्र का दूसरे शतक के पंचम उद्देशका पठन कर रहाहूं। उस में सम्प के संबंध में एक अत्युत्तम दृष्टान्त मेरे दृष्टि गोचर हुआ है। उक्त दृष्टान्त जैन प्रभावकों को सच्चे प्रभावक बनाने की इच्छा से यहां प्रकाशित करता हूं।

साक्षात् देवलोक के समान 'तुंगीया' नामक नगरी में अनेक (बहुत) श्रावक रहते थे। वे भवन (घर), शयन, आसन, वाहन, धन, धान्य, सुवर्ण, रौप्य, दास, दासी, गौ-बैल, महिष, (भैंस) अश्व, गज, आदि ऋद्धि में सर्व जन समुदाय से अधिक थे। ऋद्धि के द्वारा किसी के हटाए हटते नहीं थे, दिव्य रूप तेज से शोभायमान दिखते थे। नित्य अनेक सहश्र द्रव्य व्याज आदि व्यापार में उत्पन्न होता था। उनके घर में नित्य चारही प्रकार का आहार बहुत निष्पन्न होता थाकि जिससे उनके आश्रित अनेक जनों का पोषण होता था। उन श्रावकों ने जीवाजीव (आत्म अनात्म) का स्वरूप जाना था, पुण्य पाप के कर्तव्यों को समझतेथे, आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण शस्त्र, बंध, मोक्ष

इन ९ तत्व–पदार्थों के ज्ञान को नय, निक्षेप, प्रमाण द्वारा जान कर कुशल–धर्म मार्ग में चतुर हुये थे। उन श्रावकों को देवेंद्र, नरेंद्र, दानव, मानव, कोई भी किसी भी दुःसह उपाय के द्वारा भी निर्ग्रंथ प्रवचन (धर्म मार्ग) से कदापि चलित नहीं कर सकते थे। और वे किसी भी कार्य में भैरव, भवानी, पीर आदि किसी भी देव की कदापि सहायता नहीं चाहते थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन (शास्त्र) के ज्ञान में शंका कांक्षा आदि दोषों से रहित निर्मल थे। जिन्होंने शास्त्रों का अर्थ गुरु परम्परा द्वारा प्राप्त किया था, ग्रहण किया था। संशय उत्पन्न होनेपर सविनय पूछ कर निश्चय किया था। जिन श्रावकों की हाड की मज्जा (तन मध्य वर्ती धातु) धर्म रूप प्रेमानुराग से मजीठ के रंग समान रंगी गई थी और वे अपने पुत्रादि स्वजन परजनों के सन्मुख वार्तालाप के समय वारम्वार यही कहते थे कि–" अयमाउसो! 'णिग्गंथ पावयणे अट्ठे अय परमट्ठे सेसे अणट्ठे " अर्थात् अहो आयुष्मन्तो! इस जगत् में धर्म ही सार पदार्थ है, धर्म से ही परमार्थ–मोक्ष की प्राप्ति होगी, बाकी धन स्वजन आदि सब अनर्थ के हेतु–कुगति के दातार हैं! वे श्रावक प्राप्त द्रव्य का लाभ लेने व धर्म का प्रभाव बताने के लिए अपने घर के द्वार सदा खुल्ले (उगाडे) रखते थे कि किसी भी भिक्षुक को कदापि अन्तराय न आवे। वे श्रावक राजा के अंतःपुर में तथा राजा के भंडार में जाते थे, उनकी अप्रतीति कदापि नहीं होती थी। और वे श्रावकजी पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत और भी अनेक छुटक प्रत्याख्यान एवं अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्व तिथि के उपवास प्रोषध सम्यक् प्रकार से निर्दोष पालते पलाते प्रवर्तते थे, और साधु मुनिराज को शुद्ध प्रासुक (निर्जीव) आहार, पानी, सुकडी, मुखवास, वस्त्र, पात्र, कंबल रजोहरण, स्थानक, पाट, पाटले, औषधि, भेषज, प्रति लाभते–वेहराते (देते) विचरते थे। इत्यादि धर्म एवं तप सम्बन्धी क्रिया काण्ड से अपनी आत्माको भावित करते हुए रहते थे! *

* देखिये, गत काल के श्रावक ऐसे ऋद्धिमान होकर भी धर्म ज्ञान के कैसे जानकार, दृढ श्रद्धावन्त, धर्मात्मा, उदार प्रणामी थे। यह अनुकरण इस वक्त के श्रावकों को भी अवश्य ही करना चाहिये।

उस समय श्री पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य, स्थविर भगवान्, जाति कुल बल रूप की उत्तमता युक्त; विनय, ज्ञान. दर्शन, चारित्र, तप, लज्जा लाघव गुण संपन्न; उत्साही, तेजस्वी, विशिष्ट वचनधारी, यशवंत, क्रोध–मान–माया–लोभ–इन्द्रिय–निग्रही, परिसह को जीतने वाले, जीने की आशा और मरण के डरसे रहित यावत् कुत्रिकापण जैसे सर्व गुण सहित पांच सौ (५००) साधुओं के परिवार से परिवृत ग्रामानुग्राम सुखे सुखे विहार करते हुये तुंगीया नगरी के बाहिर पुष्पवती नामक बाग में पधारे। यथा उचित वस्तुओं के लिये वनपालक की आज्ञा ग्रहण कर तप संयम से अपनी आत्मा भावते हुये सुखे सुखे विचरने लगे।

उक्त तुंगीया नगरी के अनेक मनुष्यों के समूह को मुनिराज के दर्शनार्थ जाते देख श्रावक लोग आपस में कहने लगे कि अहो देवानुप्रिय! पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य स्थविर भगवान् अनेक उत्तम गुण संपन्न, पुष्पावती उद्यान में तप संयम से अपनी आत्मा भावते विचरते हैं। तथा-रूप स्थविर भगवान् के नाम गोत्र श्रवण करने मात्र से ही जब महा फल की प्राप्ति होती है तो फिर साक्षात् दर्शन, वंदन, नमस्कार, भक्ति करने से फलप्राप्ति की महानता का क्या कहना! इसलिये स्थविर भगवान की वंदना करने को * शीघ्र चलो। इस प्रकार आपस में विचार कर सब श्रावकोंने स्नान किया, मंगल पवित्र वस्त्र धारण किए, अल्पभार बेश कीमती आभरणों से शरीर विभूषित किया, और अपने अपने घरों से निकल कर, सब एकस्थान पर मिलकर, पांवोसे चलकर, तुंगीया नगरी के मध्यबीच हो पुष्पावती उद्यान के नजदीक आए। (१) अपने पाससे सचित्त वस्तुएँ सब दूर रखी, (२) छत्र दंड आदि अयोग्य अचित्त वस्तुएँ अलग रखी, (३) एक साडी वस्त्र का उत्तरासन किया (मुखके आगे वस्त्र लगाया), (४) स्थविर भगवान् को देखते ही हाथ जोडे, (५) धर्म मार्ग में मन एकाग्र किया,–ये पांच अभिगम साध कर, स्थविर भगवान् के सन्मुख आकर, तिखुत्ता के पाठसे यथा विधि नमस्कार कर, सन्मुख बैठ, सेवा भक्ति करने लगे।

* देखिये मुनिराजों के दर्शनों का श्रावकों को कैसा उत्साह होता था?

उसवक्त स्थविर भगवान् ने उन श्रावकों को और उस महा परिषद को चार महाव्रत × रूप धर्म सुनाया। श्रावक व्याख्यान श्रवण कर बहुत हर्षित एवं संतुष्ट हुए और वंदना नमस्कार कर प्रश्न पूछने लगे–

प्रश्न–' सजमेणं भते किंफले, तवे किंफले ' अर्थात् अहो भगवन् ! संयमका और तपका क्या फल होता है ?

उत्तर–" सजमेण अज्जो अणण्ह फले, तवेण वोदाण फले " अर्थात् अहो आर्य ! संयम से आश्रव का निरोध होता है, और तप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रश्न–"जतिअं भंते संयमेण अणण्ह फले तवेणं वोदाण फले, किं पतियणं भते देवा देवलोएसु उववज्जति" अर्थात्–अहो भगवन् ! जो संयम से अनाश्रव और तप से पूर्व कर्मों का नाश होता है तो साधु देवलोक में क्यों उपजते हैं ?

(१) तब कालियपुत्त नामक स्थविर ने उत्तर दिया कि–"पुव्व तवेण अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति " अर्थात्–अहो आर्य ! पूर्व तप (सराग) के प्रभाव से साधु देवलोक में जाते हैं।

(२) तब महील नाम स्थविर बोले:–पुव्व सजमेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति " अर्थात्–अहो आर्य ! पूर्व संयम (सराग चारित्र) के प्रभाव से साधु देवलोक में जाते हैं।

(३) तब आणंद ऋषि स्थविर कहने लगे:–"कम्मियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जति" अर्थात्–अहो आर्य ! कर्म बाकी रहने से साधु देवलोक में उपजते हैं।

× समस्त चौवीसी का यह नियम है, कि पहिले और अंतिम (चौवीसवें) तीर्थंकर के तीर्थ में पंच महाव्रत धारी साधु होते हैं, और बीच के २२ तीर्थंकरों के तीर्थ में चार महाव्रत धारी होते हैं। कारण कि बीच के तीर्थंकरों के साधु आत्मार्थी और बड़े विद्वान् होते हैं, इसलिये स्त्री और परिग्रह दोनों ही एक " ममत्व परित्याग " महाव्रत में ग्रहण कर लिये जाते हैं, क्योंकि दोनों ही ममत्व-भाव से धारण किये जाते हैं। इस लिये वे एक ही शब्द में स्त्री और धन दोनों का त्याग करते हैं।

(४) तब काशव नाम स्थविर बोलेः—"सगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जति" अर्थात्—अहो आर्य ! द्रव्यादि विषय के संग से साधु देवलोक में उपजते हैं ।

तब जेष्ठ स्थविर भगवंत ने फरमाया कि अहो आर्य ! पूर्व तप, पूर्व संयम, कर्म और संग कर के साधु देवलोक में उपजते हैं । अतएव इन चारोंही साधुओं का जो कहना है सो सच्चा है, आत्म भाव से बनाया हुआ (स्वकपोलकल्पित) नहीं है !

उस वक्त ये श्रावक स्थविर भगवान के मुखारविन्द से यह वचन श्रवण कर हर्ष और संतोष को प्राप्त हुए। और भी अनेक प्रश्नोत्तर कर तथा सब साधुओं को वंदना नमस्कार कर स्वस्थान को गए ।

उसी समय श्रमण भगवन्त श्री महावीर स्वामी राजग्रही नगरीके बाहिर गुणसिल नामक बगीचे में पधारे । भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतमस्वामी अनेक उत्तमोत्तम गुण संपन्न, निरंतर छठ छठ (बेले २) पारणा करते, संयम तप से अपनी आत्मा भावते हुए विचरते थे । उस वक्त बेला के पारणा के दिन पहिले पहर में सज्झाय की, दूसरे पहर में ध्यान धरा, तीसरे पहर में शांत भाव से मुँहपति पात्रों और वस्त्रों की प्रतिलेखना की, झोली हाथ में ग्रहण की; भगवान के सन्मुख आकर सविनय वंदना कर, आज्ञा ले, ईर्या समिति शोधते राजग्रही नगरी में भिक्षा के निमित्त पधारे । वहां घूमते हुये बहुत जनों के मुँह से सुना कि—'तुंगीया नगरी के पुष्पवती उद्यान में पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य स्थविर भगवान् पधारे हैं, उन के दर्शनार्थ श्रावक गये और उन्होंने तप संयमका फल पूछा तो चारों साधुओं ने अलग अलग जवाब दिया ।' इत्यादि श्रवण कर मन में संशय उत्पन्न हुआ । आहार आदि खपती वस्तु ग्रहण कर भगवन् के पास आकर गमना गमन के पाप से निवृत्त हुए । आलोचना कर भगवान को आहार, पानी, बताया । और फिर विनय पूर्वक तुंगिया नगरी का सुना हुआ सर्व वृत्तान्त निवेदन कर पूछने लगे कि अहो भगवन् ! उन स्थविर भगवन्तों ने श्रावकों को जो उत्तर दिया सो ज्ञान युक्त दिया या नहीं ?

तब भगवान ने फरमाया कि अहो गोतम ! जो स्थविर भगवान ने उत्तर दिया है वह योग्य ही दिया है—ज्ञान युक्त उत्तर दिया है— मैं भी ऐसा ही कहता हूं कि पूर्व तप से, संयम से, कर्म से, और संग से साधु देव लोक में उपजते हैं * इति *

उक्त कथानक को विस्तार से लिखने का मेरा मुख्य हेतु यह है कि—इस संपूर्ण कथन को अगर इस समय के साधु व श्रावक लक्ष्य में लें और तदनुकूल प्रवृत्ति करें तो वस्तुतः जैन धर्म की प्रभावना होवे ! जैसे तीर्थंकरों के वक्त में यह धर्म देदीप्य मान हो रहा था वैसा ही अब भी प्रदीप्त होवे, इस में संशय ही नहीं !

अहो साधु जी महाराजो ! और श्रावक गणों ! आँख बंद कर जरा हृदय में इस कथन को अच्छी तरह से विचारिये कि—उन चारों स्थविर भगवन्तों ने जो एकही प्रश्न का अलग अलग उत्तर दिया, उसी उत्तर को स्याद्वाद शैली के जानकार गुरु महाराज ने, श्रावकों ने और अपना अलग ही शासन चलाने वाले वीतराग श्री महा वीर परमात्मा ने भी स्वीकार किया ! क्योंकि वे स्याद्वाद के वास्तविक स्वरूप के जानकार थे। उन महात्माओं का मूल तात्पर्य की तरफ लक्ष्य था, अतएव वे चारों उत्तरों का मुख्य अर्थ एकही समझते थे—इसलिये उन चारों उत्तर दाताओं ने अपना अपना पक्ष तानकर अलग अलग सम्प्रदाय नहीं की, और न उन श्रावकों ने ही एक एक का पक्ष धारण कर—'यह मेरे गुरूजी और यह तेरे गुरूजी' ऐसा द्वैतभाव दर्शाया। किं बहुना खुद तीर्थंकर भगवान् ने भी उन ही के कथन को स्वीकार किया ! यही स्याद्वाद (जैन) पथका सत्य स्वरूप है, इसही संपके परम प्रताप से यह जैन मत आर्य लोक में अद्वितीय बन रहाथा।

उपर्युक्त कथन को ध्यान में न देने के कारण—वर्तमान समय में मतभेदों के कारण जैन संघ के टुकड़े टुकड़े होरहे हैं। जैसे कि—(१) कोई दया में धर्म कहते हैं तो कोई भगवान् की आज्ञा में ही धर्म मानते हैं (२) कोई कहते हैं कि आयुष्य सात प्रकार से टूटता है और कोई कहते हैं कि आयुष्य नहीं टूटता है, (३) कोई श्रावक को छः कोटि से सामायिक

करना, निरूपित करते हैं तो कोई आठ कोटि से करना बतलाते हैं (४) यही बात स्थानक के सम्बन्ध में है। कितने ही मुनि ठहरते हैं, कितने ही नहीं ठहरते। (५) मृत्तिकापात्र साधु को लेना कि नहीं, यह भी कलह का कारण बना हुआ है। इस प्रकार नगण्य मत भेदों परही साम्प्रदायिक बाड़े बांध लिये हैं, और हमारी सम्प्रदाय वाले ही सत्य श्रद्धाशील सम्यक्त्वी हैं अन्य नहीं हैं—ऐसे फेर में पड़कर बड़ा विवाद बढ़ा रक्खा है। परन्तु उपरोक्त बातों की तरफ थोडा दीर्घ दृष्टि से—स्याद्वाद शैली से विचारें तो कुछ भी विवाद नहीं रहजाता है—जैसे, भगवान् हिंसा करने की आज्ञा कदापि नहीं दे सकते हैं, इसलिये भगवान् की आज्ञा और दया दोनों का एक ही अर्थ हुआ। तैसे ही निश्चय में तो समय मात्र भी आयुष्य कम नहीं होता है, और व्यवहार में सात कारणों से आयुष्य टूटता है, तब ही भगवती जी सूत्र के प्रथम शतक के ८ वें उद्देश में कहा है, कि बाण का मारा हुआ छः महीने पहिले मर जाय तो उस मारने वाले को घातक कहना—यों निश्चय व्यवहार की अपेक्षा से दोनों बातें एकसी ही हुई। ऐसे ही श्रावक छः कोटि से सामायिक करो या आठ कोटी से करो, उन की इच्छा, इस झगड़े में साधु को पड़ने की क्या जरूरत है? क्योंकि साधु तो सबके सब नौ कोटि से ही यावज्जीवन की सामायिक करते हैं। इत्यादि विचारों से इस वक्त के पड़े हुये प्रायः तमाम झगड़े सुलझ सकते हैं। स्याद्वाद शैली ऐसी गंभीर है, कि उस के वेत्ता ऐसी साधारण बातों को तो क्या, विषम से विषम बातों को भी सम बना सकते हैं। जैन जैसे पवित्र सत्य मार्ग में इतने मत मतान्तर होने का मुख्य कारण स्याद्वाद शैली की अविज्ञता ही है। इस वास्ते नम्र निवेदन करने में आता है, कि उपरोक्त तुंगीया नगरी वाली ऐतिहासिक घटना की तरफ़ जरा लक्ष्य देकर वैसे ही गंभीर बनें। सर्व फूटके कारणों का स्याद्वाद दृष्टि से विचार कर, सत्य का निर्णय करें तथा सम्प की रचना के द्वारा सच्ची प्रभावना कर सच्चे प्रभावक बनें!

" प्राचीन और अर्वाचीन प्रवृत्ति "

इस समय में भी कितने ही महात्मा और धर्म प्रेमी धर्म मार्ग

की उन्नति के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करते हैं, पुराने जमाने की रफ़्तार चलते हैं, सो भी ठीक है। जैसे कि प्रभावना के नाम से लड्डू बतासे आदि मिठाई बांटते हैं, बरतन बांटते हैं–आदि आदि। यह रिवाज़ उस वक्त का निकला दिखता है, कि जब धर्म लुप्त होकर पुनः प्रकाश में आया था, उस वक्त अज्ञ जीवों के मन को आकृष्ट कर, धर्म मार्ग में लगाने के लिये जो युक्ति ज्येष्ठ पुरुषों ने ढूंढकर चलाई है, उसे हम नष्ट कदापि नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अभी भी कितने ही स्थानों पर देखने में आता है, कि लालच से भी व्याख्यान आदि में बहुत परिषद का जमाव होता है और इसके बहाने ही धर्म कथा श्रवण कर बहुत से जैन जैनेतर भाई जैन धर्म धारण करते हैं, संयम लेते हैं, और महा प्रभावक बनते हैं, तथा संसार में रह कर भी तन धन से धर्मोन्नति करते हैं। तथा ऐसी प्रभावनाओं से कितनेही सीझते स्वधर्मी को, कितनेही गरीब स्थिति को प्राप्त हुए स्वधर्मियों को, कितने ही तपस्वी श्रावक श्राविकाओं को वक्त पर बड़ा सहारा लगता है। इस उम्मेद से भी कितनेही धर्म वृद्धि कर सकते हैं। इसमें धर्म का गौरव भी प्रदर्शित होता है।

परन्तु अभी के जमाने की हवा बदल गई है, क्योंकि पहिले से अब शिक्षा का रिवाज़ बढ गया है, लोक आंतरिक नेत्रों से धर्म की परिक्षा करने एवं तत्व ढूंढने लग गये हैं, इसलिये बहुत से क्रिश्चियन आदि अन्य मतावलम्बियों ने अपने धर्म की सत्यता दूसरों के हृदय में जमाने तथा धर्म का प्रसार करने के लिये लक्खों क्रोड़ों पुस्तकें और हेंड बिल छपवाकर प्रसिद्ध किए हैं और कर रहे हैं। इसके फल स्वरूप उनके मत में क्रोड़ों मनुष्य मिल गये हैं और आज भी बराबर मिलते जारहे हैं। इस–लिये इसी व्यवहार को ग्रहण करने की आज कल के जैन प्रभावकों को भी बहुत जरूरत है। अर्थात् मिठाई, वस्त्र, पात्र की प्रभावना से हम अपने धर्म का तत्व अन्य विद्वानों के हृदय तक नहीं पहुँचा सकेंगे, परन्तु अपने अत्युत्तम पवित्र निष्कलङ्क धर्म के गहन विषयों की तात्विक बातों को, और जो जो जैन धर्म के क्रिया काण्ड अन्यों को विरुद्ध मालूम होते हैं उनको, सरल हिन्दी भाषा में एवं अनेक देशों की भाषाओं में छपवाकर

यह जैन धर्म एक अंग है, और सम्प्रदाय यानी–गच्छ इस अंग के उपांग हैं। जब एक उपांग दूसरे उपांग की सहायता करता है, तबही शरीर कायम रह सकता है, अर्थात् पैर सब शरीर का भार अपने ऊपर उठाकर इच्छित स्थान पहुंचाते हैं, हाथ वस्तुएँ तैयार कर भोगोपभोग में लगाते हैं, कान सुनने में–आँख देखने में–दाँत चबाने में–पेट संग्रह कर पाचन करने में–और नसें सर्व स्थान रस पहुंचाने में–सहायता करते हैं, तब ही यह शरीर चलता है। अगर ये अंगोपांग (पैर) ईर्षा लावें कि हमें क्या गरज है जो सर्व शरीर का वजन उठाये फिरें, हाथ और पेट को गर्ज होगी तो वे अपना अपना काम कर लेंगे–इस बिचार से जो सर्व अंगोपांग अपना अपना काम छोड़ बैठें तो फिर देखिए इस शरीर की थोड़े ही दिनों में कैसी बुरी हालत होती है। तैसे ही जो जैन के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय हैं वे अगर एक दूसरे की गर्ज नहीं रखेंगे, तो इस धर्म की भी विशेष काल तक चलने की उम्मेद नहीं समझिये। इस दृष्टांत को अच्छी तरह विचारिए!

अब जरा पीछे की ओर निगाह कर देखिये! दो वक्त बारह २ वर्ष के बडे दुष्काल पड़े, जिससे इस भारत भूमि में से जैन धर्म प्रायः नष्ट जैसा ही होगया था, उसका पुनरुद्धार श्रावक शिरोमणि लोंकाजी और मुनिमौलिमणि श्रीलवजी ऋषिजी महाराज आदिने फक्त चार पांच साधु ओं के सहाय से बडे कठोर प्रयत्नों से किया था। अन्य मतावलम्बियों ने श्रीलवजी ऋषिजी के शिष्य शस्त्र से या जहर देकर मारडाले और उनही के धर्म स्थान में गाड दिये, और भी मार पीट वगैरह अनेक प्रकार के परिषह उपजाये, निंदा का तो कहना ही क्या? परन्तु वे महात्मा उसकी दरकार नहीं रखते थे, फक्त अपने इष्ट सिद्धि के उपायों में लगे रहे तो उन के लक्खों अनुयायी वर्तमान काल में उपस्थित हैं। परन्तु इस वक्त के महात्मा और श्रावक एकेक संप्रदाय में सैंकड़ों हजारों की संख्या में विद्यमान हैं तो भी सारी सम्प्रदाय तो दूर रही, परन्तु अपने शिष्यों को और अपने कुटुम्ब को ही अपने धर्म में स्थिर नहीं रख सकते हैं तो औरों को सुधार कर धर्म मार्ग में लगाने की आशा रखना तो

आकाश कुसुम के समान है। हाय! हाय! अफसोस!! अफसोस! अफसोस!!!

"अब भी चेतो"

अहो जैन धर्म की उन्नति चाहने वालो! उपरोक्त बातों को जरा ध्यान में रखकर धर्म वृक्ष के लिये कुठार स्वरूप कुसंप का जड़ा-मूल से नाश करो। इन सम्प्रदायों के झगड़े को, मेरे तेरे साधू श्रावकों के और क्षेत्रों के पक्ष रूप जहर के अंकुरों को, हृदय से उखाड़ कर अलग फेंको, और वर्तमान जमाने के अनुकूल संपमय प्रवृत्ति करो। सब के सब श्री महावीर पिता के पुत्र हो, अतः एक मंडल पर के सह भोजी बनों। अन्य सब प्रयासों का त्याग कर अपने शिष्यों और बंधुवों के संरक्षण में ही कटिबद्ध होवो। हैं जितनों को ही कायम रख दृढ़ श्रद्धालु सच्चे प्रेमी और सशक्तों को प्रभावक बनावो। तथा इस अपने परम पवित्र एकांत दयामय धर्म को बौद्ध धर्म की माफिक अद्वितीय समस्त भारत-वर्ष व्यापी बनावो! यही मेरे अंतःकरण की अत्यन्त उत्कंठा है। अस्तु अहो गुरु महाराजाओं! अहो बंधु गणों! अहो श्रावको! और अहो सम्यक् दृष्टियों! शीघ्र पूर्ण करो! शीघ्र पूर्ण करो!! बहुत ही शीघ्र पूर्ण करो!!!

तथास्तु, तथास्तु!

इस प्रकार जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार यथा शक्ति तन मन तदचित्त से प्रवृत्ति करके श्री जिनेश्वर के धर्म की प्रभावना करते हैं, वे कृष्ण वासुदेव श्रेणिक महाराजा देवकी जी सुलसाजी आदि महापुरुषों एवं महासतियों की तरह तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर, परमात्म पदको प्राप्त कर, अजरामर अव्याबाध अनंत अक्षय शाश्वत सुख को प्राप्त कर, परमानन्दी परम सुखी होते हैं।

"उपसंहार"

ये बीसही बोल तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के-परमात्म पद प्राप्त करने के-श्रीज्ञाता धर्म कथांग सूत्र के ९ वें अध्याय में स्वयं श्री

अमूल्य वितीर्ण करने से ही अपने धर्म को सुदृढ़ बनाते हुये विश्वव्यापी बना सकेंगे।

अहो धर्मेच्छुओं! मै विश्वासपूर्वक कहता हूं कि जैन धर्म जैसा पवित्र धर्म इस विश्व में दूसरा है ही नहीं। इसकी सत्यता के लिये देखिये—जैन धर्म के थोड़े से शास्त्र पाश्चिमात्य विद्वानों के हाथ लगे हैं, जिनसे 'हरमन जेकोबी' जैसे बड़े बड़े विद्वान तक एक आवाज़ से प्रशंसा करने लगे हैं, और थोड़े ही ज्ञानसे वे जैन धर्म के ऐसे ज्ञानी बन गये हैं कि जो जैन की मूल भाषा जैन शास्त्रों के मूल में व्यापृत हुई है और अर्ध मागधी नाम से बोली जाती है, उस भाषा का उन्होंने इतना प्रबल ज्ञान रहस्ययुक्त प्राप्त कर लिया है कि वैसा जैनी भी इस आर्य खड में कोई विरलाही मिलेगा। यही कारण है कि जिनके घर में पूर्व परम्परा से सहस्राधिक वर्षों से जैन धर्म चला आता है, जो जैन के पण्डित राज महाराजधिराज कहलाते हैं वे भी जैन शास्त्रों को छपाकर प्रसिद्ध करने में लज्जित होते थे, कि कहीं भूल रह जायगी तो हॅसी होगी। और पाश्चिमात्य विद्वानों का विश्वास होगया है कि वे अपने से भी अधिक विद्वान हैं तब हीतो उनके द्वारा शुद्ध कराकर दशवैकालिक उत्तराध्ययनजी आदि शास्त्र छपवाये हुए दृष्टि गोचर होते हैं और उनकी प्रस्तावना में ही उपरोक्त बात सिद्ध करते हैं। हा! यह कितनी अधिक लज्जा की बात है? जैनियों अब भी संभलों, भला जो तुम्हारे पूर्वजों के नहीं किन्तु तुम्हारे सन्मुख ही प्रवीण हुए और जिन्हे थोड़े काल पहिले तुम अनार्य आदि शब्दों से संबोधन करते थे, अब उनही के पास तुम अपने गुरुओं की प्रदत्त की हुई विद्या का सुधार कराते हो, तो आप अब उनही का अनुकरण करो! और जैन धर्म के सच्चे ज्ञान के शौकीन बनो! और मेरी ऊपर दी हुई सूचना की तरफ जरा गोर फरमा कर मिठाई आदि की प्रभावना की अपेक्षा धर्म ज्ञान के पुस्तकोंको ही श्रेष्ठ प्रभावना समझ कर अपनी अपनी शक्ति प्रमाण विद्वानों को सहायता दे, यथा योग्य साता उपजा कर, जैन धर्म के ज्ञान का सर्व देशकी भाषाओं में भाषांतर करा कर, और उसकी लाखों प्रतियां छपवा कर सर्व देश में

अमूल्य भेंट देना शुरू करो ! फिर थोड़े ही वर्षों में देखोगे कि जैन धर्म की कितनी उन्नती होती है ! वस्तुतः सच्ची प्रभावना इसही को कहते हैं ।

दूसरी रूढि जो इस वक्त एक धर्म की ही अनेक संप्रदाये देखने में आती हैं, सो भी योग्य वृद्ध पुरुषों ने स्थापन की हैं; क्योंकि सब अपनी अपनी सम्प्रदाय व गच्छ की उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं, तन मन धन से अपने अपने गच्छ को दीपाते हैं, प्रत्येक गच्छाधिपति अपने अपने गच्छ की सप्रयत्न रक्षा करते हैं, जिससे प्रत्येक गच्छ में के जो जो लोग हैं वे सबके सब श्रद्धालु बनते हैं और किसी प्रकार भी धर्म से नहीं डिगते हैं । अतएव मालूम होता है कि दृढ श्रद्धा और उन्नति के उपाय के लिये संप्रदायों का बंधन भी आवश्यक है । और सर्व एक जैन ही नाम धरा कर जो जो उन्नति के कार्य करते हैं वे जैन की ही उन्नति प्रभावना के कारण होते हैं ।

परन्तु इसमें भी बहुत ही सावधानी के साथ प्रवृत्ति करने की जरूरत है, क्योंकि जितनी सरलता—निष्कपटता—आस्तिकता गत युग के लोगों में थी वह अब दृष्टि गोचर नहीं होती है । इस वक्त बहुत मत मतान्तरों की वृद्धि होने के कारण गुणग्राहकता रूप स्वभाव का लोप व ईर्षा की वृद्धि होती हुई दृष्टि गत होती है । इस कारण अब जैनोन्नति प्रभावना के इच्छुकों को यदि जैन शासन को स्थिर रख के वृद्धि करने की सच्ची अभिलाषा हो तो प्रचलित गच्छ परंपरा में भी देश काल अनुसार कुछ फेर फार करना चाहिये और थोडे ही गच्छ रख लेने चाहिये, जैसे यह मालवी, यह मारवाड़ी, यह गुजराती इत्यादि । और उन एक एक पर एक एक आचार्यों की स्थापना कर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार कायदे कानूनों की योजनानुसार प्रवृत्ति करें, और सब गच्छ वाले आपस मे हिल मिल कर चलें । मात्र अपने गच्छ के साधु श्रावक शिथिल होने नहीं पावे, यह पाबंदी रक्खे ? किन्तु दूसरों की निंदा ईर्षा का त्याग करें । आहार और वंदना का व्यवहार सब के साथ रख-कर संप से रहें तो फिर देखिये धर्म की कैसी प्रभावना होती है ?

यह जैन धर्म एक अंग है, और सम्प्रदाय यानी-गच्छ इस अंग के उपांग हैं। जब एक उपांग दूसरे उपांग की सहायता करता है, तबही शरीर कायम रह सकता है, अर्थात् पैर सब शरीर का भार अपने ऊपर उठाकर इच्छित स्थान पहुंचाते हैं, हाथ वस्तुएँ तैयार कर भोगोपभोग में लगाते हैं, कान सुनने में-आँख देखने में-दाँत चबाने में-पेट संग्रह कर पाचन करने में-और नसें सर्व स्थान रस पहुंचाने में-सहायता करते हैं, तब ही यह शरीर चलता है। अगर ये अंगोपांग (पैर) ईर्षा लावें कि हमें क्या गरज है जो सर्व शरीर का वजन उठाये फिरें, हाथ और पेट को गर्ज होगी तो वे अपना अपना काम कर लेंगे-इस बिचार से जो सर्व अंगोपांग अपना अपना काम छोड़ बैठें तो फिर देखिए इस शरीर की थोड़े ही दिनों में कैसी बुरी हालत होती है। तैसे ही जो जैन के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय हैं वे अगर एक दूसरे की गर्ज नहीं रखेंगे, तो इस धर्म की भी विशेष काल तक चलने की उम्मेद नहीं समझिये। इस दृष्टांत को अच्छी तरह विचारिए !

अब जरा पीछे की ओर निगाह कर देखिये ! दो वक्त बारह २ वर्ष के बडे दुष्काल पड़े, जिससे इस भारत भूमि में से जैन धर्म प्रायः नष्ट जैसा ही होगया था, उसका पुनरुद्धार श्रावक शिरोमणि लोंकाजी और मुनिमौलिमणि श्रीलवजी ऋषिजी महाराज आदिने फक्त चार पांच साधु ओं के सहाय से बडे कठोर प्रयत्नों से किया था। अन्य मतावलम्बियों ने श्रीलवजी ऋषिजी के शिष्य शस्त्र से या जहर देकर मारडाले और उनही के धर्म स्थान में गाड दिये, और भी मार पीट वगैरह अनेक प्रकार के परिषह उपजाये, निंदा का तो कहना ही क्या ? परन्तु वे महात्मा उसकी दरकार नहीं रखते थे, फक्त अपने इष्ट सिद्धि के उपायों में लगे रहे तो उन के लक्खों अनुयायी वर्तमान काल में उपस्थित हैं। परन्तु इस वक्त के महात्मा और श्रावक एकेक संप्रदाय में सैंकडों हजारों की संख्या में विद्यमान हैं तो भी सारी सम्प्रदाय तो दूर रही, परन्तु अपने शिष्यों को और अपने कुटम्ब को ही अपने धर्म में स्थिर नहीं रख सकते हैं तो औरों को सुधार कर धर्म मार्ग में लगाने की आशा रखना तो

आकाश कुसुम के समान है। हाय ! हाय ! अफसोस ! ! अफसोस ! अफसोस ! ! !

" अब भी चेतो "

अहो जैन धर्म की उन्नति चाहने वालो ! उपरोक्त बातों को जरा ध्यान में रखकर धर्म वृक्ष के लिये कुठार स्वरूप कुसंप का जड़ा–मूल से नाश करो। इन सम्प्रदायों के झगड़े को, मेरे तेरे साधू श्रावकों के और क्षेत्रों के पक्ष रूप जहर के अंकुरों को, हृदय से उखाड़ कर अलग फेंको, और वर्तमान जमाने के अनुकूल संपमय प्रवृत्ति करो। सब के सब श्री महावीर पिता के पुत्र हो, अतः एक मंडल पर के सह भोजी बनों। अन्य सब प्रयासों का त्याग कर अपने शिष्यों और बंधुवों के संरक्षण में ही कटिबद्ध होवो। हैं जितनों को ही कायम रख दृढ़ श्रद्धालु सच्चे प्रेमी और सशक्तों को प्रभावक बनावो। तथा इस अपने परम पवित्र एकांत दयामय धर्म को बौद्ध धर्म की माफिक अद्वितीय समस्त भारत–वर्ष व्यापी बनावो ! यही मेरे अंतःकरण की अत्यन्त उत्कंठा है। अस्तु अहो गुरु महाराजाओं ! अहो बंधु गणों ! अहो श्रावको ! और अहो सम्यक् दृष्टियों ! शीघ्र पूर्ण करो ! शीघ्र पूर्ण करो ! ! बहुत ही शीघ्र पूर्ण करो ! ! !

तथास्तु, तथास्तु !

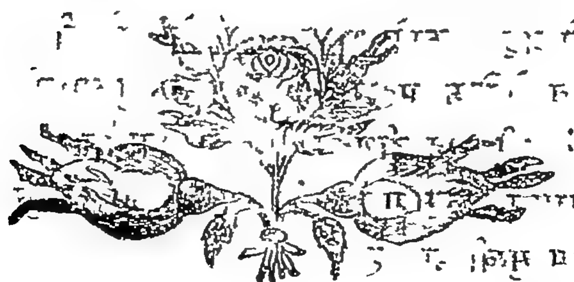
इस प्रकार जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार यथा शक्ति तह मन तहचित्त से प्रवृत्ति करके श्री जिनेश्वर के धर्म की प्रभावना करते हैं, वे कृष्ण वासुदेव श्रेणिक महाराजा देवकी जी सुलसाजी आदि महापुरुषों एवं महासतियों की तरह तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर, परमात्म पदको प्राप्त कर, अजरामर अव्याबाध अनंत अक्षय शाश्वत सुख को प्राप्त कर, परमानन्दी परम सुखी होते हैं।

"उपसंहार"

ये वीसही बोल तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के–परमात्म पद प्राप्त करने के–श्रीज्ञाता धर्म कथांग सूत्र के ९ वें अध्याय में स्वयं श्री

महावीर परमात्मा ने अपने मुखारविन्द से फरमाये और श्री गणधर महाराज ने कथन किये हैं। तदनुसार ही मैने भी यथा मति अन्य अनेक शास्त्रों व ग्रन्थों के आश्रय से विस्तार कर निजात्मा और परमात्मा को परमात्म पद प्राप्त करने के प्रति समर्थ हो, इस हेतु से उक्त परमात्म-मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें जहां कहीं भी जिस किसी भी रूप में जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो तीर्थ पति के चरणों की साक्षी से मै "तस्स मिच्छामि दुकडं" देता हूं, और गीतार्थ विद्वानों से नम्र अर्ज़ करता हूं कि मेरे आशय पर लक्ष्य देकर मेरी सब भूलों को माफ करें, यथोचित शुद्धि वृद्धि करें, तथैव इस ग्रन्थ को सर्व मुमुक्षुओं के मनोरथ पूर्ण करने वाला बनावें। पाठक गणों! श्रोतागणों! परमात्म पद प्राप्त कर परमानन्दी परम सुखी बनिये!

परम पूज्य श्री कहानजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के
महंत मुनिराज श्री खूबाऋषिजी महाराज के शिष्य आर्य
मुनिवर श्री चेना ऋषिजी महाराज के शिष्य बाल
ब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी
रचित परमात्म मार्ग दर्शक नामक ग्रन्थ का
"प्रवचन-प्रभावना" नामक इक्कीसवा
प्रकरण समाप्त।



अन्तिम विज्ञप्ति

(१)

यद् गदितमल्पमतिना सिद्धान्त विरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्वज्ञैः प्रसाद माधाय तच्छोध्यम् ॥

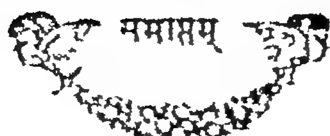
(२)

बह्वर्थमल्पशब्दं शास्त्रमिदं रचयता मया कुशलम् ।
यदवापि परमार्थ पद प्राप्ति र्जनतोऽपि तेनास्तु ॥

मुमुक्षु जनों ! यह ग्रन्थ मेरी और आपकी आत्मा को परमात्म
पद प्राप्ति के हेतु ही अनेक शास्त्रों ग्रन्थों और विद्वानों की
सहायता से यथा बुद्धि विस्तार के साथ लिखा है । तथापि
छद्मस्थ भूल का पात्र होता है, इसलिये इस ग्रन्थ
में मुझ से किसी भी प्रकार का सिद्धान्त
विरुद्ध लिखा गया हो तो अहो तत्वज्ञ महा-
त्माओं कृपालु यथोचित संशोधन कीजिये
दोषों को माफ कर गुणही गुण को
ग्रहण कीजिये । तथा अल्प शब्द
और विशेष अर्थ वाले उक्त ग्रन्थ
के रचने में मेरे को जो कुछ
भी सफलता मिली इसके
फलस्वरूप मेरी यही
भावनाहैकि जी-
वों को परमा-
त्मपद की
शीघ्रही
प्राप्ति
हो

—तथास्तु—

श्री वीर संवत्सर २४६९
श्रावण पूर्णिमा



आपका
अमोलक ऋषि

शुद्धि-पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	४	६ माशे	१६ माशे
११	११	और	अथवा
१३	६	६	५ रागद्वेषरूप महा शत्रुओं पर जय पाया इस-लिये 'जिनेश्वर' कहलाये, ६
२५	१	सूक्ष्म होता है।	सूक्ष्म होता है फिर बादर मन योग भी स्थिर हो सूक्ष्म रूप होता है,
२६	२५	उस योजन के।	उस योजन के ऊपर के कोशके
३७	१३	का,	का, दूसरा आरा तीन क्रोडा क्रोडी सागर का,
४४	२७	एव	द्रव्यानुयोग एवं
४५	१५	१९७००००	११७००००
५९	१०	४४४६	४१४६
६०	६	कथिया	कप्पिया
६४	२३	करे	करे नहीं
७०	२४	२६	२६ कोई प्रश्न पूछे तो गुरुजी से पहिले आप उसका उत्तर नहीं देवे। यदि-
७२	१९	समणस्सवा	समणस्सवा महाण स्सवा
८१	२४	६४०००	१४०००
९९	१२	यरा हुआ	भरा हुआ
१००	७	पाल्लण	पलान
११५	६	ज्यादा	जोर ज्यादा
११५	१५	स्वयं	शयन
१२०	१	पङ्ख	पंखे
१२६	२६	ग्रह है कि	यह है कि यह अमृत
१२९	१४	माहणो	माहणो २ अर्थात्
१५०	१४	सुपरिगहा	सुयपरिगहा
१५४	३	पुत्री	पुत्र
१६०	८	वचन पुण्यसे।	वचपन सेही
१६३	२७	पडिकता	अपडिकता
१६४	१२	कर्म के	कर्म बन्ध के
१९२	२५	गोडरू	गीडरू
२०५	२४	अभिगम	अधिगम
२२७	१२	किया है,	किया है, तथा
२३४	४	निंदा	निंदा(आत्मा की माक्षी से)
२३४	५	ग्रहण	ग्रहणा (गुरुकी साक्षी से पाप की निंदा)
२३४	९	वहीं	वहीं बैठा हुआ
२३५	१०	अविनीत को ज्ञान दिया।	अविनयपने से ज्ञान ग्रहण किया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३५	१८	गिच्छा	गिच्छा, पर पासंडी की प्रशमा
२३७	१६	वह दूरहोवो	तस्स मि०दुकडं
२३८	२१	दोषं	दोस
२३९	१३	ज्ञान	ज्ञान दर्शन
२४१	१	कथा	विकथा
२४१	१०	काया	छै काया
२४४	८	कायसा	कायसा सगा सबधी बेपार संबंधी तथा निर्भर मी वस्तु का आगार
२४५	१०	तस्स मि०दुकड	यह पाच पाप लगे सो दूर होवो।
२४५	२४	”	”
२४६	३	किया	यथा परिमाण किया
२४७	२०	अव्रती	असती तथा
२४८	१४	विहूणो	०
२४९	४	दूर	दूर मे
२५६	१३	आण भोयणाए	पाणे सणाए
२५७	९	युक्त हो	युक्त हो वह देवे,
२६०	४	नो	०
२६१	१८	पद्म	महापद्म
२६३	९	अदत्त	दत्त
२६६	३	करे नहीं	ग्रहण नहीं करे
२६६	१०	दोमहीने	सातोंही प्रतिमा एकएक महिने की।
२७०	१५	प्रज्ञा ५	प्रज्ञा ४ प्रत्याख्यान प्रज्ञा ५
२७०	२०	छः	दश
२७०	२१	वेदकल्प के १०	वृहत्कल्प के६
२७१	१३	धरावे, १३	धरावे, १२ वाल ब्रह्मचारी नही बाल ब्रह्म० नाम धरावे १३
२८८	१९	होते हैं।	होते हैं, जिससे ब्रह्मचारी अधिक तर मोक्षही पाते है।
२८९	६	थोडा ही भय रहा है,	थोडे ही भव रहे हैं,
२९१	१	अदत्तव्रत है,	दत्तव्रत है,
२९२	२	एक	०
२९६	१९	७–८ तकी	४–५–६ तकी
२९६	२६	नही वचन मे	नही काया मे
२९७	७	३–४–६–८	१–३–४–६
२९७	१२	मनमे वचनमे	मनमे कायामे
२९७	१३	मनमे वचनमे	वचनमे कायामे
२९७	२६	३२ का	अंक ३२ का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२४		(कला)	(कवे)
३२७	७	दूसरी में दो महिने यावत् सातमी मे सात महिने तक सात दात	दूसरी से सातमी प्रतिमातक सब एकेक महिने की दू० में २ दात ती० में ३ दात यावत् सातमी में सात दात

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५६	१९	७४ क्रोड़	८८ क्रोड़
३५६	२०	४० लाख	८० लाख
३७४	४	शठ	श्रेष्ठ
४०८	१	के	०
४१९	९	जतिअं	जतिणं
४२८	३	परमात्मा	परात्मा

इन के सिवाय और भी अल्पज्ञता या दृष्टि दोष से कोई अशुद्धि रहगई हो तो उन सब को सुधार कर यत्ना पूर्वक पढ़ें।



भयंकर वज्रपात !

शोक ! शोक !! महाशोक !!!

हा लाला ज्वालाप्रसाद जी ! हा जैन समाज भूषण ! हा दानवीर ! हा जिनशासन शृंगार ! हा श्रेष्ठ श्रमणोपासक ! हा चारों तीर्थ के अभेद भावेन भक्तिकर्ता ! हा अद्वितीय दयार्द्रहृदय !

आपके स्वर्गवास का समाचार जब से जानने में आया है, मारे दुःख के हृदय चूरचूर होगया है। क्यों कि—आप जैसे धर्मात्मा पुण्य प्रभावक अढलक दानी श्रीमान् श्रावक का परमाश्रय प्राप्त होने से ही, मैं शास्त्रोद्धार एवं ज्ञान प्रसार आदि महान् धर्म कार्य करके नाम से अमोलक कार्य से अमोलक बन सका था ! भविष्य में भी मेरी संघ सेवाओं की आशा को समय समय पर पूर्ण करता रहने वाला जो कल्प वृक्ष था, वह अकस्मात् ही विलीन होगया। हा अन्त !

आप जैसे उदार विचारों वाले, मेरे मनोगत भावों के अनुसार ही हजारों का सद्व्यय करने वाले, चार लाख जितने विशाल द्रव्य का व्यय करके भी किसी के आगे स्वयं नहीं जताने वाले, विषम से विषम परिस्थितियों में भी गंभीर भावसे एकसी अखंडित सेवा करने वाले, आजतक २९ वर्ष से तन-मन-धन के द्वारा अखंड भक्ति करने वाले, प्रायः प्रत्येक वर्ष में अनेक बार दर्शनार्थ आकर जैन धर्म को दिपाने वाले, दीन दुखियों एवं स्वधर्मी भाईयों को हजारों रुपयों की गुप्त सहायता पहुंचाने वाले, धर्मसम्बन्धी प्रत्येक कार्यों में यथा समय अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा सन्मार्ग दर्शाने वाले, शिष्यों व शास्त्रों आदि साधु योग्य वस्तुओं की साधु धर्म के आचारानुसार महती सहायता पहुंचाने वाले, इसप्रकार प्रत्येक कार्य में आप जैसे धुरन्धर सहायक अब फिर मिलने सर्वथा दुष्प्राप्य से हैं—अतएव अब वैसा कोई उल्लेखनीय कार्य होना भी मुश्किल है।

लालाजी का धार्मिक भाव जैसे पहले रहा, हर्ष है कि- अंतिम समय में भी वह वैसाही, नहीं उससे भी बढ़कर उग्रतम बना रहा। अंतिम समय अपने मुंह से कहकर चारों आहार का अनशन व्रत (संथारा) ग्रहण किया, वह भी योंही साधारण नहीं- पूरा एक प्रहर का आया। बीचमें मुंहमें पानी डाला, उसेभी थूंकदिया-कुल्ला करदिया। अन्तिम श्वासोछ्वास तक किंचित्मात्र भी मोह माया का भाव न दर्शाकर पंच परमेष्ठीके ध्यान में लीन रहे। आलोचना पाठ सुनते-सुनते समाधि मरण प्राप्त किया। इस पर से निश्चय होता है कि—आप अवश्य ही किसी ऊंचे स्वर्ग में परमोत्तम पदवी के धारक देवता बने होंगे।

आप अपने पीछे सुशीला धर्मपत्नी, दो नन्हे नन्हे पुत्र, दो पुत्रियां, बड़ी बहन और भानजा आदि परिवार छोड़ा है। आपके समान आपका परिवार भी सब का सब धर्मात्मा है— पुण्यात्मा है। मै अन्तर्हृदयसे आपके (परिवार) के इस आकस्मिक दुःख में समवेदना प्रगट करताहूं और आशा करताहूं कि- आप भी लालाजी के नाम को पूर्ण रूपेण समुज्ज्वल करेंगे— और जैन शासन की समुन्नति के लिये सर्वदा सप्रयत्न रहेंगे।

रामगंज मंडी (कोटा)
बसंतपंचमी, सं० १९९२

आपका धर्ममित्र—
अमोलक ऋषि